भारत का रक्षा-संगठन

(स्वाधीनता के बाद से संगठन और प्रशासन में हुए प्रमुख विकासों का अध्ययन)

लेखक
ए० एल० वेंकटेश्वरन्
सचिव, राष्ट्रीय रक्षा कालेज,
नई दिल्ली

अनुवादक
राजेन्द्र नारायण

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भारत का रक्षा-संगठन
(DEFENCE ORGANISATION IN INDIA)

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

•

प्रथम संस्करण १९७३

•

मूल्य
पुस्तकालय संस्करण १८ रुपये
साधारण संस्करण १५ रुपये

•

मुद्रक
इलाहाबाद प्रेस
३७०, रानी मण्डी,
इलाहाबाद-३

प्रस्तावना

इस शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत की सीमाएं अभेद्य मानी जाती थी। उस समय का विद्यार्थी भारत माँ की वन्दना करते हुए बडे गर्व से कहता था कि उत्तर और आधे पश्चिम में हिमालय भारत का प्रहरी है—और शेष सीमाओ का संरक्षण सागर करता है। खैबर और बोलन ही दो ऐसे दर्रे थे जिनसे होकर शत्रुओं ने अतीत मे भारत पर आक्रमण किये थे। सामान्य विश्वास था कि यदि इन रास्तो को सुरक्षित बना लिया जाय तो देश आक्रमणो से सुरक्षित रहेगा। स्वतन्त्रता से पूर्व यो भी जन-सामान्य को भारत की सुरक्षा की चिन्ता नही थी। ब्रिटिश सरकार पर देश की सुरक्षा का दायित्व था और उसके पास विश्व का सबसे बडा जहाजी बेडा था। उत्तर या पूर्व से आक्रमण की आशंका नही थी, क्योंकि चीन और भारत के बीच तिब्बत मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) के रूप मे अवस्थित था। पूर्व में ब्रह्मदेश अंग्रेजो के ही अधीन था। इसके अतिरिक्त चीन अपनी घरेलू समस्याओ में तथा पडोसी देशो के साथ इस बुरी तरह उलझा हुआ था कि उसकी ओर से किसी आक्रमण की कल्पना नही की जा सकती थी।

सन् १९४७ के बाद भारत की सुरक्षा का प्रश्न पहली बार भारतीयो के सम्मुख उपस्थित हुआ। हिमालय के कारण सुरक्षित एक बडे भू-भाग में पाकिस्तान नाम से एक नये राष्ट्र का निर्माण हुआ, जिसने जन्म के पहले साल ही काश्मीर पर, जो कि भारत में मिल गया था, हमला बोल दिया। उसके बाद चीन के अचानक आक्रमण और पाकिस्तान के दो-दो आक्रमणों का आघात भारत को सहना पडा। इन आक्रमणों ने स्पष्ट कर दिया कि कविता की बात और है, किन्तु वस्तुत अब भारत की सीमा का कोई भी भाग अभेद्य नही रहा। भारत की सीमाओ पर जो खतरे है उनके निकट भविष्य में समाप्त होने की कोई आशा नही है। ये खतरे स्थल मार्ग, पहाडो और समुद्र, तीनो ओर से है। जिस प्रकार की लडाई की कल्पना भारत कर सकता था, उत्तरी अंचल की लडाई उससे भिन्न है। हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियो पर लडने की कल्पना भारतीय सैनिको को नही थी। हिमालय के इन प्रदेशो मे यातायात और परिवहन की व्यवस्था, भयकर शीत मे रहकर लडने का प्रशिक्षण, ऊँचे-प्रदेशों में युद्ध सामग्री और रसद पहुँचाने के साधन, इन सबने सुरक्षा तैयारी के लिए नया आह्वान दिया। यह भी अनुभव हुआ कि भारत को न केवल पहाडी इलाको की सुरक्षा के लिए नये ढंग से तैयारी

करना है, अपितु उसे अपनी सामुद्रिक सीमाओं की रक्षा के लिए भी विशिष्ट तैयारी करनी है। पानी में सुरंगें बिछाना और उन्हें हटाना, पनडुब्बियों और लड़ाकू पोतों की संख्या बढ़ाना, उसके लिए नौसैनिकों को प्रशिक्षित करना आदि अनेकों बातें ऐसी हैं, जिन पर गम्भीरता के साथ भारत ने पहली बार ध्यान दिया। बंगला देश के मुक्ति संग्राम के समय जब कि अमेरिका का जंगी-बेड़ा हिन्द महासागर में हमारे करीब आ-पहुँचा, तब हमें अपनी दुर्बलताओं का ठीक ठीक अहसास हुआ।

विज्ञान के विकास के साथ-साथ युद्धकला एवं युद्धास्त्रों में भी तेजी से प्रगति हो रही है। आज का नया हथियार कल पुराना पड़ जाता है। विकसित देशों के पास एकत्रित युद्ध-सामग्री और आणविक-युद्ध के लिए प्रशिक्षित सैनिकों का तो कहना ही क्या है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे देश के सामने, जिसकी दो लम्बी सीमाओं पर भयंकर ईर्ष्यालु शत्रु हों, सदा सावधान और सतर्क रहने के अतिरिक्त अन्य उपाय ही क्या है।

सेना के नियमित सैनिकों के अतिरिक्त द्वितीय रक्षा-पंक्ति का भी देश की सुरक्षा में कम महत्व नहीं होता। जनता का मनोबल और नागरिकों की रक्षा शक्ति, सुरक्षा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। विकसित देशों के नागरिक अपने देश के रक्षा संगठन से भली-भाँति परिचित होते है और वे जीवन में कम से कम एक बार सैनिक के रूप में सुरक्षा पंक्ति में खड़े भी होते है। प्रबुद्ध नागरिक देश की सुरक्षा व्यवस्था से व्यावहारिक रूप में परिचित हों, इसकी व्यवस्था अब प्राय सभी सुरक्षित, असुरक्षित देशों में की जा रही है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे देश के तरुण विद्यार्थी भारत के रक्षा-संगठन से भली-भाँति परिचित हों। इसी उद्देश्य से नेशनल डिफेन्स कालेज के सचिव श्री ए० एल० वेंकटेश्वरन् के अंग्रेजी ग्रन्थ 'Defence Organisation in India' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। इससे पाठकों को भारतीय रक्षा संगठन के सभी अंगों की सही-सही जानकारी प्राप्त हो सकेगी। मूल-अंग्रेजी की पुस्तक के समान अनुवाद की भाषा भी सरल और प्रवाहमयी है। आशा है, इस हिन्दी संस्करण का भी मूल-ग्रन्थ के समान स्वागत होगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

आमुख

भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद के कुछ वर्षों में यह देखा गया कि भारत के रक्षा-प्रशासन के संगठन में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। यह अनुभव किया गया कि इन परिवर्तनों का, रक्षा के बारे में स्वाधीन भारत के सामने आने वाली विभिन्न समस्याओं का और उनको किस तरह निपटाया गया, आदि का अभिलेख रखना बड़ा उपयोगी होगा। तदनुसार एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, जो न केवल सामान्य पाठक के लिए सूचनाप्रद हो, बल्कि रक्षा-संगठन के सदस्यों के लिए भी सन्दर्भ सामग्री प्रस्तुत करे। यह काम १९५७ में पूरा हुआ और उसमें स्वाधीनता के बाद के दशक के विकासों को लिया गया। बीच की अवधि के प्रमुख विकासों को भी अब शामिल कर लिया गया है, पर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के पहले दशक की जो निर्माणक अवधि थी, उस की घटनाओं को ज्यादा ब्यौरों के साथ लिया गया है।

इस पुस्तक को प्रकाशित करने की आज्ञा देने के लिए लेखक सरकार का आभारी है। इसकी विषय-वस्तु के लिए सारा उत्तरदायित्व लेखक का ही है। मुझे रक्षा-मुख्यालय के उन अनेक लोगों को धन्यवाद देना है, जिन्होंने पाण्डुलिपि टाइप करने में मदद दी, लेकिन विशेष उल्लेख श्री वी० के० गान्धी, श्री टी० आर० शर्मा और श्री के० बालकृष्णन का करना है (जिन्होंने अधिकांश काम किया)। सेना मुख्यालय के लेफ्टी० कर्नल आर० के० चड्ढा और लेफ्टी०कर्नल कुमार सिंह, नौसेना-मुख्यालय के कैप्टेन के० के० सनजना और वायुसेना-मुख्यालय के विंग कमांडर एच० एल० कपूर सम्बन्धित सेनाओं के बारे में रंगीन रेखाचित्र प्रदान करने के लिए हमारे धन्यवाद के पात्र हैं और फोटोग्राफ देने के लिए लोक सम्पर्क-निदेशालय के मेजर जी० एस० पाउले और तमगों या पदकों (मैडलों) की रंगीन ट्रांसपेरेंसियाँ तैयार करा देने के लिए फोटो-डिवीजन के श्री टी० काशीनाथ को भी मैं धन्यवाद देता हूँ।

अन्ततः इस पुस्तक को अस्तित्व में लाने का सबसे अधिक श्रेय बी० बी० घोष (संयुक्त-सचिव, रक्षा मन्त्रालय, १९४७-५६) को है, जिन्होंने १९५३ में रक्षा-सचिव के रूप में इस पुस्तक की रचना का विचार दिया और श्री पी० वी० आर राव आई० सी० एस० (रक्षा-सचिव, १९६२-६६) को भी, जिनकी अभिरुचि और प्रोत्साहन के बिना यह पुस्तक प्रकाशित न हो पाती।

सुधार के लिए जो भी सुझाव आएँगे, उनका सहर्ष स्वागत किया जायगा।

राष्ट्रीय रक्षा कालेज,
नई दिल्ली।

लेखक

विषय-सूची

प्रस्तावना

आमुख

चित्र-सूची

रंगीन चित्रफलक

पहला अध्याय

१९४७ तक रक्षा-संगठन का विकास

१५ अगस्त, १९४७ के बाद भारत के सैन्य प्रशासन-संगठन में अनेक परिवर्तन जरूरी हो गये। सत्ता के हस्तान्तरण तक रक्षा एक आरक्षित विषय था और रक्षा-व्यय के लिए विधान-मण्डल में मतदान जरूरी न था। वस्तुत भारत की रक्षा समूचे ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा-योजना का एक अंग ही थी। इसलिए भारत के लिए कोई अलग भारतीय रक्षा-नीति तैयार करने की कोई गुंजाइश ही न थी। भारत के कमाण्डर-इन-चीफ सशस्त्र सेनाओ के प्रशासन के भारसाधक थे और वे गवर्नर जनरल की एग्जीक्यूटिव कौंसिल के सुरक्षा-सदस्य भी थे। देश के रक्षा प्रशासन में किसी भारतीय का कोई योगदान न था। रक्षा नीति इंगलैंड के राजप्रासाद में तैयार की जाती थी और उसकी कार्यान्विति के लिए भी १९४६ तक भारत-स्थित सैन्य-प्रशासन भी प्राय ब्रिटिश अधिकारियों के ही हाथ में था। असैनिक प्रशासन की हालत इतनी बुरी न थी, जिसमें काफी पहले से ही भारतीयो को लिया गया था। भारतवासी इंडियन सिविल सर्विस में भरती हो सकते थे और उनमें से कुछ लोग उन्नीसवी सदी के सातवें दशक से ही सेवा मे आने लगे थे। भारतीय सेना में कमीशन-प्राप्त अधिकारी बनने का का अवसर भारतीयों को प्रथम महायुद्ध के अन्त की ही ओर दिया गया।

सितम्बर, १९४६ मे जब अन्तरिम सरकार बनी, तब पहली बार एक भारतीय, गवर्नर जनरल की एग्जीक्यूटिव कौंसिल में, रक्षा-सदस्य बनाया गया, पर रक्षा-नीति का निर्माण करने की कार्यविधि में इससे कोई अन्तर न आया। १५ अगस्त, १९४७ को ही पहले-पहल रक्षा-नीति के निर्माण पर सारा नियन्त्रण और भारतीय सशस्त्र सेनाओ का प्रशासन एक भारतीय रक्षा-मन्त्री को सौंपा गया जो एक निर्वाचित विधानमण्डल के प्रति जिम्मेवार थे। इस महत्वपूर्ण सांविधानिक परिवर्तन के अलावा स्वाधीनता की प्राप्ति ने भी भारतीय सशस्त्र सेनाओं की भूमिका और दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन ला दिया। बदली परिस्थितियों की दृष्टि से सैन्य प्रशासन-तन्त्र में भी परिवर्तन किये गये। आधुनिक सशस्त्र सेनाओ की आव-

श्यकताओं को पूरा करने के लिए या भारत में अब तक अप्राप्य सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए नये-नये संगठन भी बनाये गये।

जो बड़े-बड़े परिवर्तन करने पड़े, उनकी व्याख्या उस प्रशासनिक ढाँचे के प्रकाश में ही की जा सकती है और उसी ढाँचे के परिप्रेक्ष्य में उनको समझा जा सकता है, जिसका विकास ब्रिटिश काल में हुआ था और जो सत्ता-हस्तान्तरण के समय विरासत में मिला था। इसलिए ब्रिटिश काल में सैन्य-संगठन और प्रशासन के विकास का संक्षिप्त विवरण देना लाभप्रद होगा। इस विश्लेषण से ही स्वाधीन तन्त्र में आवश्यक प्रतीत हुए परिवर्तनों के स्वरूप का संकेत मिल जाएगा और पाठकों का ध्यान कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर आकर्षित किया जा सकेगा, जिनको स्वाधीनता के बाद के दशक में समेकन के लिए किये गये प्रयासों का निर्धारण करते समय समझ लेना जरूरी है।

सेना का उदय ईस्ट इंडिया कम्पनी का काल

भारतीय सेना का आरम्भ ईस्ट इंडिया कम्पनी के आरम्भिक दिनों में खोजा जा सकता है और इसका विकास भारत में कम्पनी के कार्यकलाप के साथ जुड़ा हुआ है। शुरू-शुरू में अपने अनेक कारखानों की सुरक्षा के लिए कम्पनी ने भारतीय गारद भरती किये। सत्रहवीं सदी के अन्त तक कम्पनी ने तीन किलेबन्द जगहें, बम्बई, मद्रास (फोर्ट सेंट जार्ज) और कलकत्ता (फोर्ट विलियम) में बना ली थीं। इन तीन किलेबन्दियों के चारों ओर एक-दूसरे से स्वतन्त्र तीन प्रेसीडेंसियाँ खड़ी हुईं, और प्रत्येक की अपनी-अपनी सेना थी। प्रत्येक का प्रेसीडेंट ही प्रेसीडेंसी की सेना का कमाण्डर-इन-चीफ भी था। वह इंगलैंड में कम्पनी के डाइरेक्टरों के प्रति ही उत्तरदायी था। फलस्वरूप प्रेसीडेंसी की सेनायें अलग इकाइयों के रूप में काम करती रहीं। प्रेसीडेंसी सेनाओं में इंगलैंड में भरती हुए या यहाँ ही लिये गये यूरोपवासी थे और भारतीय सिपाही भी थे, जो देशी वर्दियाँ पहनते थे और भारतीय नॉन-कमीशंड-अधिकारियों की कमान में थे। १७४८ में कम्पनी की भारत-स्थित सभी सेनाओं का एक कमांडर-इन-चीफ नियुक्त किया गया। कहा जाता है कि इससे प्रेसीडेंसी सेनाओं के संगठन में सुधार हुआ, हालांकि सभी बातों में वे अलग-अलग बनी रहीं। इंगलैंड से ब्रिटिश सेनाओं की पहली टुकड़ी १७५४ में भारत आयी और इसके आने के बाद भारत में सेनाओं की तीन श्रेणियाँ हो गईं, अर्थात् सम्राट की सेना, कम्पनी की यूरोपीय सेना और कम्पनी की भारतीय सेना। १७५७ में भारतीय सेना को नियमित बटालियनों में पुनर्गठित करने की कोशिश की गयी और थोड़े-थोड़े ब्रिटिश अधिकारी प्रत्येक में रखे गये। यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था, क्योंकि पहली बार भारतीय यूनिटों में ब्रिटिश नान-कमीशंड अधिकारी रख गये, जबकि वे अब तक अपने ही भारतीय अधिकारियों की कमान के अधीन चली आ रही थीं। थोड़े में ब्रिटिश अधिकारियों की निगरानी में रहने वाली इन बटालियनों को यथासमय ब्रिटिश कमांडरों वाली बटालियनों में बदल दिया गया। भारतीय सैनिकों को भी बहुत कुछ यूरोपीय सैनिकों के समान वर्दी और हथियार दिये गये।

१७७३ के 'रेगुलेटिंग एक्ट' के अनुसार, चार सदस्यो की कौंसिल की सहायता से काम करने वाले, गवर्नर जनरल का पद बनाया गया, जिसको कम्पनी के प्रदेश में सुव्यवस्था और असैनिक शासन के नियम, अध्यादेश और विनियम बनाना सौंपा गया। कौंसिल के पहले चार सदस्यों का नामोल्लेख अधिनियम में ही कर दिया गया। उनमें से एक कमांडर-इन-चीफ था। १७८४ के अधिनियम ने गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी और इनमें से एक कमांडर-इन-चीफ बना रहा। १७९३ के अधिनियम ने यह व्यवस्था की कि कमांडर-इन-चीफ अब परिषद् का पदेन नियमित सदस्य न रहेगा, पर डाइरेक्टर उसे एक असाधारण सदस्य के रूप में नामित कर सकते हैं।

१७८६ में भारत में सरकार के मुख्यालय में एक सैन्य-विभाग खोला गया। यह उच्चतम सरकार के आदेश सेनाओं के कार्यपालक प्रमुखों तक भेजने की श्रृंखला बना।

१७९६ में अतिरिक्त पुनर्गठन किया गया, जिसके अनुसार यूनिटों में भारतीय सैनिकों की संख्या कम की गयी और ब्रिटिश अधिकारियों की संख्या काफी बढ़ायी गयी। उस समय बंगाल, मद्रास और बम्बई की तीन प्रेसीडेंसियों में भारत-स्थित यूरोपीय सैनिकों की संख्या १३,००० थी, जब कि भारतीय सैनिकों की संख्या ५७,००० थी। १७९७ से १८५७ तक प्रेसीडेंसी सेनाओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही, जो प्रदेशों को हड़पने की विस्तृत नीति के अनुकूल ही था। इम्पीरियल सेना और कम्पनी की ब्रिटिश और भारतीय यूनिटों वाली तीन प्रेसीडेंसी सेनाओं के अलावा विशेष स्थानों में सैनिक सेवायें प्राप्त करने के लिए स्थानीय सैन्य टुकड़ियाँ भी खड़ी की गयी थीं। इनमें से उल्लेखनीय हैं: हैदराबाद कांटिजेंट और पंजाब अनियमित सेना, जो बाद में पंजाब फ्रंटियर सेना बन गयी।

गवर्नर जनरल की परिषद् में सेना-सदस्य

१८३३ के चार्टर अधिनियम ने गवर्नर जनरल की परिषद में सेना सदस्य और विधि-सदस्यों के पद बनाये। अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गयी थी "समूचे असैनिक और सैन्य-सरकार का अधीक्षण, निदेश और नियन्त्रण सपरिषद् गवर्नर जनरल के अधीन रहेगा और रखा जाता है।" इस अधिनियम के अधीन परिषद् का पहला सेना-सदस्य १८३४ में नियुक्त किया गया। इस नयी नियुक्ति का प्रयोजन सपरिषद् गवर्नर जनरल को एक विशेषज्ञ के परामर्श का लाभ देना था, गवर्नर जनरल को बहुत से सैन्य-कार्य से मुक्त करना था और गवर्नर जनरल का कार्यक्षेत्र कार्यपालक-कर्त्तव्यों तक ही सीमित करना था। सेना-सदस्य का पदधारी अपनी पदावधि में किसी सैन्य-कमान को न सँभाल सकता था और न किसी वास्तविक सेना-कर्त्तव्य में ही नियुक्त हो सकता था। व्यवहार में कमांडर-इन-चीफ परिषद् का एक असाधारण सदस्य बना रहा।

१७८५ से १८५३ तक एक सैन्य-बोर्ड भी चलता रहा, जिसमें कमांडर-इन-चीफ, एडजूटेंट जनरल, क्वार्टर मास्टर जनरल और सेना-मुख्यालय के अन्य अधिकारी थे। यह केवल

सन्दर्भ और निरीक्षण का बोर्ड था, जो त्रुटियों और दुरुपयोगों की रिपोर्ट सुपरिषद् गवर्नर जनरल के पास भेज देता था।

१८६१ तक देश का कोई भी सैनिक और असैनिक कार्य परिषद् के सदस्य-विशेष को न सौंपा गया था, बल्कि पूरी परिषद् ही उसे निपटाती थी। विभाग बाँटने की प्रणाली भारत में पहली बार १८६१ में शुरू की गयी। इस तरह १८६१ में गवर्नर जनरल की एग्जीक्यूटिव कौंसिल के दो सदस्यों का विशेष सम्बन्ध सैन्य-मामलों से था, अर्थात् कमांडर-इन-चीफ जो सेना की कमान और कार्यपालक काम के लिए जिम्मेदार था और सेना का प्रमुख था, पर परिषद् में उसे कोई विभाग न मिला हुआ था, और एक अन्य सदस्य भी था, जो सेना-सदस्य के रूप में प्रसिद्ध था और वह भी एक सैनिक होता था, जो सेना के प्रशासनिक कार्य के लिए जिम्मेदार था और सरकार के आदेशों की अपेक्षा करने वाले सभी प्रस्ताव कमांडर-इन-चीफ को उसके पास भेजने पड़ते थे।

१८५७ के विद्रोह के बाद से भारत के बारे में सुसंगठित सैन्य-नीति तैयार की गयी। तब से सत्ता-हस्तान्तरण के समय तक रक्षा और विदेश-कार्य-विभाग, जो परस्पर निकट सम्बद्ध हैं, सदैव आरक्षित-विषय बने रहे। विदेश-विभाग परिषद् के एक सदस्य को न सौंप कर सीधा वायसराय के अधीन ही रखा गया। १८५८ में जब सम्राज्ञी ने भारत-सरकार की बागडोर सीधे अपने हाथ में ले ली और ईस्ट इंडिया कम्पनी बन्द कर दी गयी, तब कम्पनी की यूरोपीय सेना को इम्पीरियल ब्रिटिश सेना के साथ मिला दिया गया। भारतीय सेना को भी पुनर्गठित किया गया। कुछ घुड़सवार और पैदल यूनिटें तोड़ दी गयीं और कुछ आपस में मिला दी गयीं। पूरे देश से सेना में भरती करने की पुरानी नीति बदली गयी और धीरे-धीरे सेना में प्रवेश पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्त की तथाकथित सैन्य जातियों तक ही सीमित कर दिया गया। इसके बाद ब्रिटिश सेना की बड़ी-बड़ी यूनिटों को अपना कर्त्तव्य करने के लिये भारत के दौरे पर भेजा गया। यह उसी तरह था जिस तरह ब्रिटिश सेनाओं को अन्य निर्भर-राज्यों और उपनिवेशों को अस्थायी प्रवास के लिये भेजा जाता था।

१८६१ में तीन अलग प्रेसीडेंसी-स्टाफ-'कोरें' शुरू की गयीं। इससे पहले ब्रिटिश अधिकारी रेजीमेंटी 'काडरों' में होते थे और ये काडर हालांकि काफी बड़े-बड़े थे, पर असैनिक पदों पर काम करने वाले या सेनाओं के मातहत होने वाले अधिकारियों की अनुपस्थिति के कारण जो दबाव पड़ता था, उसको बरदाश्त करने के लिए अपर्याप्त पड़ जाते थे। साथ ही एक रेजीमेंट के अधिकारियों और दूसरी रेजीमेंट के अधिकारियों के बीच पदोन्नति की समानता जैसा कोई दावा न था और विभिन्न रेजीमेण्टों में पदोन्नति की गति में काफी असमानता थी। काफी संख्या में अधिकारियों के साथ प्रेसीडेंसी स्टाफ की स्थापना हो जाने पर ये दोनों दोष दूर हो गये और प्रेसीडेंसी सेनाओं के अधिकारियों की समूची संख्या अब एक केन्द्रित समूहन में आ गयी।

प्रेसीडेंसी सेनाओं की समाप्ति

इस बीच कुछ और भी परिवर्तन किए गये, जिन्होंने तीनों प्रेसीडेंसी सेनाओं के केन्द्रित

सम्मिलन का पथ प्रशस्त कर दिया। १८६४ में तीनो प्रेसीडेंसियो के सैन्य-लेखा-विभाग भारत सरकार के सैन्य-विभाग के अधीन समेकित किये गये। १८७९ में लार्ड लिटन ने एक सेना-संगठन-आयोग सैन्य-व्यय कम करने का उपाय सुझाने और युद्ध के लिए सेना की प्रकार्यगत दक्षता सुधारने के तरीको की सिफारिश करने के लिए नियुक्त किया। इस आयोग की एक प्रमुख सिफारिश यह थी कि प्रेसीडेंसी सेनायें समाप्त कर दी जायें, पर सोलह साल बाद तक इसको अमल में न लाया गया। पहले कदम के रूप मे तीनो प्रेसीडेंसी स्टाफ कोरें एक भारतीय स्टाफ कोर में एकत्र कर दी गयी, जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश अधिकारियो का एक अखिल भारतीय काडर अस्तित्व में आ गया। आगे चल कर, प्रेसीडेंसी सेनाये १ अप्रैल, १८९५ से समाप्त कर दी गयी और इस तरह पहली बार एकीकृत भारतीय सेना अस्तित्व मे आयी, जिसे प्रशासन के प्रयोजन से नीचे लिखी चार कमानो में बाँट दिया गया। प्रत्येक कमान कुछ प्रत्यायोजित शक्तियो का प्रयोग करने वाले एक लेफ्टिनेन्ट जनरल के अधीन थी और ये सीधे कमांडर-इन-चीफ के अधीन थे —

पंजाब कमान (पश्चिमोत्तर-सीमांत सहित)
बंगाल कमान
मद्रास कमान (बर्मा सहित)
बम्बई कमान (सिंध, क्वेटा और अदन सहित)

कमानो की यह पद्धति बाद में थोडी बदल दी गयी, किन्तु १९२१ में चार कमानो की पद्धति पुन स्थापित की गयी।

इस तरह यह पता चलता है कि भारतीय सेना का इस रूप मे जन्म उन्नीसवी सदी के अन्त की ओर ही हुआ। वस्तुत 'भारतीय सेना' शब्द का प्रयोग १ जनवरी, १९०३ को ही पहले-पहल किया गया, जब भारतीय स्टाफ कोर समाप्त की गयी और इस कोर के अधिकारियो को 'भारतीय सेना' के अधिकारी कहा गया।

सैन्य-प्रशासन का संगठन

अब सरकार के मुख्य केन्द्र में भारत के सैन्य-प्रशासन का संगठन वस्तुत महत्व की चीज बन गया था। भारत को (असैनिक और सैनिक दोनो ही प्रशासनो को) शासित करने का उत्तरदायित्व सपरिषद् गवर्नर जनरल का था, जो भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के प्रति और उसके जरिए ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। जैसा कि बताया जा चुका है गवर्नर की परिषद् में सैन्य मामलो से सम्बन्धित दो सदस्य थे। एक तो कमांडर-इन-चीफ था, जो सेना का (नौ बेड़े समेत) कार्यपालक-प्रमुख था और उसके संगठन और दक्षता के लिए उत्तरदायी था। उसके कार्यालय को सेना-मुख्यालय कहते थे, जिसमें दो प्रमुख स्टाफ अधिकारी थे, अर्थात् एडजूटेंट जनरल और क्वार्टर मास्टर जनरल और साथ ही प्रमुख चिकित्सा अधिकारी भी था। दूसरे एक सेना-सदस्य भी था, जो सेना के प्रशासनिक कार्य के लिए उत्तरदायी था और वह सरकार के आदेश कमांडर-इन-चीफ तक पहुँचाता था। साथ ही उस

पर पूर्ति, परिवहन, आयुधसामग्री (आर्डनेंस), और सैन्य निर्माण-कार्य की जिम्मेदारी थी। वह सैन्य-वित्त बनाने के लिए भी उत्तरदायी था।

सैन्य-विभाग की भूमिका

उस समय का सैन्य-विभाग अपने अधिकार-क्षेत्र में मौलिक काम तो करता ही था, साथ ही सेना-मुख्यालय या चारों सेना-कमानों से सीधे ही आने वाले सभी प्रस्तावों की स्वतंत्र जाँच भी करता था। फलत अपने समक्ष आने वाले और उसके द्वारा सूत्रपात किये जाने वाले सभी प्रस्तावों के लिए वह अपने कागज-पत्र रखता था, जिससे विभाग में अपेक्षित मात्रा में सातत्य बना रहे। विभाग में तीन प्रभाग थे, अर्थात् सैन्य, प्रशासन और वित्त। वित्त-प्रभाग महालेखाकार, सैन्य-विभाग के अधीन था, जो सभी सैन्य और नौसैनिक मामलों में भारत सरकार का वित्तीय सलाहकार था। दूसरे शब्दों में वित्त-प्रभाग सैन्य-विभाग का ही एक भाग था। नीचे लिखे आरेख में सारा ढाँचा स्पष्ट हो जाता है।

आरेख—१
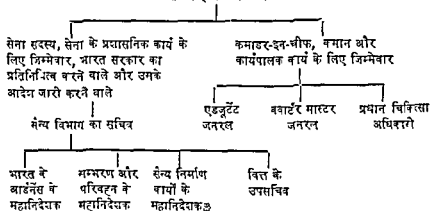
उस समय अपनायी जाने वाली कार्यविधि यह थी कि सेना-कमानों या सेना-मुख्यालय से चलने वाले महत्वपूर्ण सैन्य-सुधार या व्यय को अन्तर्ग्रस्त करने वाले सभी प्रस्ताव सैन्य-लेखा-नियन्त्रक के जरिए सैन्य-विभाग को भेज दिये जाते थे। फिर सैन्य-विभाग में इनकी वित्तीय और प्रशासनिक, दोनों ही दृष्टियों से जाँच की जाती थी। जो प्रस्ताव सेना-सदस्य द्वारा अनुमोदित हो जाता था, उसे वित्त विभाग को भेज दिया जाता था और अगर वित्त-विभाग भी मान लेता था तो उस मामले को अनुमोदन के लिए गवर्नर जनरल के पास भेज दिया जाता

* इस पद को बाद (१९२१) में इंजीनियर-इन-चीफ नाम दिया गया।

था। कोई मतभेद होने पर उसे एग्जीक्यूटिव कौंसिल में पेश कर दिया जाता था। जब कौंसिल प्रस्ताव मान लेती थी या जब दोनों विभागों से अनुमोदित प्रस्ताव गवर्नर जनरल मान लेता था, तो एक डिसैच द्वारा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को भी सूचित कर दिया जाता था। यदि सेक्रेटरी आफ स्टेट ठीक समझता था तो युद्ध-कार्यालय से परामर्श करते हुए या यथावश्यक ब्रिटिश-मन्त्रिमण्डल से अनुमोदन लेकर, मंजूरी दे देता था। इस तरह सभी महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर अन्तिम निर्णय सेक्रेटरी ऑफ स्टेट और सम्राट् की सरकार का ही होता था।

कर्जन-किचनर-विवाद

एक्जीक्यूटिव कौंसिल में दो सदस्यों का होना, जिनमें एक सशस्त्र सेना का कार्यपालक प्रमुख था और दूसरा कमांडर-इन-चीफ के प्रस्तावों की छानबीन करता था और उनके बारे में सरकार के आदेश जारी करता था, काफी सन्तोषजनक व्यवस्था न थी। खासकर जब कि सेना-सदस्य भी एक सेना अधिकारी ही था जो पद में कमांडर-इन-चीफ से कनिष्ठ होता था। कुछ लोग कमांडर-इन-चीफ को परिषद् का सदस्य बनाया जाना ही असगत मानते थे, जब कि कुछ लोग स्वयम् कमांडर-इन-चीफ, सैन्य-विभाग और सेना-सदस्य को निरर्थक और आडम्बर मानते थे। स्पष्ट ही सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इस संघर्ष के अस्तित्व से परिचित थे, जिसके बारे में पहले के वायसराय और कमांडर-इन-चीफ सुदृढ़ विचार व्यक्त करते रहे थे, और सभी सम्बन्धित लोग युक्ति और समझबूझ द्वारा ही जिसे स्पष्टत नियन्त्रण में रखते चले आ रहे थे। इसलिए भारत सम्बन्धी सेक्रेटरी आफ स्टेट ने औपचारिक रूप से भारत-सरकार से कहा कि वह भारत की सैन्य-प्रशासन-पद्धति की पूरी छानबीन करे और सुधार के लिए उपयुक्त प्रस्ताव भेजे। १९०५ के आरम्भ में इस सम्बन्ध में तत्कालीन कमांडर-इन-चीफ लार्ड किचनर ने दृढ़ रवैया अपनाते हुए उक्त व्यवस्था में सैन्य-प्रशासन में पैदा हुए इस द्वैध नियन्त्रण की घोर आलोचना की। उनका दृढ़ अभिमत था कि यह व्यवस्था सदोष है, अकार्यक्षम है और एक महायुद्ध के लिए अपेक्षित विस्तार के प्रयोजन से असमर्थ है। वह इसके घोर विरोध में थे, हालांकि उन्होंने यह स्वीकारा कि इसके कारण वे ससदीय नियन्त्रण की कठिनाई से मुक्त रहते हैं। उनके अनुसार इस पद्धति का एक प्रमुख दोष यह था कि इसमें अनन्त चर्चा और अपार देर अन्तर्ग्रस्त रहती थी। सैन्य-विभाग के योगदान का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा, 'तब तक आवश्यक सुधारों का सूत्रपात नहीं किया जा सकता और उपयोगी उपाय नहीं अपनाए जा सकते, जब तक कि तंग करने वाली और अधिकांशत. अनावश्यक आलोचना का शिकार न बना जाय और यह आलोचना न केवल प्रस्ताव के वित्तीय प्रभाव को लेकर होती है, बल्कि विशुद्ध सैन्य-दृष्टिकोण से उसकी वाञ्छनीयता या आवश्यकता के प्रश्न को लेकर भी की जाती है।' इस लिए उन्होंने सुझाव दिया कि सेना-सदस्य के पद को समाप्त करके यह पद्धति खत्म कर दी जाय। इस तरह लार्ड किचनर ने सुझाया कि युद्ध-विभाग के प्रमुख का सरकारी नाम कमांडर-इन-चीफ और परिषद् में युद्ध-सदस्य हो।

सैन्य-विभाग के विरुद्ध लगाये गये आरोपों का सुदृढ़ प्रतिवाद तत्कालीन सेना सदस्य

मेजर जनरल सर ई० आर० एलेस द्वारा किया गया। उन्होंने बताया कि तंग करने वाला और विलम्बकारी न होकर सैन्य-विभाग सेना की कार्यक्षमता के लिए अनेक महत्वपूर्ण उपायों का सूत्रपात करने के लिए उत्तरदायी रहा है, जैसे लामबन्दी योजना, मैदानी सेना का बनाया जाना, प्रेसीडेंसी सेनाओं और विभागों का मिलाया जाना, परिवहन-सेवा का पुनर्गठन आदि। इसके अलावा कमांडर-इन चीफ के सुझाव ने एक बड़ा महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न छेड़ दिया। भारत की सेना का प्रमुख एक ही है—सपरिषद् गवर्नर जनरल और परिषद् का सेना-सदस्य सभी ऐसे मामलों में जो पूरी परिषद् के सामने नहीं आते, सपरिषद् गवर्नर जनरल का प्रतिनिधि ही है। दूसरी ओर कमांडर इन-चीफ नियम और चलन के अनुसार सेना की कमान सँभालता है। इस स्थिति को स्वर्गीय सर जार्ज चेसनी ने नीचे लिखे शब्दों में बड़ी अच्छी तरह निरूपित किया है

'कमांडर-इन-चीफ स्वभावतः अपना प्रस्ताव सैन्य-दृष्टिकोण से भेजते है, जो उचित ही है, क्योंकि यदि सेना की ओर से उसके लिए वह जोर नहीं देंगे तो और कोई जोर डाले, यह सम्भव नहीं है। दूसरी ओर परिषद् के सेना-सदस्य को सरकार के पूरे कार्य-कलाप का ध्यान रखना होता है और सेना के व्यय पर सरकार की वित्तीय स्थिति को देखते हुए ध्यान देना होता है और सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा तय की गयी नीति का भी ध्यान रखना होता है। यह सब उसके निर्णय पर कैसे प्रभाव डालते हैं, यह एकाधिक विशिष्ट उदाहरण से जाना जा सकता है। मैगडाला के लार्ड नेपियर जब परिषद् में सेना-सदस्य थे, तो अपने कमांडर-इन-चीफ के काल की तुलना में वह चीजों को भिन्न दृष्टि-कोण से देखते थे।*

'इससे यह बात स्पष्ट है कि कमांडर-इन-चीफ को जो नियन्त्रण और हस्तक्षेप पसन्द नहीं है, वह सेना-सदस्य का नहीं, बल्कि सरकार का है।

'मेरा कहना है कि न केवल वित्तीय दृष्टिकोण से बल्कि राज्य के दूसरे विभागों को प्रभावित करने वाले अन्य पहलुओं की दृष्टि से भी प्रभावी आलोचना न केवल तंग न करने वाली है, बल्कि जरूरी भी है। प्रभावी आलोचना में कुछ देर तो हो ही जाती है।

' 'हालाँकि लार्ड ईशर की समिति ने यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी थी कि सेना परिषद् (इंगलैंड में) का काम सेना को प्रशासित करना है, उसकी कमान सम्भालना नहीं, पर लार्ड किचनर की योजना के अधीन कमांडर-इन-चीफ और युद्ध-सदस्य में सभी प्रशासनिक और कार्यपालक कर्तव्य एकीभूत हो जाते हैं, जो बात किसी भी बड़ी शक्ति की सेना में देखने को नहीं मिलती। साथ ही सेना-परिषद् गठित करने वाले 'लेटर्स पेटेंट' के अधीन सेक्रेटरी आफ स्टेट और सदस्य सभी एक समान हैं और सभी के मत बराबर होते हैं, केवल सेक्रेटरी ऑफ स्टेट अध्यक्ष होता है, पर लार्ड किचनर के प्रस्ताव के अधीन वे सभी उनके अधीनस्थ होंगे और न उनका मताधिकार होगा और न विमता-धिकार ही।'

---

*वह १८७० से १८७६ तक कमांडर-इन-चीफ रहे।

१९०३ में लार्ड किचनर ने सेना-मुख्यालय में एक परामर्श-परिषद् बनायी थी, जिसमें उनके अपने ही मातहतों में समन्वय-कार्य के दोष दूर किए जा सकें और सेना-मुख्यालय के घटक-विभागों को एक दूसरे से ज्यादा निकट लाया जा सके। कमांडर-इन-चीफ तो इसके अध्यक्ष थे ही, साथ ही परिषद् में एडजूटेंट जनरल, क्वार्टर मास्टर जनरल, सैन्य-मुख्यालय के कुछ अन्य अधिकारी भी इसमें होते थे। उन्होंने सुझाव दिया था कि पुनर्गठन का उनका प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर परामर्श-परिषद् में ये लोग रखे जाएँ। कमांडर-इन-चीफ (अध्यक्ष), चीफ आफ जनरल स्टाफ (एक नयी सामान्य मातहत-शाखा बननी थी), एडजूटेंट जनरल, क्वार्टर मास्टर जनरल, आर्डनेंस के महानिदेशक और वित्त-सचिव सदस्य रहेंगे और युद्ध-विभाग के सचिव परिषद् के पदेन सचिव होंगे।

उन्होंने सेना-सङ्गठन-समिति, १८७९, के प्रतिवेदन की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। उक्त प्रतिवेदन का 'उच्चतम सरकार के एक सदस्य के रूप में कमांडर-इन-चीफ की स्थिति' से सम्बन्धित एक उद्धरण नीचे दिया जा रहा है

'१४१—बहुमत रूप में हमारे विचार में कार्यपालक कमांडर-इन-चीफ की स्थिति परिषद् के एक सदस्य के रूप में ऐसी चीज है, जिसका पूर्व दृष्टान्त किसी भी यूरोपीय सरकार या सेना के सङ्गठन में देखने को नहीं मिलता। यह ठोस प्रशासन के एक बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है और सभी प्रशासनों ने, चाहे वे प्रतिनिधायी हों या निरंकुश, सहजबुद्धि और अनुभवों की प्रेरणा से इसे अस्वीकार कर दिया है।

'१८२—यह कमांडर-इन-चीफ का सतत कर्तव्य है कि वह सेना के सुधार के लिए और अधिक धन के व्यय के लिए सरकार पर जोर देता रहे। सेना के अधिकारी और सैनिक अपने दावों पर जोर देने और उनकी जरूरतें बताने के लिए उसी की ओर देखते हैं। दूसरी ओर यह भारत सरकार का सतत कर्तव्य है कि भारत के करदाताओं के हित में ऐसे खर्च की माँग अस्वीकार कर दे, जिसे वह अनावश्यक या अयुक्ति-सङ्गत या देश की सहनशक्ति से परे मानती है। सेना के कार्यपालक प्रमुख के रूप में या भारत-सरकार के अधीनस्थ के रूप में अपने दृष्टिकोण के समर्थन में यथोचित रूप से पूरा आग्रह कर लेने के बाद उनका अधिवक्ता का कर्तव्य पूरा हो जाता है, और फिर देश की सरकार के लिए उत्तरदायी लोगों का ही यह दायित्व रह जाता है कि अपनी कर्तव्य-भावना के अनुरूप वे किस सीमा तक उसका अनुरोध मान सकते हैं ...।'

सेना-सदस्य के विचारों से सहमत होते हुए भी वायसराय लार्ड कर्जन ने साथ-साथ यह बात भी कही

पैराग्राफ २७ से ३० में (लार्ड किचनर ने) प्रशासन की अपनी नयी योजना की रूपरेखा दी है। सैन्य-विभाग अब बिलकुल समाप्त हो जायेगा और उसकी जगह पर आने वाले सगठन के उच्चतम प्रमुख के रूप में कमांडर-इन-चीफ और परिषद् के युद्ध-सदस्य होंगे। सेना की हर शाखा और सरकार का हर सेना-विभाग उसके अधीनस्थ होगा, हर अधिकारी आदेश के लिए, अपने भविष्य और पदोन्नति के लिए उसकी ही ओर देखेगा। परामर्श-परिषद् जो उसके सहयोग के लिए होगी, वह साथियों या समकक्ष लोगों की न होकर अधीनस्थ लोगों की होगी।

कमांडर-इन-चीफ सभी उपक्रमों का स्रोत होगा और कार्यपालन का भी एकमात्र साधन होगा। उसके अधिकार पर कोई भी अंकुश न होगा, केवल वित्त-विभाग द्वारा वित्तीय मामलों का नियन्त्रण उसे रोक सकेगा या भारत-सरकार की मंजूरी की अपेक्षा करने वाले मामलों में वह अन्तिम प्राधिकार। ये प्रकट सुरक्षाएँ निष्फल होंगी, क्योंकि सरकार विशेषज्ञ की सहायता और सलाह से वंचित रह जाएगी, जो उनको प्रभावी बनाने के लिए अत्यावश्यक है।

जैसा कि लार्ड डफरिन ने पहले ही समझ लिया था—ऐसी किसी भी व्यवस्था के अधीन वायसराय का सेना के प्रतिनिधि को छोड़ कोई और सलाहकार न रह जायेगा और वह भी व्यय या संगठन में परिवर्तन के प्रस्तावों पर आग्रह करने में ही ज्यादा रुचि लेगा। इस तरह देश का राजस्व कमांडर-इन-चीफ की दया का आश्रित हो जायेगा।

मैंने सेना-मुख्यालय द्वारा पेश किये गये ऐसे प्रस्ताव देखे हैं, जो सरकार की नीति के मौलिक सिद्धान्तों या स्थिति के वास्तविक तथ्यों से ही असंगत थे। सरकार के अभिलेखों और परम्पराओं की अभिरक्षा के लिए प्रभारी विभाग ही ऐसी किसी त्रुटि के विरुद्ध चेतावनी जारी कर सकता है। कमांडर-इन-चीफ ने अधीनस्थ प्राधिकारियों की जो माला प्रस्तावित की है, वह ऐसी कोई सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकती, क्योंकि उल्लिखित मामलों में वर्तमान पद्धति के तत्सवादी अधिकारी ऐसी कोई सुरक्षा नहीं दे सके है।

परिषद् के सभी अन्य सदस्यों ने लार्ड किचनर के प्रस्ताव का विरोध किया। एक सदस्य ने तो यहाँ तक कहा 'एक असैनिक सरकार के नियन्त्रण के प्रति अधीरता आज्ञोल्लंघन का रूप ले सकती है। सर चार्ल्स नैपियर जब कमांडर-इन-चीफ थे, तब उन्होंने भारत सरकार से बिना पूछे भारतीय सेना का वेतन बढ़ाने वाला एक आदेश जारी कर दिया था, और जब उनके कार्य को चुनौती दी गयी, तो उन्होंने तेजी से यह कहा कि ऐसा करके वह अपने विशेषाधिकार के अधीन ही रहे है। सैन्य-विभाग खत्म हो जाने से सैन्य-व्यय पर कुछ नियन्त्रण रखने में वित्त-विभाग की दिक्कतें बढ़ जायेंगी। तकनीकी जानकारी के बिना ब्योरों की हमारी आलोचना सदैव युक्ति-विहीन और अज्ञानपूर्ण होगी।'

देखने ही यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इस चर्चा ने उस समय काफी सनसनी पैदा कर दी होगी—वस्तुतः ऐसा हुआ भी—पर आज की वास्तविकता में उसका विशेष उपयोग नहीं है और दोनों ओर के तर्कों का आज केवल शास्त्रीय महत्व ही रह गया है। फलतः ऊपर उद्धृत अवतरण कुछ ज्यादा लम्बे लग सकते हैं। पर सचाई यह है कि यह विवाद बड़े ही महत्व का था और इसका प्रभाव दीर्घकालीन था, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप जो विभाग बना, वह व्यवहारतः १९४६ तक बिना बदले हुए चलता रहा। फिर, उस समय व्यक्त किये गये विचार आज भी रोचक हैं, क्योंकि इनमें कुछ मौलिक तत्व आ जाते हैं। यह ध्यान में रखना होगा कि उस समय भी यह चर्चा बड़ी ओजस्वी बन गयी थी, जब देश की सरकार का काम कानून और व्यवस्था बनाये रखने के अलावा और कुछ न था। निर्वाचित विधान मण्डलों के (भले ही उनका प्रतिनिधायी स्वरूप बिलकुल सीमित हो) दिन अभी बहुत दूर थे, जो कम-से-कम सैन्य-मामलों की चर्चा तो कर सकते, भले ही उनको प्रभावित न कर पाते। ऐसी स्थिति में लोकतन्त्रीय ढाँचे में जब सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, इन तर्कों का महत्व बहुत ही

ज्यादा बढ़ जाता है, सशस्त्र सेनाओं के कमांडर तो हमेशा ही अपने प्रस्तावों पर शीघ्र और अनुकूल निर्णय के लिए जोर डालते रहेंगे। साथ ही सरकार को राज्य के प्रति अपना कर्तव्य निभाना होगा और किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले सैन्य आवश्यकताओं की छानबीन विभिन्न दृष्टिकोणों से करानी होगी, जैसे देश की सुरक्षा के खतरे का स्वरूप और उसकी सीमा क्या है, सरकार की विदेश नीति क्या है, साधनों की उपलब्धता कैसी है, निर्वाचन-मण्डलों को दिये गये वादों के प्रसंग में सरकार के लक्ष्य आदि की पूर्ति कहाँ तक होती है आदि लोकतन्त्र में कृत और अकृत सभी अपराधों की जिम्मेवारी मन्त्री की होती है, भले ही सैन्य सलाहकारों ने कुछ भी सलाह दी हो। विंस्टन चर्चिल ने १९४० में हाउस ऑफ कामन्स में ठीक ही कहा था. 'मन्त्री इस बात का सहारा नहीं ले सकते कि उन्होंने अपने विशेषज्ञों की बात मान ली थी, दूसरी ओर यह बात भी नहीं कही जा सकती कि वे उनकी सलाह नहीं मानते।'

१९०५ के विवाद के अन्त में परिषद् के विचारों को बताने वाला एक डिस्पैच २३ मार्च १९०५ को सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास भेजा गया, जिसके साथ कमांडर-इन-चीफ की एक असहमति की टिप्पणी भी थी। लार्ड किचनर के प्रस्ताव पर जो मुख्य निष्कर्ष दिये गये, वे इस प्रकार थे

'१५...हम ऐसे संगठन... के बनाये जाने में सहमत नहीं हैं, जिसका समकक्ष, जहाँ तक हम जानते हैं, विश्व की किसी सेना या प्रशासन में नहीं है। यह ऐसे परिवेश में सैन्य-निरंकुशता पैदा कर देगा, जहाँ किसी संसदीय या लोक नियन्त्रण की व्यवस्था नहीं है। इसमें बहुत बड़ा खतरा है हमारे विचार से जैसे ही इसे व्यवहार में लाया जायेगा, यह तुरन्त ही एक भयंकर गतिरोध पैदा कर देगा।'

सेक्रेटरी ऑफ स्टेट का निर्णय

कमांडर-इन-चीफ, सेना-सदस्य और वायसराय की टिप्पणियों के साथ-साथ भारत-सरकार के डिस्पैच के मिलने पर, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने भारत के सैन्य प्रशासन का सारा प्रश्न इंडिया आफिस की एक उच्चस्तरीय समिति को सौंप दिया और अन्त में अपना निर्णय डिस्पैच संख्या ९६, तारीख ३१ मई, १९०५ द्वारा भेज दिया। उनका विचार था कि वायसराय की परिषद् में सेना के प्रश्नों पर विशेष राय देने के प्रयोजन से दो अधिकारी रहना वांछनीय है और उन्होंने निर्णय दिया कि विशुद्ध सैन्य सेवायें कमांडर-इन-चीफ के नियन्त्रण में होनी चाहिये, जिसका नाता कमांडर-इन चीफ के साथ भूतपूर्व सेना-सदस्य की अपेक्षा भिन्न होगा। इस तरह कमांडर-इन-चीफ को कमान, साउहतों और रेजीमेंट की नियुक्तियाँ, पदोन्नति, अनुशासन, प्रशिक्षण, संगठन, सेना-वितरण, गुप्तचर्या, लामबन्दी, आक्रमण और रक्षा की योजनायें, युद्ध तैयारी (सामग्री की पूर्ति को छोड़) और युद्ध-सञ्चालन के लिए सपरिषद् गवर्नर जनरल के प्रति सीधे उत्तरदायी बना दिया गया। परिषद् के दूसरे सदस्य के कृत्य, जो एक नये विभाग का भारसाधक होगा, सेना के ठेकों का नियन्त्रण, भण्डार, आर्डनेंस और नये घोड़ों की खरीद, सैन्य निर्माण-कार्यों का प्रबन्ध, कपड़ा और निर्माण-विभाग, भारतीय चिकित्सा सेवाएं और भारतीय नौ सेना तक ही सीमित रखे गये। वस्तुतः सैन्य-विभाग का कार्य दो

विभागों के बीच बांट दिया गया, एक सेना-विभाग था, जो परिषद् के सदस्य के रूप में कमाडर-इन-चीफ के सीधे अधीन था, और दूसरा था सैन्य पूर्ति-विभाग। सैन्य-पूर्ति के भार-साधक का काम सपरिषद् गवर्नर जनरल को विशुद्ध सैन्य प्रश्नों से भिन्न सामान्य नीति के प्रश्नों पर सलाह देना था। यह सदस्य भी एक सैन्य-अधिकारी ही होता था, जिसे भारत का काफी अनुभव हो और जिसमें प्रशासनिक क्षमता हो और जो भारतीय सेना के गुणों से निकट से परिचित हो। उसके कृत्य सैन्य-ज्ञान और अनुभव वाले एक असैनिक अधिकारी जैसे ही थे। प्रत्येक विभाग का अलग सचिवालय भारत-सरकार के एक सचिव के अधीन बनाया गया।

सामान्य अमला-शाखा की रचना (१९०६)

कमांडर इन-चीफ को निरन्तर बढते हुए कार्यों को करने में समर्थ बनाने के लिए सहायता देने की दृष्टि से सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने उच्च हैसियत के एक अतिरिक्त सेना-अधिकारी को नियुक्त करने का भी निर्णय लिया, जो कमांडर-इन-चीफ के चीफ ऑफ स्टाफ के रूप में था। उसे सक्रियागत आयोजन, गुप्तचर्या और प्रशिक्षण आदि का काम सौंपा गया। इस तरह सामान्य अमला-शाखा ने जन्म लिया। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के डिस्पैच में यह भी कहा गया कि *स्थान रिक्त होने पर अगर कमांडर-इन-चीफ ब्रिटिश सेना का अधिकारी हो, तो उसके नीचे* के तीन प्रमुख अधिकारियों में से अर्थात् चीफ ऑफ स्टाफ, एडजुटेंट जनरल और क्वार्टर मास्टर जनरल में से दो भारतीय सेना में से चुन कर भरे जाने चाहिये, इसके विपरीत यदि कमांडर-इन-चीफ भारतीय सेना का एक अधिकारी हो, तो *इन तीन अधिकारियों में से दो* ब्रिटिश सेना में से लिये जायें। इस तरह सैन्य मामलों में कमांडर-इन चीफ भारत सरकार का एकमात्र-सलाहकार बन गया।

सैन्य-वित्त-विभाग की रचना

जब पुराना सैन्य-विभाग अपने कटे-फटे रूप में कमांडर-इन-चीफ के अधीन आ गया, तो सैन्य व्यय के ऊपर समुचित वित्तीय नियन्त्रण के लिए अब यह उपयुक्त न रहा कि सैन्य-लेखा-विभाग के भारसाधक नियन्त्रक के रूप में सैन्य महालेखाकार नये सेनाविभाग के अधीन बना रहे। इसलिए एक तीसरा विभाग सैन्य-वित्त-विभाग नाम से बनाया गया (१९०६), जो संयुक्त वित्तीय सचिव के अधीन था (जिसे बाद में वित्तीय सलाहकार नाम दिया गया)। वह वरिष्ठ वित्त सचिव और वित्त के प्रभारी परिषद्-सदस्य के नियन्त्रण में था। इस तरह सैन्य-वित्त-विभाग का जन्म हुआ। उक्त निर्णय के फलस्वरूप १६ मार्च १९०६ से जो संगठन-ढाँचा बना, वह एक आरेख में बताया जा रहा है।

आरेख–२

परिषद् के सेना-सदस्य के पद की समाप्ति के बाद का संगठन ढाँचा (१९०६)
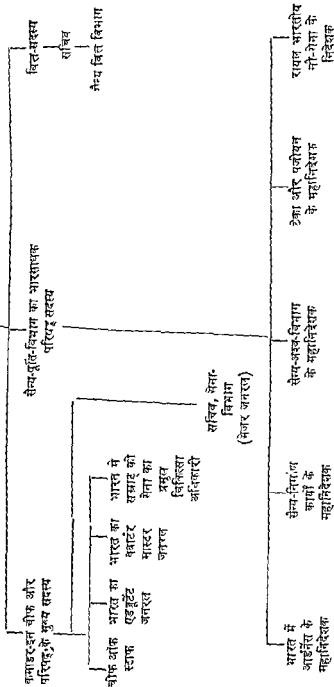
उपर्युक्त निर्णयों को विषयनिष्ठ दृष्टि से देखा जाय, तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उस समय की परिस्थितियों के हिसाब से वे ठोस और उपयुक्त ही थे। कमांडर-इन-चीफ ने यह आपत्ति की थी कि उसके प्रस्तावों की जाँच परिषद् के एक अन्य सदस्य के द्वारा नहीं होनी चाहिये, जो सैन्य-पद के हिसाब से उससे कनिष्ठ होता था, और इसीलिए अनुभव में भी। आपत्ति को और जानदार बनाने वाली एक बात यह भी थी कि सैन्य-विभाग का सचिव, जिसके कर्तव्य और दायित्व भारत-सरकार के दूसरे सचिवों जैसे ही थे, वायसराय के पास सीधे ही पहुँच सकता था। सचिवालय की नियुक्तियों वाले दूसरे भी सैन्य अधिकारी सैन्य विभाग में थे, जो सेना मुख्यालय से आने वाले सभी प्रस्तावों पर टीका-टिप्पणी कर सकते थे। (ये अधिकारी सैन्य-विभाग में तीन साल की अपनी पदावधि पूरी करने के बाद कमांडर-इन-चीफ के अधीन कमान या स्टाफ नियुक्तियों पर भेजे जा सकते थे)। इस तरह आशा के विपरीत सैन्य-विभाग में असैनिक अधिकारी न थे। बहुत समय तक सैन्य विभाग के अधिकारी भारतीय सेना में सीमित पदावधि (अर्थात् तीन साल) की नियुक्तियों पर सेना मुख्यालय के अधिकारियों की तरह आते रहे। दूसरी ओर परिषद् के दूसरे सदस्यों ने यह जरूरी समझा कि सरकार के सामने आने वाली सभी समस्याओं के बारे में स्वतन्त्र सैन्य सलाह प्राप्त करें। यद्यपि सैन्य विभाग के अधिकारियों से यह आशा की जाती थी कि वे प्रस्तावों को विशुद्ध सैनिक दृष्टि से न देख कर व्यापक दृष्टि से देखेंगे, फिर भी यह तो तथ्य ही था कि सैन्य अधिकारी के रूप में वे कमांडर-इन-चीफ के अधीनस्थ बड़े ही कनिष्ठ अधिकारी होते थे। यह बात भी नगण्य हो जाती है, जब हम देखते हैं कि महत्वपूर्ण मामलों पर अन्तिम निर्णय लेने के लिए भारत-सरकार भी सक्षम नहीं थी। सैन्य (और असैनिक) समस्याओं पर भारत-सरकार का मत निश्चित करने के लिए तन्त्र या कार्यविधि कैसी भी क्यों न हो, इन सभी प्रस्तावों पर अन्ततः सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की मंजूरी प्राप्त करनी होती थी। इसलिए इस बात की सम्भावना न थी कि परिषद् के किसी एक सदस्य के हाथ में सत्ता केन्द्रित हो जायेगी (उसकी प्रास्थिति और कीर्ति कुछ भी क्यों न हो) भारत-सरकार के डिस्पैच पर अपना आदेश भेजते हुए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने स्वयं यह स्पष्ट किया कि कमांडर-इन-चीफ के प्रस्तावों पर किसी भी हालत में परिषद् के वित्त-सदस्य और वित्त की आलोचना तो आयेगी ही। राजनीतिक रूप से उन सभी प्रस्तावों की समीक्षा परिषद् के पाँच-छः दूसरे सदस्य भी करेंगे और महान् शक्ति रखने वाले गवर्नर जनरल ही सबसे ऊपर उन्हें देखेंगे। यह मान भी लिया जाये कि सभी बाधायें दूर हो गयीं, तब भी महत्व वाले किसी भी आदेश का सपरिषद् सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास भेजना होगा। भारतीय सैन्य मामलों के बारे में अपने प्रमुख सलाहकार के रूप में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास भारतीय सेना का एक ऊँचे पद वाला अधिकारी होता है, जो सामान्यतः लेफ्टिनेंट-जनरल होता है और उसका भारत का अनुभव ताजा होता है तथा यह इंडिया ऑफिस के सैन्य विभाग का सचिव होता है और भारत सम्बन्धी सभी सैन्य मामलों की वह समीक्षा करता है। फिर ये मामले भारत की परिषद् की एक या अधिक समितियों को सौंपे जाते हैं, जिनमें भी अनुभवी सैन्य अधिकारी होते हैं। (साथ ही इंडिया ऑफिस का मार्ग-

दर्शन सम्राट् का युद्ध-कार्यालय और नौ-सेना कार्यालय करता है, जो साम्राज्य के दृष्टिकोण से ख्यातिजी की वृहत्तर बातों को ध्यान में रखते है)। फिर इन प्रस्तावों पर सपरिषद् सेक्रेटरी ऑफ स्टेट निर्णय लेते हैं। कहना न होगा, दूरगामी महत्व के मामले ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल तक जाते हैं।

नये सैन्य-पूर्ति-सदस्य के कार्यक्षेत्र और पहले व्यक्ति का चुनाव करने के लिए जो पत्र-व्यवहार चला, उसकी चर्चा आवश्यक नहीं है। इसके अन्त में वायसराय लार्ड कर्जन ने अनुभव किया कि—

सैन्य पूर्ति-विभाग बिलकुल असमर्थ बनकर रह जायेगा और सैन्य-पूर्ति सदस्य के पद की रचना सार्वजनिक धन के अक्षम्य अपव्यय का कारण होगी और यह ज्यादा अच्छा होगा कि विभाग और सदस्य दोनों को ही न रखा जाय।

इस मामले में लार्ड कर्जन की भावनायें सच्ची सिद्ध हुईं। यह व्यवस्था न तो प्रशासन और न बचत की दृष्टि से ही ठीक सिद्ध हुई (जैसा कि भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड मॉरले ने बाद में बताया) और सैन्य-पूर्ति-विभाग १६०६ में समाप्त कर दिया गया। इस विभाग की समाप्ति के बाद आर्डनेंस के महानिदेशक भी, जिनको बाद में आर्डनेंस का मास्टर-जनरल कहा गया, एक प्रमुख स्टाफ अधिकारी बन गये। तब से सेना के प्रशासन, भारत-सरकार की सैन्य नीति के निर्माण और कार्यान्वयन, भारत पर आधारित सैन्य-सक्रिया का निर्देशन आदि को केवल एक ही अधिकारी अर्थात् कमांडर-इन-चीफ और सेना-सदस्य को ही सौंप दिया गया। यह स्थिति यथार्थत सितम्बर, १६४६ में अन्तरिम लोकप्रिय सरकार बनने तक चलती रही।

सैन्य-वित्त-विभाग की जिम्मेवारियाँ

अब हम सैन्य वित्त-विभाग की रचना की बात को फिर लेते हैं। वित्तीय सलाहकार सेना-विभाग में वित्त-विभाग का प्रतिनिधि था। वह महामहिम कमांडर-इन-चीफ और सेना-सदस्य का सैन्य-व्यय सम्बन्धी सभी मामलों में विशेषज्ञ सलाहकार भी था। उसे सेना-विभाग से न केवल व्यय की अनियमितायें रोकने के लिए संलग्न किया गया था, बल्कि उसको शिघ्रता और बचत के साथ सैन्य-कार्य का निपटारा करने में उस विभाग की मदद देने के लिए भी रखा गया था। यह उसका कर्तव्य था कि व्यय वाले सभी प्रस्तावों की वित्तीय सिद्धान्तों और लोक-व्यय की दृष्टि से छानबीन करे, यह सलाह दे कि क्या उनको स्वीकार किया जा सकता है और यह देखे कि नियमों के अधीन सरकार या सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की मंजूरी जरूरी होने पर प्राप्त की गयी है या नहीं।

संक्षेप में १६१४ में प्रथम विश्व-युद्ध शुरू होने से ठीक पहले सपरिषद् गवर्नर जनरल भारत में सेना का सर्वप्रमुख था। सेना का प्रशासनिक नियन्त्रण महामहिम सेना-सदस्य (और कमांडर-इन-चीफ) के अधीन सेना-विभाग के हाथ में था। सेना-सदस्य गवर्नर जनरल की परिषद् का असाधारण सदस्य था। भारत सरकार के आदेश संसूचित करने वाले सभी पत्रादि भारत-सरकार के सेना विभाग के सचिव या उसके नाम से जारी किये जाते थे। वह विभाग को सेक्रेटरी ऑफ स्टेट, स्थानीय सरकारों और प्रशासनों तथा ईस्ट इण्डीज स्क्वेड्रन के नौसेना

कमांडर-इन चीफ (जो भारत सरकार के नौसेना सलाहकार थे) के साथ सारा पत्राचार चलाता था। सरकार के दूसरे विभागों के साथ भी पत्राचार सेना विभाग के द्वारा ही किया जाता था। केवल सेना मुख्यालय की शाखाओं को यह छूट थी कि अन्य विभागों से ऐसी दैनन्दिन पूछताछ सीधे-सीधे कर लें, जिनके बारे में सरकारी आदेशों की अपेक्षा नहीं होती थी।

सेना-विभाग का काम सेना-मुख्यालय की शाखाओं के प्रमुखों के रूप में नीचे लिखे अधिकारियों के अधीन बांटा गया था

चीफ आफ दि जनरल स्टाफ

एडजूटेंट जनरल

क्वाटर मास्टर जनरल

चिकित्सा-सेवा-निदेशक

सैन्य सचिव

आर्डनेंस के महानिदेशक (बाद में नामकरण आर्डनेंस के मास्टर जनरल किया गया)
सैन्य-निर्माण-कार्यों के महानिदेशक (बाद में नामकरण इंजीनियर इन चीफ किया गया)।

प्रस्ताव भेजने की संशोधित कार्यविधि-सेना-विभाग की स्थिति

नये ढांचे में कार्य निपटाने की संशोधित कार्यविधि पर ध्यान दे लेना जरूरी है। पुराने सैन्य विभाग की भूमिका समाप्त हो चुकी है। सेना विभाग से अब यह अपेक्षा नहीं की जाती कि उसके पास आने वाले प्रस्तावों की वह स्वतन्त्र छानबीन करे और न वह इस स्थिति में ही था कि काम की शुरुआत वह स्वयं करे। पुराने सैन्य विभाग में नये विचारों का सूत्रपात किया जाता था और संगठन के बाहर से आने वाले प्रस्तावों की जांच पहले विभाग में ही की जाती थी और उसके बाद ही यथावश्यक सेना-मुख्यालय की सम्बन्धित शाखा या कमांडर इन चीफ से टिप्पणी मंगायी जाती थी।

जब सैन्य विभाग अस्तित्व में था, तब सेना मुख्यालय से आने वाले सभी प्रस्ताव पहले उस विभाग को भेजे जाते थे। नयी व्यवस्था के अधीन वित्त वाले ऐसे सभी प्रस्ताव अब पहले सैन्य-वित्त-विभाग के पास भेजे होते हैं, जो उस पर टिप्पणी करके सम्बन्धित शाखा को लौटा देता है। यदि विभाग के विचार सम्बन्धित निदेशक को स्वीकार हो, या जब मामला प्रमुख स्टाफ अधिकारी के ध्यान में लाने लायक पर्याप्त महत्व का हो, तो फाइल सैन्य-वित्त-विभाग के पास आवश्यक मसौदा, आदेश या उत्तर प्रस्तुत करने के लिये लौटा दी जाती थी। इन मसौदों के साथ सैन्य वित्त विभाग फाइलों को या तो सम्बन्धित शाखा के पास भेज देता था, या सेना विभाग के सचिव के पास, जहां से सरकार के आदेश जारी होते थे। इस तरह नयी प्रणाली में सेना विभाग के पास सेना सम्बन्धी किसी मामले में कुछ शुरुआत करने की गुंजाइश न रही थी। सभी मामलों की वित्तीय जांच सैन्य-वित्त-विभाग करता था, ऐसे मामलों की भी जहां सेना-विभाग द्वारा जारी किये जाने वाले सरकारी आदेशों के मसौदे भी बनाने होते थे। इसके अनुकूल ही सेना-विभाग में बाहरी स्रोतों से प्राप्त सभी पत्र प्रायः बिना छुए ही सेना-मुख्यालय की सम्बन्धित शाखा के पास भेज दिये जाते थे। केवल रॉयल इंडियन मेरीन,

चर्चसम्बन्धी विषय, भारतीय चिकित्सा-सेवा, (मृत अधिकारियों की) सम्पदायें, और पदकों वाली फाइलें पहले-पहल सेना विभाग में खोली जाती थीं। इन मामलों में आदेश कार्य-नियमावली और सचिवालय अनुदेशों के अनुसार निकाले जाते थे, क्योंकि ये नियम और अनुदेश समान रूप से सेना-विभाग पर भी लागू थे। सेना-विभाग के जरिए पत्र प्राप्त होने पर सम्बन्धित शाखा एक नयी फाइल खोल लेती थी या उस विषय की पहले से विद्यमान किसी फाइल के होने पर, उस पत्र को उस फाइल में रखकर, सारी जरूरी कार्रवाई करती थी और सैन्य-वित्त विभाग के साथ यथावश्यक सीधे परामर्श कर लेती थी। सेना-मुख्यालय की शाखाओं से यह प्रत्याशा की जाती थी कि पूरी फाइल सरकारी आदेशों के मसौदों सहित प्रस्तुत करें, खासकर जब उनसे मामलों के निपटाने में सुविधा होने की सम्भावना हो। फिर भी उनको सेक्रेटरी ऑफ स्टेट या स्थानीय सरकार और प्रशासनों के साथ पत्राचार करने की अनुमति न थी, न वे सेना-सदस्य की हैसियत से कमांडर-इन-चीफ से ही किसी प्रस्ताव का अनुमोदन प्राप्त कर सकते थे। लेकिन ऐसे तकनीकी या दैनन्दिन मामलों में वे इगलैंड में नौसेना या युद्ध-कार्यालय से पत्राचार कर सकते थे, जिन पर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट या भारत-सरकार के आदेश की जरूरत न थी। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट आदि से पत्राचार की अपेक्षा करने वाले सभी मामले आवश्यक कार्रवाई के लिए सेना विभाग के पास भेजने होते थे, पर वह विभाग एक प्रतिष्ठित डाकघर मात्र था।

विभाग के सचिव के पास भी दूसरे सचिवों जैसी शक्तियाँ थीं और वह ठीक समझे तो किसी भी समय कोई मामला सीधे गवर्नर जनरल के पास भेज सकता था। सीधे पहुँच की यह व्यवस्था सितम्बर, १९४६ तक बनी रही।

भारत-सरकार सचिवालय के अन्य भागों के सादृश्य पर, इस विभाग और इसके सलग्न और अधीनस्थ कार्यालयों का काम, सेना मुख्यालय की शाखाओं में प्रायः संयुक्त हो जाता था। सेना-मुख्यालय के शाखा-प्रमुखों के कृत्य दुहरे थे। वे कमांडर-इन-चीफ के स्टाफ अधिकारी थे और उनके निर्णयों की कार्यान्विति के लिए जिम्मेवार थे। साथ ही वे कमांडर-इन-चीफ के निदेश से सेना सम्बन्धी उन मामलों का सूत्रपात भी करते थे, जिन पर भारत-सरकार या सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के आदेशों की जरूरत होती थी। वित्त प्रकार के मामले पहले सीधे वित्त-विभाग ले जाये जाते थे और वे सेना-विभाग तक अन्तिम रूप में ही पहुँचते थे। सरकार के आदेश निकालने के लिए जिम्मेवार भारत-सरकार का यह विभाग यन्त्रवत् हो रह जाता था। इस तरह सैन्य-वित्त-विभाग पर जो जिम्मेवारी आ जाती थी, वह प्रत्यक्ष है। प्रशासनिक विभाग कमांडर-इन-चीफ के अधीन आ जाने से सैन्य-व्यय की कोई स्वतन्त्र जाँच केवल सैन्य-वित्त-विभाग द्वारा ही की जा सकती थी। रक्षा-सेनाओं का आय-व्यय तैयार करने का काम, व्यय की प्रगति पर ध्यान रखना (यह सब काम पहले सैन्य-विभाग करता था), वस्तुतः सैन्य व्यय सम्बन्धी सारी जिम्मेवारी अब इस विभाग पर आ गयी। स्वभावतः इस प्रक्रिया में सैन्य-वित्त-विभाग के अधिकारियों को सैन्य मामलों में काफी गहरा ज्ञान हो जाता था और आगे के वर्षों में सैन्य-व्यय की प्रभावी छानबीन करने में वही समर्थ रहे। यह अनिवार्य हो गया कि उस सीमा तक सेना-विभाग के अधिकारी (और उसके उत्तरवर्ती विभाग

के) क्रमशः ज्ञान और प्रभाविता में पीछे पड़ गये, क्योंकि कोई उपक्रम उनके हाथ में न रह जाने से गम्भीर रूप से कुछ काम करने के लिए उनके पास कोई प्रोत्साहन न रह गया था। सेना-विभाग की यह घटने वाली और तुच्छ भूमिका सत्ता-हस्तान्तरण तक और उसके कुछ समय बाद तक बनी रही। लोकतन्त्री ढाँचे में नयी और अहत्त्वपूर्ण जिम्मेवारियाँ सम्भालने के मामले में भी इसका प्रभाव बना रहा।

सलाहकार परिषद्

सेना-मुख्यालय सेना-विभाग और सैन्य-वित्त-विभाग के बीच समुचित सहयोग और समन्वय की दृष्टि से एक सलाहकार परिषद् बनायी गयी थी (जिसका सविधान सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने १६०६ में मंजूर किया था), जो सेना में सुधार करना, युद्ध की तैयारी करना आदि बड़े-बड़े प्रश्नों पर चर्चा करती थी। परिषद् का गठन इस तरह था—

महामहिम सेना-सदस्य	अध्यक्ष
चीफ ऑफ जनरल स्टाफ सचिव, सेना-विभाग वित्तीय सलाहकार, सैन्य-वित्त एडजूटेंट जनरल क्वार्टर मास्टर जनरल	सदस्य
महानिदेशक, सैन्य-निर्माण-कार्य आर्डनेंस महानिदेशक चिकित्सा-सेवा-निदेशक	जब विचाराधीन विषय का सम्बन्ध मुख्यतः उनकी शाखा से हो
सैन्य-सक्रिया-निदेशक	पदेन सचिव
भारतीय चिकित्सा-सेवा-महानिदेशक	सह-सदस्य

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, परिषद् बिलकुल सलाहकार निकाय थी और उसका कोई सामूहिक उत्तरदायित्व न था।

प्रथम विश्व-युद्ध और भारत-सरकार-अधिनियम, १९१९

यही ढाँचा प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान चलता रहा। विश्व-युद्ध छिड़ जाने पर भी, जिसमें भारतीय सैनिकों को सक्रिय सैन्यचर्या के लिए विदेश भेजा गया, सेना में १९१८ तक किंग कमीशन प्राप्त कोई भी भारतीय न था।

भारत-सरकार-अधिनियम, १९१९ ने भारत को कुछ सीमा तक स्वशासन की व्यवस्था के साथ एक नया संविधान दिया, पर सेना-प्रशासन के मामले में उसके अधीन कोई परिवर्तन न हुआ। कमांडर-इन-चीफ पहले की तरह गवर्नर-जनरल की परिषद् के सदस्य बने रहे, लेकिन अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी कि परिषद् में उनकी हैसियत और प्राथमिकता गवर्नर

जनरल के बाद ही होगी। केन्द्रीय विधान-मण्डल को बिल्कुल नया रूप दिया गया। अब दो सदन रखे गये; विधान-सभा जिसमें सदस्यों का निर्वाचित बहुमत था और राज्य-परिषद् (कौंसिल ऑफ स्टेट), जो बड़े ही संकीर्ण मताधिकार से चुनी जाती थी। केवल असैनिक आवश्यक ही विधान-सभा के समक्ष रखा जाता था, पर गवर्नर जनरल को शक्ति थी कि वह आवश्यक मान सके, विधान-सभा के द्वारा अस्वीकृत, किसी भी मद को प्रमाणित कर दे। कमांडर-इन-चीफ को राज्य-परिषद् का एक सदस्य नामित किया गया और सेना-सचिव को विधान-सभा का। रक्षा और चर्च सम्बन्धी मामलों का व्यय विधान-सभा के समक्ष मतदान के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाता था और अन्य चीजों के साथ-साथ इन विषयों पर भी जब तक गवर्नर जनरल अन्यथा निर्देश न दे, विधान-सभा या राज्य-परिषद् में चर्चा नहीं की जा सकती थी। भारतीय विधान-मण्डल को कोई शक्ति न दी गयी थी कि समस्त सेनाओं के ब्रिटिश सदस्यों पर लागू होने वाले कानून बना सके, भले ही वे स्थायी रूप से भारत में नियुक्त हों।

एशर समिति १९१९-२०

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर भारत की सैन्य-प्रशासन-पद्धति की जाँच भारत-सेना-समिति द्वारा, जिसे ज्यादातर एशर समिति के नाम से जाना जाता है, १९१९-२० में की गयी। इस समिति ने यह बहुत वाञ्छनीय समझा कि उसी व्यक्ति के कमांडर-इन-चीफ और सेना-विभाग का भारसाधक सदस्य होने से जो द्वन्द्व-द्वैधता आ जाती है, उसे समाप्त कर दिया जाय। उनका मुख्य तर्क यह था कि विद्यमान व्यवस्था से कमांडर-इन-चीफ के ऊपर काम का बहुत भारी बोझ आ पड़ता है, क्योंकि उसे परिषद् के सामने आने वाले सभी कागज-पत्र देखना और उन पर टिप्पणी करनी पड़ती है और परिषद् की बैठकों में जाना पड़ता है। इसके अलावा वह सेना-विभाग का भारसाधक भी होता है और समस्त सेनाओं का कार्यपालक-प्रमुख भी। समिति के बहुमत ने यह सिफारिश की कि वायसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल में एक असैनिक-पूर्ति-सदस्य नियुक्त किया जाय, जो सैन्य-पूर्ति के उत्पादन और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हो। अल्पमत का विचार था कि उत्पादन और व्यवस्था करना कमांडर-इन-चीफ की नवसंस्थापित सैन्य-परिषद् को सौंप दिया जाय। अन्त में समिति द्वारा इस बारे में की गयी सिफारिश का कुछ भी फल न हुआ।

जैसा पहले बताया जा चुका है, सेना-विभाग के सचिव के भी वही कर्तव्य और उत्तरदायित्व थे, जैसे कि भारत सरकार के असैनिक विभागों के दूसरे सचिवों के। फिर भी अपने अन्य सहयोगियों से भिन्न वह एक सैन्य अधिकारी था—मेजर जनरल की हैसियत का। एशर समिति ने पद्धति[1] के इस रूप पर घोर आपत्ति की। फलस्वरूप १९२१ में सेना-विभाग

---

१. भारत सरकार में सचिव, संयुक्त सचिव और उपसचिव के पद आई० सी० एस० के लिए आरक्षित रहते थे, पर ये पद सेना, नौ-सेना, शिक्षा, विदेश, राजनीतिक और लोक-निर्माण-विभाग में इस तरह आरक्षित न रहते थे (भारत-सरकार-अधिनियम, १९१९ की तीसरी अनुसूची देखिए)। इसलिए सेना-विभाग में वरिष्ठ पदों पर काफी समय से सैन्य अधिकारी रहते आते थे।

के सचिव का पद एक असैनिक को मिलने लगा। यही बात विस्मय की है यह परिवर्तन करने में इतनी देर लगी।

इशर समिति की सिफारिशों के फलस्वरूप सैन्य-वित्त-विभाग को, सेना मुख्यालय की ज्यादा महत्वपूर्ण शाखाओं के साथ एक एक वित्तीय सलाहकार नियुक्त करके, सेना-मुख्यालय के ज्यादा निकट ले आया गया। वित्तीय सलाहकार और उसके अधिकारी प्रस्ताव बनाने में अनौपचारिक सहायता देने के लिए सेना-मुख्यालय के अधिकारियों के लिए सुलभ बने रहे। इस वित्तीय सलाहकार का कर्तव्य था कि भिन्न-भिन्न निदेशालयों के साथ वे सम्पर्क में, उनमें उत्पन्न होने वाले वित्तीय प्रश्नों के बारे में, प्रशासन की सहायता करें और उन्हें सलाह देते रहें और साथ ही प्रमुख स्टाफ अधिकारियों को उनके वार्षिक अनुमान-पत्र बनाने में मदद देते रहें।

यह देखा जायेगा कि कमांडर-इन-चीफ की पूर्वोल्लिखित परिषद् उस समय तक सक्रिय रूप में अस्तित्व में न आने पायी थी, जब इशर समिति ने संगठन के बारे में प्रतिवेदन दिया क्योंकि, समिति ने उच्च स्टाफ अधिकारियों तथा अन्य लोगों से बनी एक परिषद् की स्थापना की सिफारिश की थी, जो कमांडर-इन-चीफ की उसके प्रशासनिक कृत्यों के पालन में मदद दे सके। समिति ने जोर दिया कि वित्तीय सलाहकार भी परिषद् में रहे और इस तरह शाखाओं के सैन्य-प्रमुखों का एक साथी रहे, न कि आलोचक नहीं। इस तरह परिवर्तित रूप में अस्तित्व में आने वाली सैन्य परिषद् की रचना इस प्रकार से की गयी थी—

कमांडर इन चीफ (अध्यक्ष)
चीफ जनरल स्टाफ
एडजूटेंट जनरल
क्वार्टर मास्टर जनरल
सचिव, सेना-विभाग
वित्तीय सलाहकार, सैन्य-वित्त

इस परिषद् के अस्तित्व में आ जाने से सेना-सदस्य द्वारा किसी ऐसी सिफारिश नामंजूर कर देने की सम्भावना न रही, जिसे वह कमांडर-इन-चीफ के रूप में अनुमोदित कर चुका था। परिषद् का रूप मुख्यतः सलाहकार का था। उसकी कोई सामूहिक जिम्मेदारी न थी। उसकी बैठकों के फलस्वरूप लिये गये निर्णय कमांडर-इन-चीफ के थे, परिषद् के नहीं। पर इस परिषद् के जरिए वह अपना फैसला करने से पहले नीति के किसी प्रश्न पर सैन्य, प्रशासनिक और वित्तीय दृष्टि से, इसके सदस्यों के सुनिश्चित विचार जान सकता था। यह परिषद् दूसरे विश्व-युद्ध के आरम्भ तक चलती रही, भले ही इसकी सदस्यता में उपयुक्त परिवर्तन किये जाते रहे।

नौ-सेना

अब नौ-सेना और सबसे नयी सेना वायु-सेना के विकास की कहानी का वर्णन किया जा सकता है। भारत में नौ-सेना का जन्म सन् १६१२ में खोजा जा सकता है, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जहाजों का एक छोटा-सा बड़ा सूरत भेजा था, जो कम्पनी और उसके बेड़

का मुख्यालय बना रहा। १८६५ में भारतीय नौ-सेना का मुख्यालय सूरत से बम्बई आ गया। १८३० तक इसे बम्बई मेरीन कहा जाता था, १८३० से १८६२ तक इसे भारतीय नौसेना कहा गया, पर १८६३ मे पुराना नाम फिर चल पडा। १८७७ मे एक पुनर्गठन के बाद इसे इडियन मेरीन कहा गया। जिन उद्देश्यो के लिए इसे खडा किया गया था, उन्हे भारतीय मेरीन-सेवा-अधिनियम, १८८४ मे बता दिया गया था, अर्थात् सैनिकों को ले जाना, अपराधियों की बातो की रखवाली, जल-दस्युता रोकना, समुद्र-तटो और बन्दरगाहों का सर्वेक्षण, प्रकाशगृहों की देखभाल, सकटग्रस्त और भग्न पोतो को सहायता पहुँचाना और अन्य स्थानीय उद्देश्य। पर जलदस्युता रोकना कभी भी निश्चित कर्तव्य के रूप मे इसे न सौंपा गया। उपर्युक्त प्रयोजन १९२८ तक मैरीन के मूल उद्देश्य बने रहे। १८९२ मे रॉयल नाम जोड दिया गया और यह सेवा रॉयल इडियन मेरीन कही जाने लगी। १९२८ मे इस सेवा को लडाकू रूप मे पुनर्गठित कर दिया गया और छ साल बाद, भारतीय नौसेना (अनुशासन) अधिनियम के पास हो जाने के बाद, यह ८ सितम्बर, १९३४ से रॉयल इडियन नेवी बन गयी। रॉयल इडियन मेरीन में भी १९३२ तक कोई भी भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारी न था।

रॉयल इडियन मेरीन पहले सैन्य-विभाग के अधीन थी, पर १९०६ मे उसे नवगठित सैन्य-पूर्ति-विभाग के अधीन कर दिया गया, और फिर, १९०९ के बाद उस विभाग के खत्म हो जाने पर, यह सीधे-सीधे कमाडर-इन-चीफ के अधीन आ गयी। उस समय यह सेना एक निदेशक के अधीन थी, जिसका कार्यालय बम्बई में था। १९३४ में इसके रॉयल इडियन नेवी बन जाने पर इसके कमान अधिकारी को फ्लेग अफसर कमाडिंग, रॉयल इडियन नेवी कहते थे। इसका मुख्यालय अब भी बम्बई मे ही था। १९४० मे मुख्यालय शिमला भेज दिया गया, ताकि रक्षा-मुख्यालय के निकट रहे और अब इसे नौ-सेना-मुख्यालय कहा जाने लगा। रॉयल नेवी के ईस्ट इडीज स्क्वेड्रन के महामहिम, नौसेना कमाडर-इन-चीफ, पूरे ब्रिटिश काल मे भारत सरकार के नौसेना सलाहकार बने रहे।

वायु-सेना

भारतीय वायुसेना तीनो सेनाओ मे स सबसे नयी है। केन्द्रीय विधान-मण्डल द्वारा पास किये गये भारतीय वायुसेना अधिनियम के ८ अक्टूबर १९३२ मे प्रभावी हो जाने के बाद, १ अप्रैल १९३३ से इसने जन्म लिया।

पहले विश्वयुद्ध के दौरान ही बहुत से भारतीय रॉयल फ्लाइंग कोर में अधिकारी के रूप में लिये गये थे। (रायल फ्लाइग कोर १९१९ मे रॉयल एयर फोर्स बनने तक इंगलैण्ड की सेना का एक अग था)। ऐसे दो अधिकारी लडाई में काम आये थे और एक को सुविशिष्ट उड्डयन क्रॉस प्रदान किया गया था। रॉयल फ्लाइग कोर की पहली टुकडी दिसम्बर, १९१५ में भारत पहुँची और क्रमश १९१९ में उसकी संख्या कुछ बढ गयी। जब उस साल इगलैंड मे रायल एयर फोर्स एक अलग सेवा विभाग बन गया, तब भारत मे इस सेवा को भारतीय रॉयल एयर फोर्स कहा जाने लगा। १९३३ में, एक अलग भारतीय वायु-सेना बनने तक,

इसका आयव्ययक सेना के बजट में शामिल किया जाता था। वायु-सेना के प्रमुख को भारत का एयर अफसर कमांडिंग कहा जाता था, जिसकी हैसियत पहले एयर वाइस मार्शल की थी, जो बाद में एयर मार्शल की हो गयी। रॉयल इंडियन नेवी के फ्लैग अफसर कमांडिंग की तरह एयर अफसर कमांडिंग भी भारत के कमांडर-इन-चीफ के नियन्त्रण में था। वायु-सेना का मुख्यालय सेना-मुख्यालय के निकट सम्पर्क से काम करता था।

भारतीय वायुसेना बनाने के लिए छः छात्र सैनिकों की एक टुकड़ी रॉयल एयर फोर्स कालेज, क्रैनवेल को सितम्बर १९३० में शुरू होने वाले पाठ्यक्रम के लिए भेजी गयी। भारतीय वायु-सेना की पहली फ्लाइट में चार 'वापीती' विमान थे, जो माडल कि पहले ही पुराना पड़ चुका था। उसमें छः क्रैनवेल में शिक्षित अधिकारी[1] और १९ वायु सैनिक (एयरमैन) थे। वायु सैनिक उन प्रशिक्षुओं में से भरती किये जाते थे, जो रेल कारखाने में कुछ सालों का प्रशिक्षण पूरा कर चुके होते थे। उनको आगे प्रशिक्षण विमान डिपो, कराची में दिया जाता था। भारतीय वायुसेना की एक खास बात यह थी कि, सेना या नौ सेना से भिन्न, इसमें केवल भारतीयों को ही कमीशन दिया जाता था। इसलिए स्वाधीनता के समय भारतीय वायुसेना में कोई अभारतीय कमीशन-धारी न थे। फिर भी भारतीय अधिकारियों की संख्या बहुत कम थी और वे बहुत कनिष्ठ भी थे। अपेक्षित संख्या में वरिष्ठ अधिकारी और तकनीकज्ञ रायल एयर फोर्स से समर्पित करके लाये जाते थे। दूसरे विश्व युद्ध से पहले भारतीय वायुसेना का काम पश्चिमोत्तर सीमान्त में सेना की मदद करने तक ही सीमित था। वस्तुतः भारत में शान्ति काल में सशस्त्र सेना का सबसे बड़ा काम इस इलाके में शान्ति रखना था। फिर भी, सरकार केवल सेना का ही प्रयोग न करती थी, बल्कि उसमें वार्षिक ८½ करोड़ रुपयों तक की रकम भिन्न-भिन्न तरह की राशियों में बाट कर उन जनजातियों में व्यवस्था रखती थी।

सेना में कमीशन

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, यद्यपि प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान भारतीय सैनिकों को सक्रिय सेवा के लिए विदेश भेजा गया था, फिर भी उस समय एक भी ऐसा भारतीय न था जिसे किंग्स कमीशन मिला हुआ हो। १९१८ में ही भारतीयों को किंग्स कमीशन का पात्र घोषित किया गया और पहला नियमित किंग्स कमीशन जुलाई, १९२० में दिया गया। उस समय तक भारतीय अ-कमीशन पदों से बढ़कर वायसराय के कमीशन-अधिकारी के पद तक जा सकते थे। इस तरह वे निम्नतम प्राइवेट के रूप में ही सेना में प्रवेश पा सकते थे। १८५७ के बाद अपनायी गयी यह नीति कि पंजाब और पश्चिमोत्तर के कुछ वर्गों अर्थात् तथाकथित वीर जातियों में से ही भरती की जाय, चालू रही।

---

१. इनमें से जो छः भारतीय अधिकारी भारतीय वायुसेना के जन्म के समय कमीशनधारी थे, उनमें से केवल एक ही १९४७ में पदारूढ़ था। आगे चलकर वही पहला भारतीय चीफ आफ एयर स्टाफ बना। शेष ने सेवा से स्तीफा दे दिया, दुर्घटना में मारे गये, आदि।

२३ फरवरी, १९२३ को कमांडर-इन-चीफ ने केन्द्रीय विधान-सभा में घोषणा की कि सरकार ने यह निश्चय किया है कि घुड़सवार और पैदल सेना की, मुख्यतः पैदल सेना की, आठ चुनी हुई यूनिटों में आगे से केवल भारतीय ही अधिकारी होंगे। पर अब भी भारतीय सेना की तकनीकी शाखाओं में कमीशन प्राप्त कर सकने के पात्र न थे।

सदा से यह भारतीय जनमत व्याप्त था कि भारतीयों को भारत की सेना, नौ-सेना और वायुसेना की सभी शाखाओं में अबाध रूप से प्रवेश मिलना चाहिये। फलस्वरूप भारत-सरकार ने १९२५ में एक समिति बनायी, जिसे भारतीय सैंडहर्स्ट-समिति या स्कीन समिति भी कहा गया। उसे अन्य बातों के साथ-साथ ये काम भी जांच के लिए सौंपे गये। (१) संख्या और गुण दोनों दृष्टियों से किंग कमीशन में भारतीय उम्मीदवारों के आने में सुधार के उपाय सुझाना और (२) भारत में एक सैन्य कॉलेज की स्थापना करने की वाञ्छनीयता पर विचार करना, जिसमें भारतीयों को सेना के कमीशन-पदों के लिए प्रशिक्षित किया जा सके। समिति ने सिफारिश की कि भारतीयों को वायुसेना समेत सेना की सभी तकनीकी-शाखाओं में किंग कमीशन के लिए पात्र बनाया जाना चाहिये।

बाद में सरकार सहमत हो गयी कि छः भारतीय छात्र सैनिकों को तोपखाने में प्रशिक्षण के लिए वूलविच स्थित रॉयल मिलिटरी अकादमी में भेजा जाय। सैंडहर्स्ट स्थित रॉयल मिलिटरी कालेज को भेजे जाने वाले छात्र सैनिकों की संख्या भी बढ़ा कर बीस कर दी गयी।

देहरादून में इंडियन मिलिटरी अकादमी दिसम्बर १९३२ में स्थापित की गयी। वहाँ शिक्षित छात्र सैनिकों की पहली टुकड़ी को १९३५ में भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारी के रूप में कमीशन दिये गये। इसके बाद किसी भी भारतीय अधिकारी को किंग कमीशन नहीं दिया गया। इंडियन मिलिटरी अकादमी से होकर आने वाले भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को भारत स्थित ब्रिटिश सैनिकों के समान अधिकार प्राप्त न थे। पर वे भारतीय किंग कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को प्राप्त थे। लेकिन जब १९४२ में युद्ध भारत की सीमा के निकट आ गया, तो उनको कमान की वही शक्ति दी गयी, जो किंग कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को मिली हुई थी। रक्षा-सेवाओं में अधिकारी-पदवी वाले भारतीयों की स्थिति का अधिक विस्तृत विवरण एक बाद के अध्याय में दिया गया है (रक्षा-सेनाओं का राष्ट्रीयकरण)।

भारत-सरकार-अधिनियम, १९३५

भारत-सरकार-अधिनियम, १९३५, जिसे ब्रिटिश संसद ने पास किया था, भारत के सांविधानिक इतिहास में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण विधान है। इस विधान ने प्रान्तों को कुछ स्वायत्तता प्रदान की और इसमें एक अखिल भारतीय महासंघ स्थापित करने की बात कही गयी, जिसमें देशी रियासतें भी शामिल होने को थीं, पर इसमें सैन्य-प्रशासन के नियन्त्रण के विषय में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इस अधिनियम के अधीन सशस्त्र सेनाओं का संधारण एकमात्र केन्द्रीय विषय था और उसकी धारा ११ (१) में यह व्यवस्था की गयी थी कि रक्षा और चर्च सम्बन्धी मामलों में गवर्नर जनरल के कृत्यों···का प्रयोग उसके द्वारा अपने स्वविवेक से किया जायेगा। धारा ३४ (१) के अनुसार रक्षा और चर्च सम्बन्धी व्यय को विधान-मण्डल

के मताधिकार में नहीं रखा गया था। यह व्यवस्था थी कि भारत में महामहिम सम्राट की सेनाओं का एक कमांडर-इन-चीफ होगा, जिसकी नियुक्ति राजकीय अधिपत्र द्वारा की जायेगी। धारा ९ (१) में एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गयी, जिसमें १० से ज्यादा लोग न होंगे और जो गवर्नर जनरल को उसके कृत्यों के पालन के बारे में सलाह देगी, उन मामलों को छोड़ कर जिनमें उससे स्वविवेक से काम करने की अपेक्षा की गयी थी। उसके पिछले प्रकार के कृत्यों में (जिसमें रक्षा, चर्च सम्बन्धी मामले, विदेश कार्य और जनजाति क्षेत्र शामिल थे) उसे मदद देने के लिए गवर्नर जनरल अधिक से अधिक तीन परामर्शदाता नियुक्त कर सकता था। अधिनियम में कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि कमांडर-इन-चीफ की स्थिति रक्षा-परामर्शदाता की नियुक्ति के बाद में क्या होगी। शायद यह धारणा रही होगी कि प्रस्तावित महासंघ की गवर्नर जनरल की मन्त्रि-परिषद् में कमांडर-इन-चीफ अब एक सदस्य के रूप में न रहेगा। महासंघ बनने तक भारत-सरकार-अधिनियम, १९१९, के कुछ उपबन्ध अधिनियम की नवीं अनुसूची में किए गये और कुछ संशोधनों के साथ प्रभावी बने रहे। चूँकि महासंघ की सरकार वास्तविक रूप न ले सकी, ये संक्रमणकालीन उपबन्ध, अर्थात् रक्षा और कमांडर-इन-चीफ के मामले में १९१९ का अधिनियम ही वस्तुतः सत्ता के हस्तान्तरण तक प्रभावी बना रहा। नवीं अनुसूची की धारा ३७ में यह व्यवस्था थी कि यदि कमांडर-इन-चीफ एग्जीक्यूटिव कौंसिल का सदस्य हो तो कौंसिल में उसकी हैसियत और वरिष्ठता स्वयं गवर्नर जनरल के बाद की होगी। गवर्नर-जनरल और परिषद् के अन्य सदस्यों के प्रसंग में कमांडर-इन-चीफ की यह स्थिति नवीं अनुसूची की धारा ८ (१) में विहित नीचे लिखे अधिकतम-वार्षिक वेतन के मामले में भी झलकती थी

गवर्नर जनरल	रु० २,५६,०००
कमांडर-इन-चीफ	रु० १,००,०००
एग्जीक्यूटिव कौंसिल के अन्य सदस्य	रु० ८०,०००

वरिष्ठता-अधिपत्र में कमांडर-इन-चीफ का स्थान गवर्नर जनरल के बाद था। अपने प्रभार क्षेत्र में अन्य प्रान्तों के गवर्नर और मद्रास, बम्बई, और बंगाल के गवर्नर वरिष्ठ थे। कमांडर-इन-चीफ को एग्जीक्यूटिव कौंसिल के अन्य सदस्यों से कुछ ऊपर रखा गया था।

नवीं अनुसूची के अनुसार अन्य व्ययों के साथ-साथ रक्षा और चर्च सम्बन्धी व्यय को विधान सभा में मतदान के लिए नहीं पेश किया जाता था। ये व्यय दोनों में से किसी भी सदन के अधिकार में नहीं थे।

इस तरह भारत-सरकार अधिनियम, १९३५ के अधीन भारत में सैन्य प्रशासन के पुनर्गठन के मामले में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ। फिर भी सशस्त्र सेनाओं के भारतीय अधिकारियों को महामहिम सम्राट के नाम से कमीशन जारी करने की शक्ति गवर्नर जनरल को प्रत्यायोजित कर दी गई।

यहाँ पर रक्षा-सेनाओं के वित्तीय प्रशासन के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल के कार्यपालक प्राधिकार की सीमाओं की संक्षिप्त चर्चा करना उपयुक्त होगा, जो १ अप्रैल, १९३७ को भारत-

सरकार-अधिनियम, १९३५ (भाग ३) के प्रभावी होने के बाद भी बनी रही। अधिनियम की धारा २३५ में व्यवस्था की गयी थी कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट समय-समय पर स्पष्ट कर सकेंगे कि कौन-कौन से ऐसे नियम, विनियम या आदेश उनकी पूर्वानुमति से बनाये जा सकेंगे, जो भारत मे सम्राट की सभी या किन्हीं सेनाओं की सेवा-शर्तों पर प्रभाव डालते हों। इसके अनुसरण में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने निर्णय किया कि १ अप्रैल, १९३७ से कोई ऐसे नये नियम या विद्यमान नियमो मे ऐसे कोई संशोधन उनकी पूर्वानुमति से ही बनाये या किये जायँ, जो स्थल सेनाओं मे किंग कमीशन-प्राप्त अधिकारियों, रॉयल एयर फोर्स के अधिकारियों, रॉयल इंडियन नेवी के अधिकारियों और सेना, नौ-सेना और वायुसेना के शेष सभी ब्रिटिश सदस्यों के वेतन, भत्ते, भविष्य निधि, छुट्टी, भारतीय स्थापनों में नियुक्ति और तैनाती, पदोन्नति, सेवा-निवृत्ति और सेवा-मुक्ति, आवास-मान, वस्त्र, उपस्कर, राशन आदि को शामिल करते हुए उनकी सेवा शर्तों पर प्रभाव डालते हों। साथ ही विदेश से सैन्य भण्डारों की खरीद उसके द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार ही की जा सकेगी। इसका अर्थ था कि भारत-सरकार, सेक्रेटरी आफ स्टेट से बिना पूछे, सेना के केवल भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों (जिनको पहली बार १९३५ में ही कमीशन मिला), वायसराय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों और अन्य पदधारियों के बारे में और नौ-सेना के भारतीय 'रेटिंगों' के बारे में तथा वायुसेना के भारतीय एयरमैनों के बारे में ही आदेश जारी कर सकती थी। भारत-सरकार को प्रत्यायोजित बहुत सीमित शक्तियों के बारे में भी यथासम्भव इंगलैंड में प्रचलित नियम-विनियमों के पालन का ही चलन चलता था, जब तक वे स्पष्ट ही भारतीय स्थिति में लागू करने योग्य न हों। इस तरह भारत में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के अनुमोदन के बिना रक्षा-सेवाओं के सम्बन्ध में किसी महत्वपूर्ण प्रस्ताव का सूत्रपात या उसकी जाँच करने की बहुत थोड़ी ही गुंजाइश थी। सेना-मुख्यालय स्वतः इंगलैंड के अपने संवादी विभागों की ओर से ही मार्ग दर्शन प्राप्त करता था।

सेना-विभाग का नाम १९३६ में बदल कर रक्षा-विभाग कर दिया गया, जो उपयुक्त ही था, क्योंकि अब उसमें नौ-सेना और वायुसेना भी आती थी। उस समय यह बिलकुल छोटा-सा विभाग था, जिसमें एक सचिव, दो उपसचिव, एक सेना-भूमि तथा छावनी-निदेशक, दो अनुसचिव और दो सहायक सचिव थे। विभाग केवल तीनों सेनाओं के मुख्यालयों के साथ ही पत्राचार करता था, उनकी छोटी विरचनाओं के साथ नहीं। पर चूँकि रॉयल इंडियन नेवी का फ्लैग अफसर कमांडिंग बम्बई में था, इसलिए नौ-सेना के मामलों में भी सेना या वायुसेना मुख्यालयों या सरकार के अन्य विभागों से परामर्श करने का दायित्व भी रक्षा-विभाग का ही था। (जैसा बताया जा चुका है, १९४० में युद्ध शुरू हो चुकने के बाद नौ-सेना का मुख्यालय शिमला ले आया गया, ताकि रक्षा-विभाग के निकट रह सके और उसे नौ-सेना मुख्यालय के रूप में गठित किया गया)। इस विभाग में आरम्भतः निपटाये जाने वाले विषय ये थे सेना भूमि-छावनी प्रशासन, चर्च सम्बन्धी मामले, मुद्रण, लेखन सामग्री, मृत-अधिकारियों की सम्पदाएँ, भारतीय सैनिक बोर्ड, भारतीय सेना-सूची और पदक दिया जाना। रक्षा-सचिव विधान-सभा का एक सदस्य था और कमांडर-इन-चीफ राज्य-परिषद् का।

१९३८ की स्थिति को संक्षेप में लें जो दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ने से पहले शान्ति का आखिरी साल था भारत। की असैनिक सरकार और रक्षा भारत के सेक्रेटरी आफ स्टेट के निदेश और नियन्त्रण के अधीन सपरिषद् गवर्नर-जनरल में निहित थी। भारत की रक्षा-सेनाओं की उच्चतम कमान कमांडर-इन-चीफ के हाथ में थी, जो रक्षा का भारसाधक परिषद् का सदस्य भी था। कमांडर-इन-चीफ न केवल थल-सेना का प्रशासनिक और कार्यपालक प्रमुख था, बल्कि नौसेना और वायुसेना का भी। सेना-मुख्यालय में चार प्रमुख स्टाफ अधिकारी थे, नामत चीफ आफ जनरल स्टाफ, भारत का एड्जूटेंट जनरल, भारत का क्वार्टर मास्टर जनरल, भारतीय आर्डनेंस का मास्टर जनरल। इनका प्रमुख कर्तव्य कमांडर-इन-चीफ को उसके प्रशासनिक कार्य के कार्यपालक पक्ष में मदद करना था। दो अन्य शाखा-प्रमुख भी थे (जिन को प्रमुख स्टाफ अधिकारी के रूप में वर्गीकृत नहीं किया गया था, नामत सैन्य-सचिव और इंजीनियर-इन-चीफ। वायुसेना के प्रमुख का पदनाम था एयर अफसर कमांडिंग रॉयल एयर फोर्स इन इंडिया। यदि वायुसेना सम्बन्धी किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर उसके और कमांडर-इन-चीफ के बीच मतभेद हो, और वह चाहे तो गवर्नर जनरल के सामने अपना मत उपस्थित करने की अनुमति प्राप्त कर सकता था। उसे यह भी अधिकार था कि भारत के रॉयल एयर फोर्स पर प्रभाव डालने वाले किसी मामले के बारे में अपने विचार भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास भेज सकता था, (अगर उन विचारों को कमांडर-इन चीफ और गवर्नर-जनरल दोनों ने नामजूर कर दिया हो)। नौसेना का प्रमुख (अर्थात् फ्लैग अफसर कमांडिङ्ग रायल इंडियन नेवी) रॉयल इंडियन नेवी के प्रशासन और दक्षता के लिए कमांडर-इन-चीफ के प्रति उत्तरदायी था। अपने और कमांडर-इन-चीफ के बीच मतभेद होने पर यदि वह चाहता, तो उसे भी रायल इंडियन नेवी सम्बन्धी किसी महत्वपूर्ण प्रश्न के बारे में अपना दृष्टिकोण गवर्नर जनरल के सामने प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था। फिर भी नौसेना के स्त्रातेजी सम्बन्धी महत्व के सभी मामलों में केन्द्रीय सरकार का नौसेना सलाहकार ब्रिटिश नौसेना कमांडर-इन-चीफ, ईस्ट इंडीज खण्ड ही था।

ऊपर उल्लिखित सैन्य-परिषद् अब भी चल रही थी, पर उसकी रचना बदल कर इस तरह हो चुकी थी —

कमांडर-इन-चीफ और रक्षा-सदस्य	—अध्यक्ष
चीफ आफ जनरल स्टाफ	—उपाध्यक्ष
एड्जूटेंट जनरल क्वार्टर मास्टर जनरल आर्डनेंस के मास्टर जनरल रायल एयर फोर्स के एयर अफसर कमांडिंग सचिव, रक्षा-विभाग वित्तीय सलाहकार, सैन्य-वित्त	—सदस्य
अवर सचिव, रक्षा-विभाग	—सचिव

आरेख—१

१९३८ में संगठन-ढाँचा
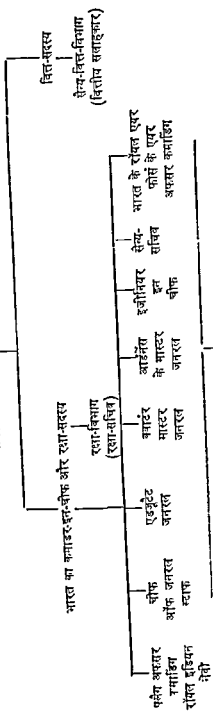
परिषद् एक सलाहकार निकाय बनी रही, जिसकी कोई सामूहिक जिम्मेवारी न थी। सैन्य परिषद् के अलावा दो अन्य महत्वपूर्ण समितियाँ थी, नामत रक्षा-समिति और स्टाफ प्रमुखो की समिति। रक्षा-समिति का कोई निश्चित सविधान न था और यह तभी बैठती थी जब वायसराय इसे बुलाते थे। इसके अध्यक्ष वायसराय थे और इसके सदस्य वायसराय अपने सहयोगियो और तकनीकी सहायको मे से चुनते थे जो ऐसे व्यक्ति होते थे, जिनकी सलाह वे समिति के समक्ष आये किसी प्रश्न पर लेना चाहते थे। वायसराय का निजी सचिव इस समिति का सचिव था। यह विशुद्धत सलाहकार समिति थी और उसका कोई कार्यपालक या प्रशासनिक कृत्य न था, न वह कोई नीति विहित कर सकती थी या निर्देश ही दे सकती थी। इस समिति द्वारा दी गयी किसी सलाह पर सपरिषद गवर्नर जनरल की पुष्टि जरूरी थी।

स्टाफ-प्रमुख-समिति म चीफ आँफ जनरल स्टाफ अध्यक्ष थे, एयर अफसर कमाडिङ्ग और फ्लैग अफसर कमाडिङ्ग सदस्य थे और रक्षा-विभाग का एक उपसचिव इस समिति का सचिव था। यह समिति ऐसे महत्वपूर्ण मामलो पर विचार करती थी, जिसमें एकाधिक सैन्य सेवा की दिलचस्पी होती थी और यह अपनी सिफारिशें कमाडर इन चीफ के पास भेजती थी। किसी खास सैन्य-सेवा से सम्बन्धित कोई खास तौर पर महत्वपूर्ण मामला ही इस समिति के विचारार्थ भेजा जा सकता था। अनेक अन्य गौण समितियाँ भी थी, जो विभिन्न समस्याओ को निपटाती थी।

सैन्य परिषद् और स्टाफ-प्रमुख-समिति बहुत सीमा तक इस प्रकार के विचार-सघर्ष की सम्भावना को कम कर देती थी (एक) तीनो सेना-मुख्यालयो के बीच, (दो) एक ओर सेना-मुख्यालयो और रक्षा-विभाग तथा दूसरी ओर सैन्य-वित्त-विभाग के बीच और (तीन) रक्षा-विभाग और सैन्य-वित्त-विभाग के बीच। फिर भी महत्वपूर्ण मामलो को ले कर मतभेद हो जाते थे। यदि सेना-मुख्यालयो की शाखाएँ सहमत न हो पाती थी, तो प्रमुखत सम्बन्धित शाखा-प्रमुख वह मामला निर्णय के लिए कमाडर-इन-चीफ के पास भेज देता था कि क्या इस प्रस्ताव को आगे बढाया जाय या उसमें हेरफेर किया जाय। यदि शाखा-प्रमुख और उपवित्तीय सलाहकार के बीच मतभेद होता था, तो पहला या तो पिछले की सलाह मजूर कर लेता था या मामले को वित्तीय सलाहकार के पास भेज देता था या उसे स्वय रक्षा-सचिव के पास भेज देता था। यदि रक्षा-सचिव शाखा-प्रमुख के विचार से सहमत न होता था, तो वह रक्षा-सदस्य के आदेश प्राप्त कर लेता था। सचिव और वित्तीय सलाहकार के बीच सहमति न होने पर, मामला रक्षा-सदस्य के पास तक आता था और वह उसे वित्त-सदस्य के पास भेज देता था। सदस्यों के बीच के मतभेद के मामले निर्णय के लिए गवर्नर जनरल या एग्जीक्यूटिव कौसिल तक जाते थे।

भारतीय सेना के आधुनिकन और उसके लिए यान्त्रिक उपस्कर और उनको चलाने के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियो की व्यवस्था करने की जरूरत समझी गयी थी और दूसरे विश्व युद्ध के शुरू होने से कुछ पहले उस पर गम्भीरता के साथ विचार भी किया गया था। लार्ड चैटफील्ड के अधीन बनी एक समिति द्वारा ब्यौरेवार योजनायें भी तैयार की गयी थी, जिनको बाद में

कुछ परिवर्तनों के साथ मंजूर भी किया गया। ब्रिटिश सरकार ने भी कुछ शर्तों के साथ सहायता देने का वचन दिया था, लेकिन आवश्यक परिवर्तन पूरे हों, इसके पहले ही युद्ध छिड़ गया था।

जब युद्ध के बादल छा गए तो तत्कालीन समस्याओं के अनुसार स्थितियों पर कदम उठाये जाने लगे। जनवरी, १९३९ के आरम्भ में युद्ध सम्बन्धी विधानों के लिए एक अलग रक्षा-संगठन-विभाग बना दिया गया।

युद्ध-काल में विस्तार

युद्ध के दौरान बड़े पैमाने पर भरती का कार्यक्रम शुरू करना पड़ा और जब भारत को पूर्व से हमले का खतरा हो गया, तो इस काम में बहुत तेजी आ गयी। घटनाओं के दबाव में सेना में भरती केवल तथाकथित वीर जातियों तक ही सीमित करने की नीति छोड़ देनी पड़ी और सेना में सभी प्रदेशों और समुदायों को भरती के लिए छूट देनी पड़ी। १९४४ में दिये गये एक वक्तव्य के अनुसार उस समय तक अधिकारियों के पदों पर भारतीय अधिकारियों की संख्या पैंतीस प्रतिशत तक पहुँच गयी थी, जब कि १९३८ में सेना में भारतीय अधिकारियों की संख्या दस प्रतिशत भी न थी। १९३८ में भारतीय और ब्रिटिश दोनों अधिकारियों की कुल संख्या लगभग ४५०० थी, पर युद्ध की तेजी के काल में उनकी संख्या ५०००० तक पहुँच गयी। लड़ाकू सेनाओं की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई और यह संख्या १९४३ तक बीस लाख से ऊपर निकल गयी (अर्थात् युद्ध-पूर्व की संख्या से दस गुनी से ज्यादा)। रक्षा-विभाग युद्ध से पहले तुलना में एक छोटा सा विभाग था, अब बहुत बड़ा हो गया। युद्ध से पहले क्लर्कों समेत इस विभाग में कुल ९९ व्यक्ति थे, १९४७ में विभाजन से ठीक पहले विभाग में कुल संख्या ३१९ थी। युद्ध के वर्षों में अनेक ब्रिटिश मेंबरों को भी थोड़े समय के लिए विभाग में अनुसचिवों के रूप में काम करने के लिए नियुक्त किया गया था।

युद्ध-विभाग

१९४२ में रक्षा-विभाग को हिस्सों में बाँट दिया गया, नामतः युद्ध-विभाग, जो कमांडर-इन-चीफ के अधीन था और रक्षा-विभाग के सभी महत्वपूर्ण कर्तव्य पूरे करता था। रक्षा-विभाग नामक एक नया विभाग बनाया गया, जिसमें उस विभाग की पहले की कुछ कम महत्व की चीजें थीं, जैसे छावनियाँ और सैन्य भूमि, पैट्रोलियम, मुद्रण, लेखनसामग्री और फार्म, पदक, सेना-सूची, युद्धबन्दी, सैनिकों की सुविधाएँ और कल्याण और १९४५ में सैन्य-विघटन और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए बनाया गया एक नया संगठन। यह नया विभाग २० जुलाई, १९४२ से एग्जीक्यूटिव कौंसिल के एक भारतीय सदस्य के अधीन कर दिया गया था, जो सम्भवतः भारतीय जनमत के सन्तोष के लिए किया गया था। युद्ध के बाद यह विभाग बन्द कर दिया गया और १९४६ के आरम्भ में इसे युद्ध-विभाग में ही शामिल कर दिया गया।

पूर्ति-विभाग

पूर्ति-विभाग नामक एक नया महत्वपूर्ण विभाग इस उद्देश्य हेतु बनाया गया कि देश की समग्र समाविष्ट उत्पादन सामग्री का सेना में उचित वितरण हो सके। एक्जीक्यूटिव कौंसिल का एक भारतीय सदस्य इसका भारसाधक था और युद्ध-विभाग के वित्तीय सलाहकार को इस विभाग का भी वित्तीय सलाहकार बना दिया गया था, ताकि युद्ध को अच्छी तरह से चलाने के लिए इन दोनों विभागों के बीच प्रभावी सहयोग बना रहे। उसे फिर युद्ध और पूर्ति का वित्तीय सलाहकार नाम दे दिया गया।

फिर भी भारतीय कमान ने न तो कोई आक्रामक युद्ध छेड़ा था और न कोई मन्त्रिया ही चलायी थी। १९४३ में एक उच्चतम कमांडर के अधीन दक्षिण-पूर्व-एशिया कमान जापानियों के विरुद्ध पूरा-पूरा आक्रामक युद्ध चलाने के लिए खोली गयी। इससे भारत की रक्षा के लिए भारत के कमांडर-इन-चीफ की प्राथमिक जिम्मेवारी पीछे पड़ गयी। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य यही रह गया कि दक्षिण-पूर्व-एशिया कमान द्वारा चलायी जाने वाली युद्ध मन्त्रियाओं के आधार के रूप में और इस प्रयोजन से आवण्टित सैनिकों के प्रशिक्षण के लिए भारत को तैयार करने के लिए प्रभावी कदम उठाए। दक्षिण-पूर्व-एशिया कमान के उच्चतम कमांडर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कमांडर-इन-चीफ को इंग्लैंड के चीफ ऑफ स्टाफ से निदेश प्राप्त होते थे।

दक्षिण-पूर्व-एशिया कमान की स्थापना के साथ-साथ कमांडर-इन-चीफ की युद्ध समिति भी स्थापित की गयी। इस समिति की बैठक प्रायः रोज ही होती थी और कमांडर-इन-चीफ इसके अध्यक्ष थे। सेना-मुख्यालयों के प्रमुख स्टाफ अधिकारी, नौसेना और वायुसेना के प्रमुख, युद्ध और पूर्ति के वित्तीय सलाहकार और युद्ध-विभाग के सचिव इसके सदस्य थे। इस समय युद्ध-विभाग का मुख्य कर्तव्य युद्ध-समिति के निर्णयों का पालन करने के लिए आदेश निकालना और सैन्य-वित्त-विभाग से परामर्श करते हुए विशिष्ट प्रयोजन के लिए व्यय की मंजूरी देना ही था। सेना-मुख्यालयों में यह रिवाज था कि निकाले जाने वाले सरकारी आदेशों के मसौदे तैयार कर दें और फिर उन्हें सीधे सैन्य-वित्त-विभाग के पास भेज दें। यदि उस विभाग ने मसौदा अनुमोदित कर दिया तो वे युद्ध-विभाग के पास अन्तिम रूप से सपरिषद् गवर्नर जनरल की ओर से जारी होने के लिए सक्षम अधिकारी के हस्ताक्षर के ही लिए आते थे।

युद्ध में भारतीय सेनाओं के योगदान का वर्णन इस पुस्तक के क्षेत्र में नहीं आता और युद्ध-काल में सभी स्तरों पर प्रशासनिक तन्त्र में किये गये विभिन्न परिवर्तनों का पूरा-पूरा ब्यौरा देना भी हमारा अभीष्ट नहीं है।

सैन्य-विघटन

यह प्रकट था कि युद्ध समाप्त होने पर अतिरिक्त व्यक्तियों का बड़े पैमाने पर विघटन करना होगा। पर इतनी भारी संख्या में सैन्य सेवा से मोचन का काम जल्दी में नहीं किया जा सकता था। इसलिए सैन्य-विघटन के कार्यक्रम को सावधानी से क्रमबद्ध रूप में चलाना

जरूरी था। साथ ही सेवाओं में और युद्ध के बाद जिन इलाकों में लोग लौट कर आ रहे हैं, वहाँ अव्यवस्था बचाने की दृष्टि से निकाले गये व्यक्तियों के लिए, असैनिक रोजगारों में उपयुक्त पदों को आरक्षित करके उनके नियुक्त किए जाने के बारे में बड़ी सावधानीपूर्वक एक कार्यक्रम बनाना भी जरूरी था। यह ठीक है कि निकाले गये व्यक्तियों को रोजगार देने की जिम्मेवारी से भारत-सरकार वचनबद्ध न थी। पर असैनिक जीवन में उनके पुनर्वास के लिए प्रभावी कदम न उठाये गये, तो बड़ा असन्तोष और क्षोभ फैल जायेगा, एक विदेशी सरकार इस सम्भावना को आसानी से बिसार न सकती थी। निश्चय ही इससे सशस्त्र सेनाओं की प्रतिष्ठा कम हो जायेगी और भविष्य में भरती पर इसका बुरा असर पड़ेगा। नये रक्षा-विभाग का 'सैन्य-विघटन और युद्धोत्तर-पुनर्निर्माण-संगठन' अतिरिक्त सैनिकों के विघटन और नागरिक जीवन में उनके पुनर्वास के लिए सावधानीपूर्वक एक क्रमबद्ध योजना तैयार कर रहा था। इस कार्यक्रम के अधीन युद्ध की समाप्ति के बाद के तीन सालों में काम पूरा होना था। मूल योजना के अनुसार जून, १९४८ तक सेना की संख्या कम होकर २,३०,००० रह जानी थी। पर जब यह समझा गया कि भारत के सम्भावित विभाजन का एक प्रतिफल यह भी होगा कि सशस्त्र सेनाओं का भी विभाजन करना पड़ेगा, तो सैन्य-विघटन का काम रोक दिया गया। इस तरह सत्ता-हस्तान्तरण के समय सेना की संख्या लगभग ४,००,००० थी। युद्ध के बाद कमांडर-इन-चीफ़ की युद्ध-समिति का नाम बदल कर कमांडर-इन-चीफ़ की समिति कर दिया गया था, पर इसकी रचना अब भी वैसी ही थी। स्टाफ प्रमुखों की समिति, जैसी पहले थी, वैसे ही काम करती चली आ रही थी।

भारतीय रक्षा-सदस्य

जब दिसम्बर, १९४६ की अन्तरिम सरकार बनी तो पहली बार गवर्नर जनरल की एग्जीक्यूटिव कौंसिल का रक्षा-सदस्य एक भारतीय को बनाया गया। सरदार बल्देव सिंह ने १६ सितम्बर १९४६ को रक्षा-सदस्य का काम सँभाला और कमांडर-इन-चीफ़ एग्जीक्यूटिव कौंसिल के असाधारण सदस्य न रहे, जिस पद पर वह समूचे ब्रिटिश शासन-काल में आरूढ़ चले आ रहे थे। वे तीनों रक्षा-सेनाओं के कार्यपालक प्रमुख बने रहे और रक्षा-सदस्य के सलाहकार बन गये।

उस समय रक्षा-सदस्य की एक समिति बनायी गयी जिसके अध्यक्ष रक्षा-सदस्य थे और कमांडर-इन-चीफ़, रक्षा-सचिव और वित्तीय सलाहकार इसके सदस्य थे तथा कमांडर-इन-चीफ़ की समिति के सचिव इस समिति के भी सचिव थे। कमांडर-इन-चीफ़ की समिति अब भी काम करती रही और इन बदली हुई परिस्थितियों में वह तीनों ही सेनाओं सम्बन्धी मामलों (जिन को जल-थल-सेना-विषय कहते थे) और उच्च रक्षा नीति के मामलों का विवेचन करती रही। इन विषयों के कमांडर-इन-चीफ़ की समिति के सामने आने से पहले इन पर स्टाफ प्रमुखों की समिति में विचार कर लिया जाता था।

महामहिम सम्राट्-सरकार की ३ जून, १९४७ की इस घोषणा के बाद कि सत्ता-हस्तान्तरण भारत और पाकिस्तान के दो डोमिनियनों के बीच किया जायेगा, सशस्त्र सेनाओं

और उनकी परिसम्पत्तियो के विभाजन का काम अन्तरिम सरकार ने अपने हाथ मे लिया और यह भी निर्णय किया गया कि भारत के कमाडर-इन-चीफ १५ अगस्त, १९४७ मे भारत और पाकिस्तान के सुप्रीम कमाडर होंगे और भारत और पाकिस्तान के डोमिनियनो की सशस्त्र सेनाओ के पुनर्गठन का उत्तरदायित्व उनका होगा।

१५ अगस्त, १९४७ को अर्द्ध रात्रि में एक प्रभावी समारोह में सत्ता का भारतीय हाथों में औपचारिक रूप से हस्तान्तरण कर दिया गया। १५ अगस्त, १९४७ को भारतीय रक्षा-मन्त्री रक्षा-सेनाओं के प्रशासन, रक्षा-आयव्ययक और भारत की रक्षा-नीति के निर्माण के लिए पहली बार एक निर्वाचित विधान-मण्डल के उत्तरदायी बने, और रक्षा-सेनाओ के कमाडर-इन-चीफ की जगह तीन रक्षा-सेनाओ, थल-सेना, नौ-सेना और वायुसेना के तीन स्वतन्त्र प्रमुख नियुक्त किये गये।

जवाहरलाल नेहरू
प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल की रक्षा समिति के अध्यक्ष, १९४७—१९६४

सरदार बल्देव सिंह
रक्षा-सदस्य, सितम्बर १९४६—
अगस्त १९४७, रक्षा-मन्त्री,
अगस्त १९४७—मई १९५२

एच० एम० पटेल
रक्षा सचिव, १९४७-१९५३
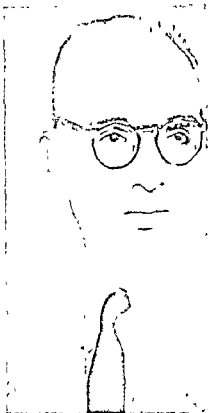
आरेख—४

१५ अगस्त, १९४७ को संगठन-ढाँचा

- गवर्नर जनरल
- संविधान सभा (विधायी)
  - मन्त्रि-मण्डल
    - रक्षा-मन्त्री
      - रक्षा-मन्त्रालय
        - रॉयल इंडियन नेवी का फ्लैग अफसर कमांडिंग
          - स्टाफ प्रमुख
          - प्रशासन प्रमुख
          - कमोडोर भारसाधक बम्बई
          - नौसेना अधिकारी भारसाधक कोचीन
          - रॉयल नेवी अधिकारी मद्रास
          - नौसेना अधिकारी प्रभारी विशाखापटनम्
          - रॉयल नेवी अधिकारी कलकत्ता
        - सेना के कमांडर-इन-चीफ (सेना-मुख्यालय)
          - चीफ आफ जनरल स्टाफ
          - एडजुटेंट जनरल
          - क्वार्टर मास्टर जनरल
          - इंजीनियर इन चीफ
          - सैन्य सचिव
          - दक्षिण कमान
            - एरिया
              - सब-एरिया
          - दिल्ली और पूर्वी पंजाब कमान
            - एरिया
              - सब-एरिया
          - पूर्वी कमान
            - एरिया
              - सब-एरिया
        - एयर मार्शल कमांडिंग रॉयल इंडियन एयर फोर्स (वायुसेना मुख्यालय)
          - सीनियर एयर स्टाफ अफसर और डिपुटी एयर कमांडर
          - एयर अफसर भारसाधक प्रशासन
          - सक्रिया समूह
          - प्रशिक्षण समूह

दूसरा अध्याय
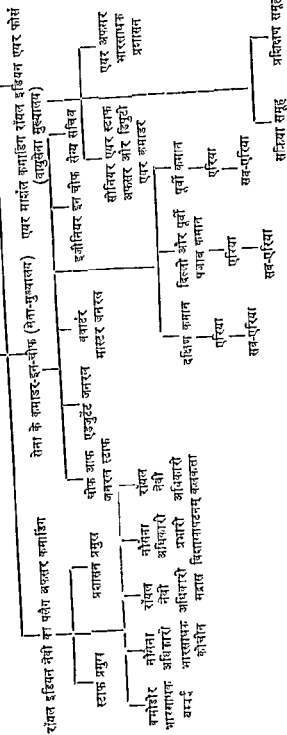
सशस्त्र सेनाओं का विभाजन

२० फरवरी, १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि उनका जून, १९४८ तक सत्ता को भारतीयों के हाथ में सौंप देने का इरादा है। घटनाचक्र तेजी से चला और ३ जून १९४७ को महामहिम सम्राट की सरकार ने घोषणा की कि सत्ता दो उत्तरवर्ती राज्यों भारत और पाकिस्तान को हस्तान्तरित कर दी जायेगी। १५ अगस्त से दो स्वतन्त्र डोमीनियनों की स्थापना की व्यवस्था करने वाला भारतीय-स्वाधीनता-विधेयक ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स में ४ जुलाई, १९४७ को पेश किया गया। यह विधेयक उस सदन में १५ जुलाई को और १६ जुलाई को लार्ड-सभा में पास होने के बाद १८ जुलाई, १९४७ को सम्राट की स्वीकृति पर कानून बन गया। यह समझा गया कि भारत के विभाजन के प्रशासनिक नतीजे बड़े ही कष्ट-साध्य होंगे। इसका अर्थ था कि दोनों डोमीनियनों की असैनिक और रक्षा-सेवाओं का पुनर्गठन किया जाय, परिसम्पत्तियों और देयताओं का बँटवारा किया जाय और भण्डार को एक डोमीनियन से दूसरे में ले जाया जाय। यह बड़ा भारी काम १५ अगस्त, १९४७ तक उपलब्ध बहुत थोड़े से समय में पूरा होना था।

सशस्त्र सेनाओं का विभाजन होना था, इसलिए दूसरे विश्वयुद्ध के समय से चला सैन्य-विघटन और रोक दिया गया। मूल योजना के अधीन सेना की संख्या जून, १९४८ तक घट कर २,३०,००० रह जानी थी। सैन्य-विघटन रोक देने से यह संख्या ८,००,००० रह जानी थी। सैन्य-विघटन रोक देने से यह संख्या ८,००,००० ही बनी रही।

सशस्त्र सेनाओं का विभाजन देश के विभाजन की सामान्य योजना का ही एक अंग था, पर इसमें कुछ बात अनोखी और भावनामय भी थी।

भारतीय सशस्त्र सेनाओं में सैनिक, नौसैनिक और वायुसैनिक विविध समुदायों और प्रदेशों से आये थे और यह एक सम्बद्ध संगठन था। इसके सदस्य अपनी-अपनी सेना के प्रति अनुशासन और निष्ठा से बंधे थे। रेजीमेंट या यूनिट विशेष के अधिकारियों-सैनिकों के बीच सहकार की भावना थी। धर्म, जाति, विश्वास या प्रान्त ने कभी भी समूची सेना के प्रति उनकी अविभाजित निष्ठा पर प्रभाव नहीं डाला। इन परम्पराओं के अनुकूल ही भारतीय

सशस्त्र सेना राजनीतिक प्रभाव से भी मुक्त था और विभिन्न विश्वासों और रीतिरिवाजों वाले इस महादेश में तात्विक एकता की साधना जितनी उन्होंने की थी, शायद ही किसी और ने की हो। सारी दुनिया में पिछले विश्व-युद्ध के विभिन्न युद्ध-क्षेत्रों में भारतीय यूनिटों के सक्रिय योगदान ने इस भावना को और भी बढ़ाया था। विभाजन के बाद भारतीय सशस्त्र सेनाओं में ये भव्य परम्परायें फिर दृढ़ रूप से आरोपित कर दी गयी हैं और हमेशा की तरह फिर वह विविधता में एकता की प्रतीक बन गयी है।

विभाजन-परिषद

अब हम फिर देश के विभाजन की ओर आते हैं। मन्त्रिमण्डल ने ९ जून, १९४७ को फैसला किया कि वायसराय की अध्यक्षता में एक मन्त्रिमण्डल-समिति विभाजन को कार्यान्वित करने के तन्त्र की योजना बनाने के लिए गठित की जाय। १७ जून, १९४७ को यह घोषणा की गयी कि वायसराय के अलावा इस समिति में दो कांग्रेस सदस्य होंगे, सरदार पटेल और डा० राजेन्द्र प्रसाद, और दो लीग के सदस्य, लियाकत अली खान और सरदार अब्दुर रब निश्तर। ये लोग दो अधिकारियों की विषय-निर्वाचन-समिति के जरिये विशेषज्ञ स्तर पर देश के विभाजन से पैदा होने वाली विविध समस्याओं की ब्यौरेवार जांच और समन्वय करेंगे। दस विशेषज्ञ समितियाँ इन चीजों के लिए बनायी गयीं संगठन, अभिलेख और कार्मिक, परिसम्पत्ति और देयतायें, केन्द्रीय राजस्व, संविदायें, करार्य, सिक्का और विनिमय (आयव्ययक और लेखे), आर्थिक सम्बन्ध (नियन्त्रण), आर्थिक सम्बन्ध (व्यापार), अधिवासिता, विदेश सम्बन्ध, और सशस्त्र सेनाओं का पुनर्गठन इसमें सरकार के सभी विभाग आ जाते थे। हर विभाग की विशेषज्ञ समिति के अधीन उप समितियाँ थीं। इस तरह सशस्त्र सेनाओं के विभाजन की समस्याओं का निपटान दसवीं विशेषज्ञ समिति ने किया, जिसे सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति कहा गया। इस समिति की भी तीन उपसमितियाँ थीं। एक-एक प्रत्येक सेना के लिए[३]। सभी विशेषज्ञ समितियों में भारत सरकार के वरिष्ठ भारतीय अधिकारी थे। मुसलमान भी थे और अन्य भी, लेकिन सशस्त्र सेनाओं में काफी संख्या में भारतीय अधिकारियों के उपलब्ध न होने से, सेनाओं ने भारतीय अधिकारियों को सशस्त्र सेनाओं की उपसमितियों में, ब्रिटिश अधिकारियों के साथ काम करना पड़ा। जिस विषय-निर्वाचन-समिति को शीर्षस्थ विशेष समिति और विशेष समितियों के बीच सम्पर्क कार्य करना था, उसमें ये लोग थे.

एच० एम० पटेल, मन्त्रिमण्डल सचिव, और मुहम्मद अली, वित्तीय सलाहकार, रक्षा और पूर्ति विभाग। विषय-निर्वाचन समिति विशेषज्ञ-समितियों के प्रतिवेदनों का समन्वय तो करती ही थी, साथ ही वह उनको विभाजन परिषद् के समक्ष निर्णय के लिए पेश भी करती थी और निर्णय का उचित समय पर पालन भी सुनिश्चित करती थी। वह विभिन्न विशेषज्ञ समितियों को उनकी सिफारिशों के तैयार करने में मार्गदर्शन भी करती थी।

---

३ सशस्त्र सेना पुनर्गठन समिति और उसकी उपसमितियों के ब्यौरों के लिए देखिए इस अध्याय के अन्त में अनुबन्ध—१।

मन्त्रिमण्डल की विशेष समिति ने निदेश दिया कि विभाजन-कार्य मैत्री-भावना और सद्भाव से हाथ में लिया जाय और इच्छा यह रहे कि दोनो पक्षो को उचित हिस्सा दिया जाय। बगाल के बाद पजाब और सिन्ध की विधान-सभाओ ने विभाजन के पक्ष मे मतदान किया। २६ जून १९४७ को विशेष समिति की जगह विभाजन-परिषद् ने ले ली। परिषद् में तीन सदस्य काग्रेस के रखे गये थे और तीन मुसलिम लीग के, पर किसी भी बैठक मे हर दल के केवल दो-दो सदस्यो का उपस्थित होना आवश्यक था। मन्त्रि-मण्डल की विशेष समिति की तरह, इसके भी अध्यक्ष वायसराय ही थे। सरदार वल्लभ भाई पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद और चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को काग्रेस की ओर से नामित किया गया और मुहम्मद अली जिन्ना, लियाकत अली खाँ और सरदार अब्दुर रब निश्तर को लीग की ओर से। उडीसा के तत्कालीन गवर्नर चन्दूलाल त्रिवेदी, जो उच्च स्तर पर रक्षा-सगठन के कुछ अनुभव वाले एकमात्र भारतीय असैनिक अधिकारी थे, परामर्शदाता के रूप में दोनो पक्षो को उपलब्ध रहे और सशस्त्र सेनाओ के पुनर्गठन सम्बन्धी कागज-पत्र उनके पास भेजे गये।

सशस्त्र सेनाओ के पुनर्गठन सम्बन्धी सिद्धान्त

३० जून १९४७ को हुई बैठक में विभाजन-परिषद ने यह निर्णय किया कि नीचे लिखे सिद्धान्त सशस्त्र सेनाओ के पुनर्गठन के आधार होने चाहिये :

(१) भारत और पाकिस्तान, प्रत्येक के अपने-अपने सीमा-क्षेत्र में, वे सेनायें रहे, जो (क) १५ अगस्त को उनके अपने-अपने सन्नियागत नियन्त्रण में हैं, (ख) १५ अगस्त को मुख्य तौर से जिनमें क्रमश गैर-मुसलमान हैं या मुसलमान हैं और (ग) जो १५ अगस्त के बाद यथाशीघ्र मुख्यतया प्रादेशिक आधार पर पुनर्गठित कर दी जायें।

(२) प्रत्येक डोमीनियन की तीनो सेनाओ के प्रमुखो का चुनाव करके उनको अपने-अपने मुख्यालय स्थापित करने का काम शुरू करने का अधिकार दे दिया जाय, ताकि १५ अगस्त तक कमान सँभालने के लिए वे तैयार हो जायें। सेना-प्रमुख अपने-अपने रक्षा-सदस्यो के जरिए अपने-अपने मन्त्रालयो के प्रति सीधे ही उत्तरदायी होंगे और अपने-अपने सीमा क्षेत्र की सेनाओ पर उनका कार्यपालक नियन्त्रण रहेगा।

(३) अविभाजित भारत की विद्यमान सशस्त्र सेनायें तब तक भारत के तत्कालीन कमाडर-इन-चीफ के प्रशासनिक नियन्त्रण मे रहेंगी, जब तक उनको दो स्पष्ट सेनाओ में अलग-अलग अन्तत छाँट न दिया जाय और उनको प्रशासित करने के लिए दो अलग-अलग सरकारें न बन जायें। फिर कमाडर-इन-चीफ भी गठित की जाने वाली उस सयुक्त रक्षा-परिषद् के नियन्त्रण मे होगा, जिसमें गवर्नर जनरल या दोनो डोमीनियनो के गवर्नर जनरल, दोनो रक्षा-मन्त्री और स्वय कमाडर-इन-चीफ रहेंगे।

१५ अगस्त, १९४७ को गड़बड़ी न हो, इस दृष्टि से भारत के कमाडर-इन-चीफ को तब तक के लिए पदनाम सुप्रीम कमाडर दे दिया गया, जब तक सशस्त्र सेनाओ का विभाजन पूरा न हो जाय। दोनो मे से किसी भी डोमीनियन में विधि-व्यवस्था के लिए उसकी कोई जिम्मेदारी न थी और न किसी भी यूनिट के ऊपर उसका सन्नियागत नियन्त्रण ही था, एक

डोमीनियन से दूसरे की ओर संक्रमण को छोड़कर। सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन के बारे में, संयुक्त रक्षा-परिषद् के निर्णयों के पालन के लिए, उच्चतम कमांडर का एक मुख्यालय बना दिया गया। चीफ ऑफ जनरल स्टाफ सेना मुख्यालयों के वरिष्ठतम प्रमुख स्टाफ अधिकारी थे। उनको उप-उच्चतम कमांडर (सेना) बना दिया गया। इस तरह उच्चतम कमांडर के मुख्यालय में अविभाजित सशस्त्र सेनाओं के कमांडर-इन-चीफ, रायल इंडियन नेवी और एयर अफसर कमांडिंग रायल इंडियन एयर फोर्स को, क्रमशः उप-उच्चतम कमांडर (नौ सेना) और उप-उच्चतम कमान्डर (वायुसेना) पदनाम दे दिये गये। जैसा कि स्वयं उच्चतम कमांडर के मामले में था, इन अधिकारियों को थल-सेना, नौ सेना और वायुसेना की कमान सँभालने का अधिकार नहीं दिया गया। उनको तीनों सेनाओं के पुनर्गठन का ही खास काम, उच्चतम कमांडर के नियन्त्रण में, सौंपा गया।

सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति का कृत्य, विभाजन परिषद् के आदेश से काम करने वाली विषय-निर्वाचन-समिति के निकट परामर्श से, भारत की तीनों विद्यमान सशस्त्र सेनाओं, नामतः रॉयल इंडियन नेवी, इंडियन आर्मी और रॉयल इंडियन एयर फोर्स (जिन में भारत सरकार के रक्षा-विभाग के स्वामित्व वाले विभिन्न सस्थापन, स्थापनायें और भण्डार शामिल थे) के विभाजन के लिए प्रस्ताव तैयार करना था। जैसे-जैसे उपसमितियों और सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति का काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे विभाजन-परिषद् ने विषय-निर्वाचन-समिति को प्राधिकृत किया कि वह अपने विवेक से, सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति के पास, प्रतिवेदित करने के लिए विषय चुन लिया करे और अन्य निर्णयों पर जो कार्रवाई हुई हो उस सूचित कर दिया करे।

विभाजन-परिषद् के सदस्यों से युक्ति सगठन रूप से यह प्रत्याशा न की जा सकती थी कि वे सैन्य-सगठन के ब्योरों से सुपरिचित हों। यह निर्णय किया गया कि जैसे ही सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति अपनी सिफारिशों को अन्तिम रूप दे दे, वैसे ही तीनों सेनाओं की उप-समितियों को सम्प्रदायगत उप-अभिषदों के अध्यक्ष, अपने-अपने पक्ष के नेताओं को सलाह देने और चीजों का विशदीकरण करने के लिए, उपलब्ध होने चाहिये।

सरकार के सभी विभागों में विभाजन के कार्य को शेष सभी कामों से ज्यादा वरिष्ठता दी गयी। सभी विशेषज्ञ समितियों से भी कहा गया कि वे २२ जुलाई, १९४७ तक अपना काम पूरा कर दें। केवल परिसम्पत्ति और देयता-समिति के मामले में, अपवादस्वरूप, प्रतिवेदन ३१ जुलाई, १९४७ तक दे देने की अनुमति दे दी गयी।

व्यक्तियों को विकल्प

भारत के विभाजन के अनुपालन का तन्त्र तय करने के लिए नियुक्त मन्त्रिमण्डल की विशेष समिति ने यह निर्णय लिया था कि प्रत्येक सरकारी कर्मचारी, भारतीय या यूरोपीय, को यह विकल्प दिया जाय कि वह दोनों में से जिस किसी डॉमीनियन सरकार के अधीन नौकरी करना चाहे, चुनाव कर सकता है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को यह बताने के लिए कहा गया था कि क्या वह सत्ता-हस्तान्तरण की तारीख से छः महीने के भीतर अपने चुनाव

पर पुनर्विचार का अवसर चाहता है। जो अन्तिम विकल्प २५ फरवरी, १९४८ तक बदले नहीं किये जायेंगे, अन्तिम मान लिये जायेंगे।

सशस्त्र सेनाओं का विभाजन दो चरणों में किया गया। सेनाओं को मोटे तौर पर साम्प्रदायिक आधार पर बाँट दिया गया और इसके तुरन्त बाद, पाकिस्तानी क्षेत्र में उस समय बाहर तैनात, मुसलमान बहुसंख्या वाली सभी यूनिटों को पाकिस्तान भेजा जाए और इसी तरह पाकिस्तानी क्षेत्र में स्थित सभी, एकमात्र गैर-मुस्लिम और गैर-मुस्लिम बहुल, यूनिटें भारत भेज दी जायें। अगले चरण में सदस्यों के ऐच्छिक स्थानान्तरण के आधार पर यूनिटों में छँटाई की गयी। इसमें एक ही अपवाद था, तात्पर्य यह कि पाकिस्तानी क्षेत्र वाले किसी मुसलमान को, जो उस समय सशस्त्र सेनाओं में काम कर रहा था, भारतीय संघ की सशस्त्र सेनाओं में शामिल होने का विकल्प न दिया गया था। पर पाकिस्तानी क्षेत्र के गैरमुस्लिमों और शेष भारतीय क्षेत्र के मुसलमानों को यह विकल्प दिया गया था कि दोनों में से किसी डोमीनियन की सशस्त्र सेनाओं में नौकरी करने का चुनाव कर लें।[1] चुनाव की स्वाधीनता पर यह प्रतिबन्ध इस दृष्टि से लगाया गया कि एक डोमीनियन के सैनिक बुरे उद्देश्य से दूसरे डोमीनियन में नौकरी का चुनाव न कर लें।

इस समय सशस्त्र सेनाओं में भरती के रंगरूटों को भी तैनात व्यक्तियों की ही तरह विकल्प दिया गया। साथ ही तैनात व्यक्तियों को स्तीफा दे देने का विकल्प भी दिया गया। यदि वे दोनों में से किसी भी डोमीनियन की सेना में काम न करना चाहते हों, तो ऐसी स्थिति में वे उन्हीं प्रतिकरों को प्राप्त करने के अधिकारी होंगे, जो सत्ता हस्तान्तरण के फलस्वरूप उनकी सेवा का अन्त कर दिये जाने से मिलते।

कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को प्रतिकर

जैसा कि सेक्रेटरी आफ स्टेट की सिविल सेवाओं (आई० सी० एस०, आई० पी० एस० आदि) के बारे में किया गया था, ब्रिटिश सरकार ने रायल इंडियन नेवी, भारतीय सेना और चिकित्सा सेवा के ऐसे नियमित अधिकारियों के लिए उपयुक्त प्रतिकर-मान मंजूर कर दिए, जिनकी नियुक्तियाँ सत्ता-हस्तान्तरण के फलस्वरूप समाप्त कर दी गयी थीं। वास्त-

---

१. तदनुसार पाकिस्तानी क्षेत्र के गैर-मुसलमानों ने पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं में नौकरी करने का चुनाव किया और भारत के मुसलमानों ने भारत की सशस्त्र सेनाओं में। पर बाद में साम्प्रदायिक दंगों के फलस्वरूप बड़ी संख्या में जन-स्थानान्तरण जारी हो गया और तब इनमें से बहुत से लोगों ने अपना अन्तिम विकल्प बदल देने की अनुमति माँगी। इस समस्या की असामान्य हालत को देखते हुए संयुक्त-रक्षा-परिषद ने १६ अक्तूबर, १९४७ को निर्णय किया कि पूर्वी पंजाब, पश्चिमी पंजाब, और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के मुसलमानों और गैर-मुसलमानों को अपना विकल्प बदलने की अनुमति दे दी जाय। इस स्थिति में दोनों में से किसी भी डोमीनियन द्वारा इन नये विकल्प चुनने वालों को रोजगार की गारन्टी न दी जा सकती थी। हर मामले पर उसके गुण-दोषानुसार फैसला किया गया।

राज की ३० अप्रैल, १९४७ की घोषणा में जिस प्रतिकर-राशि की व्यवस्था की गयी थी, वह आयु के आधार पर एक क्रमबद्ध मान में थी। यह १९ साल की उम्र पर ५०-१० पौंड से लेकर ३६ साल की उम्र तक, बढ़ कर, अधिकतम ६००० पौंड तक हो जाता था (सेक्रेटरी आफ स्टेट की सेवाओं के बारे में ३६ साल की उम्र अधिकतम प्रतिकर के लिए तय की गयी थी)। फिर वह उसी क्रम में कम होते-होते ५५ साल की उम्र में शून्य रह जाता था। ऐसे अधिकारियों को तो अपनी पूरी पेन्शन मिलने वाली थी। जो अधिकारी ब्रिटिश नौकरियों में स्थानान्तरित कर दिये गये, उनको इन विहित दरों का चौथाई दिया गया।

डोमीनियनों के गठित हो जाने के बाद संयुक्त-रक्षा-परिषद् ने २० अगस्त, १९४७ को यह निर्णय लिया कि भारतीय सशस्त्र सेनाओं के सभी भारतीय पदधारियों को आनुपातिक वेतन दिया जाय, यदि वे पूरी तरह सुयोग्य हों और उनकी सेवामुक्ति इसी कारण हुई हो कि उन्होंने दोनों में से किसी भी डोमीनियन की नौकरी करने के लिए नहीं चुना। उस समय, प्रवृत्त सेना-नियमों के अनुसार, सच्चरित्र सैनिक को, सेवान्त पर, कमान-अधिकारी के विवेकानुसार आनुपातिक वेतन दिया जा सकता था, पर यदि चार साल की सेवा पूरी होने से पहले उस व्यक्ति को उसके ही अनुरोध पर सेवामुक्त किया जाय तो आनुपातिक वेतन उसे तभी मिल सकता था, जब ब्रिगेड कमांडर को सन्तोष हो कि उस व्यक्ति की सेवामुक्ति जरूरी थी।

एग्जीक्यूटिव कौंसिल के (संक्रमण-कालीन उपबन्ध) आदेश, १९४७ (अधिसूचना संख्या जी जी ओ० १ तारीख १९ जुलाई, १९४७) के अधीन भारत सरकार के प्रत्येक विभाग के पुराने नाम के आगे कोष्ठक में भारत लगा कर उसे नया नाम दिया गया, जिससे वह एकमात्र या मुख्यतः भावी भारत डोमीनियन से सम्बन्धित मामलों को निपटाये। साथ ही प्रत्येक विद्यमान विभाग के संवादी एक नये विभाग को पिछले नाम के आगे कोष्ठक में पाकिस्तान नाम जोड़ कर बनाया गया और इस विभाग को एकमात्र या मुख्यतः भावी पाकिस्तान डोमीनियन से सम्बन्धित काम सौंपा गया। भावी डोमीनियनों से सम्बन्धित मामले भारत और पाकिस्तान के उपयुक्त विभागों से परामर्श करके निपटाए गये। भारत और पाकिस्तान संबंधी विभाग गवर्नर जनरल द्वारा नामित कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के अधीन रखे गये। एग्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य कौंसिल की उन बैठकों में भाग न ले सकते थे, जिनमें अन्य भावी डोमीनियन सम्बन्धी मामले एकमात्र रूप में या मुख्यतः लिये जाते हों। यह फैसला गवर्नर जनरल करते थे कि वह मामला एकमात्र या मुख्यतः किस डोमीनियन का है या यदि वह समान रूप से दोनों का है, तो दोनों भावी डोमीनियनों के प्रतिनिधि भाग लें। इस तरह व्यवहारतः २१ जुलाई, १९४७ को दो एग्जीक्यूटिव कौंसिलें अस्तित्व में आ गयीं और रक्षा-विभाग (भारत), रक्षा-विभाग (पाकिस्तान) और ऐसे ही अन्य सारे विभाग भी दुहरे हो गये। पाकिस्तान के कार्यालय कराची में स्थापित होने तक भारत और पाकिस्तान दोनों ही के विभाग दिल्ली में काम करते रहे।

संयुक्त रक्षा-परिषद्

२२ जुलाई, १९४७ को निर्णय किया गया कि विभाजन-परिषद् अस्थायी रूप से १५

अगस्त, १९४७ तक सयुक्त रक्षा-परिषद् की तरह काम करेगी* पंद्रह अगस्त, १९४७ को सयुक्त रक्षा-परिषद् कार्यरत हो जायगी।

सयुक्त रक्षा-परिषद् की स्थापना सयुक्त रक्षा-परिषद्-आदेश, ‡ १९४७ (अधिसूचना सख्या

---

* कालक्रम की दृष्टि से सयुक्त रक्षा-परिषद् की स्थापना का उल्लेख बाद में किया जाना चाहिए। पर यह ज्यादा मार्के की बात नही है। सशस्त्र सेनाओ सम्बन्धी सभी फैसले विभाजन-परिषद्, या अनन्तिम सयुक्त रक्षा-परिषद् के रूप मे काम कर रही विभाजन-परिषद्, या १५ अगस्त के बाद सयुक्त रक्षा-परिषद् ने किए। उनके काम करने के सिद्धान्त सदैव एक ही रहे।

‡ आदेश के पैरा ८ मे परिषद के ये कृत्य बताये गये थे

'८—केवल सयुक्त रक्षा-परिषद ही निम्नलिखित बातो का नियन्त्रण करेगी—

(क) भारतीय सेनाओ का डोमीनियनो के बीच विभाजन और उनका दो अलग डोमीनियन सेनाओ मे पुनर्गठन।

(ख) ऐसे पुनर्गठन के लिये भारतीय सेनाओ के सैनिको और अधिकारियो का स्थानान्तरण और गमन।

(ग) ऐसे पुनर्गठन के लिए भारतीय सेनाओ के उन सयन्त्रो, मशीनो, उपस्करो और भण्डारो का विभाजन, स्थानान्तरण और भेजा जाना, जो १५-८-४७ तक गवर्नर जनरल के अधीन थे।

(घ) जो सयुक्त रक्षा-परिषद बताये और उतने अस्थायी काल के लिए जितना वह परिषद जरूरी या इष्टकर समझे, नौसेना, थलसेना और वायुसेना की स्थापना।

(ङ) नौ सेना, थलसेना और वायुसेना के कानूनो का सामान्य प्रशासन और दोनो मे से प्रत्येक डोमीनियन की सशस्त्र सेनाओ मे अनुशासन बनाये रखना।

(च) दोनो मे से प्रत्येक डोमीनियन की सशस्त्र सेनाओ के भुगतान, खाद्य, वस्त्र, चिकित्सा और उपस्कर की सामान्य व्यवस्था करना।

(छ) दोनो डोमीनियनो के बीच की सीमाओ के पास के उस क्षेत्र मे, जिसे कुछ समय के लिए प्रान्तीय कानून के द्वारा उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्र घोषित कर दिया जाय, सक्रियारत या बाद के लिए भेजी जाने वाली सशस्त्र सेनाओ का नियन्त्रण।

(ज) ऐसी भारतीय सेनायें, जो इस समय विदेश मे है

इस शर्त पर कि सयुक्त रक्षा-परिषद का नियन्त्रण इन पर न होगा—

(एक) दोनो में किसी डोमीनियनो की सशस्त्र सेनाओ के डोमीनियनो के भीतर विन्यास और स्थानीय प्रशासन पर, लेकिन इस अनुच्छेद के पैरा (छ) और (ज) मे वर्णित सेनाओ से सम्बन्धित मामलो को छोड़ कर, या

(दो) दोनो मे से किसी डोमीनियन की सशस्त्र सेनाओ के अधिकारियो और सैनिको के चुनाव और भरती तथा उनके प्रशिक्षण पर, जब कि ऐसा प्रशिक्षण इस अनुच्छेद के

जी० जी० ओ० २, तारीख ११ अगस्त, १९४७ जो १ अप्रैल १९४८ तक वैध था) के अधीन की गयी। आदेश के मसौदे पर चर्चा के समय पाकिस्तान के गवर्नर जनरल जिन्ना ने सुझाव दिया कि यदि यह व्यवस्था की गयी कि भारत के गवर्नर जनरल परिषद के स्वतन्त्र अध्यक्ष होंगे, तो वह राजी हो जायेंगे कि उनका नाम सदस्य-सूची में न रहे, क्योंकि बैठकों में भाग लेने के लिये पाकिस्तान से अनुपस्थित रहने में उन्हें दिक्कत होगी। तदनुसार परिषद में भारत के गवर्नर जनरल स्वतन्त्र अध्यक्ष के रूप में रहे और भारत और पाकिस्तान के रक्षा-मन्त्री और उच्चतम कमांडर उसके सदस्य थे।

यदि रक्षा-मन्त्री कारणवश संयुक्त रक्षा-परिषद की किसी बैठक में न आ सकें, तो दूसरे मन्त्री या अपने डोमीनियन के उच्चायुक्त को भेज सकते थे। बैठक में रक्षा-मन्त्री के साथ एक अन्य मन्त्री भी जा सकता था।

परिषद को पूरी शक्ति थी कि सशस्त्र सेनाओं सम्बन्धी सभी मामलों पर निर्णय ले ले, किन्तु कोई भी सदस्य किसी भी खास विवादग्रस्त मद को विभाजन-परिषद के पास भेज सकता था।

संयुक्त सुरक्षा-परिषद् का सचिवालय

यह जरूरी था कि संयुक्त रक्षा-परिषद् का एक असैनिक संगठन हो, जो उसके सचिवालयीन कर्तव्य निभा सके और दोनों डोमीनियनों के सरकारी विभागों तक परिषद् के निर्णय पहुँचा सके। यह संगठन निश्चय ही ऐसा हो जो दोनों डोमीनियनों का विश्वासपात्र हो और यह आश्वस्त करने में समर्थ हो कि परिषद् के आदेशों का बिना विलम्ब और सहज ही पालन किया जायगा। तदनुसार संयुक्त रक्षा-परिषद् का सचिवालय बनाया गया और दोनों डोमीनियनों के रक्षा-सचिव परिषद् के संयुक्त सचिवों के रूप में इसके प्रमुख रखे गए।

उच्चतम कमांडर के मुख्यालय को वित्तीय सलाह

दोनों डोमीनियनों की स्थापना हो जाने पर अलग-अलग डोमीनियनों के सशस्त्र-सेना-मुख्यालय बन गये और डोमीनियनों की सेनाओं का संक्रियात्मक नियन्त्रण उनके हाथ में आ गया और भरती, प्रशिक्षण आदि कुछ सहायक मामलों की जिम्मेवारी भी उनकी ही हो गयी। जैसे-जैसे सेनाओं के पुनर्गठन का काम आगे बढ़ता गया, क्रमशः डोमीनियन मुख्यालयों के कृत्यों में विस्तार होता गया और उच्चतम कमांडर के कृत्य वैसे-वैसे कम होते गये। उच्चतम कमांडर

पैरा (घ) के अधीन संयुक्त रक्षा-परिषद द्वारा बतायी गयी प्रशिक्षण स्थापना से अन्यत्र ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता है।

यह शर्त और भी कि संयुक्त रक्षा-परिषद ऐसे उपाय करती रहेगी, जिनसे क्रमशः इस अनुच्छेद के पैरा (घ), (ङ) और (च) में वर्णित किसी या सभी के बारे में वह अपना नियन्त्रण हटा सके। उसका नियन्त्रण यथासम्भव शीघ्र और किसी भी दशा में १ अप्रैल, १९४८ से पहले समाप्त हो जावे।

का मुख्यालय सशस्त्र सेनाओं के सामान्य प्रशासन और सन्धारण के लिए जिम्मेवार था, अर्थात् वेतन, वस्त्र, उपस्कर, खाद्य और चिकित्सा के लिए। इसलिए उसमें सम्बन्धित वित्तीय कार्य की व्यवस्था करना भी जरूरी हो गया। यह निर्णय किया गया कि उच्चतम कमांडर के मुख्यालय के लिए यह कार्य उस समय वर्तमान सैन्य-वित्त-विभाग करेगा (जिसमें वे व्यक्ति कम हो जायेंगे जो दोनों डोमीनियनों ने डोमीनियन सशस्त्र-सेना-मुख्यालयों में संलग्न अपने नये सैन्य-वित्त-विभागों के लिए ले लिए हों), भले ही इसमें वे व्यक्ति हों जो भारत के लिए चुनाव कर चुके हैं या वे जो पाकिस्तान के लिए। यह उच्चतम कमांडर के संगठन की तरह एकीकृत संगठन ही था। दोनों डोमीनियनों के वित्त-विभागों के समान पद वाले एक-एक करके दो अधिकारी संयुक्त संगठन के प्रमुख थे। दोनों वित्तीय सलाहकार उच्चतम कमांडर की समिति के सदस्य इस सादृश्य पर थे कि अतीत में युद्ध और पूर्ति का वित्तीय सलाहकार कमांडर-इन-चीफ की समिति का सदस्य था। संयुक्त-रक्षा-परिषद् के निर्णय की अपेक्षा करने वाले और वित्तीय आलेपनों वाले मामले दोनों वित्तीय सलाहकारों के परामर्श से तैयार किये जाते थे। सितम्बर, १९४७ के अन्त तक भारत और पाकिस्तान के लिए दो अलग-अलग सैन्य-लेखा-कार्यालय बनाने के लिए कदम उठाये गये। भारत में विद्यमान सैन्य-लेखा-कार्यालय भारत डोमीनियन का कार्यालय १ अक्टूबर, १९४७ से बन गया। पाकिस्तान के लिए विकल्प देने वाले कर्मचारियों को शामिल करके पाकिस्तान के लिए अलग कार्यालय खोला गया।

सैन्य-लेखा-विभाग

जो सैन्य-लेखा-विभाग राज्य-क्षेत्र के आधार पर बने हुये थे, उनको सम्बन्धित डोमीनियनों ने सँभाल लिया। इस तरह पूर्वी कमान और दक्षिणी कमान के सैन्य-लेखा-नियन्त्रक भारतीय सैन्य-महालेखाकार के अधीन काम करते रहे, जबकि उत्तरी कमान के सैन्य-लेखा-नियन्त्रक का कर्तव्य पाकिस्तान के सैन्य महालेखाकार ने सँभाल लिया। अन्य सैन्य-लेखा-कार्यालय, जैसे सैन्य-लेखा-क्षेत्र-नियन्त्रक (अन्य पद), सैन्य-लेखा-क्षेत्र-नियन्त्रक (अधिकारी और शोधनगृह) सैन्य-लेखा-नियन्त्रक (पेन्शन) और कारखाना-लेखा-महानियन्त्रक, तब तक दोनों डोमीनियनों की सभी कमानों का काम करते रहे, जब तक पुनर्गठन पूरा न हो गया। इसलिए उनको सीधे उच्चतम कमांडर-मुख्यालय का काम करने वाले संयुक्त-सैन्य-वित्त-संगठन के प्रशासनिक नियन्त्रण में बने रहने दिया गया। नौ-सेना लेखा-नियन्त्रक और लेखा-नियन्त्रक (वायुसेना) भी कुछ समय तक संयुक्त-सैन्य-वित्त-संगठन के अधीन बने रहे, पर जैसे ही इन सेनाओं की यूनिटों का विभाजन पूरा हुआ, इन कार्यालयों को बाँट दिया गया और उनका काम सम्बन्धित डोमीनियनों को सौंप दिया गया। ऊपर उल्लिखित संयुक्त-रक्षा-परिषद्-आदेश में संयुक्त-रक्षा-परिषद्-सचिवालय और संयुक्त-वित्त-लेखा-संगठन दोनों के बनाने की व्यवस्था की गयी थी।

१५ अगस्त, १९४७ के बाद विभाजन-तन्त्र औपचारिक रूप से स्थापित कर दिया गया। संयुक्त-रक्षा-परिषद् की औपचारिक रचना का उल्लेख किया जा चुका है। भारत और पाकिस्तान की विभाजन-परिषद् का पुनर्गठन भारतीय स्वाधीनता (विभाजन परिषदें) आदेश १९४७ (अधिसूचना संख्या जी० जी० ओ० ८, तारीख १२ अगस्त, १९४७) द्वारा किया

गया। विभाजन-परिषद् में सदस्य रूप से भारत सरकार के दो मन्त्री और पाकिस्तान सरकार के दो प्रतिनिधि थे, जिनमें से एक पाकिस्तान सरकार का मन्त्री और दूसरा या तो मन्त्री या पाकिस्तान सरकार का भारत स्थित उच्चायुक्त हो सकता था। पर यदि पाकिस्तान के दोनों प्रतिनिधि मन्त्री हों, तो पाकिस्तान का उच्चायुक्त प्रेक्षक के रूप में बैठक में आ सकता था। यह व्यवस्था की गयी थी कि विभाजन-परिषद् की बैठकों के अध्यक्ष, एक-एक बैठक के हिसाब से बदल कर, भारत के प्रतिनिधियों में से एक और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों में से एक रहेंगे।

भारत और पाकिस्तान की विभाजन-परिषद् का प्रमुख कर्तव्य सपरिषद् गवर्नर जनरल की परिसम्पत्तियों और देयताओं के दोनों डोमीनियनों के बीच विभाजन से सम्बद्ध था। यह भी व्यवस्था की गयी थी कि यदि परिषद् एक सहमत निर्णय न कर सके, तो वह बात मध्यस्थ अधिकरण को सौंप दी जाय, जो साथ-साथ ही मध्यस्थ अधिकरण आदेश (अधिसूचना संख्या जी जी ओ ८, तारीख १२ अगस्त, १९४७) के अधीन बनाया जा रहा था। इस अधिकरण में गवर्नर जनरल द्वारा नामित अध्यक्ष और दोनों भावी डोमीनियनों का प्रतिनिधित्व करने के लिए उसके ही द्वारा नामित दो सदस्य होने थे। यह व्यवस्था की गयी थी कि यदि अध्यक्ष का पद खाली हो जाय तो उसे ऐसे व्यक्ति से भरा जायेगा, जो भारत के गवर्नर जनरल और पाकिस्तान के गवर्नर जनरल का एक सहमत नामित-व्यक्ति होगा और यदि किसी सदस्य का पद खाली हो जाय, तो सम्बन्धित डोमीनियन का गवर्नर जनरल उस खाली पद की पूर्ति के लिए एक सदस्य नामित कर देगा।

तदनुसार गवर्नर जनरल ने सर पैट्रिक स्पेंसर (भारत के फेडरल कोर्ट के निवर्तमान मुख्य न्यायाधीश) को अध्यक्ष, न्यायमूर्ति हरिलाल जे० कानिया को भारत के भावी डोमीनियन का प्रतिनिधित्व करने वाला सदस्य और न्यायमूर्ति एम० इस्माइल को पाकिस्तान डोमीनियन का प्रतिनिधित्व करने वाला सदस्य नामित कर दिया।

पुनर्गठन के दौरान सशस्त्र सेनाओं का नियन्त्रण

पुनर्गठन के दौरान सशस्त्र सेनाओं के नियन्त्रण का स्वरूप आगे दिये जाने वाले आदेश-५ में बताया गया है। नौसेना और वायुसेना का नियन्त्रण भी सामान्यतः इसी आधार पर था।

मूलतः सशस्त्र सेनाओं का पुनर्गठन पूरा करने के लिए १ अप्रैल, १९४८ की तारीख तय की गयी थी, जिस तारीख को केन्द्रीय प्रशासन-नियन्त्रण समाप्त होना था। इसी कारण संयुक्त-रक्षा-परिषद् का काल भी इसी तारीख तक सीमित रखा गया था।

सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन को तीन मुख्य शीर्षों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(१) व्यक्ति।

(२) धन-भण्डार और उपस्कर, जैसे गाड़ियाँ, तोपें, टैंक, आदि।

(३) स्थिर संस्थापन।

पूर्वोक्त रूप में व्यक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त तय हो चुके थे। यह भी तय हो

गया कि दोनो डोमीनियनो को अपनी-अपनी सैन्य-संख्या के अनुपात में स्थूल रूप से यूनिटो के उपस्कर और वैयक्तिक उपस्कर भी बांट दिये जायें। पर यह सिद्धान्त भारी आरक्षित भण्डारो और युद्ध अतिशेषों के बारे में लागू करना कठिन था, जो कुछ मामलों में कई सालो की सामान्य जरूरतों के बराबर था। काफी विचार-विमर्श के बाद ही इन भण्डारो के बारे में सहमति हो सकी। सेना में मुसलमानों और गैर-मुसलमानो का समग्रीण-अनुपात ३०:७० था। पर इस अनुपात में सेना की व्यक्तिगत विरचनाओ में अन्तर था। इसे ध्यान में रखते हुए पैदल रेजीमेंटो, तोपखाना रेजीमेंटो और आर्मर्ड कोरों का विभाजन इस तरह से किया गया कि दोनों डोमीनियनो के बीच व्यक्तियो का कम से कम आदान-प्रदान हो। विभाजन करने में रेजीमेंट-केन्द्रो का स्थल भी ध्यान में रखा गया था।

तीनो उप-समितियो की कार्य-प्रणाली

सशस्त्र सेनाओ के विभाजन के लिए वस्तुत: अपनाये गये तरीके के बारे में भी यहाँ कुछ कह देना उचित होगा। सेनाओ सम्बन्धी तीनो उपसमितियाँ को पहले अपने-अपने प्रतिवेदन सम्बन्धित सेनाओ के पुनर्गठन के लिए सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति के पास भेजने थे। यह अभिलिखित बात है कि उपसमितियों ने अपना काम सहयोग के वातावरण में किया। पहले सभी समस्याओं पर किसी उपसमिति के मुसलमान और गैर-मुसलमान सदस्यों द्वारा अलग-अलग विचार किया जाता था। बाद में वे संयुक्त रूप से आपस में बात कर लेते थे और फिर उनकी सिफारिशो पर अध्यक्ष और उपसमिति के ब्रिटिश अधिकारियों के सामने चर्चा हो जाती थी। सभी मामलो में उपसमिति की सिफारिशें एकमत रही।

सेना की यूनिटो का विभाजन

पैदल रेजीमेंटों को भारत और पाकिस्तान के बीच १५:८ के अनुपात में बाँटा गया, जिसमें गोरखा यूनिटें शामिल न थी। एक रेजीमेंट में तीन से छ बटालियनें तक हो सकती है। इसलिए इस अनुपात से सक्रिय बटालियनों की वास्तविक संख्या थी ६४ भारत और ४५ पाकिस्तान। पर पाकिस्तान की सभी बटालियनो में कुछ अनुपात में हिन्दू और सिख थे। वास्तविक संख्या थी भारत ६४ और पाकिस्तान ३३। जब सिख और हिन्दू अश पाकिस्तान बटालियनो से वस्तुत बाहर आ गये, तो भारत संघ की बटालियनो की अंतिम उपस्कर सामर्थ्य ७६ थी और इसमें १२ गोरखा बटालियनो को जोड़ कर यह अन्तिम अनुपात भारत ८८ और पाकिस्तान ३३ रहा। जो कम्पनियाँ एक डोमीनियन से दूसरे को स्थानांतरित की गयी थीं, उनको अपने व्यक्तिगत हथियार और यूनिट के उपस्कर का यथोचित अनुपात अपने साथ ले जाने की अनुमति दे दी गयी थी।

यहाँ पर गोरखों का कुछ उल्लेख कर देना भी जरूरी है। बहुत समय से वे आज की तरह भारतीय सेना के एक महत्वपूर्ण तत्व रहे है। अविभाजित भारतीय सेना में जब गोरखो की इच्छा माँगी गयी तो उनमें से बहुसंख्यक भारत में रहना चाहते थे। यह स्वाधीन भारत और नेपाल के बीच शुरू से ही चले आते हुए सौहार्दपूर्ण सम्बन्धो का प्रमाण है कि नेपाल

सरकार नेपाली गोरखाओं को स्वतन्त्र भारत की सेनाओं में रहने देने के लिए तैयार हो गयी। नवम्बर, १९४७ में भारत, नेपाल और इंगलैंड की सरकारों के बीच एक त्रिपक्षीय करार पर काठमांडू में हस्ताक्षर किये गये, जिसके अनुसार नेपाल सहमत हो गया कि १२ गोरखा बटालियन भारतीय सेना में और ८ बटालियनें ब्रिटिश सेना में रह सकती हैं। यह ध्यान रखना होगा कि यह व्यवस्था नेपाल के गोरखों के ही बारे में थी। उन गोरखों के बारे में नहीं, जो भारत में बस गये थे और इस तरह भारतीय अधिवास के गोरखा थे।

आर्मर्ड कोर रेजीमेंटों को भारत १२ और पाकिस्तान ६ के अनुपात में बाँटा गया। तोपखाना और इंजीनियरी यूनिटें, विभाजन से कुछ पहले ही होते चले आ रहे पुनर्गठन के फलस्वरूप, बहुत-कुछ साम्प्रदायिक आधार पर गठित की जा चुकी थी। तोपखाना-यूनिटें भारत १८½ के और पाकिस्तान ८½ के अनुपात में बाँटी गयी और इंजीनियरी यूनिटें ६१ और ३४ के अनुपात में।

विभाजन के समय भारतीय सेना की कुछ यूनिटें बर्मा और मलाया में काम कर रही थीं। ब्रिटिश सरकार और बर्मा सरकार के अनुरोध पर विभाजन परिषद् १५ अगस्त, १९४७ के बाद ३१ मार्च, १९४८ तक इन यूनिटों के वहाँ बने रहने के लिए सहमत हो गयी पर इन यूनिटों के विदेश में बने रहने ने भारतीय सेना के पुनर्गठन में कोई बाधा न डाली।

रॉयल इंडियन नेवी के जहाजों का बँटवारा

रॉयल इंडियन नेवी का बँटवारा दोनों डोमीनियनों की वास्तविक जरूरत के आधार पर किया गया। मुसलमानों और गैर-मुसलमानों की संख्या के अनुपात पर नहीं, जो ४० . ६० था। इस सिद्धान्त के मान लिए जाने के फलस्वरूप भारत के व्यापार, वाणिज्य बेड़े और तट-रेखा के, पाकिस्तान की तुलना में बहुत विशाल होने की दृष्टि से, भारत को चार स्लूप दिये गये, जब कि पाकिस्तान को दो। जहाजों के वास्तविक विभाजन में भारत को दो सबसे नये और दो सबसे पुराने स्लूप मिले। पाकिस्तान को उसी वर्ग के दो अच्छे स्लूप दिये गये। चार फ्रिगेटों में से दो भारत को मिले और दो पाकिस्तान को। सर्वोत्तम पाकिस्तान को दिये गये। बेड़े के सुरंग स्वच्छकों के बारे में भारत की जरूरत पाकिस्तान से ज्यादा थी। इसलिए भारत को तीन और पाकिस्तान को एक, इस तरह बँटवारा हुआ। एकमात्र उपलब्ध सर्वेक्षण पोत भारत की ३००० मील की तट-रेखा की दृष्टि से भारत को दिया गया, क्योंकि इसमें बहुत कुछ पुनः सर्वेक्षण जरूरी था। पत्तन-रक्षा मोटर लाँच बराबर-बराबर बाँटी गयीं, क्योंकि पाकिस्तान की तट-रक्षा में डेल्टा क्षेत्र ज्यादा था।

रॉयल इंडियन एयर फोर्स के स्क्वेड्रनों का बँटवारा

रायल इंडियन एयर फोर्स में २०% मुसलमान और ८०% गैर-मुसलमान व्यक्ति थे। बँटवारे के लिए एक इंजिन वाले लड़ाकू-विमानों (तूफानी) के आठ स्क्वेड्रन और दो इंजिनों वाले बीच के परिवहन विमानों (डकोटा) के दो स्क्वेड्रन उपलब्ध थे। साम्प्रदायिक अनुपात के आधार पर पाकिस्तान को दो ही स्क्वेड्रन मिलने चाहिये थे और शेष आठ भारत को। फिर

भी सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति की वायुसेना-उपसमिति इस बारे में एकमत थी कि पाकिस्तान को दो परिवहन स्क्वैड्रनों में से एक मिलना चाहिये। इसका मतलब था कि अगर बँटवारा विशुद्ध साम्प्रदायिक आधार पर किया जाय तो पाकिस्तान के हिस्से में एक ही लड़ाकू स्क्वैड्रन आता था। किन्तु सशस्त्र सेना-पुनर्गठन-समिति के सदस्यों के बहुमत ने सुझाया कि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में पाकिस्तान की जिम्मेवारी को देखते हुये वायुसेना के स्क्वैड्रनों का बँटवारा इस तरह किया जाये।

	पाकिस्तान	भारत
लड़ाकू स्क्वैड्रन	२	६
परिवहन स्क्वैड्रन	१	१

जब यह मामला विभाजन-परिषद् के सामने आया, तो भारत एक अतिरिक्त स्क्वैड्रन पाकिस्तान के दिये जाने के पक्ष में न था। आपत्ति इस आधार पर थी कि वायुसेना सीमान्त प्रदेश की जनता के विरुद्ध इस्तेमाल की जायेगी। वायुसेना बाहरी आक्रमण के विरुद्ध उपयोग के लिए होती है। वह यह तर्क मानने के लिए तैयार नहीं है कि पश्चिमोत्तर सीमान्त में उसकी जिम्मेवारी के आधार पर ८० २० का अनुपात बदल दिया जाय, जो कि सेना में मुसलमानों और गैर मुसलमानों की संख्या पर आधारित है। यह सही है कि नौसेना में जहाजों का बँटवारा ७० ३० के आधार पर किया गया है, यद्यपि अभिलिखित साम्प्रदायिक संख्या ६० ४० थी और गुप्त भारतीय नौसेना द्वारा निभाये जाने वाले दायित्वों को ध्यान में रखकर दी गयी थी। यह सम्भावना नहीं थी कि भारतीय नौसेना भारतीय जनता के विरुद्ध इस्तेमाल की जायेगी। भारत एक अतिरिक्त स्क्वैड्रन उधार या बँटवारे में भी देने को तैयार है यदि पाकिस्तान यह गारन्टी दे कि इसका इस्तेमाल अविभाजित भारत की मूल सीमा के भीतर जनजातियों पर हमला करने के लिए न किया जायेगा। पर विभाजन-परिषद् में पाकिस्तान के प्रतिनिधि ने इस पर आग्रह किया कि सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति द्वारा सिफारिश किये गये अनुसार ही बँटवारा हो। गतिरोध पार करने के लिए लार्ड माउंटबेटन ने, जो परिषद् के अध्यक्ष थे, एक नया तरीका सुझाया कि अगर विद्यमान आरक्षित उपस्कर काफी मात्रा में हो, तो एक नया लड़ाकू स्क्वैड्रन खड़ा कर लिया जाय और तब पाकिस्तान को दो लड़ाकू स्क्वैड्रन दे दिये जायें। यह दोनों पक्षों को स्वीकार था और जाँच पर पता चला कि नवें स्क्वैड्रन के लिए काफी सामग्री उपलब्ध है। इसलिए बँटवारे में दो लड़ाकू स्क्वैड्रन और एक परिवहन स्क्वैड्रन पाकिस्तान को और सात लड़ाकू स्क्वैड्रन और एक परिवहन स्क्वैड्रन भारत को मिले। शेष, आरक्षित और पुर्जे आदि भी इसी अनुपात में बाँटे गये।*

रेजीमेंट की निधियाँ

यह निर्णय किया गया था कि पुनर्गठन पर जब सैनिक एक यूनिट से दूसरी में जायेंगे तो रेजीमेंटों की निजी निधियों के जमा शेष का जो पूरा-पूरा या अलग वायसराय कमीशन-

*दोनों डोमीनियनों के बीच सशस्त्र सेनाओं की विभिन्न यूनिटों के बँटवारे की पूरी सारी इस अध्याय के अन्त में अनुबन्ध दो में मिल सकती है।

प्राप्त अधिकारियों या भारतीय अन्य मदों से प्राप्त चन्दे से बना है, एक अंश स्थानान्तरित होने वाले सैनिकों की सख्या के अनुपात में स्थानान्तरित कर दिया जाय। अधिकारियों के मैसों की निधियाँ या सम्पत्ति अधिकारियों की निजी सम्पत्ति मानी गयी और वह सम्बन्धित रेजीमेंट के पास बनी रही।

स्थिर सस्थापन

कारखाना, प्रशिक्षण सस्थान, आर्डनेंस, गोलाबारूद और गाड़ी डिपो, प्रयोगशालायें आदि जैसे स्थिर सस्थापन सामान्यत उन्हीं डोमीनियनों को दिये गये, जहाँ वे स्थित थे। कुछ मामलों में इन सस्थापनों के चल उपस्करों का उपयुक्त अनुपात दूसरे डोमीनियन में ले जाये जाने के भी आदेश दे दिये गये।

प्रशिक्षण सस्थान

तीनों सेनाओं के प्रशिक्षण सस्थान पूरे देश में स्थित थे। सेना के अधिकांश विद्यालय भारत में थे, जबकि ज्यादा महत्वपूर्ण नौसेना प्रशिक्षण स्थापनायें पाकिस्तान में थी। पाकिस्तान में स्थित ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण संस्थान, जिनके समान सस्थान विवश होकर भारत में भी बनाने पड़ने, ये थे . स्टाफ कालेज, रॉयल इंडियन आर्मी सर्विस कोर स्कूल, इंस्टिटेशन स्कूल, एंटी एयरक्राफ्ट स्कूल, नेवल वायज ट्रेनिंग एस्टेब्लिशमेंट और पैराशूट ट्रेनिंग स्कूल। दूसरे संस्थान बनाने, सयुक्त उपयोग और सेनाओं की प्रशिक्षण स्थापनाओं के नियन्त्रण की जिम्मेवारी पर सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति ने विचार किया। ऐसे भी स्कूल थे, जिनको अंशत ही और विभिन्न चरणों में बाँटा जा सकता था, पुनर्गठन काल में दोनों ही डोमिनियनों के काम आने वाले स्कूलों के बारे में समिति के बहुसख्यक सदस्यों का विचार था कि ऐसी प्रशिक्षण स्थापनायें १ अप्रैल, १६४८ तक उच्चतम कमांडर के नियन्त्रण में रहें, या जब तक दूसरे डोमिनियन में वैसी दूसरी स्थापना न बन जाय, अर्थात् दोनों में जो तारीख पहले पड़े। पर भारत का विचार था कि अपने क्षेत्र के प्रशिक्षण संस्थानों के ऊपर उसका नियन्त्रण तुरन्त हो जाना चाहिये। यह माना गया कि उन सभी को एकदम नियन्त्रण में ले लेने में खतरे हैं, पर यदि उसे अपने पैरों पर खड़ा होना है, तो ऐसा करना ही होगा। इस पर अनन्तिम-संयुक्त-रक्षा-परिषद् ने ६ अगस्त, १६४७ को फैसला किया कि १५ अगस्त, १६४७ के बाद दोनों डोमिनियन यथाशीघ्र परिषद् को बता दें कि दोनों डोमिनियनों के काम आने वाली विभिन्न प्रशिक्षण स्थापनाओं का नियन्त्रण वे किस तारीख से अपने हाथ में लेना चाहते हैं। इस बीच विद्यमान संस्थायें दोनों डोमिनियनों की जरूरतों को पूरा करती रहेंगी। प्रशिक्षण स्थापनाओं के संयुक्त उपयोग आगे भी चालू रहने के प्रश्न पर सितम्बर, १६४७ के मध्य में फिर चर्चा हुई। यह बताया गया कि यद्यपि कुछ प्रशिक्षण स्थापनाओं में, जैसे इंडियन मिलिटरी एकेडेमी में, विभिन्न देशों के प्रशिक्षार्थी साथ रहकर समन्वित रूप से काम चला रहे हैं, कुछ अन्य स्थापनाओं में साम्प्रदायिक भावनाएं उभर चुकी हैं और बढ़ रही हैं। कुछ स्थापनाओं में प्रशिक्षार्थियों के बीच खुले संघर्ष का भी खतरा है। ऐसी स्थिति टालने के लिए सयुक्त-रक्षा-

भी सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति की वायुसेना-उपसमिति इस बारे में एकमत थी कि पाकिस्तान को दो परिवहन स्क्वेड्रनों में से एक मिलना चाहिये। इसका मतलब था कि अगर बँटवारा विशुद्ध साम्प्रदायिक आधार पर किया जाय तो पाकिस्तान के हिस्से में एक ही लड़ाकू स्क्वेड्रन आना था। किन्तु सशस्त्र सेना-पुनर्गठन-समिति के सदस्यों के बहुमत ने सुझाया कि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में पाकिस्तान की जिम्मेवारी को देखते हुये वायुसेना के स्क्वेड्रनों का बँटवारा इस तरह किया जाये।

	पाकिस्तान	भारत
लड़ाकू स्क्वेड्रन	२	६
परिवहन स्क्वेड्रन	१	१

जब यह मामला विभाजन-परिषद् के सामने आया, तो भारत एक अतिरिक्त स्क्वेड्रन पाकिस्तान के दिये जाने के पक्ष में न था। आपत्ति इस आधार पर थी कि वायुसेना सीमान्त प्रदेश की जनता के विरुद्ध इस्तेमाल की जायेगी। वायुसेना बाहरी आक्रमण के विरुद्ध उपयोग के लिए होती है। वह यह तर्क मानने के लिए तैयार नहीं है कि पश्चिमोत्तर सीमान्त में उसकी जिम्मेवारी के आधार पर ८० २० का अनुपात बदल दिया जाय, जो कि सेना में मुसलमानों और गैर मुसलमानों की संख्या पर आधारित है। यह सही है कि नौसेना में जहाजों का बँटवारा ७० ३० के आधार पर किया गया है, यद्यपि अभिलिखित साम्प्रदायिक संख्या ६० ४० थी और सुरक्षा भारतीय नौसेना द्वारा निभाये जाने वाले दायित्वों को ध्यान में रखकर दी गयी थी। यह सम्भावना नहीं थी कि भारतीय नौसेना भारतीय जनता के विरुद्ध इस्तेमाल की जायेगी। भारत एक अतिरिक्त स्क्वेड्रन उधार या बँटवारे में भी देने को तैयार है यदि पाकिस्तान यह गारन्टी दे कि इसका इस्तेमाल अविभाजित भारत की मूल सीमा के भीतर जनजातियों पर हमला करने के लिए न किया जायेगा। पर विभाजन-परिषद् में पाकिस्तान के प्रतिनिधि ने इस पर आग्रह किया कि सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति द्वारा सिफारिश किये गये अनुसार ही बँटवारा हो। गतिरोध पार करने के लिए लार्ड माउंटबेटन ने, जो परिषद् के अध्यक्ष थे, एक नया तरीका सुझाया कि अगर विद्यमान आरक्षित उपस्कर काफी मात्रा में हो, तो एक नया लड़ाकू स्क्वेड्रन खड़ा कर लिया जाय और तब पाकिस्तान को दो लड़ाकू स्क्वेड्रन दे दिये जायें। यह दोनों पक्षों को स्वीकार था और जाँच पर पता चला कि नवें स्क्वेड्रन के लिए काफी सामग्री उपलब्ध है। इसलिए बँटवारे में दो लड़ाकू स्क्वेड्रन और एक परिवहन स्क्वेड्रन पाकिस्तान को और सात लड़ाकू स्क्वेड्रन और एक परिवहन स्क्वेड्रन भारत को मिले। शेष, आरक्षित और पुरजे आदि भी इसी अनुपात में बाँटे गये।*

रेजीमेंट की निधियाँ

यह निर्णय किया गया था कि पुनर्गठन पर जब सैनिक एक यूनिट से दूसरी में जायेंगे तो रेजीमेंटों की निजी निधियों के जमा शेष का जो पूरा-पूरा या अंशतः वायसराय कमीशन-

*दोनों डोमीनियनों के बीच सशस्त्र सेनाओं की विभिन्न यूनिटों के बँटवारे की पूरी सूची इस अध्याय के अन्त में अनुबन्ध दो में मिल सकती है।

प्राप्त अधिकारियों या भारतीय अन्य मदों से प्राप्त चन्दे से बना है, एक अंश स्थानान्तरित होने वाले सैनिकों की संख्या के अनुपात में स्थानान्तरित कर दिया जाय। अधिकारियों के मैसों की निधियाँ या सम्पत्ति अधिकारियों की निजी सम्पत्ति मानी गयी और वह सम्बन्धित रेजीमेंट के पास बनी रही।

स्थिर संस्थापन

कारखाना, प्रशिक्षण संस्थान, आर्डनेंस, गोलाबारूद और गाडी डिपो, प्रयोगशालायें आदि जैसे स्थिर संस्थापन सामान्यतः उन्हीं डोमीनियनों को दिये गये, जहाँ वे स्थित थे। कुछ मामलों में इन संस्थापनों के चल उपस्करों का उपयुक्त अनुपात दूसरे डोमीनियन में ले जाये जाने के भी आदेश दे दिये गये।

प्रशिक्षण संस्थान

तीनों सेनाओं के प्रशिक्षण संस्थान पूरे देश में स्थित थे। सेना के अधिकांश विद्यालय भारत में थे, जबकि ज्यादा महत्वपूर्ण नौसेना प्रशिक्षण स्थापनायें पाकिस्तान में थीं। पाकिस्तान में स्थित ज्यादा महत्वपूर्ण प्रशिक्षण संस्थान, जिनके समान संस्थान विवश होकर भारत में भी बनाने पड़ते, ये थे . स्टाफ कालेज, रॉयल इंडियन आर्मी सर्विस कोर स्कूल, इन्फिंटेशन स्कूल, एंटी एयरक्राफ्ट स्कूल, नेवल बायज ट्रेनिंग एस्टेब्लिशमेंट और पैराशूट ट्रेनिंग स्कूल। दुहरे संस्थान बनाने, संयुक्त उपयोग और सेनाओं की प्रशिक्षण स्थापनाओं के नियन्त्रण की जिम्मेवारी पर सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति ने विचार किया। ऐसे भी स्कूल थे, जिनको अंशतः ही और विभिन्न चरणों में बाँटा जा सकता था, पुनर्गठन काल में दोनों ही डोमिनियनों के काम आने वाले स्कूलों के बारे में समिति के बहुसंख्यक सदस्यों का विचार था कि ऐसी प्रशिक्षण स्थापनायें १ अप्रैल, १९४८ तक उच्चतम कमांडर के नियन्त्रण में रहें, या जब तक दूसरे डोमिनियन में वैसी दूसरी स्थापना न बन जाय, अर्थात् दोनों में जो तारीख पहले पड़े। पर भारत का विचार था कि अपने क्षेत्र के प्रशिक्षण संस्थानों के ऊपर उसका नियन्त्रण तुरन्त हो जाना चाहिये। यह माना गया कि उन सभी को एकदम नियन्त्रण में ले लेने में खतरे हैं, पर यदि उसे अपने पैरों पर खड़ा होना है तो ऐसा करना ही होगा। इस पर अन्तरिम-संयुक्त-रक्षा-परिषद् ने ६ अगस्त, १९४७ को फैसला किया कि १५ अगस्त, १९४७ के बाद दोनों डोमिनियन यथाशीघ्र परिषद् को बता दें कि दोनों डोमीनियनों के काम आने वाली विभिन्न प्रशिक्षण स्थापनाओं का नियन्त्रण वे किस तारीख से अपने हाथ में लेना चाहते हैं। इस बीच विद्यमान संस्थायें दोनों डोमिनियनों की जरूरतों को पूरा करती रहेंगी। प्रशिक्षण स्थापनाओं के संयुक्त उपयोग आगे भी चालू रहने के प्रश्न पर सितम्बर, १९४७ के मध्य में फिर चर्चा हुई। यह बताया गया कि यद्यपि कुछ प्रशिक्षण स्थापनाओं में, जैसे इंडियन मिलिटरी एकेडेमी में, विभिन्न देशों के प्रशिक्षार्थी साथ रहकर समन्विति से काम चला रहे हैं, कुछ अन्य स्थापनाओं में साम्प्रदायिक भावनाएं उभर चुकी हैं और बढ़ रही हैं। कुछ स्थापनाओं में प्रशिक्षार्थियों के बीच खुले संघर्ष का भी खतरा है। ऐसी स्थिति टालने के लिए संयुक्त-रक्षा-

परिषद् ने निर्णय किया कि दुहरी स्थापना खडी करने में, दूसरे डोमीनियन के योग्य हो जाने की प्रतीक्षा किना किए, एक डोमीनियन के सभी प्रशिक्षार्थियों और कर्मचारियो को दूसरे डोमीनियन मे स्थित सभी सयुक्त प्रशिक्षण स्थापनाओं से हटा लिया जाय। इस सिद्धात के किसी खास स्थापना पर लागू किये जाने की बात तय करना भारत और पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओ के कमाडरो के परामर्श से उच्चतम कमाडर के विवेक पर छोड दिया गया। यह भी तय किया गया कि जहाँ सम्भव हो सयुक्त प्रशिक्षण उस समय चालू पाठ्यक्रम के अन्त तक चलता रहे। सितम्बर तक नौसेना और वायुसेना के लिए कोई भी सयुक्त प्रशिक्षण स्थापना चालू न रही थी। अक्टूबर, १९४७ के अन्त तक एक डोमीनियन के प्रशिक्षार्थियो और कर्मचारियो को दूसरे डोमीनियनो मे स्थित थल-सेना प्रशिक्षण स्थापनाओ से भी हटा लिया गया।

उपसमिति की सदस्य-सख्या मे कमी

उपसमितियो का मुख्य काम १५ अगस्त, १९४७ तक पूरा हो गया था। उसके बाद उपसमितियो की सदस्य-सख्या घटा कर यो कर दी गयी। अध्यक्ष, एक भारतीय अधिकारी, एक पाकिस्तानी अधिकारी, एक ब्रिटिश अधिकारी, दो वित्तीय सदस्य और एक सचिव। १ सितम्बर, १९४७ तक यह सख्या और भी कम करके एक ब्रिटिश, एक भारतीय और एक पाकिस्तानी अधिकारी कर दी गयी। आगे चलकर उपसमितियो का काम स्वीकृत निर्णयो का निर्वचन करना, कार्यपालन कृत्य के लिए जिम्मेवार सयुक्त सशस्त्र सेना मुख्यालयो को सलाह देना और सयुक्त सशस्त्र सेना मुख्यालयो और दोनों डोमीनियनो के मुख्यालयो के बीच सम्पर्क रखना ही रह गया।

सीमा दल

यद्यपि हमारा सम्बन्ध सीधे सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन से नही है, फिर भी ये अभिलेख उन कदमो का उल्लेख किये बिना पूरे न होंगे, जो १५ अगस्त, १९४७ के पहले और बाद में दोनो सीमाओं के पास हुए उपद्रवो से निपटने के लिए उठाये गये। ३० जून, १९४७ को कमाडर इन-चीफ से कहा गया कि वे ऐसी आकस्मिकता से निपटने के सर्वोत्तम उपाय बताने वाले सुविचारित प्रस्ताव प्रस्तुत करें। अपेक्षित व्यवस्था पर विभाजन-परिषद् में १७ जुलाई, १९४७ को चर्चा हुई। यह निश्चय किया गया कि पंजाब के सम्भाव्य उपद्रव-क्षेत्रों में कार्य करने के लिए एक सीमा दल पहले से ही पजाब में स्थित चौथे भारतीय डिवीजन के कमाडर मेजर जनरल रीस की अध्यक्षता में बनाया जाय, जो दोनो डोमिनियनों की ओर से सयुक्त कमाडर हों। मेजर जनरल रीस ने पजाब के परिभाषित क्षेत्र में कार्य करने वाले सभी सैनिकों का नियन्त्रण सँभाला और वह उच्चतम कमाडर के जरिए सयुक्त-रक्षा-परिषद् के प्रति उत्तरदायी थे। (यह पूर्वाशा नहीं की गयी थी कि बंगाल में कोई ज्यादा गम्भीर उपद्रव होंगे, ताकि वहाँ भी वैसा दल रखना जरूरी हो जाये। अगर जरूरत पड़े तो वही सिद्धान्त बगाल पर भी लागू किये

जावें। जैसा सुविदित है, अकेले गान्धी जी बंगाल में एक सीमादल के समान प्रभावी हुए। सीमादल के सभी सैनिक भारतीय थे और दल में मिले-जुले वर्गों की यूनिटें थीं, ताकि पक्षपातिता के किन्हीं ऐसे सम्भव आरोपों से बचा जा सके, जो तब लगाये जा सकते थे, जब केवल एक ही वर्ग के सैनिकों से बनी बटालियन का प्रयोग किया जाता। अनेक ब्रिटिश अधिकारी सैनिकों के कमान-धारी थे और संयुक्त कमांडर के स्टाफ में उपयुक्त वरिष्ठता वाले एक मुसलमान और एक सिख अधिकारी को सलाहकार के रूप में नियुक्त किया गया था। १५ अगस्त, १९४७ के बाद दोनों डोमीनियनों के सैनिकों के ऊपर, केवल इस मामले में, सक्रियागत नियन्त्रण उच्चतम कमांडर के हाथ में बना रहा।

यह निर्णय किया गया कि १५ अगस्त के बाद उपद्रवों को दबाने में असैनिक सत्ता को मदद के लिए जितने समय तक सैनिकों को लगाया जाय, उनके उपयोग को शामिल करने वाले कानून में कोई परिवर्तन नहीं किया जाएगा। लेकिन सीमा-दल का इस तरह उपयोग करने से पहले एक विधिक कठिनाई को पार करना था। जनव्यवस्था बनाये रखना एकमात्र प्रादेशिक विषय था और संयुक्त-रक्षा-परिषद् के पास ऐसी कोई शक्ति न थी कि किसी प्रभावित जिले को उपद्रवग्रस्त क्षेत्र घोषित कर दे। ऐसी घोषणा एक प्रदेश-सरकार ही कर सकती थी और जब तक ऐसा न हो, सशस्त्र सेना के सदस्य उस क्षेत्र में पुलिस अधिकारियों और मजिस्ट्रेटों की शक्ति का उपयोग न कर सकते थे। फलस्वरूप भारत सरकार अधिनियम १९३५ की धारा १२६ (५) में उपयुक्त अनुकूलन किया गया ताकि डोमीनियन सरकारें प्रान्तों को भारत या उसके किसी भाग में, शान्ति और प्रशान्ति के लिए घोर संकट की स्थिति को रोकने के प्रयोजन से, प्रदेशों को उपयुक्त निर्देश दे सकें। तदनुसार पंजाब सरकार से कहा गया कि संगत प्रान्तीय अधिनियम के अधीन १ अगस्त, १९४७ से प्रान्त के कुछ जिलों को 'उपद्रवग्रस्त क्षेत्र' घोषित कर दे। इस बारे में भी कदम उठाये गये कि पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी पंजाब की सरकारों को, भारत तथा पाकिस्तान की केन्द्रीय सरकार की सहमति के बिना, घोषणा को रद्द करने से रोका जा सके। जुलाई के तीसरे सप्ताह में पंजाब के गवर्नर, उत्तरी कमान के जनरल अफसर कमांडिंग और पंजाब-विभाजन-समिति के साथ परामर्श करके, ऐसे १२ जिलों की सूची बनायी गयी, जो गम्भीर रूप से उपद्रवग्रस्त होने की सम्भावना वाले थे और जहां सीमादल को सुरक्षा करनी थी। १ अगस्त, १९४७ तक सीमा दल ने अपनी जगह संभाल ली।

जैसा भय था, विभाजन के फलस्वरूप पंजाब के सीमा जिलों में वस्तुतः भयंकर स्थिति पैदा हो गयी। सीमा दल के सैनिकों की उपस्थिति ने ही पूर्ण हत्याकाण्ड और आगजनी को रोके रखा। सैनिकों को बड़ी संख्या में दंगाइयों को मारना पड़ा, लेकिन शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि स्थिति प्रत्याशा से कहीं ज्यादा गम्भीर है। आरम्भ में तो सैनिक अपने कर्तव्य का पालन करने में पूरी तरह निष्पक्ष रहे, यद्यपि इसके विपरीत सेना के कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध आरोप लगाये गये। शीघ्र ही शरणार्थियों की उपस्थिति ने सीमा दल का काम बहुत मुश्किल कर दिया। शरणार्थी अपने प्रति हुए दुर्व्यवहार की करुण-कथायें कहते थे और जहां वे पहुंचते थे, उनकी कथाओं से आग भड़कना अनिवार्य हो जाता था और फलस्वरूप और अधिक प्रतिशोध लिए जाते थे। शरणार्थी भी सैनिकों की अनुरक्षा में ले जाये जाने पर और शिविरों में उनको

सरक्षा में रहने पर अपने को काफी सुरक्षित समझते थे। २५ अगस्त, १९४७ को संयुक्त-रक्षा-परिषद् ने निर्णय किया कि यथासम्भव शरणार्थी शिविरों की रक्षा की जाय और शरणार्थी काफिलों की अनुरक्षा के लिए उनके ही सम्प्रदाय के सैनिक भेजे जायें।

कठिन परिस्थिति के बावजूद सीमादल के सैनिक पहले दो-तीन हफ्ते प्रशंसनीय रूप से निष्पक्ष बने रहे। पर धीरे-धीरे सैनिकों पर भी दबाव बढ़ रहा था, भारतीय अधिकारियों पर (यूरोपीय अधिकारियों की तुलना में) सैनिकों की अपेक्षा कहीं ज्यादा। शान्ति भंग करने वाले लोगों के खिलाफ सैनिकों ने जो कार्रवाई की, वह बड़ी कठोर रही—सामान्य परिस्थितियों में जितना उपयुक्त समझा जाता उसके अनुपात में कहीं ज्यादा उग्र। काफी लोग मारे गये। फिर ऐसी घटनायें भी होने लगीं, जिनमें अपने ही सम्प्रदाय के लोगों के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई करने का आदेश मिलने पर, उनका कार्य ढीला रहा और एकाध उदाहरण ऐसे भी मिले कि जहाँ सैनिकों को हस्तक्षेप करना चाहिये था, वे चुपचाप खड़े रहे। कमांडर ने अनुभव किया कि सीमादल के सैनिकों की निष्पक्षता इतनी प्रभावित हो सकती है कि विधि-व्यवस्था बनाये रखने की उनकी योग्यता को भी मन्द कर दे। दोनों डोमीनियनों की सेनाओं के बीच सम्भावित झगड़े बचाने के लिए यह निश्चय किया गया कि पंजाब सीमा दल के सैनिकों को पुनर्वर्गित किया जाय जिसमें भारतीय सेना को दी गयी यूनिटें पूर्वी पंजाब में रहें और पाकिस्तान सेना को दी गयी यूनिटें पश्चिमी पंजाब में। इसके बाद किसी डोमीनियन की सेनायें सन्धियागत रूप से आवश्यक होने पर ही सीमा पार करेंगी, जैसे कि जिन उग्र जत्थों को उन्होंने घेर रखा है, वे सीमा पार कर जायें।

अगस्त के अन्त तक उपद्रव पंजाब सीमा दल के क्षेत्र के बाहर के इलाकों में फैल चुके थे, जिनको रोकने के कोई साधन दल कमांडर के पास न थे। उन्होंने कहा कि जिन असाधारण परिस्थितियों में वे पड़ गये हैं, उनके कारण, और जिन परिस्थितियों में उनसे असैनिक सत्ता की सहायता करने की माँग की जा रही है, उसके दबाव के कारण, भारतीय (ब्रिटिशों से पृथक्) अधिकारी और सैनिक भी अनिवार्यतः साम्प्रदायिक विष के शिकार हो गये हैं। उनको भय था कि हालत और बिगड़ती जायेगी। इसलिए उन्होंने यह निवेदन किया कि अपने कमान की सेनाओं की विश्वसनीयता की अब और आगे, और ज्यादा से ज्यादा सितम्बर के मध्य के बाद, गारन्टी देना उनके लिए सम्भव नहीं है। विधि-व्यवस्था बनाये रखने के काम की जो कल्पना सीमादल के गठन के समय की गयी थी, उससे स्थिति बहुत ही अधिक उग्र हो चुकी है और अब पैदा हुई स्थिति उसकी क्षमता और नियन्त्रण से परे है। यद्यपि सैन्य-दृष्टिकोण से पंजाब सीमादल सुरक्षा बनाये रखने के लिए सर्वोत्तम साधन है, तथापि राजनीतिक बातों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय किया गया कि ३१ अगस्त/१ सितम्बर की रात में सीमादल को खत्म कर दिया जाय और विधि-व्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदारी सम्बन्धित सरकारों को सौंप दी जाय। यह भी तय किया गया कि दोनों में से प्रत्येक डोमीनियन, अब तक पंजाब सीमादल के अधीन आने वाले क्षेत्र के नियन्त्रण के लिए, अलग-अलग नये सैन्य मुख्यालय गठित करे और इस प्रयोजन से लाहौर एरिया का मुख्यालय और चौथे भारतीय डिवीजन का मुख्यालय दोनों ही लाहौर में रखे जायें, ताकि निकट सम्पर्क रखा जा सके। शीघ्र ही यह भी

उचित माना गया कि शरणार्थी शिविरों की रक्षा उसी समुदाय के सैनिक करें, पर यह व्यवस्था सेनाओं के पुनर्गठन के लिए सैनिकों के आने-जाने में बाधक न बने। शरणार्थी शिविर जिस डोमीनियन में है, उसकी रक्षा की जिम्मेवारी उसी की है, लेकिन एक डोमीनियन की सेनायें शरणार्थियों को पहुँचाने और शरणार्थी-शिविरों की रक्षा के लिए अगर दूसरे डोमीनियन में सीमा पार कर जायें, तो कोई आपत्ति नहीं है।

संयुक्त-रक्षा-परिषद् की बैठकें

अब हम मूल बात की ओर आते हैं। संयुक्त-रक्षा-परिषद् की बैठकें दिल्ली में सितम्बर के अन्त तक चलती रहीं, पर संयुक्त-रक्षा-परिषद् सचिवालय के मुसलमान कर्मचारियों को होने वाली कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर १ अक्टूबर, १९४७ को यह निर्णय लिया गया कि आगे से संयुक्त-रक्षा-परिषद् की बैठकें पाक्षिक और वैकल्पिक रूप से दिल्ली और लाहौर में बुलायी जायें और भारत के गवर्नर जनरल लाहौर और दिल्ली दोनों जगह बैठकों की अध्यक्षता करें। इस निर्णय के फलस्वरूप संयुक्त-रक्षा-परिषद् की बैठकों की समिति का कार्य भारत के गवर्नर जनरल के सम्मेलन सचिव, ले० कर्नल वी० एफ० एरस्किन क्रम ने अपने हाथ में ले लिया।

पुनर्गठन की प्रगति

सितम्बर के पहले हफ्ते तक नौसेना और वायुसेना के सदस्यों के, सम्बन्धित डोमीनियन को जाने के प्रसंग में, पुनर्गठन काफी पूरा हो चुका था। अक्टूबर के मध्य तक नौसेना और वायुसेना का बँटवारा अधिकारियों-सैनिकों और पोतों तथा विमानों के मामले में प्राय पूरा हो चुका था। यद्यपि संख्या की दृष्टि से ये दोनों सेनायें छोटी थीं, पर फिर भी वे अखिल भारतीय आधार पर ज्यादा निकट रूप से सम्बद्ध थीं और उनके बँटवारे की समस्या सरल न थी। सेना के पुनर्गठन के सिलसिले में दो अलग-अलग और बड़े जटिल कार्यक्रम चलाने पड़े। बड़ी इकाइयों और उप-यूनिटों के, एक डोमीनियन से दूसरे में ले जाने के लिए, विस्तृत और ब्यौरेवार कार्यक्रम बनाना पड़ा और ११० विशेष रेल गाड़ियाँ चलानी पड़ीं। इस आवागमन में ही सेना की उपलब्ध पूरी-पूरी रेलवे-क्षमता खर्च हो गयी। बड़ी-बड़ी इकाइयों-रेजीमेंटों बटालियनों और कम्पनियों—का आवागमन शरणार्थियों की रक्षा के लिए, दूसरे डोमीनियन में छोड़ी गयी यूनिटों के अलावा, प्राय ३१ अक्टूबर तक पूरा हो गया। बड़ी-बड़ी इकाइयों का स्थानान्तरण पूरा हो जाने के बाद व्यक्तियों का भेजा जाना शुरू किया गया। योजना यह बनी थी कि बड़ी-बड़ी इकाइयों और व्यक्तियों का आवागमन १ दिसम्बर तक पूरा हो जाएगा, मूल योजना को कार्यान्वित करने में कुछ देर हो गयी, जिसका कारण यातायात का अव्यवस्थित हो जाना और शरणार्थियों का आवागमन था।

उच्चतम कमांडर ने तारीख १३ अक्टूबर, १९४७ की एक टिप्पणी में, जो संयुक्त-रक्षा-परिषद् के पास प्रस्तुत की गयी थी, यह सिफारिश की थी कि उच्चतम कमांडर और उसके मुख्यालय का काम ३० नवम्बर से खत्म कर दिया जाय। उन्होंने बताया कि रेल और सड़क-यातायात के अव्यवस्थित होने से, और पंजाब के उपद्रवों और बड़े पैमाने पर शरणार्थियों के

आवागमन द्वारा खड़ी हुई बाधा के बावजूद, और हाल की भारी बाढ़ द्वारा स्थिति और भी खराब होने के बावजूद, सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन में उल्लेखनीय प्रगति की जा चुकी है।

सेना के पुनर्गठन का अन्तिम हिस्सा, जो शेष था, वह चल परिसम्पत्तियों का बँटवारा था, जिसमें स्टाक का सन्धारण और कार्यकरण और युद्ध और लामबन्दी रक्षितियाँ आती थीं। भारी मात्रा में भण्डार का प्रश्न होने से इन रक्षितियों और स्टाक के भौतिक बँटवारे में कई महीने लगने की सम्भावना थी। इस विभाजन का उत्तरदायित्व उच्चतम कमांडर के मुख्यालय का था। भले ही मुख्यालय अप्रैल, १९४८ तक बना रहता, जैसी कि संयुक्त-रक्षा-परिषद् गठित करने वाले आदेश में मूलतः प्रत्याशा की गयी थी, पर उसके द्वारा काम पूरा हो सकने की सम्भावना न थी। चल-भण्डार को छोड़कर उच्चतम कमांडर के मुख्यालय का बहुत कुछ काम पूरा हो चुका था।

उच्चतम कमांडर के मुख्यालय का समेटा जाना

उच्चतम कमांडर का मुख्यालय, भारत और पाकिस्तान से ब्रिटिश सेना और रॉयल एयर फोर्स की यूनिटों के प्रत्यावर्तन, और भारत और पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं के साथ काम कर रहे ब्रिटिश अधिकारियों तथा अन्य पदधारियों के कल्याण और संरक्षण के लिए भी, उत्तरदायी था। लेकिन कमांडर का विचार था कि केवल ब्रिटिश अधिकारियों और अन्य पदधारियों की देखभाल के ही लिए उच्चतम कमांडर और उसके मुख्यालय को बनाये रखना उपयुक्त नहीं है। उच्चतम कमांडर ने बताया कि चालू स्थिति में सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन के बारे में अपने दायित्व को निभाना उनके लिए कठिन हो रहा है। उनका विचार था कि वर्तमान वातावरण में उनके और उनके अफसरों के लिए व्यवहारतः उस तारीख (अर्थात् ३० नवम्बर) के बाद काम चलाना असम्भव हो गया है। वह एक असम्भव स्थिति में अपने अधिकारियों को रखने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके मुख्यालय के विरुद्ध लगातार आक्षेप और आरोप लगाये जा रहे हैं और यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में और उनके अधिकारी ऐसा काम आगे चलाने में असमर्थ हैं, जिसके लिए सहयोग बहुत जरूरी है। इसलिए उच्चतम कमांडर ने सिफारिश की कि उनका मुख्यालय ३० नवम्बर, १९४७ को समाप्त कर दिया जाय। जब यह प्रस्ताव संयुक्त-रक्षा-परिषद् के सामने १६ अक्टूबर, १९४७ को लाहौर में आया, तब इस आधार पर पाकिस्तान इसके पक्ष में था कि उच्चतम कमांडर के मुख्यालय को सौंपा गया काम पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। भारत उच्चतम कमांडर द्वारा किये गये स्थिति-मूल्यांकन से तो सहमत न था, पर उसने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उसने समझा कि उच्चतम कमांडर को सौंपे गये अधिकांश कार्य के पूरे हो जाने पर, न तो यह जरूरी ही था और न वांछनीय ही कि सामान्य प्रक्रिया को छोड़कर, जिसके अनुसार दोनों सरकारों के बीच आने वाली कठिनाइयों पर दोनों सरकारों के प्रतिनिधि ही चर्चा करके उसे निपटा लेते हैं, उसकी जगह उच्चतम कमांडर के मुख्यालय जैसे विशेष ढाँचे को रखा जाये। पाकिस्तान का विचार अब भी यही था कि चल-भण्डार का बँटवारा उच्चतम कमांडर के अधीन हो हो जाय और जब तक यह काम न हो, उसका मुख्यालय बना रहने दिया जाय।

उच्चतम कमांडर के प्रस्ताव के अनुसार, उच्चतम कमांडर के मुख्यालय के विघटन के बाद, भण्डार उस डोमीनियन की सशस्त्र सेना की देखभाल में छोड़ दिये जायेंगे, जहाँ वे स्थित हैं। भारत के रक्षा-मन्त्री ने अपनी सरकार की ओर से यह वचन दिया कि वे इस मामले में हुए निर्णयों के अनुसार, पाकिस्तान के हिस्से के भण्डार उसे सौंपने की पूरी जिम्मेवारी लेते हैं। इसके बावजूद बैठक में कोई निर्णय न लिया जा सका और भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से अनुरोध किया गया कि उच्चतम कमांडर के मुख्यालय के भविष्य के बारे में वे अपने-अपने मन्त्रिमण्डलों में विचार करें।

ब्रिटिश अधिकारियों के दृष्टिकोण में इसका सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार से भी था, इसलिए लन्दन से भी पूछा गया। संयुक्त-रक्षा-परिषद् की इस बैठक के सिलसिले में उसके अध्यक्ष लार्ड माउण्टबेटन ने दोनों डोमीनियनों के बीच उस समय की भावनाओं का एक संकेत दे दिया था। उन्होंने कहा था कि उनके विचार से पाकिस्तान के गवर्नर जनरल और भारत के प्रधान मन्त्री दोनों ही इस बात से अवगत होंगे कि अगर दोनों डोमीनियनों के बीच युद्ध छिड़ जाने जैसी निन्दनीय घटना घटी तो दोनों में से प्रत्येक डोमीनियन में काम करने वाले ब्रिटिश अधिकारी किसी भी परिस्थिति में परस्पर न लड़ेंगे।

अपने-अपने मन्त्रिमण्डलों में विचार करने के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों की ही सरकारों ने अपनी-अपनी पहली वाली बात का ही समर्थन किया। महामहिम सम्राट की सरकार के विचार भी तार से ७ नवम्बर, १९४७ को प्राप्त हो गये, जिसमें बताया गया था कि पैदा हुई परिस्थिति में और उच्चतम कमांडर के अभ्यावेदन की दृष्टि से महामहिम सम्राट् की सरकार अनिच्छापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँची कि उसके पास इसके सिवाय अब और कोई विकल्प शेष नहीं है कि स्वयं उच्चतम कमांडर समेत सभी ब्रिटिश अधिकारियों और अन्य पदधारियों को वापस बुला ले। तदनुसार उच्चतम कमांडर का मुख्यालय ३० नवम्बर १९४७ को खत्म कर दिया गया। संयुक्त-रक्षा-परिषद् फील्ड मार्शल आकिनलेक को पूरे वेतन पर चार महीने की छुट्टी १ दिसम्बर १९४७ से देना चाहती थी, पर इसमें कुछ विधि सम्बन्धी कठिनाइयां थीं। १५ अगस्त १९४७ से पहले ही, जब भारत सरकार अधिनियम १९३५ की नवीं अनुसूची में, जो प्रभावी थी, उनके भारत के कमांडर-इन-चीफ का पद खाली कर देने के बाद, उनको पूरे वेतन की छुट्टी देना अनुमत न था। संयुक्त-रक्षा-परिषद् के आदेशों में भी उनकी सेवा की शर्तें और निबन्धन स्पष्ट न किये गये थे। इन कठिनाइयों की दृष्टि से संयुक्त-रक्षा-परिषद् ने फील्ड मार्शल आकिनलेक को चार महीने के आधे वेतन और पूरे वेतन का अन्तर अनुग्रह-अनुदान के रूप में मंजूर कर दिया।

अब संयुक्त-रक्षा-परिषद् की रचना में परिवर्तन करना पड़ा।@

@ संयुक्त-रक्षा-परिषद् की संशोधित रचना संयुक्त-रक्षा-परिषद् (संशोधन) आदेश, १९४७ (अधिसूचना संख्या जी. जी. ओ ३०, तारीख २ दिसम्बर, १९४७ में दी गयी है।)

३० नवम्बर, १९४७ के बाद संयुक्त रक्षा परिषद् की रचना

अब परिषद् में भारत के गवर्नर जनरल स्वतन्त्र अध्यक्ष के रूप में थे और भारत के रक्षा-मन्त्री तथा एक और मन्त्री तथा पाकिस्तान के रक्षा-मन्त्री तथा एक और मन्त्री उसके सदस्य थे। यह भी व्यवस्था की गयी कि परिषद् की प्रत्येक बैठक में प्रत्येक डोमिनियन के तीन सेनाध्यक्षों में से एक सलाहकार की हैसियत से उपस्थित रहेगा।

यथोचित आदेश के अधीन संयुक्त-रक्षा-परिषद् अब भी इन कार्यों की नियन्त्रक बनी रही समस्त्र सेनाओं के विभाजन और उनके दो अलग डोमिनियनों की सेनाओं के रूप में पुनर्गठन, ऐसे पुनर्गठन के लिए अधिकारियों और सैनिकों के बण्टन, परिवहन और आवागमन और सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन के लिए अविभाजित भारत की सशस्त्र सेनाओं के संयन्त्र, मशीनरी, उपस्कर और भण्डार के बण्टन, स्थानान्तरण और आवागमन अब वह 'आर्डनेंस कारखानों में सैन्य-भण्डार और उपस्कर के उत्पादन (जिसमें इस उत्पादन के लिए किसी आर्डनेंस कारखाने की पूरी या एकांश क्षमता का बण्टन शामिल था) की नीति निर्धारित करती थी और आर्डनेंस कारखानों में उत्पादित सभी सैन्य-भण्डार और उपस्कर का निपटान करती थी।'

उच्चतम कमांडर के मुख्यालय की समाप्ति के बाद संयुक्त-रक्षा-परिषद् अब शेष रह गए प्रश्नों को निपटाती रही। उसके निर्णयों का अनुपालन दोनों डोमिनियन करते थे।

उच्चतम कमांडर के मुख्यालय के विघटन के बाद उच्चतम कमांडर की अध्यक्षता वाली सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति और उसकी तीनों सेनाओं वाली उपसमितियाँ ३० नवम्बर, १९४७ म समाप्त हो गयी।

फिर भी कुछ अन्य डोमिनियन समितियाँ थी, जैसे आर्डनेंस-भण्डार-उपसमिति (पुनर्गठन), जो आर्डनेंस-भण्डारों के बँटवारे के प्रस्ताव तैयार करती थी और संयुक्त-इंजीनियर-भण्डार और संयन्त्र-आवण्टन-समिति तथा इतिहास अनुभाग (जिसे दूसरे विश्वयुद्ध का अधिकृत इतिहास, खासकर अविभाजित भारत की सशस्त्र सेनाओं ने जिन क्रियाओं में भाग लिया था, उनके प्रमाण में संकलित करने के लिए गठित किया गया था) जैसे कुछ संयुक्त संगठन अब भी काम कर रहे थे। इसलिए यह जरूरी समझा गया कि इन सभी तकनीकी समितियों के लिए एक समन्वय प्राधिकार हो, जो यदि सम्भव हो तो उनके मतभेद निपटा सके और उनकी प्रगति संयुक्त-रक्षा परिषद् को बताता रहे। तदनुसार सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति के उत्तरवर्ती के रूप में संयुक्त-रक्षा-परिषद् की एक कार्यपालक समिति बनायी गयी। इसमें दोनों रक्षा-सचिव थे, (सेना के) दोनों कमांडर-इन-चीफ सदस्य थे और एक ब्रिटिश अधिकारी भी उसका सदस्य था। बाद में दोनों रक्षा-मन्त्रालयों के वित्तीय सलाहकारों को भी सदस्यों के रूप में शामिल करके इसे विस्तृत कर दिया गया। संयुक्त-रक्षा-परिषद् कार्यपालक-समिति की पहली बैठक २९ नवम्बर, १९४७ को हुई और आखीरी बैठक १८ मार्च, १९४८ को। इस दौरान इसकी पाँच बैठकें दिल्ली, कराची और लाहौर में हुईं।

शेष काम म सातत्य रखने के लिए उच्चतम कमांडर के सचिवालय को कटे-छटे रूप में पुनर्गठन-सचिवालय के रूप में बनाये रखा गया। ज्ञान और अनुभव के आधार पर उच्चतम

कमाडर के सचिवालय के सचिव को पुनर्गठन-सचिवालय का सचिव नियुक्त किया गया। वे सयुक्त-रक्षा-परिषद् की कार्यपालक-समिति के भी सचिव थे।

ब्रिटिश सैनिको का निष्क्रमण

उच्चतम कमाडर के मुख्यालय की समाप्ति के फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान म शेष ब्रिटिश सैनिको के निष्क्रमण की व्यवस्था करना जरूरी हो गया। ३० नवम्बर, १९४७ को परिवारो समेत लगभग ३०,००० ब्रिटिश नागरिक प्रत्यावर्तन के लिए शेष रह गये थे, जबकि सितम्बर में यह सख्या ४२,००० थी।

उच्चतम कमाडर के मुख्यालय के बन्द हो जाने के बाद ब्रिटिश सैनिको के निष्क्रमण का काम जारी रखने के लिए लेफ्टीनेंट जनरल के पद के एक अधिकारी को भारत और पाकिस्तान में ब्रिटिश सेना के कमाडर के रूप मे नियुक्त किया गया, और भारत और पाकिस्तान मे ब्रिटिश सेना-सदस्यो के बारे मे जो जिम्मेवारियाँ पहले उच्चतम कमाडर को मिली हुई थीं, उसको सौंपी गयी। नये कमाडर की कोई जिम्मेवारी दोनो डोमिनियनो की सशस्त्र सेनाओ के पुनर्गठन के बारे मे न थी और उनमें काम कर रहे ब्रिटिश व्यक्तियो को छोडकर उनसे उसका कोई नाता न था। उसका एक छोटा-सा मुख्यालय दिल्ली मे था, जिसमे उतने ही सेना, नौसेना और वायु-सेना अधिकारी रखे गये थे, जो उसके दायित्व के निर्वहन के लिए जरूरी थे। ३१ दिसम्बर, १९४७ को, जब भारत और पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओ में काम कर रहे ब्रिटिश अधिकारियो और अन्य पदधारियो की मूल संविदायें समाप्त हो गयी, तब ब्रिटिश सेना के कमाडर और उसका मुख्यालय भी समाप्त हो गये। उसके बाद भारत और पाकिस्तान ने सीधे ही महामहिम सम्राट् की सरकार के साथ ब्रिटिश अधिकारियो की सेवायें जारी रखने के लिए व्यक्तिगत बात-चीत चलायी। फरवरी, १९४८ से पहले, ब्रिटिश सैन्यजनों का प्रत्यावर्तन पूरा होने की सम्भावना न होने के कारण, उनका नियन्त्रण करने के लिए और उनके निष्क्रमण की व्यवस्था के लिए कुछ-न-कुछ सगठन जरूरी था। यह नियन्त्रण दो छोटे-छोटे स्वतन्त्र ब्रिटिश मुख्यालय बना कर रखा गया, जिनमे मे एक मेजर जनरल के अधीन देवलाली (बम्बई) मे था और दूसरा कराची में एयर कमोडोर के अधीन था। इन दो मुख्यालयो का एकमात्र काम प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा करने वाली यूनिटों और व्यक्तियो को प्रशासित करना था, जो भारत मे देवलाली और कल्यान में और पाकिस्तान में कराची में सक्रमण-शिविरो में एकत्र होते थे। दोनो मुख्यालय भारतीय उप-महाद्वीप मे किसी एक सयुक्त केन्द्रीय नियन्त्रण के अधीन न थे और वे यथास्थिति इगलैंड की सरकार और भारत और पाकिस्तान के रक्षा-मन्त्रालयो के साथ सीधे-सीधे सभी ब्रिटिश अधिकारियो या पदधारियो के कल्याण या निष्क्रमण के बारे मे पत्राचार करते थे।

इगलैंड से ब्रिटिश सैनिको की पहली टुकडी १७५४ मे भारत पहुँची थी। भारत छोड कर जाने वाली ब्रिटिश सैन्य-दल की पहली टुकडी १७ अगस्त, १९४७ को बम्बई से गयी। उसके बाद, देश के भीतर आवागमन की स्थिति बिगडने न देने की जरूरत का ध्यान रखते हुए, जो (सैन्य और असैनिक) व्यक्तियो के स्थानान्तरण और विस्थापित व्यक्तियो के आवागमन के कारण काफी कठिन हो गयी थी, और इगलैंड के परिवहन-मन्त्रालय द्वारा उपलब्ध किये गये

जहाजों की मात्रा का ध्यान रखते हुए, इन सेनाओं को तेजी से भेजा जाता रहा। पहले यह आशा थी कि पृथक्करण का सारा कार्यक्रम १९४७ तक पूरा हो जायेगा। पर जहाजों की कमी के कारण इस कार्यक्रम के अनुपालन में कुछ विलम्ब हुआ और अन्तिम टुकड़ी भारत का तट छोड़ कर २८ फरवरी १९४८ को गयी। १५ अगस्त के बाद से अपने प्रत्यावर्तन के समय तक, भारत में रही इन सेनाओं का, कोई भी सक्रियागत काम न था और इसलिए वे आन्तरिक सुरक्षा या किसी ऐसे अन्य प्रयोजन के लिए उपलब्ध न थीं।

सत्ता-हस्तान्तरण से पहले भारत स्थित ब्रिटिश सेना सम्बन्धी सभी वित्तीय दायित्व भारतीय राजकोष का ही था। (१५ अगस्त, १९४७ से) ये सेनायें भारत और पाकिस्तान की सेवार्थ न रही थीं और अब वे सैन्य-कार्यों के लिए उपलब्ध न थीं। दोनों डोमिनियन सरकारों ने यह अनुभव किया कि उनका सन्धारण-व्यय अब उनको देयता न रह जाना चाहिए। फिर भी दोनों डोमीनियनों ने वह दायित्व स्वीकार किया, जो उनके इंगलैंड या किसी अन्य स्थल तक परिवहन से सम्बन्धित था। लेकिन ब्रिटिश सरकार से भी १५ अगस्त, १९४७ के बाद में उनका पूरा दायित्व सँभालने की बात कहना भी युक्तिसंगत न था। यह माना गया कि इस सेना के प्रत्यावर्तन से सम्बन्धित एक छोटी अवधि सम्बन्धी देयता दोनों डोमिनियनों को सँभालनी चाहिए। इस प्रयोजन के लिए अनुमत अवधि के बारे में कुछ चर्चा के बाद एक ओर ब्रिटिश सरकार और दूसरी ओर भारत और पाकिस्तान सरकारों के बीच, भद्रता-समजन की भावना के अनुसार, यह सहमति हो गयी कि केवल ३० नवम्बर, १९४७ तक ब्रिटिश सेनाओं पर होने वाला खर्च भारत और पाकिस्तान को वहन करना होगा। इस तारीख को उच्चतम कमांडर का संगठन समाप्त हो गया। इस सेना के लिए दोनों सरकारों ने इस तारीख के बाद जो भुगतान किये वे पौंड का चालू उपार्जन माने गये।

भारत और पाकिस्तान के बीच व्यय का आवण्टन

महामहिम सम्राट् की सरकार के साथ समझौता हो जाने के बाद यह तय किया गया कि प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा करने वाले ब्रिटिश सैनिकों के वेतन-भत्तों सम्बन्धी, और इस सिलसिले में उठे किये गये संक्रमण शिविरों और निःशुल्क जहाज-टिकटों सम्बन्धी, सारा खर्च भारत और पाकिस्तान के बीच उसी अनुपात में आवण्टित कर दिया जायेगा, जितनी कि विभाजन के बाद दोनों देशों की सैन्य-संख्या थी।*

---

*१५ अगस्त, १९४७ से ३० नवम्बर, १९४७ तक भारत और पाकिस्तान के बीच रक्षा-व्यय का आवण्टन इस प्रकार था—

(क) सशस्त्र सेनाओं के वेतन और भत्ते, उच्चतम कमांडर की स्थापना का कुछ व्यय और व्यक्तियों के आवागमन (काश्मीर और जूनागढ़ को छोड़ कर) सम्बन्धी व्यय का अनुभाजन दोनों डोमीनियनों की पुनर्गठित सैन्य-संख्या के अनुपात से किया जायेगा।

(ख) प्रत्येक डोमीनियन में हुए निर्माण-व्यय तथा दोनों डोमीनियनों में भण्डार-अवाप्ति के लिए किये गये खर्च उसी डोमीनियन की देयता होंगे। विदेशों में अवाप्त किये गये भण्डार का खर्च उस डोमीनियन के खाते में जाना था, जिसे वह भण्डार मिला।

संक्षेप में कहें तो ३० सितम्बर, १९४७ के बाद सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन को निपटाने के लिए कोई केन्द्रीय संयुक्त मुख्यालय न था। संयुक्त-रक्षा-परिषद् शेष प्रश्नों का समाधान करती रही और उसके निर्णयों का अनुपालन सम्बन्धित सरकारें करती थीं। संयुक्त-रक्षा-परिषद् के नीचे उसकी कार्यपालक-समिति थी, जो सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-समिति की जगह पर बनायी गयी थी। कार्यपालक-समिति भण्डार आदि सम्बन्धी उन अन्त डोमीनियन समितियों के काम की देखभाल करती थी, जो अब भी काम कर रही थीं और वह इतिहास अनुभाग के समान संयुक्त संगठनों का पर्यवेक्षण भी करती थी। इसके अलावा समिति भारत और पाकिस्तान के रक्षा-मन्त्रालयों द्वारा सौंपे गये पुनर्गठन सम्बन्धी किसी भी अन्य मामले पर भी विचार करती थी। फिर समिति की सिफारिशों पर संयुक्त-रक्षा-परिषद् विचार करती थी।

संयुक्त-रक्षा-परिषद् की आखिरी बैठक नई दिल्ली में १६ मार्च, १९४८ को सम्पन्न हुई। भण्डारों के ले जाये जाने को छोड़ कर, बाकी सभी काम उस समय तक पूरे किये जा चुके थे। इसलिए समिति ने निर्णय किया कि संयुक्त-रक्षा-परिषद्-आदेश, १९४७ की वैधता का समय बढ़ाना अनावश्यक है, जो भारत के गवर्नर जनरल और पाकिस्तान के गवर्नर जनरल द्वारा संयुक्त रूप से बढ़ाया न जाय, तो अपने-आप १ अप्रैल, १९४८ को व्यपगत हो जायेगा। परिषद् ने यह भी निर्णय किया कि इसकी कार्यपालक-समिति का नाम बदल कर अब अन्त-डोमीनियन-रक्षा-सचिवों की समिति रखा जाय और वह संयुक्त-रक्षा-परिषद् के शेष कृत्यों का निपटान करती रहे, खासकर भारत और पाकिस्तान के बीच भण्डारों के आदान-प्रदान का। अन्त-डोमीनियन-रक्षा-सचिवों की समिति की बैठकें अप्रैल से नवम्बर, १९४८ तक सात बार हुईं। बैठकें विकल्पत. कराची और नई दिल्ली में हुईं।

अब केवल उन दो विषयों की चर्चा करना शेष रह जाता है, जिनको लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच काफी विवाद छिड़ा। एक का सम्बन्ध आर्डनेंस कारखानों के स्थिर संस्थापनों से है और दूसरे का चल-भण्डारों के बंटवारे से, अर्थात् किसी खास रेजीमेंट या यूनिट से सम्बन्ध न रखने वाले और समग्र सशस्त्र सेनाओं के उपयोग के लिए स्टाकवारी डिपो में रखे गये चल-भण्डार और उपस्करों के बँटवारे से है।

आर्डनेंस कारखाने

यद्यपि अविभाजित भारत के स्थिर संस्थापन सारे देश में फैले हुए थे, पूरे सोलह आर्डनेंस कारखाने भारत डोमीनियन में ही स्थित थे, ये कारखाने यद्यपि सन्तुलित और बचतपूर्ण

(ग) भण्डार के गोदाम में रखने और अभिरक्षा का खर्च दोनों डोमीनियनों के बीच बाँटे गये भण्डार के अनुपात से होना था।

(घ) आर्डनेंस कारखानों सम्बन्धी व्यय इंडिया (अविभाजित) को देना था, पर ३० नवम्बर के बाद उत्पादित भण्डार विभाज्य समूहन का अंग न थे।

३० नवम्बर के बाद हुआ कोई सामान्य व्यय दोनों डोमीनियनों को अन्तिम सैन्य-संख्या के अनुपात में बाँटा जाना था।

समूह के रूप में थे, पर आधुनिक युद्ध में अपेक्षित गोलाबारूद के मामले में देश की जरूरतों को पूरा करने में अपर्याप्त थे।

कारखाने के काम करने के लिए उनके पास इमारत, मशीनरी, बिजली, कच्चे माल का मिलना, कुशल मजदूर और समुचित निदेशन होना चाहिए। जो लोग अपना विकल्प देकर एक से दूसरे डोमीनियन में चले गये थे, उनको छोड कर न तो एक डोमीनियन से प्रवीण मजदूरों को दूसरे में ले आया जा सकता था, न निदेशन को ही।

मशीनों के विभाजन पर तभी विचार किया जा सकता था, जब प्रत्येक कारखाने में एकांगिक स्वतः पूर्ण उत्पादन यूनिटें हों। सैन्य स्थापनाओ से भिन्न रूप में आर्डनेंस कारखानों में असैनिक लोग काम करते थे। उनके लिए अत्यन्त कुशल मजदूरों की जरूरत थी और वे स्थानीय आबादी में भरती किये जाते थे। फिर निर्माण तकनीक और ज्ञान वर्षों तक निदेशक कर्मचारी और मजदूर साथ-साथ काम करके विकसित करते थे। आर्डनेंस कारखानों के विभाजन के प्रश्न पर विचार करते समय इसलिए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक था कि इस बँटवारे में इन परिसम्पत्तियों का काम करना ही नष्ट न हो जाय। यह स्पष्ट था कि आर्डनेंस कारखानों की मशीनें और सयन्त्र, उनकी उत्पादन क्षमता को हानि पहुँचाये बिना, बाँट कर पाकिस्तान को नहीं दिये जा सकते थे। इसलिए भारत ने सुझाव दिया कि विद्यमान कारखानें यथापूर्व भारत में चालू रहने दिये जायें और पाकिस्तान का हिस्सा पैसे में दे दिया जाय। पर पाकिस्तान वित्तीय समजन के लिए राजी न था और वह अपना हिस्सा मशीनें और उपस्करों के रूप में चाहता था। भारत सिद्धान्ततः आर्डनेंस कारखानों को बाँट कर पाकिस्तान ले जाये जाने के लिए सहमत न हो सका, क्योंकि उनका भौतिक विभाजन सम्भव न था।

यद्यपि कारखानों का उत्पादन भारत की सामान्य जरूरतें भी पूरी न कर पाता था, भारत न केवल पाकिस्तान को कारखानों के उसके हिस्से के लिए वित्तीय क्षतिपूर्ति देने को तैयार था, बल्कि इसके लिए भी तैयार था कि जब तक पाकिस्तान अपने कारखाने स्थापित न कर ले, वह वार्षिक रूप से इन कारखानों के उत्पादन का एक सहमत अनुपात पाकिस्तान को देता रहेगा। इस मतभेद के कारण संयुक्त-रक्षा-परिषद् में कोई फैसला न हो सका और यह मामला निर्णय के लिए विभाजन-परिषद् के पास भेजा गया। यह मामला मध्यस्थ अधिकरण को सौंपा ही जाने वाला था कि विभाजन-परिषद् ने १ दिसम्बर, १९४७ को एक निर्णय दे दिया। इस निर्णय के अनुसार भारत पाकिस्तान में आर्डनेंस कारखाने लगाने के खर्च के लिए और कुछ विशिष्ट असैनिक संस्थायें, जैसे कृषि-अनुसंधान-संस्थान स्थापित करने के लिए छः करोड़ रुपये की रकम पाकिस्तान को देने के लिए राजी हो जाय। यह रकम पाकिस्तान को यथावश्यक रूप में दी जानी थी। यह व्यवस्था भारत डोमीनियन में स्थित आर्डनेंस कारखानों और कुछ विशिष्ट संस्थानों के सम्बन्ध में अन्तिम निपटान के रूप में की गयी।

चल परिसम्पत्तियाँ

जैसा कि बताया जा चुका है, यूनिटों के उपस्कर और व्यक्तियों के उपस्कर, दोनों डोमीनियनों के बीच यूनिटों और व्यक्तियों के आवण्टन के समय, उनके पास बने रहे। ऐसे उपस्करों

का बँटवारा इस प्रकार स्वतः दोनों सेनाओं की अन्तिम संख्या के अनुपात में हो गया। पर उपस्करों और भण्डारों का एक बृहत् संग्रह समग्र सेना के उपयोग के लिए भी संचित था। कुछ मामलों में ये भण्डार कई सालों की जरूरतों के लिए पर्याप्त थे। इसलिए उनका विभाजन दोनों सशस्त्र सेनाओं की संख्या के अनुपात में नहीं किया जा सकता था। उनको पुरानी भारत सरकार की विभाज्य परिसम्पत्तियों के रूप में माना जाना चाहिये। इसलिए भारत ने कहा कि उनको उसी अनुपात में बाँटा जाय, जिस अनुपात में पुरानी भारत सरकार की सामान्य परि-सम्पत्तियाँ और अपूरित ऋण बाँटे गये है। अपूरित ऋणों के लिए सहमत अनुपात था, भारत ८२½% और पाकिस्तान १७½%, लेकिन पाकिस्तान इस बात के लिये तैयार न था और विभाजन-परिषद् ने यह मामला पहले मध्यस्थ अधिकरण के पास भेजने का निर्णय किया।

इस बारे में कोई निर्णय न होने से, उच्चतम कमांडर का मुख्यालय भण्डार के विभाजन का काम अपने हाथ में न ले सका। भण्डारों की भारी मात्रा को जो लगभग ४,२०,००० टन तो आर्डनेंस भण्डार ही थे और ५ लाख टन से ज्यादा इंजीनियरी भण्डार छाँटना और दोनों डोमीनियनों के बीच लादना, भेजना और प्राप्त करना एक बहुत ही बड़ा काम था। सेना के विभाजन का प्रश्न पैदा होने से पहले ही ये भण्डार खड़े किये गये थे। उनमें काम में आने वाली चीजें, सन्धारण के लिए जरूरी चीजें और लामबन्दी के समय जरूरी भण्डार शामिल थे। असली झगड़ा उस भण्डार को लेकर था, जो न तो व्यक्तिगत उपस्कर थे और न सामान्य सन्धारण के लिये आवश्यक उपस्कर ही थे, बल्कि जिनको अतिरिक्त भण्डार कहा जा सकता था। भण्डार के विभाजन में और देर न होने देने के लिए, संयुक्त रक्षा परिषद् ने १६ अक्टूबर, १९४७ को जब उच्चतम कमांडर के मुख्यालय को बन्द कर देने के बारे में उसके टिप्पण पर विचार हो रहा था, यह निर्णय किया कि उसके मुख्यालय को चाहिये कि भण्डार के उस अंश का भौतिक बँटवारा करना शीघ्र शुरू कर दे, जिसे दोनों सेनाओं की, अपनी-अपनी संख्या के अनुसार, उनकी सामान्य सन्धारण आवश्यकता माना जा सकता है।

उस समय सामान्य सन्धारण आवश्यकता की परिभाषायें ये की गयीं :

(क) उचित घिसाव के कारण भण्डार के दैनिक रूप से नष्ट होने की पूर्ति के लिए सन्धारण स्टाक, तथा

(ख) इनकी पूर्ति के लिए रखे गये सञ्चिति-स्टाक (एक) युद्ध के आरम्भिक काल में यूनिटों को दी जाने वाली अतिरिक्त प्रत्याशित चीजें (दो) यूनिटों द्वारा अपेक्षित चीजें, जो युद्ध के आरम्भ के कुछ महीनों में अवश्य दी जानी चाहिये और (तीन) अपूर्वाशित अपेक्षायें।

इस रीति से बाँटे जाने वाले भण्डार वे थे, जो अविभाजित सेना की संख्या के लिए जरूरी समझे गये थे, जैसी कि विभाजन से पहले कल्पना थी। पर यह निर्णय उस शेष भण्डार पर लागू न था, जो इस प्रसंग में अतिरिक्त भण्डार बताया गया था और जिसे मध्यस्थ अधि-करण द्वारा निर्णीत अनुपात में बाँटा जाना था, जिसे कि उक्त अधिकरण को सौंप दिया गया था।

मध्यस्थ अधिकरण को सौंपा गया मामला इसी बात के निर्णय तक सीमित होना था कि अतिरिक्त भण्डार को किस अनुपात में बाँटा जाय और बाँटे गये भण्डार का आखिरी

समन्जन किस रीति में किया जाय। पाकिस्तान अपनी जरूरतों के लिए अपने हिस्से से ज्यादा अतिरिक्त भण्डार भी ले सकता था, यदि भारत सरकार राजी हो और वित्तीय समन्जन हो जाए।

सयुक्त-रक्षा-परिषद् ने जो आर्डनेंस भण्डार (पुनर्गठन) उपसमिति बनायी थी, जिसका अध्यक्ष ब्रिगेडियर के पद का एक ब्रिटिश अधिकारी था और जिसमें भारतीय सेना आर्डनेंस कोर और पी० ए० ओ० कोर (P A O C) से लेफ्टीनेंट कर्नल के पद का एक-एक सदस्य था, यह आश्वस्त करने के लिए जिम्मेवार थी कि आर्डनेंस भण्डार का (अतिरिक्त भण्डार को छोड कर) विभाजन सयुक्त रक्षा परिषद् के निर्णय के अनुसार कर दिया जाय।

सयुक्त-रक्षा-परिषद् के उक्त निर्णय के अनुसार सन्धारण स्टाक का आदान-प्रदान अभी चल ही रहा था कि चारों ओर से आरोप-आक्षेप लगाये जाने लगे। उच्चतम कमाडर ने शिकायत की कि सयुक्त-रक्षा-परिषद् के निर्णयानुसार उसका मुख्यालय, रक्षा सेनाओं की परिसम्पत्तियों का उचित और न्यायपूर्ण बटवारा करने का जो भी प्रयास करता है, उसमें दोनों डोमीनियनों के वरिष्ठ सैनिक और असैनिक अधिकारियों द्वारा बाधा डाली जाती है, जो कि लगता है उसका काम असम्भव बना देने के लिए कटिबद्ध हो चुके हैं। दूसरी ओर ये भी आरोप थे कि उच्चतम कमाडर का मुख्यालय भी इस बारे में अपना उत्तरदायित्व निभाने में पर्याप्त निष्पक्ष न था। २६ नवम्बर, १९४७ को सयुक्त-रक्षा-परिषद् ने यह निर्णय किया कि प्रत्येक डोमीनियन की आर्डनेंस कोर के एक-एक कमीशन-प्राप्त अधिकारी और दो-दो वायसराय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों की टीमें पर्यवेक्षण के काम के लिए नियुक्त की जायें और अपने-अपने डोमीनियनों के लिए भण्डार के चुनाव, मुहरबन्दी और प्रेषण के काम का पर्यवेक्षण करने के लिए उनको दूसरे डोमीनियन के केन्द्रीय आर्डनेंस डिपो में तैनात कर दिया जाय। ऐसी ही टीमें गोलाबारूद और मोटरगाडी डिपो में भी बनायी गयी। इन सभी टीमों को आर्डनेंस भण्डार (पुनर्गठन) उपसमिति के सामान्य निदेशन और पर्यवेक्षण में काम करना था।

परिवहन की दिक्कतों के अलावा भण्डार के आवागमन में देर का एक कारण, भारत से महामहिम सम्राट सरकार के स्वामित्व के उस भारी भण्डार को हटा कर ले जाने का भारी काम भी था, जिसके बारे में इगलैण्ड के युद्ध-कार्यालय ने तय कर दिया था कि इसे भारत से कहाँ-कहाँ भेजना है। भारत ने अपनी ओर से कडे निदेश जारी कर दिये थे कि उन अधिकारियों-कर्मचारियों के खिलाफ अनुशासन की सख्त कार्रवाई की जायेगी, जो भारत से पाकिस्तान को भण्डारों के ले जाये जाने में देर लगाने का प्रयास करेंगे। दुर्भाग्य से या शायद किसी गलतफहमी से पाकिस्तान ने अधिकृत आदेश निकाल कर उन इजीनियरी और विकास भण्डारों का आवागमन रोक दिया था, जो पाकिस्तान से भारत आने को थे। लेकिन भारत से आश्वासन मिलने पर पाकिस्तान भारत को भण्डारों का जाना रोकने के बारे में लगाये गये अपने आदेश वापस लेने लिए राजी हो गया।

सयुक्त-रक्षा-परिषद् ने यह भी निदेश दिया कि दोनों में से किसी भी सरकार को एक-पक्षीय आदेश, एक डोमीनियन से दूसरे तक सैन्य-भण्डार के आवागमन पर रोक लगाने वाले आदेश, नहीं निकालने चाहिये। यह भी निर्णय किया गया कि भारत से पाकिस्तान ले जाने

जाने वाले भण्डारों को भी वही पूर्वता दी जायेगी, जो युद्ध-कार्यालय के भण्डार को दी जाती है। अब तक पिछले को ज्यादा पूर्वता दी जाती थी। हड़ताल के समय जहाजों में भण्डार के लदे जाने पर, पाकिस्तान को भण्डार भेजने के लिए, इंगलैण्ड के युद्ध-कार्यालय वाले भण्डारों से अधिक पूर्वता दी गयी।

बाद में भण्डार के आवागमन की देखभाल के लिये संयुक्त रक्षा परिषद् ने भारत और पाकिस्तान के रक्षा मन्त्रालयों से कहा कि एक निश्चित प्रपत्र में भण्डार के आने-जाने के बारे में विवरण भेजते रहें।

जब भण्डारों के विभाजन सम्बन्धी विवाद मध्यस्थ-अधिकरण को सौंपे गये, पर इसके पहले कि अधिकरण इस प्रश्न को ले, यह मामला वापस ले लिया गया, क्योंकि १ दिसम्बर, १९४७ को हुई बैठक में विभाजन-परिषद् इस बारे में एक समझौते पर पहुँच गयी। इस समझौते के अनुसार १४ अगस्त १९४७ को डिपो में स्थित और गवर्नर जनरल के निहित सैन्य भण्डार दोनों डोमीनियनों के बीच इस सूत्र के आधार पर बाँटे जाने चाहिये कि पाकिस्तान का हिस्सा वास्तविक स्टाक का एक तिहाई होगा, जिसका अधिकतम $\frac{1}{3}$ का (स + $\frac{1}{2}$ स) से ज्यादा न होगा। 'स' की परिभाषा पहले ही कर दी गई थी - 'सामान्य सन्धारण आवश्यकता।' शेष भण्डार भारत के हिस्से में आयेगा। इस निर्णय के अनुपालन के लिए हर श्रेणी के भण्डार के बारे में, इस सामान्य सूत्र का विचार करते हुए, ब्यौरेवार सूत्र बनाने पड़े। ये सूत्र संयुक्त-रक्षा-परिषद् की कार्यपालक समिति ने ५ फरवरी, १९४८ को मन्जूर किये व संयुक्त-रक्षा-परिषद् ने अपनी १९ मार्च १९४८ को हुई आखिरी बैठक में मंजूर किये।

आर्डनेंस भण्डारों की हालत सामान्यतः पहले से ही सन्तोषजनक न थी। दूसरे विश्व-युद्ध के उतराई में भारी आमद और छाया वाली जगह काफी न होने के कारण, लाचार होकर, भण्डारों को खुले में रखना पड़ा। इससे उनकी हालत सामान्यतः बिगड़ गयी। साथ ही स्टाक की भौतिक जाँच करने से यह भी स्पष्ट हो गया कि खाते में दर्ज बकाया और गत्ती पर वास्तविक स्टाक के बीच काफी अन्तर है। फलतः कागज पर दिये गये आँकड़ों के साथ वास्तविक स्टाक का मिलान करना कठिन हो गया।

यहाँ विभाज्य स्टाक के स्वरूप के बारे में भी कुछ ब्यौरे दे देना ठीक रहेगा। युद्ध के दौरान महामहिम सम्राट की सरकार के पास भारत में काफी बड़ी मात्रा में भण्डार सञ्चित हो गये थे। भारत सुदूर पूर्व में संक्रियाओं का आस्थान (बेस) था। युद्ध की समाप्ति पर बड़ी मात्रा में भण्डार बच गये, जिनमें से कुछ ही मदों की सम्राट-सरकार को अपने लिए जरूरत थी। भारत में जो शेष भण्डार १ अप्रैल, १९४७ को बचे थे, उनको भारत सरकार ने खरीद लिया था। सम्राट-सरकार से लिये गये इन भण्डारों के अलावा कुछ और सैन्य भण्डार थे, जिनका स्वामित्व (अविभाजित) भारत का था। तथापि सम्राट-सरकार या भारत सरकार के स्वामित्वों वाले भण्डारों के अलग-अलग ढेर न थे।

१ अप्रैल, १९४७ को पुस्तक-मूल्य पर ले लिये गये सम्राट-सरकार के भण्डारों के बारे में भारत और पाकिस्तान के बीच यह सहमति हो गयी थी कि इन भण्डारों के लिए प्रारम्भिक भुगतान भारत कर देगा। पाकिस्तान में जो भण्डार १५ अगस्त, १९४७ को स्थित थे, या उन्हें

३० जून, ११४८ तक प्राप्त होते, उनका मूल्य पाकिस्तान को भारतीय रुपये में भारत को नगद चुकाना था। ये वे भण्डार थे जो अविभाजित भारत द्वारा १६४७-४८ में दिये गये आदेशों के अनुसरण में पाकिस्तान पहुँचे। ३० जून, १६४८ के बाद पाकिस्तान को दिये जाने वाले भण्डारों के लिए पाकिस्तान को अपने पौंड खाता संख्या २ में से भारत को भुगतान करना था। १५ अगस्त, १६४७ को पाकिस्तान-स्थित भण्डारों और बाद में उसे स्थानान्तरित भण्डारों का मूल्यन उसी आधार पर होना था, जैसे कि १ अप्रैल, १६४७ को सम्राट-सरकार से भण्डार मँगाने पर किया जाता। पाकिस्तान को इन भण्डारों के लिए जो नगद भुगतान करना था, उसका पुस्तक-मूल्य के साथ वही अनुपात होना था, जो सम्राट-सरकार से लिये गये भण्डार के लिये उसको किये गये वास्तविक भुगतान का उसके पुस्तक-मूल्य के साथ था।

लेकिन जब भण्डारों के लिए भुगतान का प्रश्न उठा, तो पाकिस्तान ने कहा कि विभाजन के फलस्वरूप भारत में प्राप्त सभी भण्डारों को पहले भारत के स्वामित्व वाले भण्डार में पाकिस्तान के हिस्से के रूप में जोड़ा जाना चाहिये और जब इस भण्डार में उसका हिस्सा प्राप्त हो जाय, तभी भारत में प्राप्त भण्डारों को सम्राट-सरकार के स्वामित्व वाले भण्डार का अंश माना जाना चाहिये। फिर भी, जैसा पहले ही बताया जा चुका है, सम्राट्-सरकार और भारत-सरकार के स्वामित्वों वाले भण्डारों के ढेरों का अलग-अलग हिसाब नहीं रखा गया था। पाकिस्तान ने यह भी सुझाव दिया कि विभाजन के फलस्वरूप प्राप्त भण्डारों का वित्तीय समन्जन यथा-प्राप्त भण्डारों की दशा और मात्रा के आधार पर किया जाना चाहिये। यह अमान्य था, क्योंकि दोनों देशों को, सशस्त्र सेनाओं के पुनर्गठन की योजना के अधीन, जो कुछ भी प्राप्त होना, वही मिलना था। सम्राटसरकार से लिये गये भण्डार के बारे में वित्तीय समञ्जन के लिये जो भी बातचीत हुई थी, पाकिस्तान का भी उसमें हाथ था। फिर, अविभाजित भारत में भण्डारों की कुल मात्रा सशस्त्र सेनाओं की आवश्यकता से ज्यादा थी, और अतिरिक्त अंश दोनों ही डोमीनियनों द्वारा सामान्य रीति से निपटाये जा रहे थे। पाकिस्तान के साथ हुये समझौते के अनुसार, पाकिस्तान को उसके द्वारा बेचे गये सभी अतिरिक्त भण्डार का विक्रय करके प्राप्त सारी रकम, चालू रूप में भारत को चुकानी थी। लेकिन ऐसे विक्री से प्राप्त कुछ भी रकम भारत के नाम जमा न की गयी थी, न पाकिस्तान द्वारा बेचे गये अतिरिक्त भण्डार की सूची तक ही पाकिस्तान द्वारा भारत को दी गयी थी। पाकिस्तान इस बात पर भी सहमत हुआ था कि सम्राट-सरकार से प्राप्त सम्पत्ति के लिए वह भारत को सम्राट्-सरकार के साथ समझौते के तीस दिन के भीतर ही उसका भुगतान कर देगा।

भारत ने भण्डार के भेजने के बारे में जो भी वचन दिये थे, उनका पूरा पालन किया गया और भारत से पाकिस्तान को जनवरी और अगस्त, १६४८ के बीच यथा-सम्भव अधिकतम टन-भारों के भण्डार भेजे गये (यह ध्यान रखा जाय, कि इसके बावजूद, कि इस बीच काश्मीर पर आक्रमण हो चुका था)। भारत के अनुसार उसे पाकिस्तान से ऐसा ही परस्पर का व्यवहार न मिला था, न केवल भण्डार के भेजने के बारे में बल्कि उसके द्वारा वचन दिये

गये अनुसार भुगतान के बारे में भी।*

भण्डार के विभाजन का विषय अन्त डोमीनियन-रक्षा सचिव-समिति के सामने कई बार चर्चा के लिए आया, पर पाकिस्तान के रवैये के फलस्वरूप, सैन्य भण्डार सम्बन्धी मद रक्षा सेनाओं के सम्बन्ध में, भारत और पाकिस्तान के बीच, बाकी बची एक महत्वपूर्ण मद के रूप में बनी ही रही। पाकिस्तान का विचार अपने को प्राप्त भण्डार के लिये भुगतान करने का बिलकुल नहीं था। इसलिये विभाजन के लिए स्वीकृत सूत्र के अनुसार भारत से और अधिक सैन्य भण्डार का पाकिस्तान भेजा जाना खेदपूर्वक बन्द करना पड़ा।

सशस्त्र सेनाओं के विभाजन का यह लेखा-जोखा नि सन्देह काफी अपूर्ण है, क्योंकि विभाजन के केवल स्थूल पहलुओं को ही लिया गया है। वस्तुत सशस्त्र सेनाओं के विभाजन सम्बन्धी विद्यमान दस्तावेज हजारों पृष्ठों में है और उनमें आज भी अन्तर्ग्रस्त कार्य के विस्तार और जटिलता की झांकी मिल जाती है। तनाव के उन दिनों में काम की गति को इस बात से आंका जा सकता है कि ३० जून, १९४७ से ६ अगस्त, १९४७ तक विभाजन-परिषद् (और २६ जुलाई से ६ अगस्त तक अन्तरिम-संयुक्त-रक्षा-परिषद् के रूप में काम करने वाली विभाजन-

* नीचे लिखे विवरण से पता चलता है कि पाकिस्तान से सैन्य भण्डार के बारे में नवम्बर १९४८ में ये रकमें प्राप्य थीं। इनमें से पाकिस्तान ने १९४९ के आरम्भ में रु० २.३५ करोड़ की ही रकम चुकायी थी .

नीचे लिखी चीजों के लिए पाकिस्तान से प्राप्य रकम .

		(करोड़ रुपयों में)
१.	भण्डार (यूनिट उपस्करों समेत), जो इंगलैंड से लिये गये थे और १५ अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान में स्थित थे	११.३८
२.	इंगलैण्ड से ली गई स्थिर परिसम्पत्तियाँ, जो अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान में स्थित थीं	२.३५
३.	भारत से १५-८-१९४७ से ३१-८-४८ के बीच पाकिस्तान भेजे गये भण्डार	४.२१
४.	पाकिस्तान भेजे गये भण्डार का परिवहन व्यय	०.१८
५.	पाकिस्तान में स्थित इंगलैण्ड के स्वामित्व वाले अतिरिक्त भण्डारों की बिक्री से प्राप्त शुद्ध अनुमानित रकम, जो पाकिस्तान द्वारा चुकायी जानी थी	२.२१
६.	इंडिया-खाते में डाले गये संयुक्त व्यय में पाकिस्तान का हिस्सा—	
	(क) पाकिस्तान को पहले ही बताये जा चुके नामे व्यय जो १५-८-४७ से ३०-११-४७ के बीच जोड़े गये	४.२०
	(ख) संयुक्त रूप में किया गया और नामे डाला गया मोटे अन्दाज से और व्यय (ज्यादातर १५-८-४७ से ३०-११-४७ तक की अवधि का बकाया खर्च)	२.२०

परिषद्) की १८ बैठकें हुईं, जिनमें सैन्य मदों पर चर्चा हुई (मोटे तौर पर प्रति सप्ताह तीन बैठकें)। संयुक्त-रक्षा-परिषद् की १६ अगस्त, १६४७ से १६ मार्च १६४८ तक १६ बैठकें हुईं—जो इस बात पर ध्यान देने से काफी बडी संख्या मालूम पडती है कि १५ अगस्त के बाद दोनों देशों के सदस्यों की सुविधा के अनुसार ही बैठकें बुलायी जा सकती थीं। फिर विभाजन सम्बन्धी कार्य के साथ-साथ मन्त्री और अधिकारी नये राज्यों की प्रशासनिक समस्याओं में भी बहुत कुछ उलझे हुए थे। अब लगभग दो दशकों बाद यह समझ पाना आसान नहीं है कि मन्त्रियों और अधिकारियों को जिन दबावों में काम करना पडा और उन पर दोनों डोमीनियनों के बीच लगातार बढते हुये तनावों के कारण कितना बोझ रहा होगा, जबकि एक बार संयुक्त-रक्षा-परिषद् के स्वतन्त्र अध्यक्ष को भी भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड जाने की सम्भावना का उल्लेख करना पडा था।

अनुबन्ध—१

सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति और उसकी उपसमितियों की रचना इस प्रकार थी—

सशस्त्र सेना पुनर्गठन-समिति

१—महामहिम फील्ड मार्शल सर क्लॉड आकिनलेक—
भारत के कमाण्डर-इन-चीफ — अध्यक्ष

२—वाइस एडमिरल सर ज्योफ्री माइल्स, कमाण्डर-इन-चीफ रॉयल इंडियन नेवी (यह पदनाम फ्लैग अफसर कमांडिंग रायल इंडियन नेवी के स्थान पर १ मार्च, १६४७ से शुरू किया गया)।

३—एयर मार्शल एच एस. पी. वामसले, एयर अफसर कमांडिंग इन चीफ इन इंडिया

४—ले० जनरल सर आर्थर एफ० स्मिथ, चीफ आफ दि जनरल स्टाफ

५—मुहम्मद अली, वित्तीय सलाहकार, रक्षा और पूर्ति, सैन्य वित्त विभाग पाकिस्तान जाने पर उनका स्थान १२ अगस्त को ए० डी० एफ० डुडास ने लिया (डुडास जनवरी, १६४६ में चन्दूलाल त्रिवेदी के बाद अविभाजित भारत सरकार के युद्ध-सचिव बने थे। वे पाकिस्तान के पहले रक्षा सचिव नियुक्त हुए)।

६—जी. एम. मालजा, अतिरिक्त सचिव, रक्षा-विभाग

७—कर्नल एच० बी० एस० मुलर, आई० ए०, कमाण्डर-इन-चीफ के सचिवालय के सचिव — सचिव

(क) नौसेना उपसमिति

१—कमाडोर जे० डब्ल्यू० जेफर्ड, आर० आई० एन०

२—कमाण्डर ए० बी० गूडं, स्टाफ अफसर, योजना, आर० आई० एन०

३—कमांडर जे० सी० मानमेल, आर० आई० एन०, कमांडर, प्रशासन, नौसेना मुख्यालय

४—कमांडर एच० एम० एम० चौधरी, आर० आई० एन० स्टाफ अफसर, नौसेना नियुक्ति, नौसेना मुख्यालय

५—कमांडर वी० एस० सोमन, आर० आई० एन०

६—ले० कमांडर (ई०) डी० शकर, आर० आई० एन०

७—ले० कमांडर (ई०) आई० के० मुमताज, उपनिदेशक, इंजीनियरी, नौसेना मुख्यालय।

८—एस० जयशंकर, उप-वित्त सलाहकार, सैन्य वित्त

९—मुमताज मिर्जा, उप-वित्त सलाहकार, सैन्य वित्त

१०—ले० कमांडर (एस०) ए० आर० एन० हुसैन } सचिव
११—लेफ्टीनेंट (एस०) सी० जे० मुसिफ }

(ख) सेना उपसमिति

१—मेजर जनरल एस० ई० इरविन, डिप्टी चीफ ऑफ दि जनरल स्टाफ अध्यक्ष

२—ब्रिगेडियर जे० बी० एल० कोलमैन, सङ्गठन उपनिदेशक, एडजूटेंट जनरल की शाखा

३—ब्रिगेडियर के एम० करिअप्पा

४—ब्रिगेडियर एस० बी० एस० चिम्मी

५—ब्रिगेडियर के० एम० थिमय्या, डी० एस० ओ०, कमांडर, ५ पैदल ब्रिगेड

६—ब्रिगेडियर ए० एम० रजा, कार्मिक चयन निदेशक, एडजूटेंट जनरल शाखा

७—कर्नल टी० एच० एगुस, डी० एम० ओ०, निदेशक, जनरल स्टाफ शाखा

८—कर्नल मुहम्मद शेर खान, एम० सी०, सैन्य प्रशिक्षण उपनिदेशक, जनरल स्टाफ शाखा

९—ले० कर्नल एच० डब्ल्यू नेवेल, १६ पंजाब रेजीमेंट, क्वार्टर मास्टर

१०—ले० कर्नल अकबर खान, डी० एस० ओ०, फ्रंटियर फोर्स राइफल्स, बटालियन कमांडर, भारतीय सैन्य अकादेमी, देहरादून

११—गुलाम अब्बास, उप वित्त सलाहकार, सैन्य वित्त

१२—बी० बी० घोष, उप-वित्त सलाहकार, सैन्य वित्त

१३—ले० कर्नल एम० ए० लतीफ खान, एडजूटेंट जनरल शाखा } सचिव
१४—ले० कर्नल जी० जी० बेवूर, बलूच रेजीमेंट }

(ग) वायुसेना उपसमिति

१—एयर वाइस मार्शल ए० एल० ए० पैरी कीन, एयर अफसर, भारसाधक वायु सेना मुख्यालय (भारत) अध्यक्ष

२—एयर कमोडोर, जी० डब्ल्यू० विलियम्स, वरिष्ठ तकनीकी स्टाफ अफसर, वायुसेना मुख्यालय (भारत)
३—एयर कमोडोर एस० मुकर्जी, ३६—एयर अफसर, भारसाधक प्रशासन, वायुसेना मुख्यालय (भारत)
४—ग्रुप कैप्टेन डी० एच० एफ० बारनेट, ग्रुप कैप्टन एयर स्टाफ योजना, वायुसेना मुख्यालय (भारत)
५—ग्रुप कैपटेन ए० एम० इंजीनियर, ग्रुप कैप्टेन धार्मिक सेवाएँ, वायुसेना मुख्यालय (भारत)
६—विंग कमांडर एम० के० जनजुआ, विंग कमांडर, जन, वायुसेना मुख्यालय (भारत)
७—स्क्वैड्रन लीडर एम० ए० खान, मुख्य उड्डयन प्रशिक्षक, रॉयल इंडियन एयर फोर्स स्टेशन, अम्बाला
८—एम० जयशंकर, उपवित्त सलाहकार, सैन्य वित्त
९—मुमताज मिर्जा, उपवित्त सलाहकार, सैन्य वित्त
१०—विंग कमांडर अर्जुन सिंह, अफसर कमांडिंग, रॉयल इंडियन एयर फोर्स स्टेशन, रिसालपुर } सचिव
११—फ्लाइट लेफ्टीनेंट, एच० मट्टी, जन, भारतीय वायुसेना मुख्यालय } सचिव

घ) वित्तीय मामलों की विशेष उपसमिति

१—गुलाम अब्बास
२—एम० जयशंकर
३—बी० बी० घोष
४—मुमताज मिर्जा

गुलाम अब्बास और बी० बी० घोष सेना उपसमिति के सदस्य थे और एम० जयशंकर और मुमताज मिर्जा नौसेना और वायुसेना दोनों उपसमितियों के। उप-समिति की सिफारिशें सशस्त्र सेना पुनर्गठन समिति के जरिये परिसम्पत्ति और देयता सम्बन्धी मुख्य विशेषज्ञ समिति के पास भेजी जाती थीं।

अनुबन्ध—दो

सेना	भारत	पाकिस्तान	कैफियत
पैदल रेजीमेंट	१५	८	
आर्मर्ड कोर	१२	६	
तोपखाना रेजीमेंट	१८½	८½	
इंजीनियरी यूनिटें	६१	३४	
सिगनल और पूर्ति यूनिटें (आर० आई० ए० एस० सी०)			तात्कालिक स्थैतिक विन्यास प्रत्येक डोमीनियन में अपरिवर्तित रहा

सेना	भारत	पाकिस्तान	कैफ़ियत
बिजली और यान्त्रिक इंजीनियरी यूनिटें	१०	४	
भारतीय पायोनियर कोर समूह मुख्यालय	और ६ कम्पनियाँ	२ कम्पनियाँ	
पशु परिवहन रेजीमेंट	८	३	पाकिस्तान को इस तरह की यूनिटों की ज्यादा जरूरत थी।
यान्त्रिक परिवहन यूनिटें (आर. आई. ए. एस. सी.)	३४	१७	
एम्बुलेंस प्लाटून	१५	७	
भारतीय सेना चिकित्सा कोर अस्पताल	८२ ११,७१३ शय्याएँ	३४ ४०३७ शय्याएँ	कुल ११६ में से १२ ब्रिटिश सैन्य अस्पताल थे। और फार्म जिस डोमीनियन में स्थित थे उसी को स्टाक या फार्म साधित्रों के साथ सौंपे गये।
सैन्य फार्म	२६	२६	अश्व-पालन ज्यादातर पाकिस्तान में केन्द्रित थे। माटगुमरी और लायलपुर में दो प्रजनन-क्षेत्र थे, लेकिन भारतीय डोमीनियन में कुछ भी नियन्त्रित घोड़ा या खच्चर प्रजनन की व्यवस्था न थी और स्थानीय बाजार में उपलब्ध पशुओं के मानक सैन्य मानकों से कहीं कम थे।
पहाड़ रेजीमेंट	२	१	

नौसेना (रॉयल इण्डियन नेवी)

	भारत	पाकिस्तान
स्लूप	८	२
फ्रिगेट	२	२
बेड़ा-सुरङ्ग स्वच्छक	१२	४
कोर बेट	१	—
सर्वेक्षण जहाज	१	—
ट्रालर	४	२
मोटर सुरंग स्वच्छक	४	२
मोटर लाँच	१	—

सेना	भारत	पाकिस्तान	कैफियत
बन्दरगाह रक्षा मोटर लाँच	४	४	
अवतरण नौकायें	सभी विद्यमान बड़ी-छोटी अवतरण नौकायें	—	
वायु-सेना (रॉयल इण्डियन एयरफोर्स)			
लड़ाकू स्क्वेड्रन	७	२	
परिवहन स्क्वेड्रन	१	१	

तीसरा अध्याय

विभाजन के पश्चात्

सत्ता-हस्तान्तरण के तुरन्त बाद और परिणामी प्रशासनिक पुन समजन पूरे होने से पहले भारत को भारी पैमाने पर अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा ।

सद्भाव और सहयोग की कमी के कारण सशस्त्र सेनाओं का पुनर्गठन आवश्यक रूप से दुस्तर काम हो गया । पाकिस्तान और भारत में हुए साम्प्रदायिक दंगों से इतिहास में पहली बार विस्थापितों का अत्यधिक आवागमन शुरू हो गया । इसने पुनर्वास और आन्तरिक सुरक्षा की बड़ी-बड़ी समस्याएँ खड़ी कर दीं । जूनागढ़ और हैदराबाद के शासकों ने शत्रुता-पूर्ण और बेढंगा रवैया अपनाया था, जिससे उनके राज्यों में और पड़ोसी राज्यों में भारी अव्यवस्था पैदा हो गयी । एक तीसरे राज्य काश्मीर पर भारत में उसके सम्मिलित होने के बाद, शस्त्र-सुसज्जित हमलावरों ने सीमा पार से आक्रमण कर दिया और पाकिस्तान और भारत के, अविश्वसनीय रूप से अल्प सूचना पर, शीघ्रता से सेना भेजनी पड़ी । भारतीय सशस्त्र सेना को इन अदृष्टपूर्व कठिनाइयों का सामना, कानून-व्यवस्था बनाए रखने में असैनिक अधिकारियों को मदद देने के अलावा, करना पड़ा । लेकिन १९४८ के अन्त तक इन समस्याओं का जम कर सामना कर लिया गया और भारतीय प्रशासन सुदृढ रूप से स्थापित हो गया ।

अगस्त, १९४७ में सशस्त्र सेनाओं का अलग-अलग डोमीनियन सेनाओं के रूप में पुनर्गठन उच्चतम कमांडर के मुख्यालय के तत्वावधान में चल रहा था । सेना की जो कई यूनिटें भारत को मिली थीं, तब भी पश्चिमोत्तर सीमान्त और पश्चिमी पाकिस्तान के दूसरे हिस्सों की गैरिसनों में स्थित थीं । सत्ता-हस्तान्तरण से पहले कमान और स्टाफ के सभी उच्च पदों पर ब्रिटिश अधिकारी ही नियुक्त थे । अब इन पदों पर, और जो कार्यनिवृत्त होने या पाकिस्तान में नौकरी करने का चुनाव कर चुके थे, उनकी जगह, भारतीय अधिकारियों को नियुक्त किया जाना था । कमान और स्टाफ के उच्चतर पदों पर अनेक भारतीयों को पदोन्नति दी गयी और उनकी तैनातियों के फलस्वरूप नीचे के स्तरों पर भी शृङ्खला-पदोन्नतियाँ और स्थानान्तरण करने पड़े । पुनर्गठन के फलस्वरूप रेजीमेंटों के स्थानान्तरण से, बहुत-सी खाली और असन्तुलित यूनिटें रह गयी थीं और सभी जगह अव्यवस्था-सी थी । भारतीय डोमीनियन

के कई अधिकारी, पाकिस्तान के स्थानों में या स्वयं भारत के कमान अधिकारियों में से अधिकारी नये थे। आवश्यक संगठनों में सातत्य पर भारी आघात पड़ा था। भारतीय सेना-मुख्यालयों की दिक्कतें, अनेक अत्यावश्यक अभिलेखों के उपलब्ध न रहने से, बढ़ गयी थीं, जिनमें से बहुत से ब्रिटिश अधिकारियों ने नष्ट कर दिये थे। इसके अलावा उच्चतम कमांडर के मुख्यालय और साथ ही अविभाजित सशस्त्र सेना-मुख्यालयों में, जो भी हो सके, छीनाझपटी करने की पाकिस्तानी नागरिकों की कोशिशों के कारण और भी गड़बड़ी पैदा हो गयी थी। साथ ही दिल्ली शहर पर भी साम्प्रदायिक दंगों का असर पड़ा था। अनेक असैनिक कर्मचारी दफ्तर न आ पाते थे और जो थोड़े से, क्रुद्ध जनसमूह के कृत्यों से बच कर, आ भी जाते थे, उनको काफी समय तक काम करना पड़ता था। शान्ति स्थापना में असैनिक अधिकारियों की मदद देने के लिए रेजीमेंटों को भेजना पड़ा था, पर वे भी विभाजन के कारण काफी असंगठित हो चुकी थीं। कई स्थानों में उनके पुराने ब्रिटिश अधिकारी जा चुके थे और उनकी जगह पर दूसरी यूनिटों में नये ब्रिटिश अधिकारी आ गये थे। पाकिस्तानी नागरिकों की पूरी की पूरी कम्पनियाँ जा चुकी थीं और उनकी जगह भारतीय सैनिकों की कम्पनियाँ आ गयी थीं, जो मूलतः पाकिस्तान के बाँट में आयी रेजीमेंटों से सम्बद्ध थीं। इस तरह रेजीमेंटें विघटित हो गयी थीं और वे समरस और एकबद्ध यूनिटें न रह गयी थीं। ऐसी परिस्थिति में, अभी सेना को जमने और साँस लेने का भी मौका न मिला था कि उनको इन कठिन स्थितियों का सामना करने के लिए बुला लिया गया।

सैन्य निष्कामण संगठन

इस भारी उथल-पुथल के बीच ही लाखों विस्थापित व्यक्तियों का पाकिस्तान से आना शुरू हुआ और विस्थापित व्यक्तियों के अनुरक्षण, संरक्षण और उनकी जरूरतों की पूर्ति में सेनाओं को एक बड़ी भूमिका निभानी पड़ी। पंजाब सीमा-दल का पहले उल्लेख किया जा चुका है, जिसमें चौथा पैदल डिवीजन था। इसे ३१ अगस्त, १९४७ की आधी रात में विघटित कर दिया गया। इस सेना में आने वाले क्षेत्र सम्बन्धी जिम्मेदारी अब सम्बन्धित डोमीनियनों की रह गयी। भारतीय सैनिकों को पश्चिमी पंजाब से गैर मुसलमानों को लाने में मदद देने के लिए लगाया गया और पूर्वी पंजाब से मुसलमानों को ले जाने में पाकिस्तानी सैनिकों को। सीमा की भारतीय ओर वाला जो इलाका पहले पंजाब सीमा दल के सैन्य-क्षेत्र में था, उसे अब पूर्वी पंजाब सीमा नाम दिया गया और उसे मेजर जनरल के० एस० थिमय्या डी० एस० ओ० के अधीन कर दिया गया। ये पहले पंजाब सीमा-दल के कमांधारी मेजर जनरल रीस के एक सम्पर्क अधिकारी रह चुके थे। जब सेनाओं का पुनर्वितरण, पुनर्नियोजन और जलंधर में मेजर जनरल थिमय्या के मुख्यालय का पुनर्गठन चल ही रहा था, उसी समय हजारों हिन्दू-सिख पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब में आ रहे थे और अपने साथ पाकिस्तानियों द्वारा किये गये अचिन्तनीय अत्याचारों और सामूहिक हत्याओं की कहानियाँ ला रहे थे।

पाकिस्तान से शरणार्थियों का निष्क्रामण तेजी से व्यवस्थित करने के लिए १ सितम्बर,

१९४७ को एक सैन्य निष्क्रामण सगठन, व्यवहारत बिना पूर्व सूचना के, खडा किया गया और उसका मुख्यालय अमृतसर में रखा गया। ऐसा ही सैन्य निष्क्रामण सगठन पाकिस्तान मे एक ब्रिटिश सेना अधिकारी की अध्यक्षता मे लाहौर मे स्थापित किया गया। सैन्य निष्क्रामण सगठन को अनेक अड़चनों के बीच काम करना पडा। पूर्वी पजाब एरिया, विधि-व्यवस्था बनाये रखने और शरणार्थी शिविरों और मुसलमानो के काफिलो के सरक्षण के लिए जिम्मेदार था। भारतीय सैन्य निष्क्रामण सगठन प्रशासनिक दृष्टि से पूर्वी पजाब एरिया के अधीन था और वह गैर-मुसलमानो के पश्चिमी पंजाब से निष्क्रान्त करने के लिए था। गैर मुसलमानो के पश्चिमी से पूर्वी पजाब आने और मुसलमानो को उल्टी दिशा मे ले जाने के लिए भारतीय सेना की यूनिटें पाकिस्तान मे तैनात की गयी और पाकिस्तान की यूनिटें पूर्वी पजाब के क्षेत्र मे।

भारतीय सैन्य निष्क्रामण सगठनो ने निष्क्रामण का कार्य बडी सक्षमतापूर्वक चलाया। पैदल काफिलो के रूप में निष्क्रामण की औसत हर तीन दिनो में १००,००० व्यक्ति थी। अक्तूबर, १९४७ तक १६ लाख व्यक्तियो को लाया गया। अब और पैदल आने वाले व्यक्ति न रहे। हर रोज १५,००० व्यक्ति रेल गाडियो से आते थे। और पूर्वी और पश्चिमी पजाब के बीच दोनो दिशाओ मे छ गाडियाँ रोज चलती थी। कुल मिलाकर १०८२,५०० व्यक्ति रेल से लाये गये। लगभग ४५०० व्यक्ति रोज मोटर गाडियो से आए और इस तरह कुल ३२०,००० व्यक्ति लाये गये। ३०,००० व्यक्ति हवाई जहाज से आये। निष्क्रान्त किये गये व्यक्तियो का कुल योग ३०,३२, ५०० था।

हवाई जहाज मे निष्क्रामण के बारे में यह बात अब प्रकट की जा सकती है कि रॉयल इडियन एयर फोर्स के पाइलटो ने इन व्यक्तियो को उडाकर लाने मे बडा भारी खतरा उठाया, जबकि जहाज के चप्पे-चप्पे मे शरणार्थी भरे रहते थे। हर जहाज में व्यक्तियो की संख्या अनुज्ञेय अधिकतम सख्या से कही ज्यादा रहती थी। पाइलट जहाज मे ठसाठस भरे लोगो के बीच से होकर मुश्किल से कॉकपिट तक पहुँचते थे। वायुसेना विनियमो के अधीन विहित सुरक्षा सीमा का उल्लघन करने के लिए पाइलटो के खिलाफ अनुशासन की कारवाई की जा सकती थी, लेकिन स्वय भारी खतरा उठाकर वे इस आपात मे यथासम्भव अधिकाधिक लोगो को ले आना ज्यादा पसन्द करते थे। हवाई रास्ते से उडाकर लाने मे कोई दुर्घटना नही हुई। इन वीर पाइलटो की उडान-प्रवीणता की जितनी प्रशसा की जाय, थोडी होगी।

भारत के विभिन्न भागो से मुसलमान प्रवासार्थियो को अनुरक्षित करके पूर्वी पजाब लाने का काम न केवल असुखकर था, बल्कि कठिन भी था और खतरनाक भी। इस काम के लिए बटालियन सैनिको को जल्दी-जल्दी इकट्ठा कर लिया गया था और अधिकाश मामलो मे उनको ऐसे कमीशन प्राप्त और नान-कमीशन्ड अफसरो के अधीन रख दिया गया, जिनको वे जानते भी न थे। इस काम के लिए लगाये गये सैनिको के लिए सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था न की जा सकती थी और न अनुरक्षा-कार्य में उनको कितना समय लग जायेगा, इसका ही पूर्वानुमान लगाया जा सकता था, इनमे से अनेक सैनिक विदेश के इलाको से हाल ही में लौटे थे और उनके दस्तावेज और दूसरे ब्यौरो की जाँच तक न हो पायी थी। उनमें से कई को छुट्टी पर जाना था, कुछ का असैनिक जीवन के लिए सेवामोचन होना था और कुल मिलाकर सबसे खराब

हालत उनकी थी, जो स्वयं विस्थापित थे और जो अपने परिवार के साथ सम्पर्क स्थापित न कर पाते थे, न उनके बारे में विश्वस्त जानकारी ही प्राप्त कर सकते थे। रेलगाड़ियों की अनुरक्षा का काम इस कारण और भी कठिन हो गया था कि सैनिक नये थे और ऐसे भारी आन्दोलन से भौचक्के रह जाते थे तथा उनका मार्गदर्शन और नेतृत्व करने के लिए उनके अफसर भी उनके पास न होते थे। फिर भी सारा काम बड़े प्रशसनीय ढंग से पूरा किया गया।

सरकार ने यह आश्वस्त करने के लिए सख्त कदम उठाये कि सवारी गाड़ियों का सरक्षण करते समय सशस्त्र सेना के लोग अपना कर्तव्य न भूल जायें। रेलवे (सशस्त्र सेनाओं द्वारा सरक्षण) अध्यादेश, १९४७ (१९४७ का सोलहवाँ) १० सितम्बर, १९४७ को लागू किया गया जिसके अधीन यदि भारतीय सेना अधिनियम १९११ या भारतीय वायुसेना अधिनियम १९३२ के द्वारा शासित कोई व्यक्ति रेल द्वारा ले जाये जा रहे यात्रियों या माल का सरक्षण करने के अपने कर्त्तव्य के पालन में त्रुटि करता है तो सक्षिप्त सामान्य कोर्ट मार्शल या फील्ड जनरल कोर्ट मार्शल द्वारा सिद्धदोष होने पर उसे दडित किया जा सकेगा, और १० वर्ष तक की सख्त सजा और अपराध के समय किसी आदमी की मृत्यु हो जाने पर मृत्यु दण्ड तक दिया जा सकता था।

१५ दिसम्बर, १९४७ तक अधिकाश गैर-मुसलमानों को पश्चिमी पजाब से निकाल लिया गया। उसके बाद सैन्य निष्क्रामण सगठन की सख्या क्रमश कम कर दी गयी जो छोटा-सा सैन्य निष्क्रामण सगठन बना रहा वह अनेक छोटे-छोटे केन्द्रों से लोगों को निकालने का काम या अपहृत स्त्रियों-बच्चों या जबरदस्ती मुसलमान बना लिये गये लोगों के निकालने का काम करता रहा। लेकिन शीघ्र ही भारत से शत्रुता बढने पर पाकिस्तान के अधिकारियों ने छोटे-छोटे केन्द्रों से लोगों के निकालने का काम बन्द करा दिया और इस तरह २३ अगस्त, १९४८ को भारतीय सैन्य निष्क्रामण सगठन बन्द हो गया।

इस बीच सेना से कहा गया कि कुरुक्षेत्र के सबसे बड़े शरणार्थी शिविर को सगठित कर और चलाये, जिसमे दो लाख शरणार्थी थे। इस काम के लिए सैन्य सगठन २७ अक्तूबर, १९४७ को बनाया गया और वह १५ फरवरी, १९४८ तक शिविर के प्रशासन का काम सँभालता रहा।

पूर्वी पजाब और दिल्ली में कानून और व्यवस्था की उग्र समस्या का सामना करने के लिए पूर्वी पजाब और दिल्ली उपद्रवग्रस्त क्षेत्र (सशस्त्र सेना की विशेष शक्तियाँ) अध्यादेश, १९४७ (१९४७ का सत्रहवाँ) के अधीन जो १ सितम्बर, १९४७ को लागू किया गया था, उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में काम कर रहे सशस्त्र सेना के अधिकारियों को विशेष शक्तियाँ प्रदान की गयीं। इस अध्यादेश द्वारा उपद्रवग्रस्त या खतरनाक घोषित किये गये किसी क्षेत्र में सशस्त्र सेना के कमीशन-प्राप्त अधिकारी, वारंट अधिकारी या नॉन-कमीशन्ड अफसर को यह शक्ति दी गयी कि वह कानून तोड़ने वालों के खिलाफ बल-प्रयोग कर सकेगा, भले ही किसी की मृत्यु तक हो जाय, बिना वारंट के किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकेगा या बिना वारंट के किसी घर में घुसकर तलाशी ले सकेगा। जिस तेजी और निष्पक्षता के साथ सशस्त्र सेनाओं ने दिल्ली और पजाब के उपद्रवग्रस्त क्षेत्र की स्थिति को सँभाला, उससे एक बार फिर सारे

देश की जनता उसकी आभारी हो गयी ।

अभी जमने के लिए तैयार हो रही एक विभाजित सेना के लिए इतने सारे काम ही बहुत काफी थे, कि इसे इनसे भी ज्यादा कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा ।

देशी रियासतें (जूनागढ़, हैदराबाद और काश्मीर को छोड़कर) देशभक्ति की भावना से प्रेरित हो और बदलते भारत की वस्तुस्थिति के प्रति जागरूकता से उत्साहित हो और साथ ही भारत सरकार द्वारा कुशलतापूर्वक चलायी गयी बातचीत के कारण, १५ अगस्त, १९४७ तक, भारत में सम्मिलित हो गयी थीं ।

तत्कालीन एग्जीक्यूटिव कौंसिल के उपाध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया था कि 'हम भारत के भीतर किसी भी रियासत की आजादी को मान्यता नहीं देंगे । किसी विदेशी सत्ता द्वारा ऐसी किसी रियासत को दी गयी मान्यता शत्रुतापूर्ण कार्रवाई मानी जायेगी ।' फिर रियासतों के शासकों और प्रतिनिधियों की बैठक में २५ जुलाई, १९४७ को भाषण देते हुए वायसराय लार्ड माउंटबेटन ने भी कहा कि रियासतें इस बात में स्वतन्त्र थीं कि वे दोनों में से किसी भी डोमीनियन में सम्मिलित हो जायें, पर कुछ भौगोलिक विवशतायें हैं, जिनसे इनकार नहीं किया जा सकता । ५६५ रियासतों में से अधिकांश भौगोलिक दृष्टि से निश्चय ही भारत के डोमीनियन से जुड़ी हैं । आप अपनी पड़ोसी डोमीनियन सरकार से मुख नहीं मोड़ सकते । देशी रियासतों के सम्मिलन सम्बन्धी राजनीति के पहलू और अन्य बातें इस पुस्तक के लिए संगत नहीं हैं और तीन रियासतों का जो उल्लेख किया जा रहा है, वह भी इस बात तक ही सीमित है कि सशस्त्र सेना का इससे कितना नाता था ।

जूनागढ़

काठियावाड़ की रियासतों में जूनागढ़ रियासत का विशेष स्थान था । दक्षिण में अरब सागर को छोड़ कर, बाकी दिशाओं में यह भारतीय रियासतों से ही घिरी थी । वह थल के रास्ते पाकिस्तान से जुड़ी हुई नहीं थी । जूनागढ़ के राज्य क्षेत्र के टुकड़े पास-पड़ोस की दूसरी देशी रियासतों के बीच पड़ते थे, और पहले ही भारत में सम्मिलित हो चुकी इन रियासतों के कुछ हिस्से जूनागढ़ के राज्य क्षेत्र के बीच पड़ते थे । शासक एक मुसलमान नवाब था, पर आबादी ८० प्रतिशत हिन्दू और जैन थी । इन सभी बातों के बावजूद और आरम्भ में भारत से सम्मिलन का संकेत देने के बाद भी, १५ अगस्त, १९४७ को नवाब ने घोषणा कर दी कि रियासत पाकिस्तान के साथ सम्मिलित हो रही है । स्थिति स्पष्ट करने के लिए बार-बार अनुरोध किये जाने के बाद, पाकिस्तान ने लगभग एक महीने बाद बताया कि उसने जूनागढ़ का पाकिस्तान में सम्मिलन स्वीकार कर लिया है और बाद में यह मत व्यक्त किया कि जूनागढ़ की भौगोलिक स्थिति की परवाह किये बिना जूनागढ़ के नवाब को पाकिस्तान से सम्मिलन का पूरा-पूरा अधिकार है । यह स्पष्ट था कि पाकिस्तान भारत को कुछ कार्रवाई शीघ्र कर गुजरने के लिए उत्तेजित कर रहा था । इस बात पर ध्यान देना बड़ा दिलचस्प है कि पाकिस्तान के प्रधान मंत्री ने यह भी तर्क दिया कि 'सम्मिलन के नैतिक या जातिगत पहलुओं का ध्यान किये बिना ही, जूनागढ़ के नवाब को पाकिस्तान के साथ सम्मिलन का पूरा-

पूरा अधिकार है।' जूनागढ बाबरीवाड और मगलौर को अपनी सामन्त रियासतें मानता था, पर वे स्वय भारत में सम्मिलन कर चुकी थी। अपने सम्मिलन के आधार पर जूनागढ ने पहले बाबरीवाड और फिर मगलौर को सेना भेजी। जिन परिस्थितियो में जूनागढ पाकिस्तान मे सम्मिलित हुआ था, उनमे भारत सरकार स्वभावत इस सम्मिलन को नही मान सकती थी। फलस्वरूप उसने बाबरीवाड और मगलौर से जूनागढ की सेना वापस लिए जाने की माँग की। सितम्बर के तीसरे हफ्ते में स्थिति गम्भीर हो गयी। सारा देश ही कठिनाई के एक दौर से गुजर रहा था और परिस्थिति का दृढता, शीघ्रता और सावधानी के साथ सामना करना जरूरी था। अगर भारत थोडी भी ढील दिखाता, तो दूसरी देशी रियासतो को भी गभीर शका हो जाती, जिसके स्पष्ट ही गम्भीर प्रतिफल होते।

काठियावाड की रियासतो के अनुरोध पर भारतीय थल, वायु और नौसेनाओ की यूनिटें अक्टूबर, १९४७ के आरम्भ मे पोरबन्दर पहुँच गयी और उनको जूनागढ के चारो ओर उपयुक्त रूप से तैनात कर दिया गया। शीघ्र ही जूनागढ के नवाब द्वारा शुरू किये गये अत्याचारो की कहानी दिल्ली पहुँची। १ नवम्बर, १९४७ को भारत सरकार द्वारा भेजे गये एक असैनिक प्रशासक ने सेना की एक छोटी टुकडी के साथ जा कर बाबरीवाड और मगलौर का प्रशासन सँभाल लिया। बाद में जूनागढ के दीवान के इस अभ्यावेदन पर कि रियासत मे हालत गम्भीर हो गयी है, भारत सरकार ने ९ नवम्बर, १९४७ को जूनागढ का प्रशासन सँभाल लिया और इस तरह जूनागढ की समस्या का समाधान हो गया।

फरवरी, १९४७ में जूनागढ और उसके उपाग सौराष्ट्र सघ के भाग बन गये, जो अब गुजरात राज्य में शामिल है। यद्यपि इन स्थितियो में सैन्य सक्रिया की जरूरत नही पडी, तथापि उस समय उपलब्ध बहुत सीमित सेना के एक छोटे-से अश का नियोजन भी सशस्त्र सेनाओ के तत्कालीन कार्यकरण के प्रसग में बहुत महत्वपूर्ण है।

हैदराबाद

निज़ाम की रियासत हैदराबाद की सीमा पर उत्तर में मध्यप्रदेश पश्चिम में बम्बई प्रेसीडेन्सी और पूर्व और दक्षिण में मद्रास प्रेसीडेन्सी थी। १२ जून, १९४७ को निजाम ने यह फरमान निकाला कि हैदराबाद न तो पाकिस्तान में सम्मिलित होगा और न भारत मे ही। उसने यह भी घोषित किया कि १५ अगस्त, १९४७ को निजाम स्वतन्त्र सम्राट् की हैसियत के हकदार होंगे और राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में डोमीनियन स्टेटस प्राप्त कर सकेंगे। हैदराबाद ने बाद मे सम्मिलन के बारे में जो टालमटोल दिखायी वह पहले ही एक विकट समस्या बन चुकी थी। भारत सरकार और निजाम सरकार के बीच अनन्त बातचीत अब भी लगातार चल रही थी। *भारत डोमीनियन के बीचोबीच स्थित एक देशी रियासत का यह पृथक्तावादी रवैया बड़ी* भारी चिन्ता का विषय बन रहा था। भूगोल के व्यावहारिक आधार और आन्तरिक सुरक्षा की अनिवार्य जरूरतो को देखते हुए वस्तुत यह विचारणीय था कि क्या भारत की राज्यसीमा के भीतर स्वतन्त्रता का दावा करने वाली कोई रियासत रह सकती है?

२२ अक्टूबर, १९४७ को पाकिस्तान की सीमा की ओर से भेजे सशस्त्र लोगो के

काश्मीर-आक्रमण के बाद, भारतीय सेना के वहाँ व्यस्त हो जाने पर, हैदराबाद का रवैया और भी मस्त हो गया। २९ नवम्बर, १९४७ को पर्याप्त बातचीत के बाद भारत सरकार ने निज़ाम के साथ एक यथास्थिति समझौता कर लिया, जिसमें उस राज्य का भारत में सम्मिलित होना शामिल न था। समझौते में व्यवस्था थी कि रक्षा, विदेशकार्य और संचार समेत समान अभि-सम्बन्धों वाले सभी मामलों में १५ अगस्त, १९४७ से पहले हैदराबाद और भारत के बीच जो भी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ चल रही थीं, वे सभी एक वर्ष तक चालू रहेंगी। रक्षा के पहलू की की दृष्टि से इस समझौते में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह थी कि भारत सरकार फरवरी, १९४८ तक हैदराबाद से अपनी सेनायें वापस बुला लेगी और गोला-बारूद और शस्त्रास्त्र के बारे में रियासत की न्याय-संगत माँग पूरी करेगी। इस करार का यथावत् पालन करते हुए भारत सरकार ने सिकन्दराबाद में स्थित भारतीय सेना की यूनिटों के वापस आने का आदेश दे दिया। यह ध्यान रखना होगा कि भारत सरकार की सेनायें १५० साल से ज्यादा समय से सिकन्दराबाद की छावनी में रहती थी और रियासत में उनकी स्थिति बडी महत्वपूर्ण थी। फिर भी सद्भाव के संकेत के रूप में और शान्तिपूर्ण निपटारा करने की दृष्टि से भारत सरकार सेना वापस बुलाने के लिए सहमत हो गयी।

सेना वापस बुलाने से सम्बन्ध सुधरने की तो बात अलग, उससे बाद में ऐसी चीजें पैदा हो गयी, जो भारतीय प्राधिकारियों के लिए गम्भीर चिन्ता का कारण बनी। निज़ाम सरकार ने देशी-रियासत-सेना-योजना, १९३९ के अधीन अपने दायित्वों का शब्दशः खण्डन कर दिया और कार्यतः उल्लंघन किया। यह एक बुनियादी करार था, जो यथास्थिति करार के अनुसार यथावत् रहा था। इस योजना के अधीन सम्राट—और अब यथास्थिति करार के अनुसार भारत सरकार—को अधिकार था कि रियासती सेनाओं की यूनिटों की संख्या और वर्गीकरण को विनियमित करे। निज़ाम सरकार ने सेना की संख्या में अनधिकृत वृद्धि करना शुरू कर दिया और शस्त्रास्त्रों और गोलाबारूद का निर्माण शुरु कर दिया। यह भी खबर मिली कि युद्ध सामग्री खरीदी जा रही है और तस्करीय रूप से रियासत में लायी जा रही है और शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद और सैन्य-उपस्कर भारतीय प्रान्तों से रियासत में लाने के लिए पूरे देश में एजेंटों का जाल बिछा दिया गया है। वस्तुतः सशस्त्र संघर्ष के लिए बडी तेजी से तैयारियाँ की जा रही थीं। पाकिस्तान को भी भारत की दिक्कतें बढाने का पूरा-पूरा मौका मिल रहा था। साथ ही *रजाकारों के (मुसलमान साम्प्रदायिक संगठन)* कारनामों ने हैदराबाद में आतंक पैदा कर दिया था और सामान्य प्रणाली से किसी भी राज्य में ऐसी स्थिति में विधि-व्यवस्था बनाये रखने के लिए सेना का बुलाया जाना जरूरी हो जाता। तदनुसार भारतीय सेना के प्राधिकारियों को ऐसी आकस्मिकता का पूरा ख्याल करना पडा और तदनुसार तैयार होना पडा। इस तरह हैदराबाद भारत के लिए पेट का फोडा बन रहा था और इसी बीच अप्रत्याशित घटनाओं के कारण भारतीय सेनाओं को काश्मीर में जाना पड गया था।

काश्मीर

२५ अक्टूबर, १९४७ को भारत सरकार ने बहुत कुछ बिजली की तरह अकस्मात्

भारतीय सैन्य अधिकारियों को आदेश दिया कि जम्मू और काश्मीर में तुरन्त सेना भेजने की योजना बनायें ताकि राज्य को पाकिस्तान के सीमान्त इलाके से आने वाले कबाइलियों के झुण्डों से बचाया जा सके, जो काश्मीर में पहले ही काफी आगे बढ चुके है। सैन्य इतिहास में यह वस्तुत अभूतपूर्व स्थिति थी।

१५ अगस्त, १६४७ को ब्रिटिश सम्राट की परम-प्रभुता के समाप्त होने की आशका ने दूसरी देशी रियासतो के लिए, भौगोलिक निकटता की दृष्टि से, जोकि निश्चय ही सबसे महत्वपूर्ण बात थी, भारत या पाकिस्तान के साथ सम्मिलित हो जाने का फैसला करना आसान कर दिया था। इस बारे मे जम्मू और काश्मीर रियासत ने अपने को कठिन परिस्थिति में पाया, क्योंकि वह पाकिस्तान और भारत दोनो के निकट या वस्तुत दोनो से घिरी थी। भारत सरकार ने महाराजा से भारत में सम्मिलन का आग्रह न किया, बल्कि लार्ड माउटबेटन के जरिए यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह चाहे तो पाकिस्तान के साथ सम्मिलित हो सकते हैं। अन्तिम निर्णय करने से पहले, समय चाहते हुए, राज्य ने पाकिस्तान और भारत दोनो से यथा-स्थिति करार करके पूर्व स्थिति बनाये रखने की इच्छा प्रकट की। ऐसा करार वस्तु पाकिस्तान के ही साथ हस्ताक्षरित हुआ, पर भारत के साथ चर्चा शुरू हो सके, इससे पहले ही रियासत में गभीर आपात स्थिति आ गयी। यथा स्थिति करार का उल्लघन करके पाकिस्तान ने पेट्रोल, नमक, चीनी, कपडा और अन्य उपभोग-द्रव्यो की महत्वपूर्ण पूर्ति में कटौती करते हुये, राज्य पर आर्थिक दबाव डालना शुरू कर दिया। आर्थिक घेराबन्दी सख्त कर दी गयी और ३ सितम्बर १६४७ से ४५० मील लम्बी सीमा रेखा के अनेक स्थलो पर पाकिस्तान की ओर से रोज कई कई हमले होने लगे। बिना किसी कारण के पाकिस्तान ने स्यालकोट से जम्मू आने वाली रेलगाडी-सेवा बन्द कर दी। सीमा-हमले तेजी से बढते गये।

२० अक्तूबर, १६४७ को पाकिस्तान ने काश्मीर पर पूरे पैमाने पर आक्रमण कर दिया। मुख्य हमलावर २००-३०० के झुडो में आये और उनकी कुल सख्या, कबाइली और "छुट्टी" वाले पाकिस्तानी सैनिकों को मिलाकर, ५००० थी। उनका नेतृत्व युद्ध नियमित अधिकारी कर रहे थे, जो भूप्रदेश से सुपरिचित थे। सीमित रियासती सेना काफी विस्तृत मोर्चे पर नियोजित की गयी थी, इसलिए वे कही पर भी सैनिक दृष्टि से बलवान न थे। फलत पूरी सीमा रेखा पर राज्य की रक्षा व्यवस्था में दरार पड चुकी थी। हमलावर श्रीनगर के रास्ते पर बारामूला की ओर बढ रहे थे।

ये घटनायें यद्यपि एक सीमा पर की रियासत में घटित होने के कारण काफी गम्भीर थी, पर इनसे भारतीय सैन्य अधिकारियो को कोई चिन्ता न हुई थी। वस्तुत उनको इन बातो से परिचित भी न किया गया था और उनके पास जो जानकारी थी, वह समाचार-पत्रो की खबरो पर आधारित थी। साथ ही वे विभाजन की समस्याओ और कानून-व्यवस्था बनाये रखने के काम मे इतने व्यस्त थे कि उनको इस उत्तरी रियासत के बारे में सोचने का कुछ भी मौका न मिल पाया था। वस्तुत यदि यह रियासत १५ अगस्त, १६४७ को भारत में सम्मिलित भी हो गयी होती, तब भी यह बड़ा सन्देहास्पद है कि सशस्त्र आक्रमण के मुकाबिले सामान्य रूप से उसके सरक्षण की उपयुक्त व्यवस्था करना भी सभव हो पाता या नही। २४

अक्तूबर, १९४७ को भारतीय सेना के कमाण्डर-इन-चीफ (जनरल लोकहार्ट) को यह सूचना मिली कि ५००० कबाइलियों ने मुजफ्फराबाद और डोमेल पर २२ अक्तूबर १९४७ को कब्जा कर लिया है (जो पाकिस्तान और काश्मीर की सीमा के बिलकुल पास है)। इस समाचार की ओर भी गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया गया था, हालांकि सुरक्षा की दृष्टि से पड़ोस के एक राज्य की ऐसी लूट-पाट भारत के लिये न्यायोचित चिन्ता का कारण थी। सैन्य दृष्टि से स्थिति को आँकने में काश्मीर समस्या के राजनीतिक पहलू आड़े नहीं आते। फिर भी पूर्वोक्त तथ्यों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि २५ अक्तूबर, १९४७ को तारीख तक भारतीय सैन्य अधिकारियों के दिमाग में यह बात रञ्चमात्र भी न आयी थी कि भारतीय सेना से यह माँग की जायेगी कि वह काश्मीर की सहायता के लिए आगे बढ़े। इसलिए काश्मीर की रक्षा करने का आदेश जितना आकस्मिक था, उतना ही अप्रत्याशित भी। आगे तीनों सेनाओं के तत्कालीन प्रमुखों द्वारा (जो तीनों ही ब्रिटिश अधिकारी थे) हस्ताक्षरित, एक संयुक्त टिप्पण की, एक फोटोस्टेट अंग्रेजी नकल का अविकल अनुवाद दिया जा रहा है, जिससे इस बात की पुष्टि हो जाती है और जिसमें घटनाक्रम भी दिया जा रहा है

परम पूर्वता

भारत के स्टाफ प्रमुखों का वक्तव्य

१—यह आरोप लगाया गया है कि भारतीय सेनायें काश्मीर भेजने की आयोजनायें, २२ अक्तूबर से जिस तारीख को एबटाबाद की ओर से रियासत पर हमला शुरू हुआ, उससे पहले ही किसी तारीख को बना ली गई थी।

२—नीचे घटनाओं की एक समय-सारणी दी जा रही है कि इस बारे में कब निर्णय लिया गया, आयोजना बनायी गयी, आदेश दिये गये और सचलन शुरू हुआ —

(१) २४ अक्तूबर को भारतीय सेना के कमाण्डर-इन-चीफ को सूचना मिली कि कबाइलियों ने मुजफ्फराबाद पर कब्जा कर लिया है। यह हमले का पहला संकेत था।

(२) इस तारीख से पहले भारतीय सेनाओं को काश्मीर में भेजने के लिए कोई भी आयोजना न तो बनायी ही गयी थी और न उस पर विचार ही किया गया था।

(३) २५ अक्तूबर को प्रातः हमें निदेश दिया गया कि कबाइलियों का आक्रमण रोकने के लिए यदि जरूरी हो जाय तो वायुमार्ग और सड़क से काश्मीर में सेना भेजने के लिए आयोजना की जाँच की जाय और तैयारी की जाय। इस विषय में हमें मिलने वाला यह पहला निदेश था। इस बैठक से पहले ऐसी आयोजना की जाँच और तैयारी के लिए कोई कार्रवाई न की गयी थी।

(४) २५ अक्तूबर को दोपहर-बाद हमने भारतीय सेना और रॉयल भारतीय वायु-सेना का एक-एक स्टाफ अधिकारी विमान से श्रीनगर भेजा। वहाँ पर उन्होंने

काश्मीर की राज्य सेना के अधिकारियों से बात की। यह हमारे मुख्यालय के अधिकारियों और काश्मीर राज्य-सेना के अधिकारियों के बीच काश्मीर में भारतीय सेनायें भेजने के विषय में पहला सम्पर्क था।

(५) २५ अक्तूबर को ही दोपहर-बाद हमने यह आदेश जारी किये कि भारत सरकार द्वारा काश्मीर का सम्मिलन स्वीकार कर लिये जाने और मदद भेजने का निर्णय करने पर अल्प सूचना पर विमानों से श्रीनगर को जाने के लिये एक पैदल बटालियन अपनी तैयारी करे।

(६) उपर्युक्त उप पैरा (४) में बताये गये स्टाफ अधिकारी २६ अक्तूबर को प्रात श्रीनगर से लौट आये और उन्होंने काश्मीर राज्य-सेना के अधिकारियों के साथ अपनी भेंट की रिपोर्ट दी।

(७) २६ अक्तूबर को दोपहर-बाद हमने सैनिकों के वायु मार्ग द्वारा भेजे जाने के लिये अपनी आयोजना को अन्तिम रूप दिया।

(८) काश्मीर के द्वारा सम्मिलन लिखत पर हस्ताक्षर कर देने के बाद २७ अक्तूबर को तड़के भारतीय सेना का वायु मार्ग से काश्मीर भेजा जाना शुरू हुआ।

३—२५ अक्तूबर से, जो कबाइलियों का हमला शुरू होने के तीन दिन बाद था, पहले सेना भेजने की कोई आयोजना नहीं तैयार की गयी थी और न ऐसी किसी आयोजना पर विचार ही किया गया था।

ह० आर० एन० एन० लोकहार्ट
जनरल, कमाडर इन-चीफ
भारतीय सेना

ह० एयरमार्शल कमांडिंग
रायल इंडियन एयर फोर्स

ह० रियर एडमिरल
फ्लैग अफसर कमांडिंग,
रॉयल इंडियन नेवी

३१ अक्तूबर, १९४७

दूसरी ओर, जैसा कि बाद की घटनाओं से सिद्ध हो गया, काश्मीर के आक्रमण की पूरी-पूरी तैयारी पाकिस्तान में सावधानी से पहले से आयोजित की गयी थी और वह सुसंगठित थी।

काश्मीर में भारतीय सेना और भारतीय वायुसेना की सफलता का निर्धारण इसी पृष्ठ-भूमि में किया जाना चाहिए।

जम्मू और काश्मीर के महाराजा ने २६ अक्तूबर को, परिस्थितियों से अभिभूत हो चुकने के बाद, भारत से सम्मिलन के लिए लिखत पर हस्ताक्षर कर दिये और तदनुसार राज्य के सीमान्त की सुरक्षा करना भारत सरकार का सांविधानिक और नैतिक उत्तरदायित्व हो

गया। दूसरे ही दिन बिना कुछ आयोजना बनाये भारतीय सेना और भारतीय वायुसेना को काश्मीर में सक्रिया शुरू करनी पड़ गयी।

परिस्थिति सब तरह से गम्भीर थी और अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए भारतीय सेना को तुरन्त श्रीनगर पहुँचना था। श्रीनगर के लिए यथोचित सड़क की व्यवस्था भी न थी। सम्भारिकी (लौजिस्टिक्स) की बात सोचने के लिए भी कोई समय न था। हालत इतनी तेजी से बिगड़ रही थी कि काश्मीर की सुरक्षा के लिए एक-एक मिनट महत्वपूर्ण हो रहा था। सक्रिया का एक मात्र साधन था कि सेना को वायुमार्ग से भेजा जाय। ऐसा कदम निःसंदेह संकटाकीर्ण और भारी खतरों से भरा था। पहले से ब्यौरेवार आयोजना बनायी भी जाती, तब भी वायुमार्ग से सैनिकों को भेजना और वायुमार्ग से ही अत्यावश्यक पूर्ति भेजना एक अव्यवहारिक बात मानी जाती। राज्य की रक्षा के लिए भारत की सांविधानिक जिम्मेवारी थी और खतरे और व्यय या हानि की परवाह किये बिना यह तो करना ही था। ऐसी परिस्थिति में यह निश्चय ही समझ में आने योग्य बात है कि सक्रिया के दृष्टिकोण से सरकार के सैन्य सलाहकारों ने अन्तर्ग्रस्त खतरों के बारे में भारी शंका व्यक्त की थी। पर जब राजनीतिक और सवैधानिक जिम्मेवारियों में बचा न जा सकता था, तो सक्रियागत प्रश्नों के कारण सेना भेजने का निर्णय नहीं पलटा जा सकता था।

दिल्ली और पूर्वी कमान के मुख्यालय को सेना भेजने का आदेश २६ अक्तूबर को १ बजे दोपहर मिला और २७ को प्रातः भयंकर खतरों और अड़चनों के बावजूद सिख रेजीमेंट की पहली बटालियन के ३२९ सैनिकों को, जो उस समय गुड़गाँवा में आन्तरिक रक्षा के काम पर लगे हुए थे, उड़ा कर श्रीनगर ले जाया गया। इस अनोखी सक्रियागत हवाई उड़ान के लिए सभी उपलब्ध रॉयल इंडियन एयर फोर्स या असैनिक विमानों को काम में लगा दिया गया। सेना के इतिहास के पृष्ठों में पहले कभी भी सैनिकों से यह अपेक्षा न की गयी थी कि इतने आकस्मिक रूप से राष्ट्र के आह्वान पर संग्राम में कूद पड़ें और मोर्चा सँभाल लें। इस मामले में सिख रेजीमेंट को २४ घंटे से भी कम समय की पूर्व सूचना मिली थी और हमारे सैनिकों को इस बात का थोड़ा-सा भी भान न था कि शत्रु की आकांक्षाएँ और विन्यास क्या है, उसकी रणनीति और संख्या क्या है और इसी तरह सैन्य आसूचना की दूसरी बातों का भी उसे ज्ञान न था। उस समय भारत सरकार और भारतीय सेना के सामने जो विकट परिस्थिति थी, उसकी गम्भीरता का वर्णन सम्भव नहीं है। भारत और पाकिस्तान के बीच सशस्त्र सेना का पुनर्गठन अभी चल ही रहा था। इसके साथ ही लाखों व्यक्तियों को पाकिस्तान से भारत लाने में संरक्षण और अनुरक्षण देने का काम भी था और आन्तरिक सुरक्षा को बनाये रखने का सवाल अलग था। तीनों सेनाओं के मुख्यालय अभी मुश्किल से स्थापित ही हो पाये थे। वस्तुतः सारा रक्षा-संगठन गड़बड़ी की स्थिति में था। भारतीय सशस्त्र सेनायें किसी सैन्य सक्रिया के लिए अभी उपयुक्त हालत में न थीं। इस तरह परिस्थिति असम्भावित परिणामों की दृष्टि से संदिग्ध थी और संक्षेप में काश्मीर को सेना भेजने का निर्णय बड़ा ही साहसपूर्ण और ऐतिहासिक था। जैसा कि बाद में पता चला हमलावरों का २६ अक्तूबर को श्रीनगर पहुँचने का इरादा था। वस्तुतः उन्होंने घोषणा कर रखी थी कि जिन्ना लाहौर में प्रतीक्षा कर रहे थे और वे २६

अक्तूबर को श्रीनगर की मस्जिद में विजयोन्लासपूर्वक ईद का समारोह मनाना चाहते थे।

२७ अक्तूबर, १६४७ को सेना भेजने समय भारतीय सेना के अधिकारियों को यह भी भरोसा न था कि सेना सुरक्षापूर्वक श्रीनगर के हवाई अड्डे पर उतर भी पायगी या नहीं। इसलिए सेना की पहली टुकड़ी उड़ा कर श्रीनगर ले जाने वाले वायु सेना के पाइलटों को हिदायत दी गयी थी कि पहले यह देख लें कि हवाई अड्डा दुश्मनों के हाथ में तो नहीं पहुँच गया है, तभी विमान उतारें। इसलिए दिल्ली में विमानों पर चढ़ने वाले सैनिकों को यह भी ज्ञात न था कि वे कहाँ पर उतरेंगे।

सौभाग्य से श्रीनगर के हवाई अड्डे पर अभी दुश्मनों का कब्जा न हो पाया था और हमारे विमान हवाई अड्डे पर उतर सके। सेना की इस वीर टुकड़ी के कमांडर ले० कर्नल डी० आर० राय ने काफी सूझ-बूझ से काम लेते हुए सैनिकों की एक कम्पनी को हवाई अड्डे की सुरक्षा का भार सौंप दिया और दूसरी को हमलावरों का सामना करने के लिए आगे बढ़ाया, भले ही बढ़ने वाले हमलावरों की संख्या ज्यादा थी—३००० से ५००० के बीच। इस लड़ाई का फल यह हुआ कि हमलावरों का आगे बढ़ना रुक गया और इस बीच और अपेक्षित कुमुक आ गयी। कमांडर ने कश्मीर और देश के लिए अपने प्राणों की आहुति देकर देश के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया। बाद में उनको मरणोत्तर, नवस्थापित महावीर चक्र, प्रदान किया गया।

सैन्य-सक्रिया के लिए अपेक्षित आयोजना के या पहल की बात सैन्य हलकों के बाहर सामान्यत नहीं समझी जाती है। हर ब्यौरे की बात का पूर्वानुमान करके उसकी व्यवस्था की जाती है, सक्रिया चलाने की स्थूल स्ट्रैटेजी, मैदान में उतारे जाने वाले सैनिकों की संख्या और उनका स्वरूप, युद्ध के लिए प्रमुख समर्थक बल, संचार पथ का बनाये रखना, हताहतों का निष्क्रामण, रक्षितियाँ बनाये रखना आदि। ये सब चीजें यथासम्भव काफी पहले से तैयार करके रखी जाती है। ऐसी स्थिति में जब भारतीय सेना को कुछ घंटों में ही जा कर कश्मीर में लड़ने का आदेश दिया गया तो कितना खतरा उठाया गया, इसका कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। आयोजना की कमी और सक्रिया की आकस्मिकता के अलावा सन्चार और पूर्ति आश्वस्त रखने की कठिनाई भी कम न थी।

आरम्भ से ही यह बिलकुल स्पष्ट था कि तथाकथित कबाइली अपने आप कश्मीर में नहीं बढ़ रहे है। हमलावर मोटर-लारियों में आ रहे थे और अद्यतन शस्त्रास्त्र—ब्रेन गन, स्टेन गन, ग्रेनेड, भारी मॉर्टर, टैंकमार रायफलें, धरती की सुरंगें और असीमित संख्या में गोला-बारूद से सज्जित थे। उन्होंने जो कूटचाल और स्ट्रैटेजी दिखायी, उसमें विशेषज्ञों द्वारा बनायी गयी सैन्य-आयोजना का आभास मिलता था। जैसा कि बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गया, वस्तुत यह लड़ाई पाकिस्तानी सेना द्वारा लड़ी जा रही थी। आक्रमण के प्रवर्तकों ने स्पष्ट ही यह हिसाब लगाया था कि भारतवासी कानून-व्यवस्था बनाये रखने और हैदराबाद और जूनागढ़ की पहेलियों में उलझे हुए हैं और ऐसी हालत में भारत अपने को कश्मीर की लड़ाई में शामिल न करना चाहेगा। फिर भारत और कश्मीर के बीच सन्चार का कोई उपयुक्त साधन थल द्वारा है ही नहीं। सम्भारिकी का प्रश्न ही इतना विकट होगा कि भारत कश्मीर

में हस्तक्षेप करने की कोशिश न करेगा। वायुमार्ग से भी दिल्ली और श्रीनगर की दूरी ५०० मील है। थलमार्ग से भारत और श्रीनगर के बीच ३०० मील की पतली-सी सड़क है, जो अच्छे मौसम में ही चलती है। २०० मील लम्बी जम्मू-श्रीनगर सड़क भी बड़ी ऊबड़खाबड़ है, और पीरपंजाल की पहाड़ी पर वह ९२०० फीट की ऊँचाई से बनिहाल दर्रे में होकर गुजरती है, जिस पर काफी बर्फ पड़ती रहती है। ऐसी हालत में इतनी दूरी से कश्मीर में हस्तक्षेप एक बड़ी सशक्त वायुसेना के लिए भी बड़ा मुश्किल काम था। फिर कश्मीर में कड़ाके की बर्फीली सर्दी थी, पहाड़ी भूमि थी और अनेक भारतीय सैनिकों को बर्फ और पाला सहन करने कोई अनुभव न था। सबसे मुश्किल बात यह थी देश के उस हिस्से का ज्ञान लोगों को बहुत कम था, क्योंकि उस क्षेत्र का ब्यौरेवार सर्वेक्षण अभी तक हुआ ही न था। बहुत थोड़े से नक्शे उपलब्ध थे और वे भी पुराने पड़ गये थे।

यह सौभाग्य ही था कि भारतीय सेना कश्मीर में एक-दो दिन और बाद नहीं पहुँची, क्योंकि पूरी सम्भावना थी कि उस समय तक श्रीनगर हवाई अड्डा हमलावरों के हाथों में पहुँच जाता और इस तरह किसी भी सेना के लिए वहाँ उतरना असम्भव हो जाता। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में राज्य का भाग्य निश्चित हो था। सौभाग्य से रियासत की वीर परन्तु कम पड़ गयी सेना की एक छोटी टुकड़ी ने, जिसमें मुश्किल से १५० सैनिक थे, हमलावरों को दो दिनों तक उरी में रोके रखा और इस तरह उनका बढ़ना दो बहुमूल्य दिनों के लिए रोक दिया, हालांकि उनमें से प्रायः सभी खेत रहे। जब भारतीय सेना की पहली टुकड़ी कश्मीर में उतरी, तब हमलावर केवल ३५ मील दूर बारामूला तक पहुँच चुके थे और उनका श्रीनगर पहुँचना कोई भी न रोक सकता था।

इस सिलसिले में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जैसे ही जिन्ना ने सुना कि भारत ने कश्मीर का सम्मिलन स्वीकार कर लिया है और भारतीय सेना हवाई जहाजों से श्रीनगर आ रही है तो उसने तुरन्त पाकिस्तान सेना के कमांडर-इन-चीफ जनरल ग्रेसी को आदेश दे दिया कि वह शीघ्र कश्मीर में सेना भेज दें। पर उच्चतम कमांडर के अनुमोदन के बिना अनुदेश जारी करने में जनरल ने अपनी असमर्थता प्रकट की। फील्ड मार्शल आकिनलेक २८ अक्तूबर को प्रातः हवाई जहाज से लाहौर पहुँचे और उन्होंने पाकिस्तान के गवर्नर जनरल के सामने स्पष्ट कर दिया कि कश्मीर अब कानूनी तौर से भारत का क्षेत्र है और अगर अब पाकिस्तानी सेना कश्मीर में जाती है, तो जैसा कि पहले ही समझा जा चुका है, पाकिस्तानी सेना में काम करने वाले ब्रिटिश अफसरों को वापस बुलाना पड़ जायेगा। इस बात पर जिन्ना ने पाकिस्तानी सेना कश्मीर भेजने का आदेश रद्द कर दिया। फिर भी हालाँकि पाकिस्तानी सेना खुले आम आगे नहीं बढ़ी, पर सेना के सायन पक्की तरह से कश्मीर के आक्रमणकारियों के साथ रहे।

जम्मू और कश्मीर की लड़ाई का सिलसिला वर्णित करना इस पुस्तक का विषय नहीं है। इतना कहना ही काफी होगा कि पूर्ववर्णित अनुसार आयोजना की कमी और सब तरह की अड़चनों के बावजूद सेना और वायुसेना ने मिलकर श्रीनगर को बचा लिया, बल्कि हमलावरों को उनके कब्जे के प्रायः सभी क्षेत्रों से निकाल देने में भी सफलता प्राप्त की। वस्तुतः

१६४८ के अन्त तक पाकिस्तान की सेना प्रायः सभी मोर्चों पर पीछे हट रही थी। पर तभी १ जनवरी, १६४६ को भारत-पाक संयुक्त-राष्ट्र-आयोग द्वारा स्थापित शस्त्र-विराम लागू हो गया।

जम्मू और कश्मीर में भारतीय सेना को जो लड़ाई लड़नी पड़ी, वह एक नियमित युद्ध से कुछ भी कम न थी। स्वतन्त्र भारत में भारतीय सेना की यूनिटों द्वारा पहली बार इस सक्रिया में हिस्सा लिया गया था। थलसेना और वायुसेना के सभी व्यक्ति सहज देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत थे। पूरे संग्राम में हमारी सेनाओं ने अपनी सहन-क्षमता के बड़े उच्च स्तर का परिचय दिया। भारी सैन्य मोटर गाड़ियों के लिए अपार्य बनायी गयी सड़कों और धरती से होकर हमारी सेना टैंकों को ले गयी और उनको मोर्चों पर लगा दिया। भारतीय वायुसेना ने भी कश्मीर सक्रिया में ऐतिहासिक कार्य किया। यह आम विश्वास था कि स्पिट-फायर विमान श्रीनगर से सक्रियारत नहीं हो सकते, पर भारतीय वायुसेना के दो युवा पाइलटों ने लड़ाई के पहले तीन दिनों में सफलता और साहसपूर्वक श्रीनगर के हवाई अड्डे पर उतर कर और वहाँ से उड़ान भर कर इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर दिया। अगले मार्ग की बात पूंछ की पतली-सी हवाई पट्टी पर उतरना था, जिसके चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हैं। ऐसी पट्टी से सक्रिया करना बड़ी प्रवीणता और साहस का काम था। वस्तुतः उतरने के पहले जहाज को कई-कई बार चक्कर काटने पड़ते थे। इन सबसे भी ज्यादा साहस का करतब ग्रुप कैप्टेन (बाद में) एयर कमोडोर मेहर सिंह, डी० एस० ओ० (भारतीय वायुसेना) ने दिखाया, जिन्होंने दुनिया के सबसे ऊँचे पहाड़ों से होकर २३००० फीट की ऊंचाई पर से एक अमापित पहाड़ी वायुमार्ग से, आक्सीजन के बिना ही, अपने जहाज को ले जाकर, ११,५५८ फीट की ऊँचाई पर, लेह में एक सूखी नदी की तलहटी में उतार दिया, जहाँ पर हवाई पट्टी जैसी चीज भी न थी। लेह के ऊपर से होकर पहले न कोई विमान उड़ा था, न वहाँ उतरा ही था। हमारी सेना ने जम्मू और कश्मीर में जो साहस और वीरता के कार्य किये, उनके ये थोड़े से नमूने ही उदाहरण स्वरूप दिये गये हैं।

मनोबल के दृष्टिकोण से यह बड़ा महत्वपूर्ण था कि वीरता के इन कार्यों को मान्यता देने के हेतु उपयुक्त वीरता-पुरस्कार घोषित किये जायें। लेकिन २६ जनवरी, १६५० तक सांविधानिक कठिनाइयों के कारण इन पुरस्कारों की घोषणा न की जा सकी। स्वतन्त्र भारत में बाद में जो पुरस्कार चालू किये गये, उनका उल्लेख आगे किया गया है।

जम्मू और कश्मीर में हमारी सेना की सफलता के दूरगामी प्रतिफलों के वर्णन को अतिरंजित नहीं कहा जा सकता। यदि देर से पहुँचने पर या अन्य विपरीत परिस्थितियों में भारतीय सेना श्रीनगर को पहली बार में ही न बचा पाती, तो उसका प्रतिफल बड़ा ही कष्ट-कर हो जाता। भारत में सम्मिलन स्वीकार कर कश्मीर एक राज्य के रूप में देश के राज्य क्षेत्र का एक अनन्य अंग ही बन गया था। अगर दुर्भाग्य से राज्य पराजित हो जाता, तो सभी यही कहते कि भारत अपने राज्यक्षेत्र के एक अंग को सुरक्षित न कर सका। भारत में सम्मि-लित हो गयी अनेक देशी रियासतों का विश्वास डिग जाता और इसके फलस्वरूप विघटन की शक्तियाँ बलवती हो जातीं। स्वयं भारतीय सेना का मनोबल टूट जाता। यदि पाकिस्तान

अपने कुचक्र में सफल हो जाता, तो पूरे पाकिस्तान में, पाकिस्तानी सेना की विजय के रूप में, इस पूरे संक्रिया के लिए शानदार जश्न मनाये जाते। उस समय पाकिस्तान जोर-शोर से कहता कि यह पाकिस्तानी सेना का काम है। तब यह बात भारत-पाक संयुक्त-राष्ट्र-आयोग के सामने स्वीकारने के लिए न छोड़ दी जाती। शायद इससे पाकिस्तान को और भी बड़े दु साहस करने के लिए बल मिलता।

भारतीय राज्यों पर पड़ने वाले सम्भाव्य प्रभाव के उदाहरण के रूप में हैदराबाद को ही बात को लिया जा सकता है। निजाम और उसके सलाहकार कश्मीर, के प्रतिफलों पर बारीक निगाह रख रहे थे और भारत के लिए दुर्भाग्य की किसी घटना का इंतजार ही कर रहे थे। वस्तुत भारतीय सेना द्वारा कश्मीर में संक्रिया शुरू कर दिये जाने के बाद ही निजाम सरकार जान-बूझकर कुछ ढंडी पड़ी और भारत के साथ कुछ करार करने को तैयार हुई। पाकिस्तान भी भारत को साथ-साथ चार झमेलों में उलझाना चाहता था। अर्थात साम्प्रदायिक समस्या, जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर। साम्प्रदायिकता के नाग का फन अच्छी तरह कुचल दिया गया और उसे भारत में काबू में कर लिया गया। जूनागढ़ की समस्या का समाधान हो गया और कश्मीर को बचा लिया गया किन्तु हैदराबाद का प्रश्न अब भी निपटाना शेष रह गया था।

हैदराबाद मे सैनिक कार्रवाई

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, हालांकि भारतीय सेना अब भी कश्मीर संक्रिया मे सक्रिय रूप से उलझी हुई थी, फिर भी अगर भारत सरकार कहती तो उसे साथ ही हैदराबाद में कानून-व्यवस्था स्थापित करने के लिए भी तैयार रहना था। हैदराबाद की समस्या मे भी कई पेंच थे। उस राज्य के साथ २९ नवम्बर, १९४७ को यथा स्थिति करार हो जाने के बावजूद, दो लाख से ऊपर संख्या में सशस्त्र और आक्रामक रजाकारों ने पूरे राज्य में आतंक पैदा कर रखा था। उन्होंने कई बार सीमा पर भी हमले करके जनता को आतंकित किया। कानून-व्यवस्था इस सीमा तक बिगड़ चुकी थी कि आस-पास के राज्यों के पुलिस और असैनिक अधिकारी हैदराबाद के भीतर से होने वाले हमलों का मुकाबला करने मे अपने को असमर्थ पा रहे थे। भारतीय सेना कश्मीर में काफी उलझी हुई थी और यह समझा जाता था कि भारत अब अपने को हैदराबाद में गंभीर रूप से नहीं उलझायेगा। यह भी सुझाव दिया जाता था कि हैदराबाद में हस्तक्षेप के फलस्वरूप, सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे हो जाएँगे जो पूरे प्रशासन-तन्त्र को पूरी सीमा तक उलझा देने के लिए काफी होंगे।

हैदराबाद अपने को उग्र रूप से शस्त्र-सज्जित कर रहा था। तस्करी से शस्त्रास्त्र लाये जा रहे थे। इन सबके अलावा पाकिस्तान के रवैये के बारे में भी कुछ नहीं कहा जा सकता था। सब मिलाकर यह बड़ी संकटमय स्थिति थी। बाद में यह इतनी गम्भीर हो गयी कि एक दिन भी और ज्यादा बरदाश्त करना मुश्किल हो गया।

भारत सरकार के द्वारा बार-बार अनुरोध किये जाने के बावजूद, हैदराबाद सरकार न तो रजाकारों को विघटित करने के लिए तैयार हुई और न कानून-व्यवस्था स्थापित करने

के लिए भारतीय सैनिकों को वापस सिकन्दराबाद आने के लिए सुविधा देने को ही तैयार हुई। स्थिति सहिष्णुता से ऊपर जा चुकी थी, इसलिए भारतीय सेना से कानून-व्यवस्था स्थापित करने को कहा गया और तदनुसार भारतीय सेना ने १३ सितम्बर, १९४८ को ४ बजे प्रात राज्य की सीमा को पार करके कूच कर दिया। पुलिस कारंवाई ४½ दिनों में पूरी हो गयी और हैदराबाद की सेना ने १ सितम्बर, १९४८ को आत्म-समर्पण कर दिया।

पुलिस कार्रवाई के सफलतापूर्वक पूर्ण हो जाने पर उप-प्रधान-मन्त्री और गृहकार्य तथा राज्य-मन्त्री सरदार पटेल ने कहा, 'जिस तेजी और कुशलता के साथ ये सक्रियायें चलायी गयीं, उसकी सराहना हमारे उग्रतम आलोचक भी करेंगे। मुझे सन्देह नहीं कि इतिहास में इन सक्रियाओं की कार्यक्षमता, सगठन और सार्वत्रिक सहयोग के अनूठे प्रमाण के रूप में अंकित किया जायेगा। भारतीय सेना ने अपनी यशस्वी सफलताओं की कहानी में एक और अध्याय जोड़ा है ' उस समय भारतीय सेना के सामने जो तरह-तरह की समस्यायें थीं, अगर हम उनको ध्यान में रखें तो यह माना जायेगा कि इस सराहना में कोई अतिरंजना न थी। भारतीय वायुसेना ने भी टोह का काम करके और राज्य के हवाई अड्डों को अगम बना कर, इस सक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान दिया, क्योंकि सभी जानते थे कि ये हवाई अड्डे वायुमार्ग से बन्दूकें लाने के लिए इस्तेमाल किये जा चुके हैं।

मेजर जनरल जे० एन० चौधरी को, जो उस प्रथम आर्मर्ड डिवीजन के जनरल अफसर कमांडिंग थे (जिसने हैदराबाद में कूच किया था), सैन्य-राज्यपाल नियुक्त किया गया और उनका पहला काम कानून-व्यवस्था स्थापित करना था। थोड़े से ही समय में राज्य में शान्ति-व्यवस्था और सामान्य जन-जीवन स्थापित करके, सैन्य-राज्यपाल के प्रशासन ने बड़ा ही सराहनीय काम किया। हैदराबाद के भारत में सम्मिलन के बाद भारत डोमीनियन पहली बार एकीकृत देश बन गया। इस तरह १९४७ और १९४८ के वर्षों में देश की एकता और स्वाधीनता को समेकित और सुदृढ बनाया गया।

पुलिस कार्रवाई चालू करते समय भारतीय सैन्य अधिकारियों को सभी स्थलों पर सम्भावित परिस्थितियों का ध्यान रखना पड़ा और हर तरह की घटनाओं का मुकाबिला करने के लिए तैयार रहना पड़ा। उस समय हैदराबाद में जो हालत थी, उसे देखते हुए कुछ लोगों ने बढ़-चढ़ कर अन्दाजे लगाये थे कि रजाकार-सेना जमकर प्रतिरोध करेगी और युद्ध काफी समय चलेगा। भारतीय सेना के लिए पर्याप्त जनशक्ति आश्वस्त करने की दृष्टि से गवर्नर जनरल ने राष्ट्रीय सेवा (अस्थायी और सेवामुक्त व्यक्ति) अध्यादेश, १९४८ (१९४८ का २३वां) ११ सितम्बर, १९४८ को प्रवर्तित किया।

इस अध्यादेश के अधीन भारतीय सेवा में अस्थायी तौर पर काम करने वाले हर व्यक्ति को राष्ट्रीय सेवा के लिए रोक लिये जाने का दायी बनाया गया था, भले ही उसकी सेवा खत्म कुछ भी हो। साथ ही ४५ वर्ष की आयु तक के प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जिसे भारतीय सेना से १ जनवरी, १९४६ को या उसके बाद सेवा-मुक्त किया गया हो, तब तक राष्ट्रीय सेवा के लिए बुला लिये जाने का दायी बनाया गया था, जब तक कि वह बुलाये जाने के समय सरकार के किसी विभाग में असैनिक हैसियत से काम न कर रहा हो। असैनिक बैंक

नौकरियों में काम कर रहे सेवामुक्त व्यक्तियों के हितों की रक्षा करने की दृष्टि से अध्यादेश ने असैनिक नियोक्ता के लिए यह बाध्यकर बना दिया कि वह ऐसे सेवामुक्त व्यक्तियों को उनकी राष्ट्रीय सेवा समाप्त होने पर अन्यून अनुकूल वैसी ही शर्तों के अधीन पुन नौकरी देगा, जो उनके लिए नौकरी में यह बाधा न पड़ने की दशा में उनके ऊपर लागू रहती। १५ सितम्बर, १९४८ को गवर्नर जनरल ने लोक-सुरक्षा अध्यादेश भी लागू किया, जिसने केन्द्रीय और राज्य सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों में सामान्यत भारत-रक्षा नियमों जैसे नियम बनाने के लिए प्राधिकृत कर दिया। ये दोनों अध्यादेश छ महीने बाद खत्म हो गये। जिन परेशानियों का सामना करने के लिए उनको लागू किया गया था, वे उस समय तक दूर हो चुकी थीं।

चौथा अध्याय

रक्षानीति का निर्माण

खण्ड—१ भारत का तन्त्र

सत्ता-हस्तान्तरण से पहले भारत की रक्षा-नीति ब्रिटिश साम्राज्य की नीति का अंग थी और भारत की सशस्त्र सेनाओं की संख्या साम्राज्य की रक्षा की योजना में उसकी भूमिका के सन्दर्भ में तय की जाती थी। स्वतन्त्र होने पर भारत को अपनी नयी रक्षा-नीति तैयार करनी पड़ी और अपनी परिस्थितियों और साधनों के अनुसार अपनी रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का निर्धारण करना पड़ा। इस प्रयोजन से पहला काम रक्षा-सेनाओं का आकार-रचना और संगठन तय करना था। ऐसा करने में नये स्वतन्त्र राज्य के सामाजिक उद्देश्यों और उसकी रक्षा सन्नद्धता के बीच एक सन्तुलन अवश्य तय करना था।

किसी राज्य के राजस्व पर कुछ प्रभार अनन्य तरीके के होते है। पहले राष्ट्रीय ऋण का ब्याज चुकाने के लिए पैसे की व्यवस्था करनी होती है, फिर पेन्शन सम्बन्धी खर्च और फिर देश के असैनिक प्रशासन पर अत्यावश्यक व्यय। समाज-सेवाओं के लिए भी कुछ रकम अलग रखनी होती है। इसलिए रक्षा-व्यय के लिए उपलब्ध शेष रकम सामान्य हालतों में इस तरह सीमित रहती है। लेकिन जब देश की सुरक्षा को बाहरी आक्रमण का खतरा हो जाता है, तो रक्षा व्यय के साथ निश्चय ही वरीयता का व्यवहार किया जाता है।

निश्चय ही यह तय करना कोई आसान बात नहीं है कि किस चीज को सुपर्याप्त सशस्त्र शक्ति कहा जा सकता है। सुपर्याप्तता केवल एक सापेक्ष चीज हो सकती है, जो देश की सुरक्षा के खतरे के स्वरूप और शक्ति पर निर्भर है। लेकिन भले ही देश की सुरक्षा को बाहरी आक्रमण का कोई तत्काल खतरा न हो, सामान्य बुद्धिमानी का तकाजा है कि देश में थल सेना उसके सीमान्त की रक्षा करने के लिए काफी संख्या में होनी चाहिए। नौसेना यूनिटें उसकी तटरेखा की रक्षा के लिए और वायुसेना वायु-पट्टी की रक्षा के लिए सुपर्याप्त होनी चाहिये। सेना, नौसेना और वायुसेना की संख्या का अनुमान एकीकृत आधार पर लगाना होगा और उसके बाद इस प्रकार की रक्षा-सेनाओं को खड़ा करने और उनका सन्धारण करने के लिए पैसे की व्यवस्था करनी होगी। राज्य के उद्देश्यों की ओर विभिन्न कल्याण योजनाओं के लिए पैसा जुटाने की सामान्य योजना में चाही गयी धनराशि को अत्यधिक समझा जा

सकता है। पर रक्षा के प्रयोजन मे जरूरी रकम मे इतनी कटौती करना बुद्धिमानीपूर्ण न होगा कि उससे देश की बाह्य सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाय। इसलिए यह फैसला करना मन्त्रि-मण्डल का काम है कि रक्षा के लिए कितना पैसा दिया जा सकता है।

एक बार यह तय हो जाने के बाद पैसे को तीनो सेनाओ के बीच उपयुक्त रूप से बाँटना होगा। ऐसा करने में भी, सेनाओं के संगठन के बारे में विभिन्न सामान्य सिद्धान्तो को भी तय करना होगा। सेना छोटी-सी सख्या में कम पर काफी यन्त्र-सज्जित हो सकती है, जिसमे रजिति की सख्या काफी हो, अथवा वह एक काफी बडी सेना हो सकती है, जिसे साधारण शस्त्रास्त्रो से सज्जित किया जाय। यह तय करना होगा कि उसको कवचित गाडियो म भारी टैंक, बिचले टैंक या छोटे आकार के टैंक होगे या सब तरह के, और ऐसी स्थिति मे उनका अनुपात क्या होगा। नौसेना में केवल व्यापारिक बेडे के सरक्षण के लिए उपयोगी पोत हो सकते है या वह बडे-बडे जहाजो से सज्जित हो सकता है, जो तट से काफी दूर रह कर भी रक्षात्मक और आक्रामक दोनो ही प्रकार की कार्रवाई कर सकते है। वायुसेना की भूमिका भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है, जिसमे सेना को निकट से सहायता देना भी शामिल है। इसकी रचना को भी फाइटरो, बमबारो, टोह वाला और परिवहन वाले विमानो की सख्या के रूप में तय करना होगा। यह प्रश्न भी उठेगा कि कितनी सख्या मे क्षेप्यास्त्र (मिसाइलें) फाइटरो का स्थान ले लेंगी। ये उच्चस्तरीय स्त्रातेजी का निदर्शन करने वाले कुछ उदाहरण हैं, जिन पर सैन्य विशेषज्ञो के परामर्श से ध्यानपूर्वक विचार करना होता है। इनमे से कुछ निर्णयो के दूरगामी वित्तीय आलेपन भी होगे, जो उतने साल तक रहेंगे, जितने सालो मे इनकी कार्यान्विति करनी हो।

सैन्य विशेषज्ञ हमेशा यह माँग करेंगे कि रक्षा-सेनाओ की पकार्यगत कार्यक्षमता के लिए कुछ न्यूनतम आवश्यकताओं का समाधान तो करना ही होगा। लेकिन एक बार सैन्य-स्त्रातेजी का विश्लेषण हो जाने के बाद अन्तिम फैसला व्यापक राजनीतिक समस्याओ के आधार पर ही अनिवार्यत किया जायेगा।

सारी दुनिया मे होने वाले विभिन्न विकासो, पडोस के देशो पर उनके प्रभाव और फिर अन्तत स्वय अपने देश पर उनके प्रभाव के आलेपनो को भी ध्यान मे रखना होगा। इस ज्ञान और उपलब्ध सैन्य-आसूचना के आधार पर सरकार देश की सुरक्षा के लिए सम्भव खतरे का निर्धारण कर सकेगी और यह कि किस तरह यह साकार रूप ग्रहण करेगा, कब करेगा और उसकी क्या सम्भाव्यतायें होगी, आदि। इन बातों की पृष्ठभूमि में ही यह निर्णय करना होगा कि सशस्त्र सेना को कितनी संख्या बनाये रखी जाय, उसे किस तरह गठित किया जाय, उसका विन्यास किस तरह किया जाय और तीनो सेनाओ की अलग-अलग भूमिका क्या हो। अन्य गौण प्रश्नो पर भी ध्यान से विचार करना होगा। यह ठीक है कि हमेशा दीर्घ-कालीन-आयोजना बनायी जानी चाहिये, लेकिन रक्षा-सन्नद्धता एक स्थिर चीज नहीं हो सकती। बदलती परिस्थितियो में लगातार समीक्षा करते रहना जरूरी होगा।

सरकार के सैन्य सलाहकारो को विदेश-मामलो के विशेषज्ञो से सलाह लेनी चाहिये। किसी देश की विदेशनीति भी अक्सर बहुत सीमा तक उसकी रक्षा-सम्भाव्यताओ पर निर्भर

रहती है। नैतिक या सैन्य शक्ति के बिना किसी देश की बात विश्व-समस्याओं पर प्रभावी रूप से नहीं सुनी जा सकती। किसी देश की विदेश नीति को भी इस तरह समजित करना होगा कि वह देश को समय से पूर्व युद्ध में न फँसा दे। भले ही संघर्ष अन्तत अनिवार्य मालूम पड़ने लगे, पर सुपर्याप्त लड़ाकू शक्ति पहले विकसित कर लेनी चाहिये। वाइकाउंट टैम्पुलवुड ने अपनी पुस्तक 'नाइन ट्रबुल्ड ईयर्स' में १९३८ में जर्मनी के प्रति इंगलैण्ड के रवैये की चर्चा करते हुए एक बड़ी ही रोचक बात कही है कि उस समय इंगलैण्ड जर्मनी की सशस्त्र शक्ति के साथ खुला संघर्ष करने के लिए तैयार न था। स्टाफ-प्रमुखों का विचार था कि ब्रिटेन युद्ध के लिए तैयार नहीं है और वह समर्थ मित्र राष्ट्रों की मदद के बिना तीन मोर्चों पर (जर्मनी, इटली और जापान से) नहीं लड़ सकता, और न वह शत्रुतापूर्ण पड़ोसियों से घिरी और पूर्ति-रेखा से अलग-थलग चैकोस्लोवाकिया की २५०० मील लम्बी सीमा का ही संरक्षण कर सकता है। इसलिए ब्रिटेन के सैन्य कार्यक्रम के पूरा होने तक समय टाल देने की जरूरत सबसे बड़ी थी। इसलिए म्यूनिख में शान्ति की बातचीत चलाते हुए तथा आस्ट्रिया और चैकोस्लोवाकिया में जर्मनी का कूच बरदाश्त करते हुए, ब्रिटेन ने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने के लिए तेजी से कदम उठाये और जब सैन्य विशेषज्ञ उसकी युद्ध-सन्नद्धता के बारे में युक्तिसंगत रूप में सन्तुष्ट हो गये, तभी जर्मनी को यह अल्टीमेटम दिया गया कि पोलैण्ड की राज्य-सीमा की अखण्डता के उल्लंघन का अर्थ ब्रिटेन से युद्ध होगा।

सैन्य दृष्टि से जो सम्भव है, वह राजनीतिक दृष्टि से इष्टकर नहीं भी हो सकता। सैन्य उपायों से एक दुर्बल देश को दबाने का प्रयास करने वाली एक बड़ी शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय भावना अपने प्रतिकूल कर सकती है और अपने खिलाफ विरोध तक खड़ा कर सकती है। १९५६ में ब्रिटेन और फ्रान्स द्वारा स्वेज नहर वाले झगड़े का उदाहरण दिया जा सकता है।

सरकार के निर्णय को रूप देने में जनमत का भी काफी योगदान होता है। कभी-कभी सैन्य-स्ट्रातेजी के भी ऊपर राजनीतिक बातों को ज्यादा महत्व देना पड़ जाता है। उदाहरण के लिए अक्तूबर, १९४७ में एक बार कश्मीर के भारत में सम्मिलित हो जाने के बाद, फिर भारी सैन्य खतरे के बावजूद, भारत का जनमत कश्मीर में सेना भेजे बिना और किसी बात से शान्त न होता। साथ ही कोई भी उत्तरदायी सरकार केवल जनमत की बाढ़ में नहीं बह जाना चाहेगी, जो हमेशा पूरी तरह से घटनाओं की पृष्ठभूमि और उनके आलेपनों के बारे में उतना जानकार नहीं हो सकता जितनी कि सरकार हो सकती है। ऐसी परिस्थितियों में स्वयं राज्य के हित में जनमत को ही अधिभावी तत्व नहीं माना जा सकता। ये सब बातें केवल यही सिद्ध करती है कि विदेश-नीति और रक्षा-नीति का चोली-दामन का साथ होता है। रक्षा और विदेश मन्त्रालयों को, मन्त्रिमण्डल के सर्वोपरि उत्तरदायित्व के अधीन रहते हुए, पूरे-पूरे सहयोग और सहकार के साथ काम करना चाहिये।

ऊपर का विश्लेषण शान्तिकालीन हालत के सन्दर्भ में है, जब कि दीर्घकालीन नीति शान्तिपूर्वक बनायी जा सकती है। आपातकाल में तो कोई भारी महत्व के निर्णय तभी प्रभावी होंगे, जब पूरी तेजी के साथ ही निर्णय किये जायेंगे। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्न दृष्टियों से स्थिति की समीक्षा किये बिना जल्दबाजी में निर्णय कर लिये जायें। एक बात तो

स्पष्ट है ही कि ज्यादा संख्या में सशस्त्र सेनायें खड़ी करने का मतलब होगा कि करदाता से ज्यादा पैसा इकट्ठा किया जाय। यह वित्त-मन्त्री की जिम्मेवारी है। विधि व्यवस्था बनाये रखना और वाह्य आक्रमण की आशंका के समय राष्ट्र के मनोबल को परिरक्षित रखने का भी बड़ा महत्व है और यह गृह-मन्त्री का काम है। आपात में बड़े पैमाने पर सेनाओं का गमनागमन जरूरी हो जाने पर परिवहन और रेलवे के भारसाधक मन्त्री को भी तैयार करना होगा। इसके अलावा रक्षा-सेनाओं के क्रियाकलाप का कई अन्य क्षेत्रों जैसे खाद्य-पूर्ति, वस्त्र आदि पर भी असर पड़ता है। जब युद्ध वस्तुतः छिड़ जाता है, तो देश के सारे साधनों को संगठित करना होता है। ऐसे आपात में निर्णय लेने वाले अन्तिम प्राधिकार में जितने कम लोग होंगे (निश्चय ही संसद के प्रति अन्तिम रूप से उत्तरदायी होते हुए) उतना ही ज्यादा तेजी से ये निर्णय लिये जा सकेंगे। जब घटनाएं तेजी से चलने लगती हैं, तो दैनन्दिन विकासों और तत्काल करणीय कार्रवाई पर विचार करने के लिए पूरे मन्त्रि-मण्डल की बैठकें बुलाना सम्भव नहीं भी हो सकता। साथ ही प्रतिफल इतने दूरगामी होते हैं कि उन पर अकेले रक्षा-मन्त्री को, अपने साथियों से परामर्श लिये बिना, फैसला करना उसकी क्षमता से परे होगा।

मन्त्रिमण्डल की रक्षा-समिति

अगस्त-सितम्बर, १९४७ में भारत को ऐसी ही आपात-स्थिति का सामना करना पड़ा। उस समय एक उच्चतर रक्षा-नियन्त्रण-तन्त्र की आवश्यकता समझी गयी जो सरकार की ओर से निर्णय करने के लिए सक्षम हो। ३० सितम्बर, १९४७ को यह निर्णय किया गया कि मंत्रि-मण्डल की एक रक्षा-समिति बनायी जायेगी, जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होंगे (जो विदेश मन्त्री भी थे) और उपाध्यक्ष उप-प्रधान-मन्त्री (जो गृह-मन्त्री, राज्य-विषयक-मन्त्री और सूचना-प्रसारण-मन्त्री भी थे) होंगे, वित्त-मन्त्री और रक्षा-मन्त्री उसके सदस्य होंगे। दूसरे मन्त्रियों को भी जरूरत पड़ने पर सहयोजित कर लिया जाता था। यद्यपि समिति एक आपात में बनायी गयी थी, पर इसका मतलब यह नहीं कि ऐसी समिति केवल संकट-काल में ही जरूरी है। निर्णयों में क्षिप्रता और उच्चस्तर पर समन्वय की दृष्टि से ऐसे प्राधिकार की जरूरत हर समय बनी रहेगी।

वस्तुतः जब १९४६ में अन्तरिम मन्त्रिमण्डल बना था, तो उसी समय मन्त्रिमंडल की रक्षा-समिति बनाने का प्रस्ताव उठा था, पर मुसलिम लीग के प्रतिनिधियों द्वारा फैलाये गये इस भ्रम के फलस्वरूप कि अन्तरिम सरकार में संयुक्त उत्तरदायित्व जैसी कोई चीज नहीं है, प्रस्ताव को आगे न बढ़ाया गया। लार्ड माउण्टबेटन ने सितम्बर, १९४७ में यह सुझाव फिर से दिया और इसके ब्यौरे लार्ड इस्मे ने तैयार किये जो उस समय गवर्नर-जनरल के स्टाफ प्रमुख थे। लार्ड इस्मे को इगलैण्ड के मन्त्रिमण्डल की रक्षा-समिति के सचिव के रूप में युद्धकाल का काफी अनुभव था और जैसा सुविदित है इस समिति ने बड़ी सक्षमता से काम किया था। लेकिन भारत की मन्त्रि-मण्डल-रक्षा-समिति इगलैण्ड की समिति का अनुकरण मात्र न थी। इसे भारत की स्थिति के अनुसार अनुकूलित किया गया था (दूसरे देशों में उच्चतर रक्षा

नियन्त्रण के लिए जो तन्त्र है, उसका संक्षिप्त लेखा-जोखा इस अध्याय के अन्त में दिया गया है)।

मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति मन्त्रि-मण्डल की ओर से दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों ही प्रकार की रक्षा-नीतियों का निर्माण करती है और जहां आवश्यक समझती है, प्रतिवेदन मन्त्रि-मण्डल को भेज देती है। व्यवहारतः मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति सभी प्रयोजनों से रक्षा के सम्बन्ध में सरकार का काम निभाती है। तीनों सेनाओं के प्रमुख समिति की सभी बैठकों में उपस्थित रहते हैं, ताकि चर्चा के समय उठने वाली विभिन्न बातों के बारे में उनकार उनका सैन्य दृष्टि से परिचय और स्पष्टीकरण दे सकें। साथ ही रक्षा-मन्त्रालय के सचिव और वित्तीय सलाहकार (रक्षा) भी उपस्थित रहते हैं, ताकि प्रशासनिक या वित्तीय दृष्टिकोण से किसी भी बात का स्पष्टीकरण दे सकें।

रक्षा-समिति की रचना में समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहे हैं।

चलते-चलते यह भी बता दिया जाय कि यही एकमात्र मन्त्रि-मण्डलीय उपसमिति नहीं है। कुछ और उपसमितियां काम को ज्यादा सुविधा से निपटाने के लिए बनायी गयी हैं, जैसे आर्थिक समिति, विदेश समिति, आदि।

रक्षा-मन्त्री की समिति

अन्तरिम सरकार बनाते समय रक्षा सदस्य की जो समिति बनायी गयी थी, वह सत्ता-हस्तान्तरण के बाद रक्षा-मन्त्री की समिति बन गयी। रचना में थोड़े से परिवर्तन के बाद इसे मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति की योजना के साथ जोड़ दिया गया। पहले केवल कमांडर-इन-चीफ ही रक्षा-मन्त्री की समिति के सदस्य थे, अब तीनों ही सेनाओं के प्रमुख रक्षा-मन्त्री की समिति के सदस्य बन गये हैं। इस तरह समिति की रचना अब इस तरह है (रक्षा-मन्त्री (अध्यक्ष), तीनों सेनाओं के प्रमुख, रक्षा-सचिव और वित्तीय सलाहकार। समिति मन्त्रिमण्डल की रक्षा समिति के समक्ष रक्षा सम्बन्धी मामलों में ऐसी आयोजनायें और कागज पत्र भेजती रहती है, जिन पर मन्त्रि-मण्डल का अनुमोदन अपेक्षित होता है। समिति स्वयं दो या तीनों सेनाओं से संयुक्त रूप से सम्बद्ध उन सभी महत्वपूर्ण मामलों का निर्णय करती रहती है, जो इतने महत्व के नहीं होते कि मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति के पास भेजना जरूरी हो।

१९४८ में रक्षा-सचिव की अलग-अलग समितियां नौसेना, थलसेना और वायुसेना के के लिए बनायी गयीं। इन सभी समितियों का अध्यक्ष रक्षा-सचिव है और सम्बन्धित सेना-प्रमुख, वित्तीय सलाहकार और मन्त्रालय के सम्बन्धित संयुक्त-सचिव इनके सदस्य होते हैं। ये समितियां सम्बन्धित सेना विषयक प्रशासनिक और नीति के प्रश्नों पर विचार करती हैं। फिर जुलाई, १९४९ में यह तय किया गया कि इन समितियों को सेना, नौसेना और वायुसेना सम्बन्धी रक्षा-मन्त्री की समितियों में बदल दिया जाय और रक्षा-मन्त्री इसके अध्यक्ष हों और सम्बन्धित सेना के प्रमुख, रक्षा-सचिव और वित्तीय सलाहकार उनके सदस्य।

नये ढांचे में दूसरी ज्यादा महत्वपूर्ण समिति स्टाफ प्रमुखों की समिति थी, जिसमें तीनों सेनाओं के प्रमुख हैं। स्टाफ-प्रमुख सामूहिक रूप से सरकार के व्यावसायिक सैन्य सलाहकार

है। वे सैन्य आयोजनायें तैयार करने और सामान्यत सरकार को रक्षा सम्बन्धी समस्याओ पर सलाह देने के लिए उत्तरदायी है। युद्धकाल मे वे सरकार के नियन्त्रण के अधीन सैन्य-सक्रिया के निर्देशन के लिए जिम्मेवार होते है। रक्षा-तन्त्र मे इस समिति का महत्व निर्विवाद है। तीनो सेनाओ मे बीच समन्वय के एक महत्वपूर्ण सूत्र की भूमिका निभाने के अलावा, सैन्य समस्याओ के बारे मे स्टाफ प्रमुख सामूहिक रूप मे उच्चतम व्यावसायिक सलाह देते है और ऐसा करने में अन्त-सेवा-सहकार की समस्याओ का पूरा ध्यान रखते है। वही सरकार के आदेश सक्रिया कमाडरो तक पहुचाने के माध्यम भी होते है। स्टाफ प्रमुख समिति की हैसियत से तीनो सेनाओ के प्रमुख सैन्य आयोजन बनाने और फिर सरकार द्वारा अनुमोदित रूप में उसे कार्यान्वित करने के लिए भी जिम्मेवार होते है। प्रत्येक सेना का प्रमुख मन्त्रालय को अपनी सेना के बारे मे व्यावसायिक सलाह देने के लिए और फिर सरकार के आदेशानुसार उसे प्रशासित करने के लिए व्यक्तिश जिम्मेवार होता है। भारत मे स्टाफ प्रमुख समिति का कोई अलग अध्यक्ष नहीं होता। जो सदस्य समिति मे सबसे पुराना होता है, वही अध्यक्ष होता है।

रक्षा-मन्त्री की समिति और स्टाफ-प्रमुख-समिति के अधीनस्थ नीचे लिखी विशेष समितियाँ भी दिसम्बर, १९४७ में गठित की गयी थी —

संयुक्त आयोजना-समिति

संयुक्त प्रशासनिक-आयोजना-समिति

संयुक्त आसूचना-समिति

सेना-सचार-समिति (बाद मे १९५७ मे इसकी जगह पर संयुक्त संचार इलेक्ट्रानिकी समिति बनाई गयी)

प्रमुख कार्मिक-अधिकारी-समिति

प्रमुख पूर्ति-अधिकारी-समिति

नये शस्त्रास्त्र और नये उपस्करो के उत्पादन और पूर्ति सम्बन्धी समिति।

बाद में ऐसी ही और भी समितियां बनायी गयी, नामत चिकित्सा-सेवा-सलाहकार-समिति (अगस्त, १९४८), संयुक्त प्रशिक्षण-समिति (सितम्बर, १९४८) संयुक्त समुद्र वायुयुद्ध-समिति (जनवरी, १९५१) और अन्त सेवा-उपस्कर-नीति-समिति (जून, १९६०)। इन समितियों के नामो द्वारा स्थूल रूप मे उनके कृत्यों की भी झांकी मिल जाती है। ये सभी अपने स्वरूप मे अन्त-सेवा है, ताकि उनकी सिफारिशो के पीछे तीनो सेनाओ के दृष्टिकोण का बल रहे।

इन सभी समितियो के सचिवालय कार्य की व्यवस्था (संयुक्त सचार इलेक्ट्रानिकी समिति, चिकित्सा-सेवा-सलाहकार-समिति और १९६२ मे संयुक्त आसूचना-समिति को छोडकर) मन्त्रि-मण्डल-सचिवालय द्वारा की जाती है, जिसमें इस उद्देश्य से अक्तूबर, १९४७ में एक अलग सैन्य स्कन्ध बनाया गया था। इस स्कन्ध का भारसाधक मन्त्रि मण्डल का उपसचिव (सैन्य) है और वह ब्रिगेडियर के पद (या समतुल्य, क्योंकि इस पद पर तीनों सेनाओ के लोग क्रम से रहते है) का होता है और वह मन्त्रि-मण्डल सचिव के प्रशासनिक नियन्त्रण में

रहता है। इस व्यवस्था मे समन्वय ज्यादा अच्छा रहता है। फिर सैन्य स्कन्ध मे सेना के अधिकारियों के रहने से आवश्यक सैन्य-पृष्ठ-भूमि की भी व्यवस्था हो सकती है।

रक्षा-विज्ञान नीति बोर्ड और रक्षा-विज्ञान सलाहकार समिति का, जो अगस्त, १६४८ मे बने, उल्लेख वैज्ञानिक अनुसधान वाले अध्याय मे किया गया है।

अन्त -सेना-निर्माण-अग्रता-समिति

अन्त -सेना-निर्माण-अग्रता-समिति की स्थापना भी जनवरी, १६४७ में की गयी थी, जिसके अध्यक्ष रक्षा-सचिव है और तीनो सेनाओं के प्रमुख, वित्तीय सलाहकार और इजीनियर-इन-चीफ इसके सदस्य है। इस समिति का कार्य है कि पूंजी व्यय के लिए उपलब्ध रकम तीनो सेनाओ के बीच बॉट देना और तीनो सेनाओ की विभिन्न निर्माण प्रायोजनाओ के सापेक्ष महत्व और अविलम्बनीयता पर विचार करना और इस क्रम में अग्रतायें निर्धारित कर देना कि सीमित इजीनियरी ससाधन पूर्णत लाभप्रद रूप मे प्रयुक्त किये जा सकें।

इन विभिन्न समितियो की स्थापना से एक समन्वयकारी अभिकरण के रूप मे रक्षा-मत्रालय की जिम्मेवारी समाप्त नहीं हो जाती। अन्तत मन्त्रालय ही रक्षा-सम्बन्धी सभी नीति के प्रश्नो पर सरकार के निर्णय प्राप्त करने, उनको तीनो सेनाओ के मुख्यालयो तक पहुँचाने और उनके द्वारा उनकी कार्यान्विति की जांच रखने के लिए जिम्मेवार है। उपयुक्त मामले में यह सन्दर्भो को स्टाफ प्रमुखो की समिति या सम्बन्धित निम्नतर अन्त -सेना समिति के पास भेज देता है, जब कि कभी तीनो सेनाओ की समन्वित राय अपेक्षित होती है। मन्त्रालय मे रक्षा-मन्त्री की समिति या मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति सम्बन्धी कागज-पत्र हर मामले के स्वरूप के अनुसार तैयार कराये जाते है। सेना-मुख्यालय अपने कागज-पत्र सीधे रक्षा-मन्त्री की समिति के पास नही भेजते। फिर रक्षा-मन्त्रालय ही मन्त्री के अनुमोदन पर मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति के विचारार्थ प्रस्ताव भेज सकता है। सेना मुख्यालय अन्त -सेना प्रकार के अपने आन्तरिक-प्रस्ताव आदेश स्टाफ-प्रमुखो के पास भेजते है। जहाँ आवश्यक होता है, स्टाफ प्रमुख अपने प्रस्ताव मन्त्रालय के पास भेज देते है।

हालांकि इस बारे मे कोई पक्के अनुदेश विद्यमान नही है, पर यह माना जाता है कि स्टाफ-प्रमुख मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति तक पहुँच सकते है। बीच-बीच मे प्रधान मन्त्री उनको बुलाते रहते हैं, जब उस सेना के सामान्य हित के मामले पर चर्चा की जाती है।

रक्षा-मुख्यालय में विभिन्न समितियों की स्थापना ने कार्य को ज्यादा तेजी से निपटाने मे काफी सहायता दी है। उनकी उपयोगिता स्वभावत इस बात पर निर्भर है कि इस बात को सही-सही तरह से समझ लिया जाय कि किस प्रकार के मामले और किस प्रक्रम में उसके पास भेजे जावें। समितियों का अभिप्राय यह नही कि वे फाइलो पर चर्चा का स्थान ले लें, बल्कि वे इसलिये खड़ी की गयी हैं कि अनावश्यक रूप से इस तरह समय बरबाद न किया जाय, वे इसलिये हैं कि लालफीताशाही कम-से-कम रहे और काम का निपटान तेजी से और सन्तोषजनक रूप से किया जाय। साथ ही रक्षा-मन्त्रालय, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) और तीनो सेना-मुख्यालयो के अधिकारियों के बीच विभिन्न स्तरो पर जो सम्पर्क इस तरह स्थापित हो जाते है, उन्होने एक

दूसरे की भूमिका और समस्याओं को ज्यादा अच्छी तरह से समझने और परस्पर गुंजाइश की भावना से विभिन्न दृष्टिकोणों को देखने में बहुत मदद दी है। सिंहावलोकन के रूप में यह कहा जा सकता है कि समिति प्रणाली के सन्तोषप्रद कार्यकरण के अभाव में इस बहुत सारे काम का मुकाबला करना सम्भव न होता, जो सत्ता-हस्तान्तरण के बाद सभी सम्बन्धित लोगों के ऊपर आकर पड़ गया। १९४७ में उच्चतर-रक्षा नियन्त्रण-तन्त्र का निरूपण स्थूल रूप में आरेख-२ में किया गया है।

सितम्बर, १९५९ में रक्षा-मन्त्री की समिति को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। रक्षा-मन्त्री की अन्त सेना-समिति (क) और (अन्त सेना) समिति (ख)। रक्षा-मन्त्री की समिति (ग) की स्थापना सितम्बर, १९६० में की गयी। रक्षा-मन्त्री इन समितियों के अध्यक्ष हैं और उनके अलावा इनमें से प्रत्येक में रक्षा-उत्पादन-मन्त्री, रक्षा-उप-मन्त्री, रक्षा-सचिव, तीनों सेना प्रमुख और वित्तीय सलाहकार (रक्षा) होते हैं। रक्षा-मन्त्री की अन्त-सेना-समिति (क) रक्षा विषयों सम्बन्धी आयोजनाओं और कागज-पत्रों को निपटाती है (कल्याण, छावनी और निर्माण विषयों को छोड़ कर), समिति उन सभी विषयों पर निर्णय देती है, जो इतने ज्यादा महत्व के नहीं होते कि उनको मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति के पास भेजा जाय और जिन के बारे में कार्य-सम्बन्धी नियमों के द्वारा ऐसी अपेक्षा नहीं की जाती। अन्त-सेना-समिति (ख) सेना कार्मिकों की कल्याण समस्याओं, भूमि और छावनियों, और विभिन्न कल्याण निधियों के नियन्त्रण और प्रबन्ध सम्बन्धी सभी नीति के प्रश्नों का निर्णय करती है। अन्त-सेना-समिति (ग) तीनों सेनाओं सम्बन्धी निर्माण-कार्यों और निर्माण सम्बन्धी मामलों को निपटाती है। वैज्ञानिक सलाहकार को १९६३ में इन समितियों का सदस्य बनाया गया।

रक्षा-मन्त्री की सेना-समिति, नौसेना-समिति और वायुसेना-समिति सेना-विशेष सम्बन्धी प्रमुख नीति के ऐसे प्रश्नों पर विचार करती रहती है, जिनका दूसरी सेनाओं से सम्बन्ध नहीं होता। रक्षा-मन्त्री के अलावा रक्षा-उत्पादन-मन्त्री, रक्षा-उप-मन्त्री, रक्षा-सचिव, सम्बन्धित सेना प्रमुख और वित्तीय सलाहकार इन समितियों के सदस्य होते हैं।

उच्चतर-रक्षा-नियन्त्रण-तन्त्र में एक नयी समिति और बनायी गयी है. रक्षा-मन्त्री की उत्पादन-समिति, जिसका सचिवालय कार्य मन्त्रि-मण्डल का सचिवालय (सैन्य स्कन्ध) सम्भालता है। सितम्बर, १९५५ में एक रक्षा-उत्पादन-बोर्ड भी बनाया गया था, जिसके अध्यक्ष रक्षा-उत्पादन-मन्त्री हैं। मार्च, १९५९ में बोर्ड का नाम रक्षा-मन्त्री की (उत्पादन) समिति कर दिया गया। रक्षा-सेनाओं के अनुसन्धान और विकास सम्बन्धी कार्यकलाप का समन्वय करने के लिए अप्रैल, १९६२ में रक्षा-मन्त्री के सभापतित्व में एक अनुसन्धान और विकास परिषद् की स्थापना की गयी। इस समिति और परिषद् की रचना और कृत्य रक्षा-उद्योग और वैज्ञानिक अनुसन्धान वाले अध्याय में दिये गये हैं।

अक्तूबर, १९६२ में आपात-स्थिति की घोषणा के बाद रक्षा समेत आपात से सम्बन्धित सभी मामलों पर निर्णय मन्त्रि-मण्डल की आपात-समिति करती है, जिसकी रचना में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। लेकिन हमेशा ही इस समिति में प्रधान मन्त्री, रक्षा-मन्त्री,
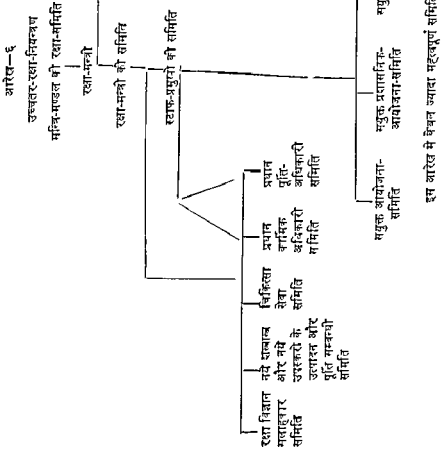
इस आरेख में केवल ज्यादा महत्वपूर्ण समितियाँ शामिल की गई हैं।

गृह-मन्त्री, वित्त-मन्त्री और विदेश-मन्त्री (इस विभाग में अलग मन्त्री नियुक्त होने के बाद में) रहे हैं। सचिवों की भी एक आपात-समिति बनायी गयी है, जिसके अध्यक्ष मन्त्रि-मण्डल-सचिव हैं, तथा अन्य लोगों के साथ-साथ रक्षा-सचिव, गृह-सचिव, विदेश-सचिव और वित्त-सचिव इसके सदस्य हैं। यह समिति या तो अन्तिम निर्णय करती है अथवा नीति के ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में अपनी सिफारिशें मन्त्रि-मण्डल की आपात-समिति के पास भेज देती है।

स्वयं रक्षा-मन्त्रालय में रक्षा-मन्त्री रोज-रोज के महत्वपूर्ण विकासों की चर्चा करने के लिए हर रोज (जिन दिनों वह बाहर होते हैं, उनको छोड़ कर) दोनों सेना-प्रमुखों, मन्त्रि-मण्डल-सचिव, रक्षा-सचिव, रक्षा-उत्पादन-विभाग के सचिव और रक्षा-अतिरिक्त-सचिव की बैठक बुलाते हैं।

नवम्बर, १९६२ में (प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में) राष्ट्रीय रक्षा-परिषद् बनायी गयी है और सैन्य-कार्य समिति भी बनायी गयी है (जिसके अध्यक्ष हैं रक्षा-मन्त्री)। ये समय-समय पर बैठती रहती हैं। परिषद् रक्षा सम्बन्धी मामलों की समीक्षा सामान्यतः करती रहती है और समिति में रक्षा के सैन्य पहलुओं पर चर्चा होती है। परिषद् और समिति की बैठकों का संयोजन मन्त्रि-मण्डल सचिवालय करता है।

कहीं भी होने वाली ऐसी सैन्य घटनाओं और आर्थिक राजनीतिक विकासों का, जिनका देश की सुरक्षा पर प्रभाव पड़ सकता है, निर्धारण संयुक्त आसूचना-समिति द्वारा किया जाता है। समिति का अध्यक्ष विदेश-मन्त्रालय का एक संयुक्त सचिव होता है और उसमें रक्षा और गृह-मन्त्रालयों के प्रतिनिधि तथा सेना, नौसेना और वायुसेना मुख्यालयों के आसूचना-निदेशक होते हैं। यह स्टाफ-प्रमुखों की समिति की एक सहायक समिति थी। १९६५ में इस समिति का पुनर्गठन करके इसे मन्त्रि-मण्डल-सचिवालय के अधीन रखा गया, जहाँ का एक अतिरिक्त सचिव अब इसका अध्यक्ष है। पूर्णकालिक सचिव के अलावा रक्षा और गृह मन्त्रालयों के प्रतिनिधियों का स्तर भी ऊँचा कर दिया गया है। अब समिति आवश्यकता पड़ने पर बैठती है और संकट काल में रोजाना भी इसकी बैठकें होती हैं, ताकि बदलती परिस्थितियों और सम्भाव्य विकासों का परिबोध रखा जा सके।

वर्तमान उच्चतर-रक्षा-नियन्त्रण-तन्त्र की रूपरेखा आरेख—७ में दी गयी है।

खण्ड—२ अन्य देशों में उच्चतर रक्षा नियन्त्रण

रक्षा-नीति के निर्माण के लिए कुछ दूसरे देशों में विद्यमान तन्त्र की संक्षिप्त रूपरेखा आगे दी जा रही है। यह रूपरेखा प्रकाशित अभिलेखों से यथासम्भव एकत्र करके दी जा रही है।

इंगलैंड

इंगलैण्ड में अप्रैल, १९६४ से रक्षा के केन्द्रीय संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। पहले तीनों सेनाओं के लिए एक-एक भार-साधक-मन्त्री होते थे, जिनमें क्रमशः एडमिरल्टी के प्रथम लार्ड (नौ सेना के लिए), युद्ध के राज्य-सचिव (थल सेना के लिए) तथा वायु के राज्य-

आरेख—७

उच्चतर-रक्षा-नियन्त्रण (१९६६)
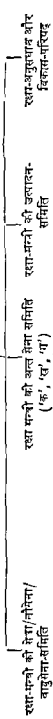
सचिव (वायुसेना के लिए)। वे मन्त्रि-मण्डल के सदस्य न थे। नौसेना, थलसेना और वायुसेना के ऊपर कार्यपालक प्राधिकार का प्रयोग एक सेना-प्रमुख द्वारा न किया जाता था, बल्कि सामूहिक रूप में क्रमशः एडमिरलटी बोर्ड, थलसेना-परिषद् और वायुसेना-परिषद् द्वारा एडमिरलटी, युद्ध कार्यालय और वायु मन्त्रालय के जरिये काम करते हुए अग्रसर किया जाता था। बोर्ड या परिषदों का जन्म इंगलैण्ड में कुछ ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से हुआ था। एडमिरलटी बोर्ड की रचना १६६० के एडमिरलटी अधिनियम द्वारा की गयी थी और थलसेना-परिषद् की रचना फरवरी, १६०४ में की गयी थी, वायुसेना की स्थापना एक अलग सेना के रूप में होने के समय, इन दोनों निकायों के सादृश्य पर, इसका प्रशासन १६१७ के वायुसेना (गठन) अधिनियम के अधीन, एक वायु-परिषद् को सौंपा गया। बोर्ड और परिषदों की रचना एक जैसी ही थी।

एडमिरलटी के प्रथम लार्ड या थलसेना या वायुसेना के सम्बन्धित राज्य सचिव (सेक्रेटरी आफ स्टेट) बोर्ड या परिषद् के अध्यक्ष थे, शेष सदस्य थे। संसदीय अवर सचिव (संसद सदस्य), प्रत्येक सेना का प्रधान स्टाफ अधिकारी और प्रत्येक सेना का स्थायी अवर सचिव (एक असैनिक अधिकारी)*। बोर्ड या परिषद् के सभी सदस्य सह-समान थे, भले ही उनका सैन्य पद या असैनिक हैसियत कुछ भी हो। बोर्ड के भीतर व्यय पर नियन्त्रण स्थायी अवर सचिव द्वारा किया जाता था, जो राजकोष (वित्त मन्त्रालय) और लोक-लेखा-समिति के प्रति उत्तरदायी था। एडमिरलटी के प्रथम लार्ड और युद्ध तथा वायु के राज्य-सचिव संसद के प्रति और सम्राट के प्रति अपने-अपने बोर्ड या परिषद् के समग्र कार्यजात के लिए उत्तरदायी थे। वे बोर्ड या परिषद् की सलाह को मानने या न मानने के लिए स्वतन्त्र थे।

तीनों सेनाओं का तीन स्वतंत्र निकायों द्वारा प्रशासन करने के कारण स्वभावतः समन्वय की समस्या उठ खड़ी हुई। अतएव १६४६ में एक रक्षा-मन्त्रालय बनाया गया, जिसके भारसाधक एक रक्षा-मन्त्री थे। उनका काम 'सम्राट की सशस्त्र सेनाओं के सम्बन्ध में समग्र रूप से एक एकीकृत नीति बनाना और उसका सामान्य अनुपालन और सेनाओं की आवश्यकताओं को देखना था।' राष्ट्रीय रक्षा की उच्चतम जिम्मेवारी प्रधान मन्त्री और मन्त्रि-मण्डल के ऊपर थी। इसके अधीन रहते हुए रक्षा-समस्याओं का निपटान मन्त्रि-मण्डल की ओर से रक्षा-समिति करती थी, जो प्रधान मन्त्री के सभापतित्व में बैठती है। जुलाई, १६५८ में संसद के समक्ष प्रस्तुत किये गये एक पत्र के अनुसार समिति में ये लोग थे गृह-सचिव, विदेश-सचिव, चासलर आफ एक्सचेकर, राष्ट्रमण्डल-सचिव, उपनिवेश-सचिव, रक्षा मन्त्री, श्रम और राष्ट्रीय सेवा-मन्त्री एडमिरलटी के प्रथम लार्ड, युद्ध राज्य-सचिव, वायु राज्य-सचिव और पूर्ति मन्त्री। प्रधान मन्त्री निर्णय करते थे कि इनमें से कौन-कौन से सदस्य समिति की किसी खास बैठक में भाग लें। मन्त्रि-मण्डल और रक्षा समिति के उत्तरदायित्वों के अधीन रहते हुये, रक्षा-मन्त्री को इन बातों के निर्णय का अधिकार था: 'सशस्त्र सेनाओं के आकार, रूप, संगठन और विन्यास और उनके सामान, युद्ध सम्बन्धी उपस्कर और पूर्ति (रक्षा अनुसन्धान और विकास को शामिल करते हुए) पर प्रभाव डालने वाले रक्षा-नीति सम्बन्धी सभी मामले।' नीति के प्रमुख प्रश्नों का निर्णय

*जिसे एडमिरलटी में एडमिरलटी सचिव कहते थे।

करने के लिए और अन्त -सेना-समस्याओ पर चर्चा करने के लिए जुलाई, १७५८ मे एक रक्षा-बोर्ड की स्थापना की गयी थी, जिसके अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री थे और एडमिरलटी के प्रथम लार्ड, युद्ध राज्य-सचिव, वायु राज्य-सचिव, पूर्ति मन्त्री और रक्षा स्टाफ के प्रमुख (एक नया पद), नौसेना स्टाफ प्रमुख, इम्पीरियल जनरल स्टाफ के प्रमुख, वायु सेना स्टाफ के प्रमुख, रक्षा-मन्त्रालय के स्थायी सचिव, मौ-रक्षा-मन्त्रालय के प्रमुख वैज्ञानिक इसके सदस्य थे। रक्षा-स्टाफ के प्रमुख रक्षा-मन्त्री के प्रति उत्तरदायी थे और वह उनके प्रमुख सैन्य सलाहकार बन गये। स्टाफ प्रमुखो की समिति के अध्यक्ष और रक्षा-मन्त्री के स्टाफ-प्रमुख के सयुक्त पद समाप्त कर दिये गये।

रक्षा के केन्द्रीय सगठन को सुदृढ बनाने के हेतु लिये गये अन्य निर्णय जून, १९६३ मे ब्रिटिश ससद में प्रस्तुत किये गये एक पत्र मे दिये गये थे। इनको १, अप्रैल १९६४ मे प्रभावी बनाया गया।

अब एक एकीकृत रक्षा-मन्त्रालय है, जिसमे पुराने रक्षा-मन्त्रालय, एडमिरलटी, युद्ध-कार्यालय और वायु-मन्त्रालय को एक ही रक्षा-राज्य-सचिव के अधीन आत्मसात कर दिया गया है। यह मन्त्रालय सेनाओ की वचन-बद्धताओ, ससाधनो और भूमिकाओ के बीच समुचित सन्तुलन रखगा। हालांकि तीनो सेनायें अलग-अलग है, मन्त्रालय के भीतर कार्य का गठन यथा-सम्भव समग्र रक्षा के आधार पर किया जाता है, एक-एक सेना के आधार पर नही।

प्रधान मन्त्री और मन्त्रि-मण्डल के उच्चतम प्राधिकार के अधीन रहते हुये रक्षा-नीति के प्रमुख प्रश्नो का निपटान रक्षा और समुद्रपार नीति सम्बन्धी समिति द्वारा किया जाता है, जिसके अध्यक्ष प्रधान मन्त्री हैं और सामान्यत ये सदस्य है प्रथम राज्य-सचिव, विदेश-सचिव, चासलर आफ एक्सचेकर राजकोष का प्रमुख सचिव, गृह-सचिव, राष्ट्र-मण्डल सम्बन्धो और उपनिवेशो के राज्य-सचिव और रक्षा के राज्य-सचिव। अन्य मन्त्री यथावश्यक अवसरो पर आमन्त्रित कर लिये जाते है। रक्षा-स्टाफ-प्रमुख और स्टाफों के प्रमुख कार्य के स्वरूप के अनुसार उपस्थित रहते है। अन्य अधिकारी जैसे स्थायी राज्य अवर सचिव, या रक्षा के राज्य-सचिव के मुख्य वैज्ञानिक सलाहकार यथापेक्षित उपस्थित रहते है। रक्षा-स्टाफ-प्रमुख, और स्टाफो के प्रमुखो को प्रधान मन्त्री के पास तक पहुंचने का अधिकार मिला रहता है। उपर्युक्त अवसरो पर उनको पूरे मन्त्रि-मण्डल की बैठको में भी बुलाया जाता है।

एडमिरलटी के प्रथम लार्ड और युद्ध तथा वायु के राज्य-सचिवों के दफ्तर और साथ ही एडमिरलटी बोर्ड, थल सेना परिषद् और वायु सेना परिषद् को खत्म कर दिया गया। इनके स्थान पर रक्षा के तीन मन्त्री है। जिनकी मदद के लिए तीन ससदीय अवर सचिव है और *उनका मूल कृत्य राज्य सचिव की ओर से अभिहित सेना के सम्बन्ध म रक्षा (रॉयल नेवी), थल* सेना और रायल एयर फोर्स, के मन्त्रियो के रूप मे नीति का पालन कराना है, हालांकि उनको रक्षा के पूरे क्षेत्र मे उत्तरदायित्वो का प्रत्यायोजन किया जा सकता है।

पहले जो कमान की शक्तियाँ और प्रशासनिक नियन्त्रण कार्य एडमिरलटी बोर्ड और थल सेना और वायु-परिषदो द्वारा किया जाता था, वह अब (१९५८ में बने रक्षा-बोर्ड के स्थान पर बनी) एक रक्षा-परिषद् द्वारा किया जाता है। रक्षा राज्य-सचिव इसके अध्यक्ष है और उनके अलावा ये सदस्य है तीनो रक्षा-मन्त्री, रक्षा-स्टाफ के प्रमुख, नौसेना स्टाफ-प्रमुख,

वायु, सेना स्टाफ-प्रमुख, सामान्य रक्षा राज्य-सचिव के मुख्य वैज्ञानिक सलाहकार और स्थायी राज्य-अवर सचिव। उड्डयन-मन्त्री और लोक-भवन तथा निर्माण-कार्य-मन्त्री उपयुक्त कार्य सामने होने पर चर्चार्थ उपस्थित होते हैं। परिषद् मुख्यतः रक्षा-नीति का निपटान करती है और प्रबन्ध-कार्य रक्षा-परिषद् के नौसेना, सेना और वायुसेना बोर्डों को प्रत्यायोजित कर दिया जाता है और हर मामले में राज्य-सचिव अध्यक्ष रहते हैं। पहले एडमिरलटी बोर्ड सेना-परिषद् और वायु-परिषद् के नाम पर जारी किये जाने वाले सभी आदेश अब रक्षा-परिषद् के नाम से जारी किये जाते हैं।

रक्षा के राज्य-सचिव सामान्यतः उपयुक्त मन्त्री से कह देते हैं कि उनकी ओर से प्रत्येक बोर्ड की अध्यक्षता करें। बोर्ड के अन्य सदस्य ये हैं—उपयुक्त संसदीय राज्य-अवर-सचिव, स्टाफ-प्रमुख, सम्बन्धित सेना के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी वरिष्ठ सैन्य और असैनिक स्टाफ तथा यथोपयुक्त मुख्य व्यावसायिक या वैज्ञानिक सलाहकार।

रक्षा-स्टाफ-प्रमुख, नौसेना-स्टाफ-प्रमुख, सामान्य-स्टाफ-प्रमुख और वायुसेना-स्टाफ-प्रमुख की सदस्यता से स्टाफ-प्रमुखों की समिति बनती है। स्थायी अवर-सचिव और मुख्य वैज्ञानिक सलाहकार भी समिति की बैठकों में उपस्थित रहते हैं। स्टाफ-प्रमुखों की समिति सामूहिक रूप से स्ट्रैटेजी और रक्षा-संक्रियाओं के बारे में और रक्षा-नीति के सैन्य-आलेपनों के बारे में व्यावसायिक सलाह देने के लिए सरकार के प्रति उत्तरदायी है। नौसेना, सामान्य और वायुसेना स्टाफों के प्रमुख अपनी-अपनी सेनाओं के व्यावसायिक प्रमुख बने रहते हैं। जब स्टाफ-प्रमुखों में मतभेद होता है, तो रक्षा-स्टाफ-प्रमुख विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रधान सैन्य सलाहकार के रूप में अपनी सलाह के साथ सरकार के निर्णय के लिए राज्य-सचिव के पास भेज देता है। स्टाफ-प्रमुख रक्षा-स्टाफ-प्रमुख के जरिए सैन्य संक्रियाओं के संचालन के लिए राज्य-सचिव के प्रति जिम्मेवार होते हैं। संक्रिया-आदेश रक्षा स्टाफ-प्रमुख के नाम से जारी किये जाते हैं, जबकि परिणामी या एक सेना सम्बन्धी आदेश व्यक्तिगत स्टाफ-प्रमुख के प्राधिकार से जारी किये जाते हैं।

स्थायी राज्य-अवर-सचिव रक्षा-मन्त्रालय के कार्य में समन्वय के लिए उत्तरदायी है।

रक्षा-मन्त्रालय के प्रत्येक मन्त्री को अभिरुचि का क्षेत्र-विशेष उसके एक-सेना सम्बन्धी उत्तरदायित्वों के अलावा सौंप दिया जाता है—राज्य उप-सचिव न केवल सेना का मन्त्री होता है, पर साथ ही उसका रक्षा सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय नीति के मामलों में विशेष सम्बन्ध भी होता है। रॉयल नेवी के मन्त्री का विशेष सम्बन्ध तीनों सेनाओं के कार्मिकों और सम्भारिकी से होता है और रॉयल एयर फोर्स मन्त्री का विशेष सम्बन्ध तीनों सेनाओं के अनुसंधान, विकास और उत्पादन और समूचे रक्षा-बजट से होता है। उत्तरदायित्वों का एक अन्तरिम विभाजन है।

यह पुनर्गठन इंगलैंड के ढाँचे को भारत के निकट ला देता है, जहाँ आजादी के बाद से सदैव एक एकीकृत रक्षा-मन्त्रालय हमेशा रहा है, जिसकी जिम्मेवारी में तीनों सेनायें रही हैं।

इंगलैण्ड में शान्ति काल में संसद की सम्मति के बिना कोई स्थायी सेना नहीं रखी जा सकती। इसका उद्भव १६८८ के अधिकार विधेयक में देखा जा सकता है और तब से सरकार एक वार्षिक अधिनियम हर साल थल-सेना (और स्थापना के बाद से वायु सेना) के अनुधारण

के लिए संसद मे पास करानी रही है। नौसेना के लिए ऐसी मंजूरी की जरूरत नही है। साथ ही दोनो सेनाओ के सदस्यों की अनुशासन-संहिता, जैसे सेना अधिनियम और वायुसेना अधिनियम, को भी हर साल नवीकृत कराना होता है। इस प्रयोजन मे संसद द्वारा हर साल एक सेना और नौसेना (वार्षिक) अधिनियम पास किया जाता है। यह वार्षिक अधिनियम यह भी स्पष्ट करता है कि थलसेना और वायुसेना मे कितनी संख्या का सन्धारण किया जाना है। फिर भी ये ऐसी परम्पराएँ है, जो इंगलैण्ड की विशेष परिस्थितियो के कारण विकसित हुई है।

इंगलैण्ड में वर्तमान संगठन-ढाँचा बताने वाला एक आरेख भी दिया जा रहा है।

संयुक्त राज्य अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुसार 'अमेरिका के राष्ट्रपति संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना और नौसेना के कमाडर-इन-चीफ होगे और अनेक राज्यो की चमू के भी, जब उसे स० रा० अमेरिका की वास्तविक सेवा के लिए लगाया जायेगा।' वायु शक्ति के जन्म के बाद एक व्यवस्था यह भी कर दी गयी है कि सेना और नौसेना दोनो ही आवश्यक विमानो को किसी युद्ध जैसी सक्रिया मे काम आने योग्य शस्त्रास्त्र की तरह रखगी और इस प्रकार स० रा० सेना, वायु, दल और नौसेना का जन्म हुआ। राष्ट्रपति का मन्त्रि-मण्डल विशुद्धत एक सलाहकार निकाय होता है और विधान-मण्डल से मुक्त होता है। मन्त्रि-मण्डल के सदस्य राष्ट्रपति नियुक्त करते है और वे उनके ही प्रति उत्तरदायी होते है। सभी कार्यपालक कामो की आखीरी जिम्मेवारी राष्ट्रपति की होती है और उसे उसके किसी सलाहकार के ऊपर नही डाला जा सकता।

१९४७ के राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, १९४७ ने राष्ट्रीय सैन्य स्थापना को जन्म दिया। तत्कालीन युद्ध-विभाग का नया नाम सेना-विभाग रखा गया, जो सेना के सचिव के अधीन था। क्रमश वायुसेना विभाग और स० रा० वायुसेना की स्थापना, अलग विभाग और सशस्त्र सेना के रूप मे, सेना के कुछ कृत्य अलग करके, की गयी। अधिनियम मे समन्वित और असैनिक नियन्त्रण मे एकीकृत निदेश की व्यवस्था की गयी, जो सेना, नौसेना और वायुसेना तीनो के लिए थी। उनके रणनीति, निदेश और सक्रिया को भी एकीकृत कमान के अधीन लाया गया। इस तरह उनका एकीकरण थल, वायु और नौसेनाओ की एक सक्षम टीम के रूप में किया गया, पर इसके लिए न तो वस्तुत उनका विलय किया गया और न उनको एक ही स्टाफ प्रमुख के अधीन लाया गया। १९४९ के राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम ने रक्षा-विभाग की स्थापना की (जो राष्ट्रीय सैन्य स्थापना की जगह बना) और रक्षा-सचिव इसके प्रमुख बनाये गये। सेना, नौसेना और वायुसेना के तीन विभाग प्रत्येक एक-एक सचिव के अधीन, रक्षा-विभाग के सैन्य विभाग बन गये। १९४७ के अधिनियम ने राष्ट्रपति को राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी घरेलू, विदेशी और सैन्य नीतियो के एकीकरण के बारे मे सलाह देने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् बनायी। परिषद् के स्थायी सदस्य है राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्य-सचिव, रक्षा-सचिव, और आपात आयोजना कार्यालय के निदेशक। राष्ट्रपति अन्य कार्यपालक या सैन्य विभागो के सचिवो और अवर-सचिवो को भी सहयोजित कर सकते है, जो उसकी इच्छानुसार रखे या हटाये जा सकते

हैं। संयुक्त स्टाफ-प्रमुखों के अध्यक्ष और केन्द्रीय आसूचना अधिकरण (सी० आई० ए०) के निदेशक परिषद् के सविहित सलाहकार होते हैं। सदस्यता सविहित होती है और सेनेट की मंजूरी के बिना उसमें कोई परिवर्तन नहीं किये जा सकते। परिषद् का एक असैनिक कार्यपालक सचिव होता है, जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करते हैं। अपनी रचना द्वारा परिषद् यह आश्वस्त करती है कि रक्षा और विदेश विभागों के बीच समुचित समन्वय बना रहे। राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् की तुलना भारतीय मन्त्रि-मण्डल की रक्षा-समिति से की जा सकती है।

रक्षा-सचिव की, जो भारत के रक्षा-मन्त्री का सवादी होता है, नियुक्ति पहले पहल १६४७ में की गयी। वह सेना, नौसेना और वायुसेना के तीनों विभागों का सर्वोपरि भारसाधक होता है। वह रक्षा विभाग सम्बन्धी सभी मामलों में राष्ट्रपति का प्रधान सहायक होता है। रक्षा-सचिव की नियुक्ति राष्ट्रपति असैनिक क्षेत्र में से चुन कर करते हैं। चुना गया व्यक्ति ऐसा नहीं होना चाहिये जिसने पिछले दस साल के भीतर सशस्त्र सेनाओं में सेवा की हो। रक्षा-सचिव के कृत्य सामान्य नीतियाँ और कार्यक्रम स्थापित करना, रक्षा-विभाग के ऊपर सामान्य प्राधिकार और नियन्त्रण रखना, तीनों सेनाओं के बीच समन्वय आश्वस्त करना, बजट तैयार करना आदि होते हैं। एक-एक सचिव के अधीन तीन सेवा-विभाग भी होते हैं, नामत सेना-विभाग, नौसेना-विभाग और वायुसेना-विभाग। सचिव उपयुक्त स्टाफ-प्रमुख के साथ सीधे काम करता है, जो सम्बन्धित सेना के प्रमुख होते हैं। सेना, नौसेना और वायुसेना के सचिव सीधे राष्ट्रपति तक पहुँच सकते हैं।

रक्षा-सचिव की सहायता, उसके बहुविध कर्तव्यों के पालन में, साथ-साथ इनके द्वारा भी की जाती है (एक) संयुक्त स्टाफ प्रमुख, (दो) सशस्त्र सेना नीति-परिषद्, (तीन) उच्च अनुसन्धान प्रयोजना अभिकरण, (चार) शस्त्रास्त्र पद्धति मूल्यांकन समूह और (पाँच) तीनों सेना-विभाग। रक्षा-विभाग में आठ सहायक सचिव हैं। इनमें से सात राष्ट्रपति द्वारा असैनिक क्षेत्र में से नियुक्त किये जाते हैं। केवल रक्षा-सहायक-सचिव (नियन्त्रक), जो बजट और वित्तीय नियन्त्रण के लिए जिम्मेदार है, एक स्थायी असैनिक कर्मचारी होता है।

संयुक्त स्टाफ-प्रमुख में ये शामिल होते हैं अध्यक्ष और सेना स्टाफ-प्रमुख नौ-सक्रिया प्रमुख और वायुसेना स्टाफ प्रमुख। पिछले तीन तीनों सेनाओं के व्यावसायिक प्रमुख होते हैं। संयुक्त स्टाफ-प्रमुख के अध्यक्ष की नियुक्ति सीनेट की सलाह और सहमति से राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और इस पद पर आसीन रहते हुए उसे सशस्त्र सेनाओं के सभी अधिकारियों से अधिक वरिष्ठता प्राप्त होती है। भारत में इसका सवादी कोई पद नहीं है। संयुक्त-स्टाफ-प्रमुख राष्ट्रपति, राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् और रक्षा-सचिव के प्रधान सैन्य सलाहकार होते हैं। वे स्ट्रातेजी-आयोजना बनाते हैं और सैन्य बलों के स्ट्रातेजी निदेश की व्यवस्था करते हैं।

सशस्त्र सेना-नीति-परिषद् का काम सशस्त्र सेनाओं सम्बन्धी स्थूल नीतियों के बारे में रक्षा-सचिव को सलाह देना है। इसमें ये होते हैं रक्षा-सचिव (अध्यक्ष), रक्षा-उप-सचिव, सेना, नौसेना और वायुसेना के सचिव, रक्षा अनुसन्धान और इंजीनियरी के निदेशक (जो भारत में रक्षा-मन्त्रालय वैज्ञानिक सलाहकार का सवादी होता है), संयुक्त-स्टाफ प्रमुखों के

के सामान्य स्टाफ-प्रमुख के साथ सामूहिक-रूप से स्टाफ-प्रमुखों की समिति बनाते है, जिसके अध्यक्ष सेनाओ के मन्त्री हैं। इन समितियो की रचना और कृत्य आज्ञप्ति द्वारा स्थापित किये जाते है।

(ग) थलसेना, नौसेना और वायुसेना में से प्रत्येक के लिए सामान्य निरीक्षणालय।

(घ) सचिव, सामान्य प्रशासन, जो प्रशासनिक और वित्तीय मामलो के प्रभारी है, यथा

(ट) सेनाओं के स्टाफ-प्रमुख, जो सेनाओ के सामान्य सगठन और विकास की आयोजनायें बनाने, शस्त्रीकरण और सम्भारिकी समर्थन कार्यक्रम तैयार करने, अन्त-सेना उच्चतर सैन्य-शिक्षण का नियन्त्रण, अन्त-सेना पदो पर नामनों सम्बन्धी सिफारिशें करने के लिए उत्तरदायी है।

इसके अलावा तीनो सेनाओ की वरिष्ठ परिषदे है। ये सेनाओ के मन्त्री को प्रत्येक सेना के ऊपर व्यक्तिश: प्रभाव डालने वाले सामान्य विषयो पर सलाह देती है। इसके अलावा 'उच्च रक्षा-शिक्षण सम्बन्धी अनुस्थापन और परिपूर्णकरण की समिति' भी है, जो सेनाओ के मन्त्री को राष्ट्रीय रक्षा, उच्च अध्ययन-सस्थान के कार्यक्रमो और रीतियो के सम्बन्ध में सलाह देती है। इस समिति मे सेनाओ के स्टाफ-प्रमुखो के प्रतिनिधि, उच्च अध्ययन-सस्थान के निदेशक, वैज्ञानिक कार्य सम्बन्धी समिति के अध्यक्ष, विदेश, गृह, वित्त और आर्थिक कार्य, राष्ट्रीय शिक्षा, लोक निर्माण और परिवहन और उद्योग मन्त्रालय (रक्षा के पहलुओं के सम्बन्ध मे), वरिष्ठ सैन्य-शिक्षा के निदेशक, सेनाओ के मन्त्री द्वारा चुने गये तीन जनरल और उपस्कर उत्पादित आयोजना के जनरल कमिसरी होते हैं। फ्रास में उच्चतर रक्षा-नियन्त्रण का ढाँचा साथ के आरेख मे दिया जा रहा है।

कनाडा

दूसरे सघीय सविधानो की तरह राज्य के प्रमुख अर्थात् गवर्नर जनरल सशस्त्र सेनाओं के उच्चतम कमानधारी है। राष्ट्रीय रक्षा-अधिनियम, १९२२ मे एक रक्षा-मन्त्री की नियुक्ति की व्यवस्था है, जिसे रक्षा सम्बन्धी सभी मामलो का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व सौंपा गया है। तीनों सेनाओ के भारसाधक तीन अलग मन्त्रियो की कोई व्यवस्था नही है, हालांकि सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा एक उप मन्त्री और एक राष्ट्रीय रक्षा-सह मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है। तीनो सेनाओ का समन्वय रक्षा-मन्त्री के अधीन राष्ट्रीय रक्षा-विभाग मे किया जाता है। रक्षा-मन्त्री की निदेशकता में सेनाओ की कमान तीन सम्बन्धित सेना प्रमुखों के हाथ मे रहती है। तीनो सेनाओ के लिए एक कमांडर-इन-चीफ भी है। प्रत्येक सेना का स्टाफ-प्रमुख उस सेना का प्रधान माना जाता है।

मन्त्रि-मण्डल के सर्वोपरि प्राधिकार के अधीन रहते हुये, जिसे नीति के प्रमुख प्रश्न सौंपे जाते है, रक्षा सम्बन्धी शेष महत्वपूर्ण प्रश्नों पर एक मन्त्रि-मण्डल रक्षा-समिति द्वारा नियन्त्रण किया जाता है, जिसके अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होते है, राष्ट्रीय रक्षा-मन्त्री उपाध्यक्ष और ये सदस्य होते हैं विदेश राज्य-सचिव, वित्त-मन्त्री, रक्षा-उत्पादन-मन्त्री, न्याय-मन्त्री,

राष्ट्रीय स्वास्थ्य और कल्याण-मन्त्री और राष्ट्रीय रक्षा के सहमन्त्री। स्टाफ-प्रमुखों की समिति के अध्यक्ष, नौसेना स्टाफ-प्रमुख, सामान्य स्टाफ प्रमुख, वायुसेना स्टाफ-प्रमुख और अध्यक्ष, रक्षा-अनुसन्धान-बोर्ड भी उपस्थित रहते है।

स्टाफ-प्रमुखों की समिति राष्ट्रीय रक्षा-अधिनियम, १९५० के अनुसार सविहित रूप में बनायी गयी है। समिति में स्टाफ-प्रमुखों के अध्यक्ष, तीनों सेना-प्रमुख और रक्षा-अनुसन्धान-बोर्ड के अध्यक्ष रहते हैं। राष्ट्रीय रक्षा-उपमन्त्री भी सामान्यतः उपस्थित रहते हैं। कनाडा-मन्त्रि मण्डल के सचिव, विदेश-राज्य-अवर-सचिव और अन्य असैनिक अधिकारी भी निमन्त्रण पर उपस्थित रहते है। समिति के कृत्य यथासामान्य प्रकार के होते है।

समन्वय रखने के लिए राष्ट्रीय रक्षा-विभाग ने कुछ और अन्त -सेना-समितियाँ बनायी है, जसे कार्मिक सदस्य-समिति, प्रधान प्रति-अधिकारी-समिति आदि जिनके नाम स्थूल-रूप से उनके कृत्यों का संकेत करते है। साथ ही एक रक्षा-अनुसन्धान-बोर्ड भी है, जिसका कार्य राष्ट्रीय रक्षा को प्रभावित करने वाले वैज्ञानिक अनुसन्धान सम्बन्धी सभी मामलों में मन्त्री को सलाह देना है। यह एक उच्चाधिकार प्राप्त निकाय है, जिसमें भारत की तरह अन्य लोगों के साथ तीनों सेनाओं के प्रमुख भी होते हैं।

इस तरह भारत की भाँति कनाडा में भी तीनों सेनाओं को यथासम्भव अधिकतम सीमा तक एकबद्ध कर दिया गया है। तीन अलग-अलग सेना मुख्यालय भी हैं और रक्षा-मन्त्रालय तीनों सेनाओं के कार्य का समन्वय करता है। फिर मन्त्रालय में काम सेना-वार विभिन्न अनुभागों द्वारा नहीं किया जाता, बल्कि कृत्य-आधार पर किया जाता है। इस तरह कार्मिक मामलों का निपटान करने वाला एक अधिकारी तीनों सेनाओं पर पड़ने वाले उसके प्रभाव की दृष्टि से उसे निपटायेगा, केवल एक सेना के नहीं।

भारत में भी तीनों सेनाओं के लिए अलग-अलग मन्त्री नहीं है। मन्त्री और उप-मन्त्री पूरी रक्षा-सेनाओं के प्रसंग में काम करते है। फिर भारत के रक्षा-मन्त्रालय में ऐसे अनेक अनुभाग है, जो अन्त -सेना-आधार पर समस्याओं को निपटाते है।

आस्ट्रेलिया

भारत की तरह आस्ट्रेलिया में भी सशस्त्र सेनाओं का उच्चतम कमान राज्य के प्रमुख में निहित है। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले रक्षा-नियन्त्रण एकात्मक प्रकार का था, अर्थात् एक ही रक्षा-विभाग तीनों सेनाओं को प्रशासित करता था। १९३९ में, रक्षा-सेनाओं में काफी विस्तार के बाद, तीनों सेनाओं के लिए तीन अलग-अलग विभाग स्वतन्त्र मन्त्रियों के अधीन बनाये गये। पुनर्गठित रक्षा-विभाग के हाथ में रक्षा-मन्त्री के अधीन सर्वांगीण रक्षा नीति सम्बन्धी उत्तर-दायित्व बना रहा। यह तीनों सेनाओं और सेना मन्त्रालयों के बीच समन्वय भी करता रहा और साथ ही रक्षा-परिषद् का सचिवालय-कार्य भी इसके पास रहा। आस्ट्रेलिया में भी तीनों सेनाओं के लिए एक ही कमाण्डर-इन-चीफ नहीं है।

अब रक्षा-समूह में पाँच विभाग है, अर्थात् रक्षा-विभाग, सेना विभाग, नौसेना-विभाग,

वायुसेना-विभाग और पूर्ति-विभाग मुख्यतः रक्षा-उत्पादन और प्राप्ति का काम अपने एक अलग मन्त्री के अधीन करता है और उसकी स्थिति भी तीन सेना-विभागों जैसी ही है।

मन्त्रि-मण्डल रक्षा-नीति के निर्धारण के लिए जिम्मेवार है। पहले इसकी सहायता के लिए एक रक्षा-परिषद् थी। रक्षा-परिषद् दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान युद्ध-मन्त्रि-मण्डल के रूप में काम करती रही। परिषद् अब भी विद्यमान मानी जाती है, हालांकि हाल-हाल के सालों में उसकी कोई बैठक नहीं हुई है। प्रधान मन्त्री परिषद् के अध्यक्ष हैं और इसके सदस्य हैं राजकोष-सचिव, रक्षा-मन्त्री, विदेश-मन्त्री, तीनों सेनाओं के मन्त्री, पूर्ति-मन्त्री, राष्ट्रीय-विकास-मन्त्री, सीनेट में सरकार के नेता, तीनों सेना-प्रमुख और रक्षा-विभाग के सचिव।

१९६३ में रक्षा-परिषद् का काम नवस्थापित रक्षा और विदेश सम्बन्धी मन्त्रिमण्डल समिति ने सम्भाल लिया। यह समिति पूरे मन्त्रि-मण्डल के निर्णय की अपेक्षा करने वाले मामलों का निर्धारण करती है और यथापेक्षित सेनाओं के प्रमुखों या अन्य लोगों को बुला लेती है। प्रधान मन्त्री इस समिति के अध्यक्ष हैं और अन्य सदस्य हैं व्यापार और उद्योग-मन्त्री, विदेश-मन्त्री, रक्षा-मन्त्री, निर्माण-मन्त्री और पोस्ट मास्टर जनरल।

रक्षा-मन्त्री के अधीन रक्षा-विभाग इन चीजों के लिए जिम्मेवार है रक्षा-नीति, सेवा सम्बन्धी मामलों का समन्वय और उपलब्ध निधि का बँटवारा, रक्षा-नीति का पूर्तिपक्ष, जिनमें उत्पादन कार्यक्रमों और क्षमता की समीक्षा शामिल है, सेनाओं में उच्चतर नियुक्तियाँ, शस्त्रास्त्र और उपस्कर और रक्षा-अनुसन्धान और विकास। सेनाओं में समन्वय का महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न समितियों की मदद से पूरा किया जाता है, जिनमें से ज्यादा महत्व की समितियाँ ये हैं रक्षा-समिति, स्टाफ-प्रमुखों की समिति, रक्षा-प्रशासन-समिति और संयुक्त युद्ध-उत्पादन-समिति।

रक्षा-समिति एक सुविहित निकाय है, जिसमें ये हैं रक्षा-विभाग-सचिव (अध्यक्ष), स्टाफों-प्रमुखों की समिति के अध्यक्ष, तीनों सेना-प्रमुख, राजकोष-सचिव, प्रधान मन्त्री के विभाग के सचिव और विदेश-विभाग के सचिव। (रक्षा वैज्ञानिक-सलाहकार और अन्य विशेषज्ञों को सहयोजित कर लिया जाता है।) समिति रक्षा-मन्त्री को इन मामलों में सलाह देती है (क) समग्र रक्षा-नीति, (ख) रक्षा-नीति के सैन्य, स्ट्रेटेजिक, आर्थिक, वित्तीय और वैदेशिक पहलुओं का समन्वय, (ग) संयुक्त सेना या अन्तर्विभागीय रक्षा पहलुओं वाले सिद्धान्त और महत्वपूर्ण प्रश्न या नीति सम्बन्धी मामले और (घ) रक्षा-पहलू वाले ऐसे ही अन्य मामले, जो मन्त्री द्वारा या मन्त्री की ओर से समिति को सौंपे जायें।

दूसरे देशों की तरह स्टाफ-प्रमुखों की समिति सैन्य-परिबोध और आयोजनाओं को तैयार करने और युद्ध की संक्रियाओं का नियन्त्रण करने के लिए जिम्मेवार है (यदि एक अलग कमाण्डर-इन-चीफ न नियुक्त किया जाय)। पिछले पाँच सालों में सेनाओं में से प्रत्येक का एक अध्यक्ष चुन लिया गया है और इसे रक्षा-विभाग में पूर्णकालिक नियुक्ति दी गयी है। किसी भी सेना के कमान की सीधी जिम्मेवारी उस पर नहीं है, पर वह रक्षा-मन्त्री का सलाहकार है और सीधे प्रधान मन्त्री तक पहुँच सकता है। साथ ही वह आंजुस (आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, संयुक्त अमेरिका सन्धि) और सीएटो (द० पू० एशिया सन्धि संगठन) का आस्ट्रेलियाई सैन्य

सलाहकार है। इस तरह समिति में एक पूर्णकालिक अध्यक्ष होता है और उसके सामान्य स्टाफ-प्रमुख, नौसेना स्टाफ-प्रमुख और वायुसेना एक प्रमुख सदस्य होते हैं।

रक्षा-प्रशासन-समिति में ये होते हैं रक्षा-विभाग-सचिव (अध्यक्ष), सचिव, सेना-विभाग, सचिव, नौसेना-विभाग, सचिव, वायुसेना-विभाग, सचिव, पूर्ति-विभाग, सहायक सचिव, राजकोष-विभाग (रक्षा-प्रभाग), सामान्य स्टाफ के उप-प्रमुख, नौसेना स्टाफ के उप-प्रमुख, और वायुसेना स्टाफ के उप-प्रमुख। (अन्य प्रतिनिधि और विशेष सलाहकार सहयोजित कर लिये जाते हैं)। समिति के कृत्य ये हैं (क) रक्षा-कार्यक्रम की नियमित समीक्षा करना और कार्यक्रम के निष्पादन में गतिरोध या विलम्ब के कारणों की पड़ताल करना (ख) जब कभी यह समझा जाय कि ऐसा करने से बचत हो सकेगी और कार्यक्षमता बढ़ जायेगी, तब विभाग या सेना के लिए प्रमुख प्रयोक्ता के सिद्धान्त पर अपेक्षायें निर्धारित करना या कृत्यों का बँटवारा करना (ग) विभागों के रक्षा सम्बन्धी समूह के प्रबन्ध-व्यवहारों की चर्चा करना ताकि ज्यादा सक्षम रीतियों और सुधरे संगठन का सूत्रपात किया जा सके और (घ) सामान्यतः समान हित के प्रशासनिक प्रश्नों पर समग्र विचार और चर्चा करना।

संयुक्त रक्षा उत्पादन-समिति के अध्यक्ष सामान्यतः एक सुप्रसिद्ध व्यवसायी या उद्योग-पति होते हैं और इसके सदस्य ये होते हैं थलसेना-विभाग-सचिव, नौसेना-विभाग-सचिव, वायुसेना-विभाग-सचिव, आर्डनेंस के मास्टर जनरल (थलसेना), चौथा नौसेना-सदस्य (नौसेना), पूर्ति और उपस्कर सम्बन्धी वायुसेना-सदस्य (वायुसेना), पूर्ति-विभाग-सचिव, महानियन्त्रक (उत्पादन), पूर्ति-विभाग, राजकोष विभाग के सहायक सचिव (रक्षा-प्रभाग), और रक्षा-विभाग के सहायक सचिव (सम्भारिकी)। (श्रम और राष्ट्रीय सेवा-विभाग और अन्य विभागों के प्रतिनिधि सहयोजित कर लिये जाते हैं)। समिति के कृत्य ये हैं (क) सेनाओं की सामग्री सम्बन्धी चालू जरूरतों का सहसम्बन्धन और परिणामी उत्पादन कार्यक्रम (ख) औद्योगिक युद्ध सम्भाव्यताओं के प्रश्न का सभी पहलुओं से अध्ययन, आवश्यक वर्तमान क्षमता को बनाये रखने की सिफारिश करना और शान्ति काल में युद्ध सम्भाव्यता के रूप में नयी क्षमता बढ़ाना और (ग) औद्योगिक उत्पादन की आयोजना में साधारणतः समन्वय लाना ताकि युद्ध काल की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अनेक अधीनस्थ समितियाँ भी हैं, जिनके नाम मोटे तौर पर उनके कृत्यों का संकेत देते हैं। ये हैं प्रधान प्रशासनिक अधिकारियों की समिति (सम्भारण और सामग्री), प्रधान प्रशासनिक अधिकारियों की समिति (कार्मिक), रक्षा-अनुसन्धान और विकास-नीति-समिति, संयुक्त आयोजना-समिति, संयुक्त आसूचना-समिति, संयुक्त प्रशासनिक-आयोजना-समिति और रक्षा-कारबार-बोर्ड।

आस्ट्रेलिया में सेना का प्रशासन उसी तरह एक सैन्य-बोर्ड द्वारा चलाया जाता है, जैसे कि इंगलैण्ड में पहले सेना परिषद् चलाती थी। इसी तरह नौसेना और वायुसेना का प्रशासन भी क्रमशः एक नौसेना-बोर्ड और एक वायुसेना-बोर्ड चलाते हैं। प्रत्येक सेना का मन्त्री अपनी-अपनी सेना के बोर्ड का प्रेसीडेंट होता है, पर हर मामले में बोर्ड का चेयरमैन सम्बन्धित सेना का प्रमुख ही होता है। बोर्ड बैठक में प्रेसीडेंट के न होने पर काम कर सकते हैं—करते भी हैं।

इस ढाँचे को मोटे तौर पर इस प्रकार बताया जा सकता है —
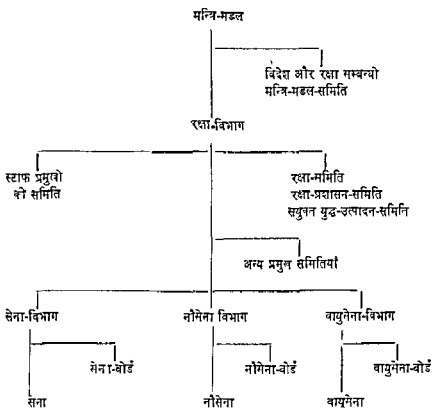
सोवियत रूस

सोवियत रूस और चीन जैसे देशों के रक्षा-तन्त्र की निकट तुलना किसी ऐसे संसदीय पद्धति की सरकार वाले दूसरे देशों के साथ नहीं की जा सकती, जहाँ सत्ताधारी दल को विहित सांविधानिक रीति से बदला जा सकता है। सोवियत संविधान में यह व्यवस्था है कि 'लाल सेना में सेवा करने वाले नागरिकों को राज्य के बाकी सभी नागरिकों की तरह समान रीति से चुनने और चुने जाने का अधिकार होगा।' ऐसी व्यवस्था तभी सम्भव होगी, क्योंकि प्रशासन सभी स्तरों पर शासी दल से पूर्णतः तादात्म्य प्राप्त कर चुका हो। दूसरा नतीजा यह होना है कि दल और सशस्त्र सेनायें अन्ततः पर्यायवाची बन जाते हैं। संसदीय प्रजातन्त्रों में सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों को किसी संसदीय दल का सदस्य बनने और उसके क्रियाकलाप में भाग लेने की अनुमति नहीं दी जाती। फिर भी उनको अपना वोट अपनी इच्छा के उम्मीदवार को देने की आज़ादी होती है (और उनका वोट गुप्त रहता है), पर यदि कोई सदस्य किसी विधान-मण्डल या किसी अन्य चुने जाने वाले लोकनिकाय की सदस्यता के लिए खड़ा होना चाहता है,

तो उसे सशस्त्र सेना की नौकरी से इस्तीफा देना होता है। लेकिन सोवियत रूस में सैन्य अधिकारी मन्त्रि-परिषद् के सदस्य बन सकते हैं। इस समय तीनों सेनाओं के कमांडर-इन-चीफ पदेन उप-मन्त्री हैं और रक्षा-मन्त्री भी सेनाओं में से ही नियुक्त किया जाता है।

रक्षा-मन्त्री के अधीन ये मुख्य सेनायें हैं, नामतः थलसेना, वायुसेना, नौसेना, वायु-रक्षा और स्ट्रेटेजिक रॉकेट-बल। इसके अलावा पृष्ठ सेनायें भी हैं और शस्त्र निदेशालय भी है। रक्षा-मन्त्री के अधीन पन्द्रह उप-मन्त्री होते हैं, जो उपर्युक्त एक-एक सेना और कुछ अन्य कार्यों को देखते हैं। सामान्य स्टाफ-प्रमुख और नौसेना-प्रमुख प्रथम डिप्टी होते हैं। सामान्य स्टाफ-प्रमुख थलसेना को प्रशासित करता है। वायुसेना हालांकि एक अलग सेवा है, पर उसे थलसेना का अभिन्न अंग माना जाता है।

सोवियत संघ में सुप्रीम सोवियत उच्चतम विधायी निकाय है। इसमें दो सदन होते हैं संघ की सोवियत और नेशनलिटीज़ (राज्यों) की सोवियत। संघ सोवियत का चुनाव सारे संघ के नागरिक करते हैं, जो भारत की लोकसभा की सवादी होती है। नेशनलिटीज़ की सोवियत हमारी राज्य सभा की तरह उच्च सदन है। सुप्रीम सोवियत की बैठक कभी-कभी ही होती है और अधिवेशनों के बीच इसका प्रतिनिधित्व एक स्थायी समिति करती है, जिसे प्रेसीडियम कहते हैं और जो सुप्रीम सोवियत की संयुक्त बैठक में चुनी जाती है। सुप्रीम सोवियत या इसकी प्रेसीडियम सांविधानिक रूप से सोवियत संघ की सशस्त्र सेनाओं के उच्चतर कमान को नियुक्त करने या हटाने के लिए और सामान्य नियन्त्रण रखने के लिए उत्तरदायी है। व्यवहारतः नियन्त्रण मन्त्रि-परिषद् रखती है।

राज्य का उच्चतम कार्यपालक प्राधिकार मंत्रि-परिषद है (जिसे १९४६ तक जन-कमिसारों की परिषद् कहा जाता था), जिसकी नियुक्ति सुप्रीम सोवियत करती है, और उसका अधिवेशन न होने समय वह प्रेसीडियम के प्रति उत्तरदायी होता है।

बदलने योग्य दल वाले प्रकार के देशों में रक्षा-मन्त्री सीधे निम्न विरचनाओं के पास आदेश नहीं भेजता। ये आदेश स्टाफ-प्रमुख या सम्बन्धित कमांडर-इन-चीफ के जरिये भेजे जाते हैं। पर सोवियत रूस में रक्षा-मन्त्री द्वारा विरचनाओं के कमांडरों के पास सीधे आदेश भेजे जा सकते हैं।

चीन

चीन में भी सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों को विधान-मण्डल या कार्यपालक निकायों में चुने जाने की आज़ादी होती है। जन गणराज्य का चेयरमैन राज्य का प्रमुख होता है। राज्य-परिषद् में प्रीमियर, १५ उप-प्रीमियर और मन्त्री होते हैं। यह भारत के मन्त्रि-मण्डल की समरूप है। सारे सरकारी संगठन पर, जिसमें मन्त्रालय, आयोग और विशेष अभिकरण होते हैं, नियन्त्रण राज्य-परिषद् द्वारा रखा जाता है।

रक्षा सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए सिद्धान्ततः चीन में उच्चतम प्राधिकार हाई-कमान है, जिसमें ये होते हैं : राष्ट्रीय जन-कांग्रेस की स्थायी समिति, साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति और राज्य-परिषद्। हाई कमान रक्षा समेत देश की नीति समग्रतः बनाता है। रक्षा मन्त्री हाई

कमान द्वारा बनायी गयी रक्षा नीति के अनुपालन के लिए जिम्मेवार होना है और उसे आवंटित बजट के ऊपर पूरी-पूरी शक्ति दी जाती है। रक्षा-सम्बन्धी मामलों में हाई कमान को राष्ट्रीय-रक्षा-परिषद् सलाह देती है। गणराज्य का चेयरमैन साथ ही राष्ट्रीय-रक्षा-परिषद् का भी चेयरमैन होता है, जिसमें १३ वाइस चेयरमैन और १०७ अन्य सदस्य होते हैं। रक्षा-मन्त्री राष्ट्रीय-रक्षा-परिषद् का एक वाइस चेयरमैन होता है और जन स्वाधीनता (लिबरेशन) सेना का सामान्य स्टाफ-प्रमुख उसका एक सदस्य होता है। हाईकमान और राष्ट्रीय-रक्षा-परिषद् दोनों ही बड़े-बड़े निकाय है और वे जल्दी-जल्दी नहीं बैठ सकते इसलिए चीन में साम्यवादी दल के पोलित ब्यूरो की शक्तिशाली सैन्य-कार्य-समिति ही रक्षा-सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण निर्णय करती है। सैन्य-कार्य-समिति के चेयरमैन का नाम कभी बताया नहीं जाता, पर विश्वास किया जाता है कि वह माओ त्से तुङ्ग स्वय है। वह लिन प्याओ भी हो सकते हैं, जिनको सामान्यत वाइस चेयरमैन के रूप में जाना जाता है। जन-स्वतन्त्रता-सेना के सामान्य स्टाफ-प्रमुख ही इस समिति के महासचिव होते हैं।

राष्ट्रीय-रक्षा-परिषद् के महत्वपूर्ण सदस्य केन्द्रीय प्रादेशिक समिति के पोलित ब्यूरो के भी सदस्य होते है और सैन्य-कार्य-समिति में भी प्रतिनिधि रहते है, इसलिए राज्य परिषद् और पोलित ब्यूरो के बीच सघर्ष की सम्भावना नहीं रहती चीन के अधिकाश शिखरस्थ नेता हर दशा में जन-स्वतन्त्रता सेना मे उच्च पदो पर रह चुके है और व सामान्य सैन्य समस्याओ से परिचित होते है।

चीन मे नौसेना और वायुसेना जन-स्वतन्त्रता-सेना के अग है और उनका नियन्त्रण रक्षा-मन्त्री द्वारा जन-स्वतन्त्रता-सेना के कमाण्डर-इन-चीफ की हैसियत से किया जाता है।

सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों म चीनी सेना के योगदान के बारे मे और खाद्य समस्या के निपटान के बारे म बहुत कुछ सुना गया है। पर इसमें कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों का योगदान है, जो अन्य देशों में लागू नहीं होती। वर्तमान सरकार के चीन मे सत्तारूढ होने से पहले स्वतन्त्रता-सेना एक सुसगठित सेना थी जिसे भारी लोकप्रियता मिली हुई थी। सेना को न केवल युद्ध करना पड़ता था, बल्कि सैनिकों के लिए मोर्चे पर अनाज पैदा करना होता था और उपस्कर और अन्य जरूरत की चीजो का उत्पादन भी करना होता था। इसलिए गृहयुद्ध के दिनों मे सेना, को पहले ही ऐसे कामो के लिए शिक्षण मिल चुका था और यह काफी आत्मा-वलम्बी सगठन था। सघर्ष समाप्त होने पर स्वतन्त्रता-सेना के सभी सदस्यो को सरकार ने जमीन दी और इन पर यह सामान्य नियम भी नहीं लगाया गया कि भूमि केवल जोतने वाले मालिक के पास ही रह सकती है।

निष्कर्ष

दूसरे देशों मे उच्चतर रक्षा-नियन्त्रण की योजना के इस विश्लेषण से प्रकट है कि भारत की तरह प्रत्येक देश में ढाँचा अपनी-अपनी जरूरतों के अनुसार गढ लिया गया है। रक्षा-

संगठन की आधुनिक प्रवृत्ति यही है कि तीनों सेनाओं को यथासम्भव अलग रखा जाय, पर उनके व्यक्तित्व का विलय न कर दिया जाय। इस दृष्टि से प्रत्येक सेना के लिए एक मन्त्री नियुक्त करना एक दूरगामी कार्य होगा और साथ ही समन्वय का पूर्ण प्रश्न खड़ा कर देगा। भारत में रक्षा-मन्त्री की समिति एक अद्वितीय संस्था है, जो बहुत उच्चस्तर पर समन्वय की भूमिका का ठीक तरह निर्वाह कर देती है। सेनाओं के प्रमुख न केवल अपनी-अपनी सेना का दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं, बल्कि तीनों सेनाओं की समग्र जरूरतों को व्यापक दृष्टि से भी देखते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

रक्षा-सचिवालय का मन्त्रालय

खण्ड—१ मन्त्रालय की नयी भूमिका

पूरे ब्रिटिश शासन काल में न केवल जनता और विधान-मण्डल के सदस्यों के लिए ही, बल्कि सिविल सेवा के भारतीय सदस्यों के लिए भी रक्षा सम्बन्धी मामले वस्तुत एक बन्द पोथी की तरह रहे। रक्षा संगठन और प्रशासन के बारे थोड़े से ही भारतीय असैनिक जनों को सीधा-सीधा ज्ञान और अनुभव था, क्योंकि शायद ही कोई भारतीय अधिकारी रक्षा-विभाग के सचिवालय में दूसरा महायुद्ध शुरू होने के बाद तक नियुक्त हुआ रहा हो। रक्षा-व्यय के अमत देय होने से रक्षा-विभाग विधान-मण्डल की छान-बीन से बचा रहता था और इसके सामने रक्षा-व्यय की विभिन्न मदों को न्यायोचित ठहराना जरूरी न था। इस व्यय में कोई कटौती विधानमण्डल में पेश नहीं की जा सकती थी, लेकिन सदस्य एग्जीक्यूटिव कौंसिल के अनुमानों में कटौती सुझाकर रक्षा-प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा छेड़ देते थे। हालाँकि १९२१ से विभाग-सचिव एक असैनिक व्यक्ति होने लगा था और पहले की तरह एक सैन्य अधिकारी न था, और सचिवालय के अन्य वरिष्ठ पदों पर भी आई. सी. एस. के सदस्य रहते थे, पर वे सभी ब्रिटिश अधिकारी ही होते थे। पहली बार १९३८ में ही एक भारतीय असैनिक अधिकारी को विभाग का एक अनुसचिव नियुक्त किया गया। युद्ध शुरू होने के बाद १९४१ में थोड़े से समय के लिए एक भारतीय आई सी एस अधिकारी अपर सचिव बनाया गया। जुलाई १९४२ में एक भारतीय आई सी एस अधिकारी (चन्दू लाल एम० त्रिवेदी) को विभाग का सचिव नियुक्त किया गया और जनवरी, १९४६ तक उस पद पर रहे। १९४४ में एक अन्य भारतीय आई सी एस अधिकारी को अपर सचिव नियुक्त किया गया। लेकिन १९४६ से सत्ता-हस्तान्तरण तक एक ब्रिटिश आई सी. एस अधिकारी (ए डी. एफ डुंडास) विभाग के सचिव रहे और उन्होंने पाकिस्तान जाने का विकल्प चुना। विभाग के मुसलमान सदस्यों ने भी पाकिस्तान जाने का विकल्प चुना।

विभाग के पूर्व-अनुभव वाले बहुत थोड़े से ही असैनिक व्यक्ति नये रक्षा-सचिवालय में नियुक्त करने के लिए उपलब्ध थे।

फिर भी सैन्य वित्त-विभाग में भारतीय अधिकारी काफी समय से उत्तरदायी पदों पर चले आ रहे थे। १९१६ में एक भारतीय अधिकारी सैन्य वित्त-विभाग का प्रमुख बन गया, जब कि उसे सैन्य महालेखाकार और रक्षा-वित्त-विभाग का अतिरिक्त वित्तीय सलाहकार नियुक्त किया गया। १९२५ में भारतीय अधिकारी उप-वित्त-सलाहकार और सहायक-वित्त-सलाहकार के पदों पर रहते आये थे। वस्तुतः सत्ता हस्तान्तरण के समय सैन्य वित्त-विभाग के बहुसंख्यक अधिकारी भारतीय थे। यह पहले बताया जा चुका है कि रक्षा-सदस्य के अधीन भूतपूर्व सैन्य-विभाग के समाप्त कर देने के बाद सैन्य वित्त-विभाग, जिसके पास रक्षा-व्यय की छानबीन करने का खास तौर पर एक मात्र उत्तरदायित्व था, धीरे धीरे कहीं ज्यादा जानकारी और महत्त्व प्राप्त करता जा रहा था, जबकि सेना (बाद में रक्षा) विभाग की उपक्रम क्षमता खत्म होती जा रही थी। इस तरह सैन्य वित्त-विभाग के अधिकारी सेनाओं के मुख्यालयों और रक्षा-मन्त्रालय दोनों को ही आजादी के बाद के आरम्भिक वर्षों में मार्गदर्शन दे सकते थे। दो-तीन दूसरे भारतीय अधिकारी भी थे, जो रक्षा-संगठन और उसकी समस्याओं के बारे में, सशस्त्र सेनाओं के विभाजन के सिलसिले में, अपने कर्तव्य के दौरान, काफी जानकारी प्राप्त कर चुके थे। उनमें से एक (एच. एम. पटेल) को सत्ता-हस्तान्तरण के बाद शीघ्र ही रक्षा-सचिव नियुक्त किया गया और दूसरे (बी. बी. घोष) को संयुक्त सचिव। रक्षा-मन्त्रालय को उसकी नयी जिम्मेवारियों के अनुरूप ढालने देने में इन दोनों अधिकारियों ने एक बड़ी भूमिका निभायी।

आजादी से पहले भारत की रक्षा-नीति का निर्माण करने की अन्तिम जिम्मेवारी भारत सरकार के ऊपर न रहने से, रक्षा-विभाग को इस रूप में रखा गया था कि नीति और संगठन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न निर्णयार्थ लन्दन भेजने की उसे आदत पड़ गयी थी। निर्णय आने पर वह उसे अमल में लाने के लिए सेना-मुख्यालयों के पास भिजवा देता था। इन प्रस्तावों को प्रशासनिक और वित्तीय दृष्टिकोण से अन्य विभागों की तरह स्वतन्त्र रूप से प्रस्तावों की जाँच करने की कोई जिम्मेवारी इस विभाग के ऊपर न थी। सभी वित्तीय आलेपन वाले प्रस्ताव इस विभाग के पास सैन्य वित्त-विभाग की जाँच के बाद आते थे और अक्सर उनके साथ विभाग द्वारा सरकारी आदेश के रूप में जारी करने के लिए आदेश का मसौदा भी रहता था। इस प्रस्ताव का अनुमोदन कमाण्डर इन चीफ की हैसियत से रक्षा-सदस्य पहले ही कर चुकते थे। इसलिए विभाग में उसकी आलोचनापूर्ण जाँच की प्रत्यक्षतः कोई अपेक्षा न रहती थी। बाहर या दूसरे विभागों से प्राप्त पत्र प्रायः स्वतः ही सेना मुख्यालयों के पास जरूरी कार्रवाई करने या दिये जाने वाले उत्तर का रूप सुझाने के लिए भेज दिये जाते थे। विभाग एक प्रकार का प्रतिष्ठित डाकघर बन गया था। इस तरह विभाग के अधिकारियों को रक्षा-प्रशासन की समस्याओं के बारे में कल्पनाशीलता के साथ अपना मन लगाने के लिए कोई जरूरत या गुन्जाइश तक न रही थी। इसका असर यह हुआ था कि उनकी उपक्रम क्षमता ही निःशेष हो गयी थी। १५ अगस्त, १९४७ से विभाग की भूमिका और उत्तरदायित्व स्वभावतः बिलकुल बदल गये। अब यह अतीत की तरह रक्षा सदस्य के भी रूप में काम कर रहे कमाण्डर इन-चीफ द्वारा पहले से ही अन्तिम रूप दिये गये सरकारी आदेशों को जारी करने का एक कार्यालय मात्र न

रह सकता था। अब विभाग को स्वतन्त्र रूप से निर्णय तैयार करने पड़ते थे, जिसके लिए कोई बाह्य मार्गदर्शन न मिलता था और रक्षा-मन्त्री और मन्त्रिमण्डल को उन महत्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में सलाह देनी पड़ती थी, जिनके लिए मन्त्रिमण्डल का निर्णय अपेक्षित था। रक्षा-नीति सम्बन्धी प्रमुख प्रश्नों पर विशुद्ध सैन्य शब्दों में केवल चर्चा ही नहीं की जा सकती थी बल्कि उनकी देश की विदेशनीति और अर्थनीति के प्रसंग में भी जांच करनी होती थी।

आजादी के पहले कुछ वर्षों में दूरगामी प्रतिफलों वाले विषयों को निपटाना पड़ा और नये और अप्रत्याशित प्रश्न उठ खड़े हुए, जो अतीत में रक्षा-संगठन और रक्षा-सचिवालय से पूरी तरह परिचित चले आये अधिकारियों के लिए भी कठिन थे। नये रक्षा-विभाग-सचिवालय के अधिकारी हालांकि अपने काम में नये थे, पर उनको अपने विशाल उत्तरदायित्व से प्रेरणा मिली। अड़चनों के बावजूद सत्ता हस्तान्तरण के बाद पहले कुछ वर्षों में एक सक्षम रक्षा-सचिवालय की नींव अच्छी और पक्की तरह से जमा दी गयी।

२६ अगस्त, १९४७ से भारत-सरकार के सभी विभाग मन्त्रालय कहे जाने लगे। इस तरह रक्षा-विभाग रक्षा-मन्त्रालय बन गया और सैन्य वित्त-विभाग वित्त-मन्त्रालय (रक्षा)। नये रक्षा-मन्त्रालय के प्रसंग में यह केवल नाम का ही परिवर्तन न था, बल्कि अब उसकी भूमिका पूरी तरह बदल गयी थी। उसे निर्वाचित संसद के प्रति उत्तरदायी एक लोकतन्त्रीय सरकार के निर्णयों का निर्माण करने और कार्यान्वित करने में मदद देने के एक प्रभावी साधन के रूप में परिवर्तित करना था।

ब्रिटिश काल में, जब कमांडर-इन चीफ तीनों सेनाओं का सर्वप्रमुख था, वही तीनों सेनाओं की जरूरतों से सम्बन्धित सभी प्रमुख कार्यों का समन्वय करता था। सामान्यतः जो प्रस्ताव उसे स्वीकार न थे, रक्षा-विभाग के सामने न आ सकते थे।

जब १५ अगस्त, १९४७ को कमांडर-इन-चीफ तीनों सेनाओं के सर्वप्रमुख न रहे, और बदले में उनकी जगह तीन सेना प्रमुख नियुक्त किये गये, तो तीनों सेनाओं को समन्वित और एकबद्ध रखने का महत्वपूर्ण कार्य रक्षा मन्त्रालय के ऊपर आ पड़ा। समन्वय का अर्थ यह नहीं कि तीनों सेनाओं के विचारों को नत्थी कर दिया जाय। अक्सर ये विचार भिन्न-भिन्न भी होते थे, क्योंकि उनकी आवश्यकताओं में अन्तर था। एक का काम जमीन पर था, दूसरी का समुद्र पर और तीसरी का वायु में। इसलिए अब यह मन्त्रालय का काम था कि सेनाओं की समस्याओं को क्या सापेक्ष बल दिया जाय और अधिकाधिक सीमा तक, जितना संभव हो, समरस और एकबद्ध नीति बनाने के लिए जरूरी रामञ्जनों के बारे में सलाह दे।

रक्षा-सेनाओं सम्बन्धी नियम और विनियम, जो रक्षा-सेनाओं के सदस्यों को प्रशासनिक और वित्तीय मामले में बुनियादी मार्ग दर्शन देते हैं, पिछली बार १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के प्रवृत्त होने के बाद संशोधित किये गये थे। १९३९ में युद्ध शुरू हो जाने के बाद, युद्ध-आपात का सामना करने के लिए, नये अनुदेश और आदेश जारी करने पड़े। सत्ता-हस्तान्तरण के बाद स्थायी विनियम व्यवहारतः पुराने पड़ गये, क्यों कि वे ब्रिटिश प्राधिकार के सन्दर्भ में बनाये गये थे। रक्षा-संगठन के सदस्यों के लिए यह एक बड़ी बाधा सिद्ध हुई।

स्वभावत जब विनियम कोई भी मार्ग दर्शन न दें, तो आदेश के लिए सरकार को सन्दर्भ भेजना ही होता था और मन्त्रालय के पास आजादी के बाद के पहले कुछ वर्षों मे आने वाले इन सन्दर्भों की संख्या स्वभावत काफी ज्यादा थी।

फिर युद्ध के दौरान आग्रह इस बात पर था कि रक्षा सम्बन्धी जरूरतो को बडी तेजी के साथ पूरा किया जाय। सभी मामलो में यह सम्भव नही रहता था कि विशद नियम-विनियमो का पालन किया ही जाय। फलस्वरूप बहुत काफी संख्या मे अनियमिततायें (इस शब्द का अर्थ हर मामले में किये गये व्यय की मद या अपनायी गयी प्रक्रिया का वह रूप था, जो प्रवृत्त विनियमो या आदेशो के अनुसार न थी) युद्ध काल मे और उसके बाद इकट्ठी हो गयी थी। १५ अगस्त, १९४७ के तुरन्त बाद भारत की रक्षा-सेवाओ ने अपने आपको इन अनियमितताओं के भारी सचय से घिरा पाया, जो लेखा-परीक्षा की आपत्तियाँ बन चुकी थी। हालाँकि जुलाई, १९४७ मे निम्नतर सैन्य विरचनाओ को ज्यादा शक्तियो का प्रतिनिधान करने के लिए विशेष कदम उठाये गये थे, इन आपत्तियो को साफ करना एक ऐसा बडा काम था, जो आजादी के बाद के कुछ वर्षों मे कर्मचारियो के समय और शक्ति का काफी अश ले लेता था। इन आपत्तियो का निपटान खासकर इस कारण मुश्किल हो गया कि उन अधिकारियों के बिना, जो कि या तो सेवा-निवृत्त या सेवा-मुक्त हो गये थे या जिन्होने पाकिस्तान जाने का विकल्प चुना था, समुचित जाँच न हो सकती थी। ये कारण अपने-आप मे बडे महत्व के भले ही न लगें, पर उन सब ने मिल कर नये रक्षा-सगठन के कार्यकरण मे आरम्भ के दिनो मे सचित प्रभाव डाला था।

युद्ध के तुरन्त बाद रक्षा-सेनाओ के वेतन-मान में सुधार के प्रश्न पर विचार करना जरूरी हो गया। आजादी के बाद, कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यो के अनुकूल करने को दृष्टि से, वेतन-सहिताओं में सुधार किया गया और पेन्शन-सहिताओ को भी बिलकुल नया रूप दिया गया।

सशस्त्र सेनाओं की अनुशासन-संहिता मे भी पूरा-पूरा सुधार करना जरूरी था, ताकि प्रत्यक्ष त्रुटियाँ दूर हो जायें और एक राष्ट्रीय रक्षा-सेना की जरूरतो की पूर्ति की जा सके।

मन्त्रालय को रक्षा-सेनाओ के असैनिक व्यक्तियो की समस्याओ का भी समाधान करना पडा, जो युद्ध के बाद, और खासकर आजादी के बाद काफी महत्व की बन गयी थी। युद्ध के खत्म होने के बाद तक थलसेना मुख्यालय, नौसेना मुख्यालय और वायुसेना मुख्यालय को यथा सम्बन्धित शाखायें उनके अधीन काम करने वाले असैनिको सम्बन्धी प्रश्नो का निपटान करती थी और यथावश्यक रक्षा या युद्ध-विभाग के आदेश प्राप्त कर लेती थी पर शीघ्र यह समझ में आ गया कि सरकार द्वारा, असैनिक विभागो के कर्मचारियो "के बारे मे लिये गये निर्णयो के प्रकाश मे, रक्षा-सेवाओ मे काम कर रहे सभी असैनिक कर्मचारियो के लिए भी एक समान नीति होनी चाहिये।

सेवा की शर्तों वाले अध्याय मे उन उपायो का विवरण दिया गया है, जो इस बारे में अपनाये गये।

ब्रिटिश शासन काल में, जब रक्षा-व्यय अमतदेय था और रक्षा प्रशासन के सम्बन्ध में चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से ही उठायी जा सकती थी, विधान-मण्डलो के अधिवेशन का अर्थ रक्षा-विभाग के लिए कोई अतिरिक्त काम बढ जाना नहीं होता था। रक्षा-विभाग में प्राप्त सभी प्रश्न उत्तरो के मसौदो के लिए सेना मुख्यालयो के पास भिजवा दिये जाते थे।

१५ अगस्त, १६४७ से रक्षा-व्यय विधान-मण्डल की छानबीन के अधीन आ गया। *वित्तीय प्रशासन की व्यौरेवार जाँच लोक-लेखा-समिति करती है और सगठन ढाँचे की* प्रभाविता की जाँच नवनिर्मित प्राक्कलन समिति करती है।

विधान-मण्डल रक्षा के मामलो के बारे स्वभावत अधिकाधिक रुचि ले रहा है, जो बढती जा रही है। उदाहरण के लिए १६४८ मे रक्षा-मन्त्री ने भारत की सविधान-सभा (विधायी) में २०७ प्रश्नो के उत्तर दिये। १६६१ मे ससद के दोनो सदनो में १५८४ प्रश्न भेजे गये, जिनमे से ७८२ के उत्तर दिये गये, १६६२ में ये आँकडे १६०५ और ६२२ थे। १६६२ मे सदस्यो द्वारा ससद-सचिवालय में दिये गये प्रश्नो को मन्त्रालयो के पास भेजने की कार्यविधि मे प्रत्यक्षत कुछ परिवर्तन किया गया। १६६५ में रक्षा-मन्त्रालय के पास ११७६ प्रश्न आये, जिनमें से दोनों सभाओ मे ८३२ के उत्तर दिये गये। प्राप्त हुए सभी प्रश्नो के बारे मे तथ्य इकट्ठे करने होते थे। ये प्रश्न काफी सख्या में प्राप्त स्थगन प्रस्ताव, ध्याना-कर्षण प्रस्ताव आदि की सूचनाओ के अलावा होते थे। अनेक मामलो में पूरे देश मे फैली यूनिटें और विरचनाओ से जानकारी इकट्ठी करनी होती थी।

नये ढाचे मे ससदीय प्रश्नो को प्रारूप उत्तर तैयार करने के लिए सेना-मुख्यालयो के पास ही नही भेजा जा सकता था। उन सभी की पहले रक्षा-मन्त्रालय में जाच करनी होती थी और सेना मुख्यालयो से उतनी ही जानकारी मँगानी होती थी, जो मन्त्रालय में तत्काल उपलब्ध न हो। कुछ मामलो में, जैसे नीति के प्रश्नो मे, उत्तर स्वत सचिवालय मे ही तैयार करने होते थे। दूसरे मामलो में प्रश्नो का उत्तर देने के लिए अपेक्षित सामग्री इकट्ठी करनी होती थी। *कभी-कभी यह भी जरूरी होता था कि दूसरे मन्त्रालयो से भी सलाह की जाय*, ताकि यह आश्वस्त किया जा सके कि पूरी जानकारी देने के साथ ही उत्तरो मे पूरी भारत सरकार की सामान्य नीति का भी सही-सही प्रतिफलन हो।

इन नयी अपेक्षाओ की पूर्ति के लिए एक पूर्णकालिक ससद्-अनुभाग मन्त्रालय मे १६४८ में *खोला गया। यह भी व्यवस्था की गयी कि ससद की कार्यवाही के सिलसिले में सेना* मुख्यालयो द्वारा भेजी गयी सामग्री का अनुमोदन कम से कम सम्बन्धित प्रधान स्टाफ-अधिकारी द्वारा किया जाय।

पहले जब रक्षा-व्यय विधान-मण्डल द्वारा मतदेय न था, सशस्त्र सेनाओ के बारे मे व्यौरेवार जानकारी प्राप्त करने के लिए कोई भी अवसर न था। इगलैण्ड और दूसरे पश्चिमी लोकतान्त्रिक देशो में, जहाँ अनिवार्य सैन्य-सेवा की पद्धति है, वहाँ विधान मण्डलो के सदस्यो को रक्षा-सेनाओ के बारे में, युद्धकाल में सेना में सेवा करने के कारण या शान्ति काल मे अनिवार्य सैन्य सेवा के कारण, रक्षा-सेनाओ के बारे में प्राथमिक जानकारी प्राप्त करने का

मौका मिल चुका होता था। भारत के संसद्-सदस्यों को ऐसा कुछ अनुभव न था। अगस्त, १९४७ में भारत की संविधान सभा (विधायी) में विभिन्न विभागों के लिए स्थायी समितियाँ बनायी गयी। पहली संसद के चुनाव के बाद इनको विघटित कर दिया गया और अक्तूबर, १९५४ में दोनों सदनों के लगभग ३५ सदस्यों की अनौपचारिक परामर्श-समितियाँ बना दी गयी। ये समितियाँ संविहित या विशुद्ध संसदीय समितियाँ नहीं है, लेकिन उनका उद्देश्य है कि सदस्यों को मन्त्रालयों के कार्यकरण से निकट से परिचित रखा जाय। रक्षा मन्त्रालय विभिन्न रक्षा-संस्थापनों में संसदीय सदस्यों के दौरों की भी व्यवस्था करता रहा है। इस प्रकार के कार्यों से संसद-सदस्य रक्षा-विषयों के बारे में जानकारी पूर्ण अभिमत बना सकने में समर्थ हो जाते है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सत्ता-हस्तान्तरण से पहले सभी प्रस्तावों पर आरम्भ में ही तीन सेना-मुख्यालयों और सैन्य वित्त विभाग के बीच चर्चा की जाती थी और फाइलें रक्षा-मन्त्रालय मे उसी समय पहुँचती थीं, जब सरकारी आदेश निकलने की ही बात रह जाती थी। पर आजादी के बाद से सभी प्रस्तावों पर अनेक दृष्टियों से विचार करना होता है, जो पहले विचारणीय न थे। पुनर्गठित रक्षा-विभाग को उसके नये उत्तरदायित्वों के अनुकूल तैयार करना निश्चय ही एक बड़ा काम था। परिवर्तन क्रमश: ही हो सकता था। वस्तुत: ३० नवम्बर, १९४७ को, सुप्रीम कमांडर का मुख्यालय बन्द करने तक, भारत के रक्षा-मुख्यालयों के विभिन्न अनुभाग असली काम पर जम भी न पाये थे।

१५ अगस्त, १९४७ के बाद भी सेना-मुख्यालयों द्वारा अपने प्रस्ताव पहले वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के पास मंजूरी के लिए भेजने की पुरानी कार्यविधि कुछ समय तक चलती रही। इसमें एक बड़ी हानि थी। रक्षा-सेनाओं के प्रशासन के लिए मन्त्रिमण्डल और संसद के प्रति उत्तरदायी रक्षा-मन्त्री, इन समस्याओं से और सेनाओं की जरूरतों से, तब तक अनभिज्ञ रहते थे, जब तक वे प्रस्ताव बहुत कुछ निष्पन्न रूप में रक्षा मन्त्रालय न पहुँच जाते थे। कभी-कभी सेनाओं के ऐसे प्रस्ताव रक्षा-मन्त्रालय के पास आते तक न थे, क्योंकि वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) द्वारा किये गये विरोध के कारण वे सेना मुख्यालयों द्वारा स्वत: ही वापस करके रख लिये जाते थे।

यह प्रत्यक्ष है कि सैन्य आवश्यकताओं के प्रश्नों को केवल वित्तीय आधार पर नहीं आँका जा सकता। यह भी कल्पनीय है कि कोई प्रस्ताव वित्त-मन्त्रालय को स्वीकार हो और उसे कार्यान्वित करने के लिए बजट में पैसे की भी व्यवस्था हो सकती है, पर वह प्रशासनिक दृष्टि से वाञ्छनीय न हो, अथवा इसकी कार्यान्विति से अन्यत्र दुष्प्रभाव पड़े या परेशानी खड़ी हो जाय। इसलिए यह जरूरी है कि रक्षा-मन्त्रालय और उसके जरिए रक्षा-मन्त्री को सेनाओं के सामान्य कार्य संचालन के लिए और नीति के प्रश्नों के लिए सबसे आरम्भ के चरण से ही इन प्रस्तावों के साथ ज्यादा सीधे-सीधे सम्बन्धित होना चाहिए। पर साथ ही यह भी बड़ी घातक त्रुटि होती यदि विशुद्धत: ऐसी मामले भी सेना-मुख्यालयों द्वारा रक्षा-मन्त्रालय के पास भेजना जरूरी बना दिया जाता। फिर भी यह बताना बहुत मुश्किल है कि कौन-सा प्रस्ताव

यथार्थ में महत्वपूर्ण है और कौन-सा नहीं। यह अन्ततः ऐसी बात है, जो निर्णय के लिए अधिकारियों के ऊपर ही छोड़ दी जानी चाहिए। फिर भी, महत्वपूर्ण मामलों की एक निदर्शनात्मक सूची तैयार की गयी और १९४९ के आरम्भ में यह निर्णय लिया गया कि ऐसे मामलों के बारे में सेना-मुख्यालयों को अपने प्रस्ताव पहले रक्षा-मन्त्रालय के पास भेजने चाहिये। पहले की तरह सबसे प्रथम वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के पास नहीं। इसके बाद, प्रत्येक प्रस्ताव की सभी प्रकार से जाँच करना रक्षा-मन्त्रालय का काम होगा और जब प्रस्ताव पर प्रशासनिक अनुमोदन दिया जा सके, तभी वह सम्बद्ध खर्च की मंजूरी देने के लिए रक्षा-मन्त्रालय (वित्त) के पास भेजा जा सकेगा। मन्त्रालय में इस आरम्भिक जाँच का अर्थ है कि वहाँ पर सेनाओं की समस्याओं, उनकी प्रथाओं-परम्पराओं, नियमों-विनियमों आदि के बारे में काफी जानकारी उपलब्ध हो। यह राष्ट्रीय सरकार की नयी समग्रीण नीति की समझने की भी माँग करता है। अब रक्षा-मन्त्रालय के अधिकारियों को, सेना की जिस शाखा से वे सम्बद्ध थे, उसके काम में भारी रुचि लेनी होती थी और सामान्यतः समग्र रक्षा-संगठन में होने वाले विकासों से अपने को परिचित रखना होता था। इससे मन्त्रालय में परीक्षणार्थ आने वाली समस्याओं के प्रति विषयनिष्ठ और स्वतन्त्र दृष्टिकोण बनाने के लिए भी प्रोत्साहन मिला। यह नयी पद्धति इसलिए चालू की गयी थी कि मन्त्री या मन्त्रि-मण्डल को सलाह देने के अपने नये विधि सम्मत कर्तव्य का विशेषज्ञ निर्वाह कर सके और इसके लिए वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के विधि सम्मत कृत्यों के किसी भी प्रकार आड़े न आये, जो सभी प्रस्तावों की वित्तीय दृष्टि से जाँच करने के लिए प्रथमतः सम्बन्धित बना रहा था।

संक्रमण-काल में यह प्रत्याशित ही था कि आरम्भिक जाँच की प्रक्रिया में मन्त्रालय के अनुभाग कभी-कभी सेना मुख्यालयों से कुछ ऐसी विस्तृत जानकारी मँगायें, जो तब जरूरी न होती, जब मन्त्रालय के कर्मचारी पिछले निर्णयों और चालू व्यवहारों से अच्छी तरह परिचित होते। लेकिन वित्त मन्त्रालय (रक्षा) अपने पिछले अनुभव के आधार पर उतने ही गहरे प्रश्न पूछता और तब भी ब्यौरों की यद्यपि अधिक नहीं तो कुछ जरूरत पड़ती है। आरम्भ में सेना-मुख्यालयों को शायद यह नयी पद्धति परेशान करने वाली लगी होगी। फिर भी मन्त्रालय का अभीष्ट, अनुचित बाधा और विलम्ब खड़ा करके, गाड़ी का पाँचवाँ पहिया बनना कदापि न था। यह समझ लिया गया कि नयी पद्धति से सेनाओं का काम कहीं ज्यादा आसान हो जाना चाहिये। एक बार जब मन्त्रालय सेनाओं के प्रस्ताव पर प्रशासनिक अनुमोदन दे देता है, तो फिर यह मन्त्रालय की जिम्मेवारी हो जाती है कि वह उपयुक्त अधिकारी के पास से आवश्यक वित्तीय मंजूरी भी प्राप्त कर ले। लेकिन सेनाओं को सुविचारित प्रस्ताव ही भेजने चाहिये, कि जिनके ठोस होने का वह रक्षा-मन्त्रालय को पूरा विश्वास दिला सकें। अपनी ओर से इतना कर देने के बाद, उनको यह मानने के लिए तैयार रहना चाहिये कि कुछ ऐसे प्रस्ताव हो सकते हैं, जिनके बारे में उनका अपना अभिमत भले ही दृढ़ हो पर वह कभी-कभी प्रशासनिक और वित्तीय कारणों से, सरकार की अन्य समग्र नीति के प्रसंग में, सरकार को मान्य न हो। ऐसी स्थिति में संसद और जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार को ऐसे निर्णय के प्रतिफल की सारी जिम्मेवारी झेलनी होगी और सेनाओं को अपनी ओर से इन निर्णयों का

निष्ठापूर्वक पालन करना होगा।

नयी कार्यविधि शुरू हो जाने के बाद भी सेना-मुख्यालय द्वारा रखी जाने वाली फाइलों में ही सरकार के निर्णय अभिलिखित होते रहे और ये फाइलें उनको लौटा दी जाती थी। सेना-मुख्यालयों को फाइलें लौटाने के इस चलन ने कुछ दिक्कतें पैदा कर दीं, क्योंकि नये प्रस्तावों को निपटाने में उन चर्चाओं का उल्लेख करना होता था, जो पहले सेना-मुख्यालयों की फाइलों पर अभिलिखित की जा चुकी थी, और फाइलें उनको लौटा दी गयी। यह अनुभव किया गया कि उन सभी विषयों के निपटान के लिए मन्त्रालय की अपनी ही फाइलें होनी चाहिये, जो उसके सामने निपटान के लिए आयें। पर यह आसान काम न था और यह ऐसी अनेक फाइलों को देखकर ही किया जा सकता था, जो कि सेना मुख्यालयों में ही उपलब्ध थी। इस संक्रमण में कुछ समय तो लगना ही था, पर आरम्भ करना भी जरूरी था। इसलिए मई, १९५२ में यह फैसला किया गया कि सभी महत्वपूर्ण मामलों में रक्षा-मन्त्रालय को अपनी अलग फाइलें रखनी चाहिये। उस समय अपनायी गयी कार्यविधि यह थी कि सेना-मुख्यालय अपने प्रस्ताव स्वतः पूर्ण टिप्पण के रूप में भेजते थे और उस विषय पर यदि उपलब्ध हुआ तो पहले का सन्दर्भ भी भेज देते थे। इस टिप्पण के प्राप्त होने पर मन्त्रालय का सम्बन्धित अनुभाग अपनी एक फाइल खोल कर जरूरी जाँच करता था। अगर मन्त्रालय को प्रस्तावित उपाय से सन्तोष होता था, और यदि मामला विशुद्धतः प्रशासनिक रूप का ही होता था, तो सरकार के आदेश सीधे-सीधे सेना-मुख्यालयों के पास भेज दिये जाते थे, जो या तो एक स्वतःपूर्ण टिप्पण से, अथवा अगर मुख्यालय की कोई फाइल मन्त्रालय के पास आयी होती थी तो उस फाइल पर ही अभिलिखित करके भेजे जाते थे। अगर दूसरे मन्त्रालयों को सन्दर्भ भेजना जरूरी होता था, तो उनसे भी परामर्श किया जाता था, जो साधारणतः पृथक् सञ्चार द्वारा होता था और तभी अन्तिम निर्णय लिया जाता था। जब किस प्रस्ताव में वित्तीय आलेपन होते थे तो मन्त्रालय उस मामले को सहमति के लिए वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के पास भिजवा देता था। दूसरी ओर अगर कोई स्पष्टीकरण या और जानकारी अपेक्षित होती थी तो वह अलग टिप्पण भेज कर मुख्यालय से मँगा ली जाती थी और सामान्यतः रक्षा मन्त्रालय की फाइल उनके पास न भेजी जाती थी। सेना-मुख्यालयों को आखीर में सरकार का अन्तिम निर्णय ही बताया जाता था और यह जरूरी न था कि उसके पूर्व रक्षा-मन्त्रालय और वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के बीच जो ब्यौरेवार चर्चा चली थी, वह भी उनको बतायी जाय। लेकिन किसी निर्णय पर पहुँचने के सब कारण सामान्यतः सेना-मुख्यालय को बता दिये जाते थे।

नयी कार्यविधि के अधीन सेना-मुख्यालयों के सभी मामले रक्षा-मन्त्रालय के पास भेजे जाते थे, पर यदि मामला केवल वित्तीय होता था, जैसे कि निर्माण-कार्य के प्राक्कलनों की जाँच करना, भण्डार मँगाने के इंडेंट, बजट अनुमान आदि, जहाँ कोई नयी नीति निर्णय अन्तर्ग्रस्त न होती थी, तो सेना-मुख्यालय वह प्रस्ताव सीधे ही वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के पास भेज देते थे।

नयी पद्धति का अभिप्राय यह भी हुआ कि भारत सरकार के अन्य मन्त्रालयों, राज्य-

सरकारी आदि से प्राप्त सन्दर्भों के निपटान की रीति में भी अन्तर आ गया। पहले ऐसे सन्दर्भ यान्त्रिक रूप से सम्बन्धित सेना-मुख्यालय के पास टिप्पणी या जरूरी कार्रवाई तक के लिए भेज दिये जाते थे। नयी व्यवस्था में मन्त्रालय के अनुभाग का यह कर्तव्य हो गया कि जहाँ कहीं भी सम्भव या जरूरी हो, उस दिशा का संकेत दे दे, जिनके अनुसार वह प्रस्ताव विशेषज्ञ की जाँच के लिये आगे बढ़ाये। इसके लिए उन्हें हर मामले में सरकार की जानी-मानी नीति को ध्यान में रखना पड़ता था या प्रथमतः उसकी प्रशासनिक-सार्थकता पर विचार करना होता था।

विलम्ब और काम का दुहरापन मिटाने की दृष्टि से इस व्यवस्था का पुनर्विलोकन किया गया और अक्तूबर, १९५८ में कुछ और आदेश निकाले गये। इसके अनुसार किसी एक विषय पर सेना-मुख्यालय और मन्त्रालय के बीच केवल एक ही फाइल होनी चाहिये और उसमें सारे टिप्पण होने चाहिये तथा वह सर्वत पूर्ण होनी चाहिये। नीति से सम्बन्ध न रखने वाले विषयों की फाइलें सेना-मुख्यालय द्वारा पहली बार सीधे ही वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के पास भेज देनी चाहिये। सेना-मुख्यालयों को यह भी अधिकार दिया कि नेमी और तकनीकी स्वरूप वाले और नीति को अन्तर्ग्रस्त न करने वाले अनेक मामलों में वे असैनिक मन्त्रालयों के साथ सीधे ही पत्राचार कर सकते हैं। अप्रैल, १९५९ में सेना-मुख्यालयों और निम्नतर विरचनाओं को अतिरिक्त वित्तीय शक्तियों का भी प्रतिनिधान किया गया।

मन्त्रालय के अनुभागों के बीच काम के बँटवारे के बारे में भी एक महत्वपूर्ण नयी पद्धति शुरू की गयी। आरम्भ में हर अनुभाग को किसी खास शाखा या सेना सम्बन्धी काम सौंपा गया था और उन सभी मामलों में, जहाँ समग्र रक्षा-सेनाओं की ओर से दूसरे विभाग को या अन्यत्र समेकित जानकारी भेजनी होती थी, विशेष या प्रकीर्ण अनुभाग ही विभिन्न शाखाओं द्वारा भेजी गयी जानकारी को संकलित करता था। (अतीत में प्रमुख मामलों में तीनों सेनाओं के विचार या जरूरतों का समन्वय करने की कोई समस्या रक्षा-विभाग में न थी, क्योंकि सभी प्रयोजनों से व्यवहारतः यह काम करने की कोई समस्या रक्षा-विभाग में न थी। सभी प्रयोजनों से व्यवहारतः यह काम कमांडर-इन-चीफ स्वयं कर रहे थे। पर अब चूँकि तीन स्वतन्त्र सेनाओं के तीन अलग-अलग प्रमुख थे, यह मन्त्रालय का उत्तरदायित्व हो गया कि वह आश्वस्त करे कि यथासम्भव सीमा तक एक समान नीति अपनायी जाय और एक सेना के बारे में लिये गये निर्णयों का प्रतिफलन अन्य सेनाओं पर न पड़े। इस उद्देश्य से मन्त्रालय के कुछ अनुभागों को कुछ ऐसे खास विषय सौंपे गये, जो सभी सेनाओं के व्यक्तियों के लिए एक समान थे। रक्षा-संगठन में नियुक्त असैनिक व्यक्तियों सम्बन्धी सभी मामले भी मन्त्रालय के कुछ अनुभागों को सौंपे गए।

रक्षा, उद्योग और सशस्त्र सेना सूचना-कार्यालय जैसे संगठन सीधे मन्त्रालय के ही अधीन ले आये गये, नये संगठन खड़े किये गये, और जो संगठन पिछले रक्षा-विभाग के अधीन थे, जैसे सैन्य भूमि और छावनी निदेशालय, भारतीय सैनिक, नौसैनिक और वायु सैनिकों का बोर्ड और सैन्य विनियमों और फार्मों का निदेशालय—उनको नये ढाँचे के अनुरूप नयी दिशा दी गयी। इनमें से कुछ का वर्णन या संक्षिप्त ब्योरा आगे के अध्यायों में दिया गया है।

पेन्शन शाखा के काम का एक ब्यौरा इसी अध्याय में आगे चलकर दे दिया गया है। युद्ध के फलस्वरूप और धर्मचर्या-विभाग के बन्द कर देने के फलस्वरूप, जो रक्षा-विभाग के अधीन था, इस शाखा में काफी विस्तार हुआ है।

इस बात की भी जरूरत समझी गयी कि मन्त्रालय के अनुभागों के बीच काम का वितरण अब ज्यादा सरलता से बोधगम्य बना दिया जाय। पहले रक्षा-विभाग के अनुभागों के नाम थे—रक्षा-१, रक्षा-२ (डी-१, डी-२) आदि और युद्ध-विभाग के अनुभागों के नाम थे—युद्ध-१, युद्ध-२ (डब्ल्यू-१, डब्ल्यू-२) आदि। रक्षा-मुख्यालयों के नवागतों को तत्काल यह याद रखने में कुछ समय लगता था कि प्रत्येक अनुभाग को क्या काम मिला हुआ है और किसी कार्य विशेष के लिए किस अधिकारी विशेष से सम्पर्क स्थापित किया जाय। इसलिए फरवरी, १९५१ में यह तय किया गया कि अनुभागों के नामों से स्थूल रूप में उनके द्वारा किये जाने वाले काम का संकेत मिलना चाहिये। इसलिए डी-१ अब डी (जी एस) बन गया अर्थात् यह सामान्य अमला शाखा का काम निपटाता है और डी-२ डी (नेवी) बन गया और इसी तरह अनुभागों को भी नये नाम दिये गये।

भारतीय सशस्त्र सेनायें अविभाजित भारत के आधार पर खड़ी की गयी थी। विभाजन के कारण कार्मिकों, सामग्री, संस्थापन, प्रशिक्षण आदि में कुछ अभाव आ गये। इन सभी को अविलम्ब सुधारना था। इन पहलुओं को आगे के अध्यायों में लिया गया है।

खण्ड-२ : वित्त-मन्त्रालय (रक्षा)

अब वित्तीय और लेखा-संगठन का विवरण देना अभीष्ट है। वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) का प्रमुख, वित्तीय सलाहकार है, जो रक्षा-व्यय की छानबीन के लिए वित्त-मन्त्री के प्रति उत्तरदायी है। यह याद रखना होगा कि १९१९-२० में बनी 'एशर-समिति' की सिफारिश के अनुसार सेना-मुख्यालय की प्रत्येक प्रमुख शाखा के साथ-साथ एक-एक उप वित्तीय सलाहकार संलग्न किया गया था। यह अब भी चल रहा है। अब भी सेना-मुख्यालय की प्रत्येक शाखा के साथ (सैन्य सचिव की शाखा को छोड़कर) नौसेना-मुख्यालय, वायुसेना-मुख्यालय, रक्षा-उत्पादन, पेन्शन और बजट के साथ एक एक उप वित्तीय सलाहकार संलग्न है। इन वर्षों में इन अधिकारियों की संख्या बढ़ी है। प्रमुख व्यक्तिक-अधिकारी-समिति से भी एक उप वित्तीय सलाहकार जुड़ा है और दूसरा प्रमुख पूर्ति-अधिकारी-समिति से। उप वित्तीय सलाहकारों के अलावा ऊपरी स्तर पर अपर वित्तीय सलाहकार भी है। वित्तीय सलाहकार सरकार के अपर सचिव की हैसियत के हैं, अपर वित्तीय सलाहकार संयुक्त सचिव की हैसियत के, उप वित्तीय सलाहकार उप सचिव के, और सहायक वित्तीय सलाहकार अवर सचिव के।

सैन्य-व्यय अन्तर्ग्रस्त करने वाले सभी प्रस्तावों की जाँच करने में वित्तीय सलाहकार काफी निकट रूप से सम्बद्ध है। वह रक्षा-मन्त्रालय के साथ, प्रत्येक प्रक्रम में निकट का सहकार रखते हुए रक्षा-प्राक्कलनों के तैयार करने लिए उत्तरदायी है। अगस्त, १९४७ से पहले और १९५१ तक सेना-मुख्यालयों और शाखाओं द्वारा दिये गये आँकड़ों के आधार पर

बजट-अनुमान उप वित्तीय सलाहकार (बजट) द्वारा तैयार किये जाते थे। इन अनुमानों को अन्तिम रूप देने के बाद उन पर वित्तीय सलाहकार और रक्षा-सचिव के बीच चर्चा होती थी। इस काम में मन्त्रालय के किसी अन्य अनुभाग या अधिकारी को शामिल न किया जाता था। पर अब रक्षा-मन्त्रालय के उप सचिव और आरम्भिक प्रक्रम में सेनाओं और शाखाओं के अनुमानों के साथ सम्बद्ध रहते हैं। वित्तीय सलाहकार अपनी पास की सभी जानकारी सेना-मुख्यालयों के शाखा-प्रमुखों के पास भेजता रहता है, ताकि वे प्रस्तावों के निर्माण और सामान्यत. वित्तीय कार्य के निपटान के बारे में अपनी वित्तीय जिम्मेदारियाँ निभा सकें।

१ अक्तूबर, १९५१ से सैन्य-लेखा-विभाग को नया नाम रक्षा-लेखा-विभाग दिया गया, ताकि वह विस्तृत कार्य-क्षेत्र का ज्यादा विवरण दे सके। इनका काम अब सेना, नौसेना, वायुसेना और आर्डनेंस कारखानों तक व्याप्त हो गया है। सैन्य-महालेखाकार का नया नाम रक्षा-लेखा-महानियन्त्रक रखा गया और सैन्य-लेखा-नियन्त्रक अब रक्षा-लेखा-नियन्त्रक के नाम से जाने जाते हैं। मोटे तौर पर रक्षा-लेखा-विभाग के कर्त्तव्य अब ये हैं—कमीशन-प्राप्त अधिकारियों और अन्य पदधारियों के वेतन-लेखे बनाये रखना, रक्षा-व्यय की आन्तरिक लेखा-परीक्षा, सशस्त्र सेनाओं सम्बन्धी सभी व्ययों का भुगतान और लेखा रखना, जिसमें दी गयी पूर्तियों और की गयी सेवाओं और वेतन, भत्ते, पेन्शन और प्रकीर्ण व्यय के देयक (बिल) भी शामिल हैं। यह विभिन्न यूनिटों और विरचनाओं द्वारा रखे जाने वाले भण्डार-लेखाओं की और आर्डनेंस कारखानों और नौसेनी गोदी-प्रांगण के भण्डार और निर्माण-लेखाओं की लेखा-परीक्षा के लिए भी उत्तरदायी है। रक्षा-लेखाओं के नियन्त्रक, कमानों के जनरल अफसर कमांडिंग-इन-चीफ और एरिया कमानों तथा अन्य के स्थानीय वित्तीय सलाहकार के रूप में भी काम करते हैं।

सेना में प्रत्येक कमान के लिए एक रक्षा-लेखा-नियन्त्रक भी होता है। साथ ही नीचे लिखे रक्षा-लेखा-नियन्त्रक भी होते हैं—

रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (पेन्शन), इलाहाबाद। रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (कारखाना) कलकत्ता। रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (अधिकारी) पूना, जो सेना के कमीशन-प्राप्त अधिकारियों के वेतन का काम सँभालते हैं और उसको लेखायें रखते हैं। रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (अन्य पद) जो पहले सिकन्दराबाद में थे और अब मैसूर में हैं और सेना के अन्य पदधारियों के वेतन-भत्तों का काम सँभालते हैं और उसकी लेखायें रखते हैं। रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (नौसेना) बम्बई। रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (वायु सेना) देहरादून, और रक्षा-लेखा-नियन्त्रक (निधियाँ) को केन्द्रित रूप से सेनाओं की प्राप्तियों और व्यय का अखिल भारतीय समेकित संकलन एक यन्त्र पद्धति पर रखते हैं। साथ ही पूरे देश में स्थानीय वेतन-लेखा-अधिकारी भी होते हैं, जो रेजीमेंट केन्द्रों और डिपो के निकट सहकार से काम करते हैं।

खण्ड-३ रक्षा-मन्त्रालय की पेन्शन-शाखा (१९४५-५१)

दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त की ओर रक्षा-सगठन के सामने आने वाली प्रमुख समस्याओ मे से एक समस्या सशस्त्र सेनाओ के सदस्यो और उनके आश्रितो के क्रमश: निर्योग्यता और परिवार-पेंशनो के दावो का निपटान करना था, जो युद्ध काल में निर्योग्यता या मृत्यु के कारण पैदा हुए थे। इन दावो का निपटान करने के लिए युद्ध-विभाग में एक विशेष शाखा खोलनी पड़ी, जो आगे चल कर काफी बढ़ गयी। यह शाखा और रक्षा-सेवाओ के असैनिक कर्मचारियो के असाधारण चोट और परिवार-पेन्शन के दावो को भी निपटाती थी। सत्ता-हस्तान्तरण के बाद कुछ वर्ष तक इस काम को काफी प्राथमिकता दी गयी, क्योकि सुपात्र दावेदारो को वित्तीय सहायता देने में विलम्ब का मतलब था वित्तीय सहायता देने से इनकार कर देना। दावो का निपटान हो जाने पर पेन्शन-शाखा का आकार कम होता गया, जब तक कि अन्त मे बचे हुए थोड़े से अनुभाग रक्षा-मन्त्रालय के साथ विलीन न कर दिये गये।

निर्योग्यता पेन्शन का दावा तभी पेश किया जा सकता था, जब सशस्त्र सेनाओ के किसी सदस्य को सैन्य-सेवा के कारण ऐसी कुछ निर्योग्यता सहनी पड़ी हो। परिवार-पेन्शन का दावा तब उठता है, जब सशस्त्र सेनाओ के किसी सेवारत सदस्य की मृत्यु का सीधा कारण उसकी सैन्य-सेवा रही हो। सामान्य शान्ति काल में ऐसे दावे बहुत ही कम होते हैं, दूसरे महायुद्ध से पहले वायसराय कमीशन-प्राप्त अधिकारियो और भारतीय अन्य पदो (और अन्य दो सेनाओ के समकक्ष पदो) के सभी पेन्शन-दावों का निपटान सैन्य-लेखा-विभाग की प्राथमिक जिम्मेवारी थी। सेना के लिए यह काम सैन्य-लेखा-नियन्त्रक (पेन्शन), लाहौर करते थे। इस अधिकारी को पूरी शक्ति थी कि इन मामलो को स्वीकार कर दे या अस्वीकार, और वह केवल सन्दिग्ध और कठिन मामलों को ही सरकार के आदेश प्राप्त करने के लिए सेना-मुख्यालय की एडजुटेंट जनरल की शाखा मे भेजता था। नौसेना और वायुसेना मे तत्सवादी अधिकारी नौसेना-लेखा-नियन्त्रक, बम्बई और वायुसेना-लेखा-नियन्त्रक, देहरादून थे। तीनो सेनाओ के कमीशन-प्राप्त अधिकारियो के सभी मामलों पर भारत सरकार के आदेश जरूरी होते थे, पर पेन्शनो का वितरण वस्तुत. सम्बन्धित नियन्त्रको द्वारा ही किया जाता था। तब तक कोई निर्योग्यता या परिवार-पेन्शन नही दी जाती थी, जब तक कि निःसन्दिग्ध रूप से यह सिद्ध न कर दिया जाय कि निर्योग्यता या मृत्यु का कारण निश्चय ही उस व्यक्ति की सैन्य-सेवा ही थी। इसलिये अधिकांश मामले अस्वीकृत हो सकते थे।

विश्वयुद्ध छिड़ जाने के बाद भारत सरकार ने १९४१ मे यह फैसला किया कि नियन्त्रक किसी भी मामले को स्वयं अस्वीकार न कर दें। अगर उनको सन्तोष हो जाय तो वे दावा स्वीकार कर सकते है या उनको निपटान के लिए सेना-मुख्यालय के पास भेज सकते है। १९४४ में इंगलैण्ड के पेन्शन-मन्त्रालय द्वारा अपनाये गये चलन के अनुसार भारत सरकार ने एक और भी उदार रवैया सशस्त्र सेनाओं के सदस्यो के हताहत होने के कारण निर्योग्यता और और परिवार-पेन्शन के दावो के बारे मे अपनाया। सरकार ने यह स्थिति मानी कि व्यक्ति की सेवा के कारण उसके स्वास्थ्य के गिरने के लिए उसको (और उसकी मृत्यु की स्थिति में

उसके परिवार को) तब तक क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिये, जब तक युक्तिसगत सन्देह के बिना यह सिद्ध न हो जाय कि इस दुर्भाग्यपूर्ण दशा के लाने में उस व्यक्ति की युद्ध-सेवा का कोई भी हाथ नही है। इस प्रकार यह सिद्ध करने का भार भी सरकार पर आ पड़ा कि मृत्यु सैन्य-सेवा के कारण नही हुई अथवा निर्योग्यता इसके कारण नही पैदा हुई या नही बढी। किसी भी युक्तिसगत सन्देह का लाभ दावेदार व्यक्ति को दिया जाता था। यह निर्णय और इस बात से कि युद्ध काल मे भारतीय सशस्त्र सेनाओ की सख्या २० लाख से ऊपर हो गयी थी और हताहतो की सख्या में भी वृद्धि हुई थी, स्वभावत निर्योग्यता और परिवार-पेन्शनो के दावे कई लाख तक पहुँच गये।

नये नियमो के शुरू हो जाने के बाद पेन्शन के मामलो के निपटान मे एक प्रकार की अर्ध-न्यायिक रीति अपनानी पड़ी। अब नियन्त्रक केवल वस्तुत सीधे-साफ मामलों को ही मजूर करते थे और बाकी निर्णय के लिए उच्च अधिकारियो के पास भिजवा देते थे। नयी प्रक्रिया के फलस्वरूप एडजुटेंट जनरल की शाखा में भारी मात्रा में शेष काम इकट्ठा हो गया, उनको युद्ध-विभाग से सलाह लेनी पड़ती थी। दावो की बाढ के निपाटान के लिए युद्धपूर्व का सगठन बिलकुल असमर्थ था और यह स्पष्ट हो गया था कि सैन्य-लेखा-नियत्रक (पेन्शन) के कर्मचारियो में वृद्धि करने के अलावा, युद्ध-विभाग में एक बिलकुल नयी शाखा सभी शेष दावो का इस रीति से निपटान करने के लिए खोली जानी चाहिये कि निपटान राज्य और दावेदारो दोनो के लिए ही सन्तोषप्रद हो। तदनुसार अप्रैल, १९४५ में युद्ध-विभाग की पेन्शन-शाखा की स्थापना की गयी।

पेन्शनो के दावो के निपटान के लिए एक ब्यौरेवार कार्यविधि तय की गयी, जो बहुत कुछ इगलैंड के पेन्शन-मन्त्रालय के चलन पर आधारित थी और जिसमें भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल परिवर्तन कर लिया गया था। उदाहरण के लिए इगलैण्ड में निर्योग्यता और परिवार-पेन्शनो के सभी दावे पेन्शन-मन्त्रालय के पास भेज दिये जाया करते थे। इधर भारत में कमीशन-पद से नीचे वाले सभी सैनिक व्यक्तियो के ऐसी पेन्शनो के दावे हमेशा से सैन्य-लेखा-नियत्रक (पेन्शन) और अन्य दोनो सेनाओ में उनके समकक्ष नियत्रक निपटाते चले आ रहे थे। इन दावो का निर्णय करने के लिए नये नियम शुरू होने के बाद भी, अनुभव से यह पाया गया कि सरल मामले निर्णयार्थ नियत्रक के ही ऊपर छोड़ दिये जाने चाहिये। सम्बन्धी मामलो में, जो कि ऐसे दावो के निपटान में हमेशा खड़े होते हैं—अपने कार्यालय में तैनात कुछ विशेषज्ञ डाक्टरो से सहायता ले सकते है। इसलिए रक्षा-मत्रालय की पेन्शन शाखा कुछ ज्यादा जटिल मामलो को निपटाती रही, *जो नियत्रक द्वारा सरकार के स्तर पर निर्णयार्थ भेजे जाते थे, और* शेष दावो का निपटान स्वयं करते रहे। अपनी स्थापना के समय इस शाखा ने निर्योग्यता और परिवार-पेंशनो के लगभग ३७,००० से ऊपर दावे हाथ में सम्भाले, जो कि एडजुटेंट जनरल की शाखा में इकट्ठे हो गये थे। पेंशन-शाखा को ये काम करने थे (क) नये नियमो के अधीन उन बहुत सारे मामलो का पुनर्विलोकन करना जहाँ नियत्रक ने पिछले नियमो के अधीन दावे अस्वीकार कर दिये थे (ख) उन सभी कठिन और सन्दिग्ध मामलो का निपटान करना, जो नियत्रक स्वयं नहीं कर सके थे, और (ग) नियत्रक के और सरकार के निर्णयो के विरुद्ध

असन्तुष्ट दावेदारों की सभी अपीलों की जांच करना।

यह शाखा सचिवालय की पद्धति से गठित की गयी, जिसमें संयुक्त सचिव के प्रभार के अधीन उप सचिव और अवर या सहायक सचिव रखे गये। जब दावे सगत-सेवा और चिकित्सा दस्तावेजों के साथ पेन्शन शाखा में पहुँचते थे, तो पहला कार्य कागजों की पड़ताल करना होता था और अनेक मामलों में यह पाया गया कि और अधिक तथ्य या कागज मँगाना जरूरी है। दावों का निपटान इस कारण और भी हो गया कि अनेक मामलों में सेवा और चिकित्सा के दस्तावेज अपर्याप्त थे, जो युद्ध-कालीन कठिनाई के बीच तैयार किये गये थे। निर्णयार्थ प्रश्न यह था कि जिस आधार पर दावा पेश किया गया है, वह निर्योग्यता या मृत्यु का कारण उस व्यक्ति की युद्ध सेवा के कारण घटित हुआ है या बढ़ा है। यह किसी भी तरह साधारण मामला न था। पेन्शन-शाखा के अधिकारियों को किसी निर्णय पर पहुँचने में मदद देने के लिये, अनेक सैन्य चिकित्सा-अधिकारी भी थे, जिनकी सलाह दावे के विशुद्ध चिकित्सकीय पक्ष के बारे में ली जाती थी। पेन्शनों के भुगतान को अन्तर्ग्रस्त करने वाले मामले वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) से परामर्श करके निर्णीत किये जाते थे।

भूतपूर्व सैनिकों और उनके आश्रितों को निर्योग्यता और परिवार पेन्शनों के दावों पर, सरकारी निर्णय के विरुद्ध, एक स्वतन्त्र निकाय के पास अपील करने का भी अवसर दिया जाता था। इसके लिए दो भिन्न प्रकार के न्यायाधिकरण बनाये गये, अर्थात् अधिकार अपील न्यायाधिकरण और निर्धारण अपील न्यायाधिकरण। एक केन्द्रीय अपील न्यायाधिकरण भी था, जो अन्तिम अपीलीय प्राधिकार था। प्रत्येक अधिकार अपील-न्यायाधिकरण का सभापति एक सुप्रसिद्ध वकील होता था और उसमें एक वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारी और एक सेना अधिकारी भी रहते थे। इसका कार्य था कि इस प्रश्न का निपटान करे कि किसी व्यक्ति की निर्योग्यता या मृत्यु का कारण क्या उसकी युद्ध-सेवा थी और साथ ही ऐसे गौण मामले भी निपटाये कि क्या उस व्यक्ति की पेन्शन उसकी लापरवाही, कदाचार आदि के कारण ठीक ही कम की गयी है।

निर्धारण अपील न्यायाधिकार का सम्बन्ध इस प्रश्न से था कि क्या किसी व्यक्ति की निर्योग्यता की सीमा (जो प्रतिशत में व्यक्त की जाती थी) के बारे में सरकार का निर्णय सही था। अपने काम के स्वरूप के अनुसार ही ऐसे प्रत्येक न्यायाधिकरण में दो चिकित्सा अधिकारी होते थे, जिनमें से एक अध्यक्ष होता था और दूसरा सेना-सदस्य। अधिकार अपील-न्यायाधिकरण का निर्णय हमेशा के लिए उसके समक्ष आये सभी वादों का समाधान कर देता था। किन्तु निर्धारण अपील न्यायाधिकरण के मामले में ऐसी बात न थी, क्योंकि व्यक्ति की निर्योग्यता की मात्रा समय-समय पर कमोवेश होती रहती है और तदनुसार निर्योग्यता के निर्धारण सम्बन्धी निर्णय तब तक बार-बार देने पड़ सकते हैं, जब तक कि निर्योग्यता अन्तिम स्थिति को पार न कर जाय।

आरम्भ में तो मामलों के भारी ढेर को यथासम्भव तेजी के साथ निपटाना पड़ा, ताकि प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्य पेन्शन कम से कम विलम्ब करके दी जा सके। अपने प्रथम निर्णय के

विरुद्ध अपील प्राप्त होने पर, पेन्शन-शाखा पूरे मामले की पुनः जाँच करती थी और जहाँ जरूरी होता था, निर्णय को बदल देती थी और दावेदार को नये निर्णय की सूचना दे देती थी। पर अगर मामले के सभी पक्षों की जाँच के बाद, सरकार का अब भी यही निर्णय होता था कि मूल निर्णय ठीक था, तो वह अपील पेन्शन अपील न्यायाधिकरण के पास अन्तिम निर्णय के लिए भेज दी जाती थी और साथ ही दावे से सम्बन्धित संगत तथ्य भी, जिनमें सरकार के चिकित्सा सलाहकारों की सलाह और सरकार का दृष्टिकोण भी शामिल होता था। इसके बाद न्यायाधिकरण उस अपील का अर्द्ध-न्यायिक आधार पर निपटाती थी। दावेदार सरकारी खर्च पर स्वयं न्यायाधिकरण के सामने पेश हो सकता था या अपनी ओर से तर्क देने के लिए किसी को नामित कर सकता था। सरकार के प्रतिनिधि भी सरकार की ओर से मामले के तर्क देने के लिए न्यायाधिकरण के सामने उपस्थित रहते थे। सरकार उन मामलों को छोड़कर न्यायाधिकरण का निर्णय मान लेती थी, जिनमें यह समझा जाता था कि निर्णय नियमानुकूल नहीं है। ऐसे मामले में केन्द्रीय अपील न्यायाधिकरण के सामने दूसरी अपील की जाती थी, जिसमें विधि-मन्त्रालय द्वारा नियुक्त एक ही सदस्य होता था। दावेदार को भी विकल्प मिला हुआ था कि पेन्शन अपील न्यायाधिकरण के निर्णय के विरुद्ध चाहे तो केन्द्रीय अपील-न्यायाधिकरण के सामने अपील कर सकता था। यह बता दिया जाय कि अधिकार की जो कुल अपीलें आती थीं, उनमें से २५ प्रतिशत सरकार द्वारा मन्त्रालय में पुनर्विचार के समय मान ली जाती थीं और शेष में से कुल ६ प्रतिशत ही न्यायाधिकरणों द्वारा मानी जाती थीं।

विभाजन से पहले पेन्शन-शाखा अविभाजित सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के बारे में पेन्शन-दावों का निपटान करती थी। विभाजन के समय भारत सरकार ने ऐसे सभी मामलों में पेन्शन के खर्च का प्रथम उत्तरदायित्व मान लिया, जिनमें फैसला १५ अगस्त, १९४७ से पहले हो चुका था, भले ही दावेदार भारत का नागरिक हो या पाकिस्तान का। तदनुसार पेन्शन शाखा ऐसे सभी विभाजन-पूर्व के दावों का निपटान करती रही। इसके फलस्वरूप पेन्शन अपील न्यायाधिकरणों में से दो को, भारत सरकार के निर्णयों के विरुद्ध, पाकिस्तान के नागरिकों के दावों की सुनवाई करने का काम सौंपा गया। इनमें से एक न्यायाधिकरण प्रायः एक वर्ष तक लाहौर में काम करता रहा, पर चूँकि पाकिस्तान इन न्यायाधिकरणों के लिए आवास की व्यवस्था न कर सका, इसलिए फिर इनको अपना काम भारत से चलाना पड़ा। फिर भी, इससे पाकिस्तान के नागरिकों के दावों के समुचित निपटान पर किसी तरह से कोई प्रभाव न पड़ा।

विस्तार की चरम सीमा के समय (१९४८) पेन्शन-शाखा के कर्मचारियों की संख्या मुख्य मन्त्रालय के कर्मचारियों से भी ज्यादा हो गयी थी। १९४९ से इस शाखा के कर्मचारियों में धीरे-धीरे कमी होती गयी और १ अप्रैल, १९५१ को शेष रहे केवल चार अनुभागों को मुख्य मन्त्रालय में विलीन कर दिया गया और पेन्शन-शाखा का अलग अस्तित्व न रहा। बाद में इन चार में से भी दो अनुभाग और खत्म कर दिये गये और इस तरह हताहतों के पेन्शन का काम निपटान करने के लिए केवल दो ही अनुभाग शेष रह गये।

युद्ध-पेन्शन दावों सम्बन्धी काम १९५३ तक प्राय पूरा हो गया था । अब पेन्शन अनुभाग जिन दावों पर विचार कर रहे थे, उनका सम्बन्ध मुख्यत. युद्धोत्तर हताहतों मे था । यह काम कभी खत्म नहीं हो सकता, क्योंकि हताहत कभी भी हो सकते है और नये दावे आ सकते है। पेन्शन-शाखा द्वारा पूरे किये गये काम की भारी मात्रा का अन्दाज इस तथ्य से किया जा सकता है कि १ जनवरी, १९५७ तक इसने १,१६,५१६ दावों का निपटान किया था। शेष केवल १५४ दावे ही रहे थे। उक्त तारीख तक ४७,२११ अधिकार अपीलों और २४०९१ निर्धारण अपीलों को भी निपटाया गया था। शेष क्रमश १४१ और ५४ ही रही थी। पेन्शन अपील न्यायाधिकरणों ने २०,१५८ अधिकार अपीलों पर और १३,७६८ निर्धारण अपीलों पर न्याय-निर्णय दिये । केन्द्रीय अपील-न्यायाधिकरण ने पेन्शन अपील न्यायाधिकरण के निर्णयो के विरुद्ध की गयी १८८४ अपीलों पर न्यायनिर्णय दिये ।

जनवरी, १९४७ म सितम्बर, १९५४ तक समय-समय पर एक केन्द्रीय न्यायाधिकरण (नयी दिल्ली में), ५ अधिकार अपील न्यायाधिकरण (दो लखनऊ मे और एक-एक मद्रास, दिल्ली और जालन्धर मे), और २ निर्धारण-न्यायाधिकरण (दिल्ली और पूना में) काम करते रहे ।

१९५१ में निर्योग्यता-निर्धारण के विरुद्ध अपील करने का अधिकार १ मई १९५० को या उसके बाद लिये गये निर्णयो के बारे मे वापस ले लिया गया। इसी तरह निर्योग्यता या परिवार-पेन्शन के अधिकार के विरुद्ध अधिकार न्यायाधिकरण मे अपील करने का अधिकार भी ३१ सितम्बर १९५३ के बाद किये गये निर्णयो के बारे मे वापस ले लिया। इन निर्णयो और न्यायाधिकरणों को खत्म कर देने का कारण यह था कि समय बीतते-बीतते अपीलों की संख्या बहुत कम हो गयी थी और अब थोड़े से चालू मामलों के बारे मे सेना के किसी सदस्य की निर्योग्यता या मृत्यु १९३९ से १९४६ के बीच की गयी युद्ध-सेवा से सम्बन्धित न थी, इसलिए खर्चीली अपील-व्यवस्था बनाये रखना उपयुक्त न रह गया था। १५ जनवरी, १९५४ को या इसके बाद (जिस तारीख तक की अपीलें न्यायाधिकरणो द्वारा निपटायी जा चुकी थी) सशस्त्र सेनाओ के भूतपूर्व सदस्यों या उनके आश्रितो द्वारा पेन्शन मजूर करने वाले अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध, युद्ध या युद्धोत्तर सेवा के सम्बन्ध मे जो भी अपीलें दायर की गयी, उसके बाद उन पर भारत सरकार द्वारा ही उनके गुण दोषानुसार विचार किया जाता था। जब कभी भी मामले के पुनर्विलोकन से यह उचित ठहरता था तो जिस निर्णय के विरुद्ध अपील की जाती थी, उसे बदल दिया जाता था। यह पेन्शन अपील न्यायाधिकरण बनाये जाने से पहले के चलन के अनुसार ही था। पर बाद में सरकार से यह अनुरोध किया गया कि न्यायाधिकरण खत्म कर देने के बाद अब मन्त्रालय मे किये गये निर्णयो के पुनर्विलोकन के लिए कोई तन्त्र नहीं रह गया है। तदनुसार अक्तूबर, १९५८ मे रक्षा-मन्त्री की पेन्शन संबंधी अपीलीय समिति बनायी गयी, जिसके अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री थे और रक्षा-उत्पादन-मन्त्री, रक्षा-सचिव, तीनों सेना-प्रमुख, वित्तीय सलाहकार (रक्षा), सशस्त्र सेना चिकित्सा सेवा के महा-निदेशक और अपील-कर्ता से सम्बन्धित सेना से भिन्न किसी सेना का एक जज एडवोकेट जनरल

इसके सदस्य हैं। यह समिति सशस्त्र सेनाओ के व्यक्तियो के निर्योग्यता और परिवार पेन्शनो से सम्बन्धित अपीलो पर विचार करती है। मन्त्रि-मण्डल सचिवालय (सैन्य स्कन्ध) इस समिति के लिए सचिवालय की व्यवस्था करता है।

खण्ड ४ चर्च सम्बन्धी कार्यकलाप का समेटा जाना

रक्षा के आलवा गवर्नर जनरल स्वविवेक से चर्च सम्बन्धी कार्यों को भी प्रशासित करते थे। यह काम रक्षा-विभाग को सौंपा गया था। १५ अगस्त, १९४७ के बाद चर्च-सम्बन्धी कार्य का प्रशासन समाप्त कर दिया गया।

शुरू में चर्च-कार्य सम्बन्धी खर्च भारतीय राजस्व से करना इस आधार पर पर उचित ठहराया गया था कि देश मे काफी अंग्रेज है, जो अपने देश से आकर राज्य की सेवा कर रहे हैं। उनके देश में प्राय हर गाँव मे चर्च होते है और ईसाई-धर्म के पुरोधा भी—और भारत जैसे देश में आये है, जहाँ ये चीजें पहले तो बिलकुल ही न थी। तर्क दिया गया कि जब तक राज्य धार्मिक-सुविधायें न दे, भारत के यूरोपीय ईसाइयो को ये सुविधाएँ कतई न मिल पायेंगी। इस तरह भारत सरकार का यह सविहित दायित्व बन गया कि राज्य के खर्च पर धर्म सम्बन्धी व्यवस्था यूरोपीयो को उस कोटि के लिए की जाय, जिन्हे 'पात्र व्यक्ति' माना गया। सरकारी क्षेत्र में इस शब्द का अर्थ था (क) ब्रिटेन मे जन्मे यूरोपीय अधिकारी और सशस्त्र सेनाओ के जवान, ब्रिटिश और भारतीय दोनो ही यूनिटो मे, (ख) ब्रिटेन मे जन्मे वे यूरोपीय व्यक्ति जो भारत में सम्राट की सेवा मे है, (ग) यूरोपीय उद्भव के राज्य-रेलवे-कर्मचारी, और (घ) उक्त के परिवार। इस दायित्व का निर्वहन इस आधार पर किया जाता था कि जिस किसी भी जगह पर एक तबके के २५ 'पात्र' व्यक्ति हो, तो सरकार पूर्णत या अशत उस तबके के लिए सरकारी या सहायक-अनुदान पर एक 'चैपलेन' (पुरोधा) की व्यवस्था करेगी। भारत सरकार का यह भी दायित्व था कि इन 'पात्र व्यक्तियो' के लिए कब्रगाह भी बनाये और उनका सन्धारण करे।

जिस मूल अनुमान के आधार पर राज्य ने यह दायित्व उठाया था, अर्थात् सरकार की नौकरी मे लगे यूरोपीयो के लिए भारत मे ईसाई धर्म के पालन के लिए सुविधाओ का अभाव, उसका क्रमश कोई स्थान नही रहा। लगभग सौ साल में भारतीय ईसाई और ईसाई-चर्च अपने निजी सगठन के साथ देश में काफी सख्या में फैल-गये। इसको मान्यता देते हुए कहा गया कि भारत सरकार की यह मानी हुई नीति है कि 'चर्च सम्बन्धी कार्य' शीर्ष के अधीन खर्च धीरे-धीरे कम किया जाय। भारत सरकार अधिनियम, १९३५ में यह व्यवस्था की गयी कि चर्च सम्बन्धी कार्यों का वार्षिक खर्च, पेन्शन-व्यय को छोड़कर ४२ लाख रुपयो से ज्यादा नही होना चाहिये।

भारत सरकार में भी चर्च-कार्य सम्बन्धी काम कुछ समय तक एक के बाद दूसरे विभाग को सौंपा जाता रहा और अन्त में उसे सेना (बाद में रक्षा) विभाग को सौंपा गया, जिसका प्रत्यक्ष कारण यह था कि 'पात्र व्यक्ति' अधिकतम सख्या मे सशस्त्र सेनाओं में ही थे।

चर्च कार्य सम्बन्धी कुल खर्च सिविल, रेलवे और रक्षा अनुमानों के बीच उन आवण्टन नियमों के अनुसार बाँट दिया गया, जो प्रत्येक वर्ग में पात्र-व्यक्तियों की संख्या के आधार पर बनाये गये थे। खर्च इन चीजों पर होता था (१) चैपलेन (२) स्थापना (अर्थात् चैपलेन के लिए और चर्च और कब्रगाह के कर्मचारी) और आकस्मिकतायें (३) विभिन्न चर्च अधिकारियों को सहायक अनुदान (४) चर्च और कब्रगाहों की व्यवस्था और सन्धारण। १९४७-१९४८ में चर्चकार्यों पर कुल खर्च, पेन्शन-व्यय के अलावा, ३६.५८ लाख रुपये था। इसमें से उक्त चारों शीर्षों का खर्च क्रमश इस प्रकार था १४.८१ लाख, ६.६८ लाख, ८.९० लाख और ६.१९ लाख।

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद 'पात्र' व्यक्तियों को धर्म-सुविधा देने का भारत सरकार का संविहित दायित्व समाप्त हो गया। भारत सरकार ने धर्म-कार्य समाप्त करने का निर्णय पाकिस्तान सरकार के साथ-साथ लिया।

(१) भारतीय चर्च-कार्य स्थापना एक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट-सेवा थी। समेटने के समय इसके संवर्ग में १०७ चैपलेन थे, जिनमें से ९९ भारत, बर्मा और श्रीलङ्का के चर्च के थे (जिसकी स्थापना भारतीय चर्च अधिनियम, १९२७ के अधीन की गयी थी) और ८ स्काटलैण्ड के चर्च के थे। तर्कसंगत रूप से इन सभी की सेवायें १५ अगस्त, १९४७ को ही समाप्त हो जानी चाहिये थी। फिर भी यह दृष्टि अपनाई गई कि भले ही ब्रिटिश फौज की संख्या कम होती जाय, वे निष्क्रमण की प्रक्रिया में उक्त तारीख के बाद भी बने रहेंगे। इसलिए यह तय किया कि कुछ चैपलेनों की सेवायें ३१ दिसम्बर, १९४७ तक रखी जाएँ। १५ अगस्त, १९४७ से ७५ प्रतिशत चैपलेनों की सेवायें समाप्त कर दी गयी और शेष की १ जनवरी, १९४८ में। भारतीय चर्च-कार्य-स्थापना सम्बन्धी खर्च १ जनवरी, १९४८ से खत्म हो गया, केवल इस स्थापना के चैपलेनों को छुट्टी-वेतन और पेन्शन के भुगतान का खर्च ही रह गया।

(२) चैपलेनों की संविहित सेवा बनाये रखने के अलावा भारत सरकार, कुछ तबकों के चर्च अधिकारियों को ऐसी जगहों पर चैपलेनों की व्यवस्था के लिए, जहाँ पूजा-कार्य के लिए स्थापना के चैपलेन उपलब्ध न थे, और चर्च आदि के पर्यवेक्षण के कार्य के लिए भी, कुछ वार्षिक सहायक-अनुदान दिया करती थी। ऐसे अनुदान भारत, बर्मा और श्रीलङ्का के चर्च, स्काटलैण्ड के चर्च, रोमन कैथोलिक चर्च, मैथडिस्ट चर्च और यूनाइटेड बोर्ड चर्च को दिये जाते थे। वस्तुतः चर्च-प्राधिकार आत्म-निर्भर न थे और काफी समय से सरकारी सहायता के अभ्यस्त हो गये थे। यह बात बड़े आग्रह के साथ कही गयी कि १५ अगस्त, १९४७ को यह सहायता एकदम बन्द कर देने से वे बड़ी मुश्किल में पड़ जायेंगे। चर्च-अधिकारियों को इस कठिनाई का सामना करने में समर्थ बनाने के लिए ११.२७ लाख रुपये का अन्तिम एक मुश्त सहायक-अनुदान (जो वार्षिक भुगतान से कुछ ज्यादा ही था) उनको दिया गया। इस बारे में सरकार ने वस्तुतः अपने दायित्व का विधिक दृष्टिकोण न अपना कर उदार दृष्टिकोण अपनाया।

(३) चैपलेनों, चर्चों और कब्रगाहों से संलग्न कर्मचारी अधिकांशतः अस्थायी और अस्थायी अशकालिक थे। चर्च-कार्य विभाग १ अप्रैल, १९४८ में समाप्त होने पर उनकी सेवायें भी

समाप्त कर दी गयी। जो थोड़े से लोग स्थायी और पूर्णकालिक आधार पर थे, उनकी सेवायें भी इसी तारीख से आनुपातिक पेन्शन देकर समाप्त कर दी गयी।

(४) १ अप्रैल, १९४८ को चर्च, सम्बन्धित चर्च-अधिकारियों को, हस्तान्तरित कर दिये गये। इसी तरह कब्रगाह भी, सन्धारण के लिए, भारत में ब्रिटेन के उच्चायुक्त को, हस्तान्तरित कर दिये गये। इस तरह भारत सरकार ने ३ अप्रैल, १९८८ से चर्चों और कब्रगाहों के सन्धारण के सारे दायित्व का परित्याग कर दिया।

चर्च-कार्य-विभाग के समाप्त हो जाने पर भारत सरकार ने राज्य के खर्च पर धर्म-पूजा-कार्य को राज्य के एक कृत्य के रूप में मान्यता देना बन्द कर दिया और भारत निश्चय ही एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बन गया।

खण्ड—५　सचिवालय में संगठन सम्बन्धी परिवर्तन

रक्षा सम्बन्धी जरूरतों में आत्मनिर्भरता के प्रयास को बढ़ाने के लिए रक्षा-मन्त्रालय में मई, १९५७ में एक अवर सचिव की नियुक्ति की गयी। रक्षा-उत्पादन को दिये गये महत्व को मई, १९६२ में रक्षा-मन्त्री की मदद के लिए एक रक्षा-उत्पादन-मन्त्री की नियुक्ति करके और भी मान्यता दी गयी। विद्यमान रक्षा-यूनिटों में उत्पादन का काम बढ़ाकर, नये कारखाने स्थापित करके (उदाहरणत मध्याकार टैंक, ३ टन और १ टन की गाड़ियाँ आदि बनाने के लिए) और वर्कशाप हाथ में लेकर, जो मन्त्रालय के प्रशासन के अधीन लोक-उपक्रम बन गये, रक्षा-उत्पादन सम्बन्धी जिम्मेवारी बहुत ज्यादा बढ़ गयी। फिर नवम्बर, १९६२ में रक्षा-मन्त्रालय में एक अलग रक्षा-उत्पादन-विभाग बनाया गया, जिसके लिए एक अलग शासन-सचिव की नियुक्ति की गयी।

अक्तूबर, १९६२ के चीनी हमले, और फलस्वरूप देश की रक्षा सम्भाव्यताओं को बना कर रखने के निर्णय के कारण, रक्षा-मन्त्रालय सचिवालय और सशस्त्र सेना-मुख्यालयों में कुछ विस्तार अनिवार्य हो गया।

सितम्बर, १९६५ में पाकिस्तान से हुए युद्ध के समय, विदेश से पूर्ति बन्द हो जाने से, रक्षा-सामग्री के बारे में देश के आत्म-निर्भर हो जाने की अविलम्बनीय और अनिवार्य जरूरत स्पष्ट हो गयी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ज्यादा तेज कदम उठाने के लिए, और लोक और निजी क्षेत्रों के उद्योगों के साथ निकट सम्पर्क रखने के लिए, रक्षा-मन्त्रालय में नवम्बर, १९६५ में एक रक्षा-पूर्ति विभाग-की स्थापना की गयी, जिसका एक अलग शासन-सचिव बनाया गया। गृह-कार्य-मन्त्रालय में मन्त्री ने इस नवनिर्मित विभाग का अतिरिक्त प्रभार सँभाल लिया। आर्थिक आयोजना और रक्षा आयोजना के बीच निकट समन्वय रखने की दृष्टि से, नवम्बर, १९६५ में रक्षा-मन्त्रालय में एक अवर सचिव के अधीन आयोजना-कक्ष बनाया गया। रक्षा-उत्पादन-विभाग और रक्षा-पूर्ति-विभाग समेत रक्षा मन्त्रालय के संगठन की रूपरेखा संलग्न आरेखों में दी गयी है।

आरेख—१२

रक्षा मन्त्रालय के अधीन सेना मुख्यालय और अन्त सेना सङ्गठन

(रक्षा उत्पादन विभाग के अलावा)

आरेख— १५

रक्षा उत्पादन विभाग के संलग्न कार्यालय

रक्षा उत्पादन विभाग

- अनुसन्धान और विकास संगठन
- आर्डनेंस कारखाना महा-निदेशालय
- निरीक्षण महा-निदेशालय
- आयोजना समन्वय महा-निदेशालय
- ए० एफ० डी० (मास) प्रायोजना कक्ष
- भारी गाड़ियाँ प्रायोजना कक्ष
- मानकन निदेशालय
- तकनीकी विकास और उत्पादन का निदेशालय (वायुसेना)

छठा अध्याय
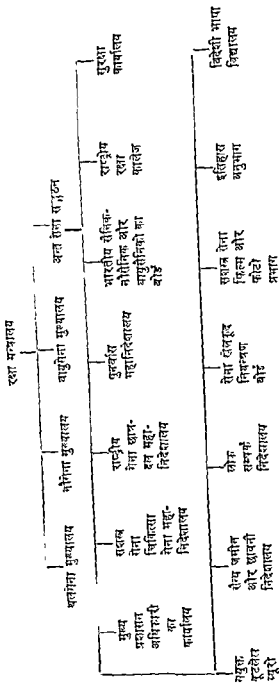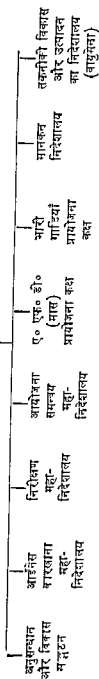
थलसेना, नौसेना और वायुसेना-मुख्यालय और निम्न विरचनाये

सत्ता-हस्तान्तरण से पहले सशस्त्र सेनाओ के सभी वरिष्ठ पदो पर, मुख्यालयो और कमानो मे भी, ब्रिटिश अधिकारी ही आरूढ थे। १५ अगस्त, १९४७ से भारत के कमाडर-इन-चीफ सशस्त्र सेनाओ के पुनर्गठन के लिए सुप्रीम कमाडर बन गये और अविभाजित भारत के विद्यमान सामान्य-मुख्यालय, नौसेना-मुख्यालय और वायुसेना-मुख्यालय उनके कार्यालय हो गये। तीनो सेनाओ के कमाडर इन-चीफ का पद समाप्त कर दिया गया और प्रत्येक सेना के लिए एक स्वतन्त्र प्रमुख रखने का निर्णय किया गया। इसलिए तीनो सेनाओ के लिए नये प्रमुखो का चुनाव करना था। रक्षा-मुख्यालयो और कमानो में भी दूसरी वरिष्ठ नियुक्तियाँ होनी थी, क्योकि अधिकाश सैनिक और असैनिक ब्रिटिश अधिकारियो ने सेवा से निवृत्त होने का चुनाव किया था और कुछ ने पाकिस्तान में सेवा करने का भी विकल्प दिया था। इस तरह हालाँकि विभाजन सम्बन्धी काम को उच्चतम प्राथमिकता दी गयी, फिर भी साथ-साथ १५ अगस्त, १९४७ से नया ढाचा खडा करने की ओर भी ध्यान देना था।

सेना मुख्यालयो की आदत पड चुकी थी कि सभी महत्वपूर्ण मामलो मे, ब्रिटेन के अपने सवादी कार्यालयो से प्राप्त, मार्गदर्शन पर निर्भर करें। वे प्रशासनिक और सगठन के प्रश्नो पर सामान्यत ब्रिटिश चलन और कार्यविधि का अनुसरण करते थे। अब नये सेना-मुख्यालयो को सभी रक्षा समस्याओ पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की, और सरकार के विचारार्थ प्रस्तावो का सूत्रपात करने और उनको बनाने की जिम्मेवारी आ पडी। मुख्यालयो मे वरिष्ठ स्टाफ-पदो पर जिन भारतीय-अधिकारियो को नियुक्त किया गया, वे भारत के लिए एक स्वतन्त्र रक्षा-संगठन खडा करने के लिए, अपने ऊपर आ पडी भारी जिम्मेवारी के प्रति, पूर्णत सजग थे। यह सच है कि उनको स्टाफ कार्य करने के लिए पहले पर्याप्त अवसर न मिले थे। उन सभी ने युद्ध-काल में सक्रिय-सेवा की थी। इसने उनको बहुमूल्य प्रशिक्षण और अनुभव प्रदान किया था। इसके साथ देशभक्ति की महान् भावना भी उनको प्रेरित कर रही थी। अतएव उन्होने संकल्प और जोश के साथ अपने आपको सामने आये काम में झोंक दिया। अक्तूबर, १९४७

में, मुश्किल से २४ घण्टे की पूर्व सूचना पर, कश्मीर को सैन्य-सहायता भेजना, और सितम्बर, १९४८ में हैदराबाद में पुलिस कार्रवाई की ध्यानपूर्वक आयोजना बनाना, यह सिद्ध कर देते कि सेनाओ के मुख्यालय कितनी शीघ्रता और सक्षमता के साथ अपने नये उत्तरदायित्व सँभालने में समर्थ हो गये थे।

तीनो सेनाओ के स्वतन्त्र प्रमुख

जैसा बताया जा चुका है, १९४७ तक थलसेना का प्रमुख, भारत का कमाण्डर-इन-चीफ था और नौसेना और वायुसेना के प्रमुख उसके अधीन थे। ब्रिटिश काल की जरूरतो के लिए यह व्यवस्था बड़ी उपयुक्त थी। भारत की नौसैनिक रक्षा ब्रिटिश की नौसेना की जिम्मेवारी थी। नयी नयी वायुसेना का महत्त्व नाममात्र का ही था। इसलिए भारत की रक्षा में प्रमुख भूमिका थलसेना की ही थी। फलत यह अनुपयुक्त न था कि थलसेना का प्रमुख तीनो सेनाओ का कमाडर-इन-चीफ बनाया जाय।

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद स्थिति बिलकुल बदल गयी। भारत अब अपनी सुरक्षा के लिए मात्र थलसेना पर ही निर्भर नहो रह सकता था। विस्तृत तटरेखा की दृष्टि से उसे अपनी समुद्री रक्षा के लिए सुपर्याप्त नौसेना विकसित करनी थी। उसकी वायुसेना भी अपेक्षतया सुदृढ और विशाल होनी थी। यह स्पष्ट था कि तीनो सेनाओ के सन्तुलित विस्तार की दृष्टि से अब उनको थलसेना के प्रमुख के अधीन रखना उचित न था। यह समझ लिया गया कि विज्ञान और टेक्नोलोजी में हो रही तेज प्रगति की दृष्टि से, किसी एक सेना के अधिकारी से यह आशा नही की जा सकती थी कि वह तीनो सेनाओ की तकनीकी-बातो और जरूरतो से सुपरिचित हो सके। फिर सभी आधुनिक सशस्त्र सेनाओ में, तीनो मे से प्रत्येक सेना एक स्वतन्त्र प्रमुख के अधीन होती है। इन सब बातो पर विचार करते हुए भारत सरकार ने तय किया कि दोनो नई सेनाओ के भी स्वतन्त्र प्रमुख होने चाहिये। अब तीनो सेनाओ को दिया गया समान महत्व भी इस निर्णय मे प्रत्यक्ष था। तीनो सेना प्रमुख अपनी-अपनी सेनाओ के प्रशासन के लिए अब रक्षा-मन्त्री के प्रति सीधे उत्तरदायी है और सामूहिक रूप से वे सरकार के व्यावसायिक सैन्य सलाहकार भी है।

चीफो के पदनामो मे परिवर्तन

१५ अगस्त, १९४७ को तीनो सेनाओ के स्वतन्त्र प्रमुख नियुक्त करते समय उनके पदनाम में परिवर्तन नही किया गया, अर्थात् उनको क्रमश कमाडर-इन चीफ, भारतीय थलसेना, फ्लैग अफसर कमाडिंग, रॉयल इडियन नेवी, और एयर मार्शल कमाडिंग रॉयल इडियन एयर फोर्स कहा जाता रहा। लेकिन शीघ्र ही यह बात समझी गयी कि ये पदनाम उनके सक्रियागत-कृत्यो का तो सकेत देते है, पर आयोजना और व्यावसायिक परामर्श के लिए उनके उत्तरदायित्व की बात को सुपर्याप्त रूप से व्यक्त नही कर पाते। इसलिए फरवरी १९४८ मे यह निर्णय किया गया कि सेनाओ के प्रमुखो के पदनाम इस प्रकार होने चाहिये चीफ आफ दि आर्मी स्टाफ और कमाडर-इन-चीफ, भारतीय थलसेना चीफ ऑफ दि नेवल स्टाफ और

फ्लैग अफसर कमांडिंग, रॉयल इंडियन नेवी, और चीफ आफ दि एयर स्टाफ और एयर मार्शल कमांडिंग, रॉयल इंडियन एयर फोर्स। हालांकि तीनों सेनाओं के प्रमुखों की प्रास्थिति और उत्तरदायित्व एक जैसे थे, उनके पदनाम असमान थे। कुछ लोग अब भी सोचते थे कि थलसेना के कमांडर-इन-चीफ अतीत की तरह अब भी भारत की सभी सशस्त्र सेनाओं के कमान-धारी थे। नौसेना और वायुसेना के बढ़ते हुए महत्व पर जोर देने के लिए, इन प्रमुखों को भी जनता की दृष्टि में थलसेना के प्रमुख जैसी ही प्रास्थिति और महत्व देने के लिए और एकरूपता की सिद्धि के लिए भी सेनाओं के प्रमुखों के पदनाम जून, १९४८ में बदल कर चीफ ऑफ दि आर्मी स्टाफ और कमांडर-इन-चीफ भारतीय थलसेना, चीफ आफ दि नेवल स्टाफ और कमांडर-इन-चीफ रॉयल इंडियन नेवी तथा चीफ आफ दि एयर स्टाफ और कमांडर-इन-चीफ रॉयल इंडियन फोर्स कर दिये गये। इस तरह नौसेना और वायुसेना के प्रमुखों के पदनाम थलसेना के प्रमुख के सदृश पर ही ला दिये गये।

लेकिन द्वि-नामी पदनाम लम्बे और अटपटे थे। दूसरे भारत के संविधान के अधीन राष्ट्रपति रक्षा-सेनाओं के सुप्रीम कमांडर हो गये और यह उपयुक्त नहीं लगता था कि सशस्त्र सेनाओं के प्रमुखों को कमांडर-इन-चीफ कह कर पुकारा जाय। पर जनतागत आग्रह पर भी ध्यान देना था। काफी चर्चा के बाद अन्त में यह फैसला किया गया कि पदनामों में परिवर्तन करने की जरूरत है। १ अप्रैल, १९५५ से तीनों सेनाओं के प्रमुख को ये पदनाम दिये गये. चीफ आफ दि आर्मी स्टाफ, चीफ आफ दि नेवल स्टाफ और चीफ आफ दि एयर स्टाफ। इसको कमांडर-इन-चीफ (पदनाम परिवर्तन) अधिनियम, १९५५ (१९५५ का १९) के अधीन सांविधिक प्रभाव दे दिया गया।

२५ मार्च, १९५५ को संसद में पदनामों में परिवर्तन की यह घोषणा करते हुए प्रधान-मन्त्री ने स्पष्ट कर दिया कि इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि इन प्रमुखों के प्राधिकार या प्रास्थिति में कोई कटौती की जा रही है। सक्रियागत प्राधिकार समेत उनका प्राधिकार पूर्ववत ही बना रहेगा।

थलसेना, नौसेना और वायुसेना के प्रमुख क्रमशः जनरल, वाइस एडमिरल और एयर मार्शल के पद के थे। इन नियुक्तियों की पदावधि में कोई एकरूपता न थी। थलसेना के प्रमुख की पदावधि सामान्यतः चार साल तक थी, नौसेना के प्रमुख की तीन साल (बढ़ा कर चार साल तक) और वायुसेना के प्रमुख की चार साल। जनवरी, १९६६ में सरकार ने यह निर्णय किया कि तीनों प्रमुखों की पदावधि तीन साल होनी चाहिये। कुछ सीमा तक वाञ्छनीय एक-रूपता लाने के अलावा इस निर्णय के पीछे एक और बात रही होगी। जब किसी अधिकारी को अपनी सेना का प्रमुख चुना जाता है, तो निम्नतर सोपानों में भी पदोन्नति की शृंखला चल जाती है। जैसा कि बाद के एक अध्याय में ब्योरों के साथ बताया गया है, प्रत्येक पद के लिए पदावधि और साथ ही अनिवार्य सेवानिवृत्ति की विहित आयु की पद्धति चलती है। इसलिए अगर सेना-प्रमुख की पदावधि और उसके नीचे पद के अधिकारियों की (जो उनके बाद विचार-कोटि में आयेंगे) पदावधि एक ही रही, तो पिछले भी पदने के साथ-साथ सेवानिवृत्ति के लिए

पक्व हो जायेंगे। प्रमुख की पदावधि कुछ कम रखने से यह दिक्कत कम हो जायेगी।

वायुसेना के विस्तार को ध्यान में रखते हुए वायुसेना प्रमुख का पद १५ जनवरी, १९६६ से ऊपर बढ़ाकर एयर चीफ मार्शल कर दिया गया।

नये सेना-मुख्यालयों को गठित करना

१५ अगस्त, १९४७ को तीनों प्रमुखों के अधीन तीन नये मुख्यालय पहले इन नामों के साथ गठित किये गये : थलसेना-मुख्यालय (भारत), नौसेना-मुख्यालय (भारत) और वायुसेना मुख्यालय (भारत)। बाद में 'भारत' शब्द अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया।

थलसेना

थलसेना-मुख्यालय में पहले छः शाखायें थी : चार लेफ्टिनेंट जनरल के पद वाले प्रमुख स्टाफ अधिकारियों के अधीन (नामतः चीफ ऑफ दि जनरल स्टाफ, एडजुटेंट जनरल, क्वार्टर मास्टर जनरल और आर्डनेंस के मास्टर जनरल) और दो शाखायें मेजर जनरल के पद के अधिकारियों के अधीन (नामतः सैन्य सचिव की शाखा और इंजीनियर-इन-चीफ की शाखा)।

पिछले महायुद्ध के कुछ समय बाद सामान्य-मुख्यालय के पुनर्गठन की एक आयोजना बनायी गयी थी। फलस्वरूप आर्डनेंस के मास्टर जनरल की अगभूत शाखायें क्रमशः सामान्य-मुख्यालय की अन्य शाखाओं को स्थानान्तरित कर दी गयीं। आर्डनेंस सेवा-निदेशालय को २८ फरवरी, १९४७ को क्वाटर मास्टर जनरल की शाखा में स्थानान्तरित कर दिया गया और यान्त्रिक इंजीनियरी और तकनीकी विभाग के निदेशालय १ अप्रैल, १९४७ को सामान्य स्टाफ शाखा में स्थानान्तरित कर दिये गये। इस तरह १ अप्रैल, १९४७ से आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा का अस्तित्व न रहा। उस समय यह सोचा गया था कि इस पुनर्गठन का यह फल होगा कि सैन्य सामग्री से सम्बन्धित लोगों के, अर्थात् उपयोक्ता, तकनीकीविद्, वैज्ञानिक, निर्माता, निरीक्षक और सन्धारक के काम में, समुचित समन्वय आ जायेगा।

आर्डनेंस कारखाना निदेशक, आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा के एक महत्वपूर्ण अधिकारी थे। वे आर्डनेंस कारखानों का नियंत्रण करते थे, जो रक्षा-सेनाओं के लिये भण्डार का निर्माण करते थे। युद्धकाल में कारखानों का प्रशासनिक नियन्त्रण पूर्ति विभाग को स्थानान्तरित कर दिया गया। वे १ अप्रैल, १९४७ को रक्षा-विभाग में वापस स्थानान्तरित किये गये और उनको सामान्य-स्टाफ-शाखा के अधीन रख दिया गया। १ अप्रैल, १९४७ में एक नया पद, डिप्टी चीफ आफ दि जनरल स्टाफ (शस्त्रास्त्र और उपस्कर) बनाया गया, जिसका काम उस समय सामान्य-स्टाफ-शाखा को सौंपे गये इस नये काम का पर्यवेक्षण करना था। तब आर्डनेंस के मास्टर जनरल के वैज्ञानिक सलाहकार डिप्टी चीफ ऑफ दि जनरल स्टाफ (शस्त्रास्त्र और उपस्कर) के वैज्ञानिक सलाहकार बन गये, लेकिन १ फरवरी, १९४९ से यह नियुक्ति, मन्त्रालय के अधीन रक्षा-विज्ञान संगठन में स्थानान्तरित कर दी गयी। रक्षा-मन्त्रालय ने १ अप्रैल, १९४८ से सीधे प्रशासन के लिए आर्डनेंस कारखानों को भी अपने हाथ में ले लिया था।

इस तरह १५ अगस्त, १९४७ को थलसेना मुख्यालय में सामान्य-स्टाफ शाखा, एडजुटेंट जनरल की शाखा और क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा के भारसाधक तीन प्रमुख स्टाफ अधिकारी थे और दो अन्य शाखा-प्रमुख थे, नामत सैन्य सचिव और इंजीनियर-इन-चीफ। इन सबका पद मेजर जनरल का था। उस समय सेना मुख्यालय में केवल १५० अधिकारी और ५९९ अन्य पदधारी, सैनिक और असैनिक दोनों थे।

बाद में यह पता चला कि आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा से कुछ निदेशालयों को *स्थानान्तरित करने से, सामान्य-स्टाफ-शाखा और क्वार्टर-मास्टर-जनरल* की शाखा के ऊपर काफी ज्यादा बोझ आ गया है। यह सोचा गया कि ज्यादा अच्छा समन्वय आश्वस्त करने, और सेना में अनुसन्धान और विकास की ओर ज्यादा ध्यान दिये जाने की दृष्टि से, इस महत्व-पूर्ण शाखा को फिर से गठित किया जाना चाहिये। तदनुसार, १५ जनवरी, १९४९ से आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा फिर से गठित की गयी।

१५ अगस्त, १९४७ में थलसेना-मुख्यालय में प्रमुख स्टाफ अधिकारियों के पदों पर मेजर जनरल के ओहदे के अधिकारी नियुक्त करने की बात तय की गयी थी। इसका कारण उच्चतर ओहदों में सहसा रिक्तता आ जाना था और सेना की संख्या में कमी के फलस्वरूप जिम्मेवारी घट जाना था। अगले इन सालों में सेना का ओहदा-ढाँचा काफी सुस्थिर हो गया। शाखाओं की जिम्मेवारियाँ भी बहुत बढ़ गयी थीं। अगस्त, १९५८ में प्रमुख स्टाफ अधिकारियों के पद ऊँचे करके, लेफ्टिनेंट जनरल के ओहदे वाले बना दिये गये। साथ ही डिप्टी चीफ ऑफ दि जनरल स्टाफ, डिप्टी एडजुटेंट जनरल, डिप्टी क्वार्टर मास्टर जनरल और आर्डनेंस के डिप्टी मास्टर जनरल के पद मेजर जनरल के ओहदे वाले बनाये गये। सेना के प्रमुख की मदद के लिए डिप्टी चीफ ऑफ दि आर्मी स्टाफ का एक नया पद भी लेफ्टिनेंट जनरल के ओहदे में बनाया गया।

१५ जनवरी, १९६५ से डिप्टी चीफ ऑफ दि आर्मी स्टाफ (थलसेना स्टाफ के उप-प्रमुख) और डिप्टी चीफ ऑफ दि आर्मी स्टाफ (थलसेना स्टाफ प्रति-प्रमुख) रखे गये। इस व्यवस्था के अधीन उपप्रमुख को सामान्य स्टाफ शाखा के कुछ ऐसे निदेशालयों के काम का भारसाधक बनाया गया, जो पूर्ववत् चला आ रहा है। डिप्टी चीफ ऑफ जनरल स्टाफ कर्तव्य-निदेशक का ओहदा ब्रिगेडियर से बढ़ाकर मेजर जनरल का कर दिया गया।

इस तरह चीफ ऑफ दि आर्मी स्टाफ की सहायता के लिए आर्मी स्टाफ के उप-प्रमुख और चार अन्य प्रमुख स्टाफ अधिकारी हैं (सेना स्टाफ के प्रति-प्रमुख, एडजुटेंट जनरल, क्वार्टर मास्टर जनरल, और आर्डनेंस के मास्टर जनरल) और दो शाखा-प्रमुख हैं (इंजीनियर-इन-चीफ और सैन्य-सचिव)। शाखाओं के कृत्यों की रूपरेखा नीचे दी जा रही है :

१—सामान्य-स्टाफ-शाखा

(क) सेना का संगठन और नियोजन, सैन्य-सक्रिया, सैन्य-आसूचना, सैन्य-प्रशिक्षण, समाघात-विकास, सैन्य-सर्वेक्षण नक्शों के सन्धारण और पूर्ति समेत, और स्टाफ मामलों के इंजीनियर—जिनका निपटान सेना-स्टाफ के उप-प्रमुख द्वारा किया जाता है।

(ख) स्टाफ-कर्त्तव्य, शस्त्रास्त्र और उपस्कर का चुनाव और माप, प्रावधान करने सहित उपस्कर सम्बन्धी नीति का समन्वय, आमर्ड-कोर, आर्टिलरी, सिगनल्स, पैदल सेना, प्रादेशिक सेना और रक्षा-सुरक्षा दल—जिनका निपटान सेना-स्टाफ के प्रति-प्रमुख द्वारा किया जाता है।

२—एडजुटेंट जनरल की शाखा

जनसाधन, भरती, छुट्टी, वेतन और भत्ते और पेन्शन और सेवा की अन्य शर्तें, अनुशासन। यह कल्याण और स्वास्थ्य और सैन्य-विधि का भी काम देखती है।

३—क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा

कार्मिक-सचलन, भण्डार और उपस्कर, ईंधन, खाद्य-पदार्थ और चारे का प्रावधान, भण्डारण, निरीक्षण और वितरण, सैन्य-फार्म, अश्व और पशुचिकित्सा-सेवायें, सेना की डाक, पायोनियर और कैंटीन सेवायें, निर्माण-कार्य नीति, अग्निशामक-सेवायें और सैन्य-इंजीनियर-सेवाओं के निर्माण-कार्य बिलों की तकनीकी जाँच।

४—आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा

सैन्य परिवहन, गाड़ियों, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद, सिगनल उपस्कर, सामान्य भण्डार और वस्त्रों को शामिल करते हुए आर्डनेंस पूर्ति वाले सभी भण्डार और उपस्करों के बारे में अशान्ति-नीति, प्रावधान, भण्डारण, वसूली, मरम्मत, सन्धारण और वितरण के सभी पक्ष और साथ ही नौसेना और वायुसेना को समान उपभोक्ता मदों की पूर्ति।

५—सैन्य-सचिव की शाखा

सेना में कमीशन दिये जाना, तैनाती, स्थानान्तरण, पदोन्नति, सेवा-मोचन, सेवानिवृत्ति, त्यागपत्र, अपग होना, रक्षित में स्थानान्तरण और सेना के सभी चिकित्सेतर अधिकारियों के गोपनीय प्रतिवेदन और व्यक्तिक अभिलेख रखना, उन चुनाव बोर्डों के लिए सचिवालय-व्यवस्था करना, जो अधिकारियों के लैफ्टिनेंट कर्नल और ऊपर के ओहदों म पदोन्नति के लिए सिफारिश करते हैं, सेना अधिकारियों के सम्मान और पुरस्कार और असैनिकों को सेना में आदरी कमीशन प्रदान करने के लिए सिफारिशें करना।

६—इंजीनियर-इन-चीफ की शाखा

इंजीनियर-यूनिटों और इंजीनियर भण्डारों सम्बन्धी सभी मामले, इंजीनियर-कोर का प्रशासन और उसकी कार्मिक और सैन्य-इंजीनियरी-सेवायें, रक्षा-सेवाओं के लिए सभी आवासों और निर्माण-कार्यों के लिए डिजाइन बनाना, निर्माण करना और सन्धारण करना। ये सभी शाखायें विभिन्न निदेशालयों में बँटी हुई हैं।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत को तीन सेना-कमानों में बाँटा गया—१. दक्षिणी, २ पूर्वी और ३. दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब कमानें। दिल्ली और पूर्वी पंजाब कमान का विभाजन के बाद निर्माण हुआ था, तत्कालीन पूर्वी कमान भी अपने मूल आकार में कुछ संकुचित हो गयी थी। दक्षिणी कमान का क्षेत्राधिकार प्राय अपरिवर्तित रहा। प्रत्येक कमान एक जनरल अफसर कमांडिंग इन चीफ के अधीन थी और आज भी बनी हुई है, जिनका ओहदा लेफ्टिनेंट

जनरल का होता है। ये कमानें पहले की तरह एरिया कमांडरों के अधीन (जिनको जनरल अफसर कमांडिंग, एरिया कहते हैं) एरिया में बँटी रहती हैं, जो मेजर जनरल के ओहदे के होते हैं और उनके अधीन स्वतन्त्र सब-एरिया होते हैं, तथा ब्रिगेडियरों की कमान के अधीन सब-एरिया होते हैं। स्वतंत्र सब-एरिया सीधे ही कमान के अधीन आते हैं। १९४७ से समय-समय पर बदलती जरूरतों को पूरा करने की दृष्टि से, एरिया और सब-एरिया की सीमा में परिवर्तन किये जाते रहे हैं।

१९४८ में दिल्ली और पूर्वी पंजाब कमान का नाम बदल कर पश्चिमी कमान कर दिया गया। १९५४ में इस कमान का मुख्यालय दिल्ली से, जहाँ इसे केवल अस्थायी आवास मिला हुआ था, हटाकर शिमला ले जाया गया, जहाँ रक्षा-सेनाओं से सम्बन्धित स्थायी भवन उपलब्ध थे। दिल्ली में स्थायी भवन बनाने के लिए काफी पूंजी व्यय करने की जरूरत पड़ती और फिर यह ऐसी जगह थी, जहाँ भवनों की माँग पहले ही काफी तीव्र थी। दूसरी ओर, शिमला में पंजाब सरकार का कार्यालय चंडीगढ़ चले जाने से गृह-समस्या काफी आसान हो गयी थी। तत्कालीन पूर्वी कमान का मुख्यालय भी राँची से हटाकर लखनऊ ले आया गया। राँची रेल या सड़क-सचार की दृष्टि से सुविधाजनक जगह पर न था, साथ ही सरकार के पास वहाँ पर बहुत ज्यादा जमीन और भवन भी न थे। जमीन अवाप्त करने और नये भवन बनाने में भारी पूंजी व्यय करनी पड़ती। लखनऊ में अधिकांश जरूरी आवास-स्थान यू० पी० एरिया मुख्यालय लखनऊ ने बरेली ले जाकर प्राप्त कर लिया गया। संचार की दृष्टि से भी लखनऊ की स्थिति अच्छी है। यह स्थान-बदल फरवरी, १९५५ के अन्त तक पूरा कर लिया गया। इस तरह तीन सेना कमान थे—पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिण, जिनके मुख्यालय क्रमश: शिमला, कलकत्ता और पूना में थे।

एरिया और सब-एरिया को स्थायी विरचना के रूप में उल्लिखित किया जाता है। चल या सक्रियागत विरचनाएँ होती हैं. ब्रिगेड, स्वतन्त्र ब्रिगेड या ब्रिगेड-समूह जो ब्रिगेडियर के ओहदे के ब्रिगेड कमांडर के अधीन रहती हैं, डिवीजन, जो डिवीजनल कमांडर (मेजर जनरल) के अधीन रहता है, (जिसमें दो या अधिक डिवीजन रहते हैं या जो डिवीजनों, ब्रिगेड समूहों और स्वतन्त्र ब्रिगेडों का मिश्रण होते हैं)। ये लेफ्टीनेंट जनरल के ओहदे के कोर-कमांडर के अधीन रहती हैं। कोर-कमांडर आर्मी कमांडर के अधीन काम करता है (जो कमान का जनरल अफसर कमांडिंग-इन-चीफ होता है)। कोर-कमांडर आर्मी कमांडर से कनिष्ठ होता है, हालांकि उन दोनों का ही ओहदा लेफ्टीनेंट जनरल का होता है। यहाँ पर यह भी बता दिया जाय कि सेना-स्टाफ उप-प्रमुख की प्रास्थिति आर्मी कमांडर की होती है और प्रमुख स्टाफ-अधिकारियों की कोर कमांडर से आर्मी कमांडर की पदोन्नति अन्य वरिष्ठ पदों की तरह चुनाव द्वारा होती है, हालांकि सैन्य ओहदा वही बना रहता है।

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद, जब वायसराय की नियुक्ति ही नहीं रही, तो वायसराय कमीशन-प्राप्त अधिकारी (वी० सी० ओ०) नाम अनुपयुक्त हो गया। वी० सी० ओ० एक भारतीय सेना का ही विशिष्ट ओहदा है और ब्रिटिशजनों ने ब्रिटिश अधिकारियों और भारतीय सिपाहियों के बीच एक कड़ी रखने के लिए ही इसकी सृष्टि की थी। वायसराय के कमीशन-

प्राप्त अधिकारी की नियुक्ति अन्य पदों से पदोन्नति द्वारा ही की जाती थी। मार्च, १९४८ में वी० सी० ओ० का नया पदनाम कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारी (जे० सी० ओ०) रख दिया गया, हालांकि ओहदे वही बने रहे, अर्थात् जमादार, सूबेदार और सूबेदार मेजर। जमादार शब्द जन-समाज में क्रमशः एक व्यवसाय-विशेष का वाचक बन गया है। इसलिए जे० सी० ओ० के इस ओहदे को क्रमशः बदलकर १९६५ में नायब सूबेदार कर दिया गया।

किंग कमीशन-प्राप्त भारतीय अधिकारी (के० सी० आई० ओ०) और भारतीय कमीशन प्राप्त अधिकारी के पदनाम भी क्रमशः अधिकारी और भारतीय अन्य पदधारी हो गये। पिछला नाम मूलतः ब्रिटिश अन्य पदधारियों से भेद करने के लिए रखा गया था, पर बाद में केवल अन्य पदधारी ही रह गये। इस तरह अब भारतीय सेना में अधिकारी, कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारी और अन्य पदधारी होते हैं।

यहाँ पर रक्षा-सुरक्षा-दल का संक्षिप्त उल्लेख कर देना भी उचित होगा, जो पूरे भारत में रक्षा-संस्थापनों के संरक्षण के लिए कार्मिक प्रदान करता है। पहले रक्षा और प्रतिपालन-काम के लिए असैनिक चौकीदार और तलाशगीन संस्थापनों द्वारा स्वयं ही लगा लिए जाते थे। पर बाद में यह अनुभव किया गया कि रक्षा-संस्थापनों की ज्यादा अच्छी सुरक्षा के लिए आकस्मिक रूप से लगाये गये असैनिकों की जगह ऐसे लोग लगाये जाने चाहिये, जो अनुशासन की कहीं ज्यादा कठोर संहिता के अधीन हों। इसलिए विभाजन से पहले ही आदेश निकाल दिये गये थे कि रक्षा विभाग की एक कांस्टेबल-सेना गठित की जानी चाहिये। २९ अप्रैल, १९४७ को निकाली गयी एक अधिसूचना द्वारा कांस्टेबल-सेना का नाम भारतीय सेना अधिनियम, १९११ के अधीन 'कोर' रखा गया और इस तरह इसके सदस्य स्वतः भारतीय सेना के अधीन आ गये। इस कांस्टेबल सेना का नाम बाद में २३ अप्रैल, १९४८ को रक्षा-मंत्रालय-सुरक्षा-दल रख दिया गया। यह रक्षा-मंत्रालय के प्रशासनिक नियंत्रण में थी।

सुरक्षा-दल का उद्देश्य संस्थापनों को छोटी-मोटी तोड़फोड़ और लघु चोरियों से सुरक्षित रखना है, पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह बाहर से भारी पैमाने के हमले या किसी बड़े आन्तरिक उपद्रव के लिए भी है, जिसका सामना तो स्थानीय मुख्यालय के आदेशों के अधीन नियमित सेना के व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिये। कोर की रचना सेना के प्रतिमान पर की गयी है और इसके भी ओहदे और उपाधि नियमित सेना जैसे ही है।

दल में तीनों सेनाओं के भूतपूर्व सैनिक भरती हो सकते हैं। रक्षा-सुरक्षा-दल के व्यक्तियों की सेवा शर्तें और निवन्धन, यात्रा-रियायत, राशन, चिकित्सा-उपचार और आकस्मिक और रोग-अवकाश के बारे में वही है, जो नियमित सेना के व्यक्तियों पर लागू होते हैं। पर वेतन और भत्ते, पेन्शन, ग्रेच्युटी और वार्षिक छुट्टी की शर्तें कुछ भिन्न हैं।

नौसेना और वायुसेना के अधिकारियों को यथास्थिति नौसेना या वायुसेना की यूनिटों या संस्थापनों में कर्तव्य-लग्न सुरक्षा-व्यक्तियों के ऊपर कमान और दण्ड की शक्ति मिली हुई है। लेकिन ये व्यक्ति केवल सेना-अधिनियम के अधीन आते हैं, तत्सम्बन्धी नौसेना और वायुसेना के अधिनियमों के अधीन नहीं। सेना-नियमों के अधीन, नौसेना और वायुसेना अधिकारियों

को दी गयी शक्तियों के अधीन, वे छोटे-मोटे अपराधों के मामले में संक्षिप्त कोर्ट मार्शल कार्यविधि अपना लेते हैं। लेकिन जब कोई गम्भीर अपराध का दोषी होता है, जिसके लिए कोर्ट मार्शल जाँच जरूरी है, तो उसे उपयुक्त सेना-अधिकारियों के हवाले कर दिया जाता है। आर्डनेंस कारखानों में काम करने वाले सुरक्षा-कार्मिक अगर सेना-अधिनियम के अधीन किसी अपराध के दोषी होते हैं, तो उनको निकटतम सेना यूनिट में उपयुक्त कार्रवाई के लिए सौंप दिया जाता है।

कोर का प्रशासन एक निदेशक के हाथ में है। जैसा पहले बताया जा चुका है, पहले वह सीधे रक्षा-मन्त्रालय के अधीन था। रक्षा-मन्त्रालय सुरक्षा-दल को १६ अगस्त, १९५८ से चीफ-ऑफ़ दि जनरल स्टाफ के प्रशासनिक नियन्त्रण में स्थानान्तरित कर दिया गया और उसका नाम रक्षा-सुरक्षा-दल रख दिया गया। इस तरह यह निदेशालय सामान्य-स्टाफ-शाखा का एक अंग है।

सेना के अफसरों के ओहदे ये हैं सेकिंड लेफ्टीनेंट, लेफ्टीनेंट, कैप्टेन, मेजर, लेफ्टीनेंट कर्नल, कर्नल, ब्रिगेडियर, मेजर जनरल, लेफ्टीनेंट जनरल और जनरल। कनिष्ठ कमीशन प्राप्त अधिकारियों के ओहदे हैं . नायब सूबेदार, सूबेदार या रिसालदार और सूबेदार मेजर या रिसालदार मेजर। अन्य पद ये हैं सिपाही, लांस नायक, नायक, हवलदार और हवलदार मेजर।

सेना में अनेक टुकडियाँ और सेवायें हैं . पैदल सेना, आर्मर्ड-कोर, आर्टिलरी की रेजीमेंट, इंजीनियर-कोर, सिगनल्स-कोर, आर्मी-सर्विस-कोर, आर्मी-आर्डनेंस-कोर, बिजली और यान्त्रिकी इंजीनियरों की कोर, आर्मी-एजूकेशन-कोर, अश्व, पशुचिकित्सा और फार्म-कोर, आर्मी-मेडिकल-कोर, आर्मी-डेंटल-कोर मिलिटरी-पुलिस-कोर, रक्षा-सुरक्षा-दल।

अक्तूबर, १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद सेना में काफी विस्तार और पुनर्गठन हुआ। पूर्वी-सेना-कमान का काम चीन से लगी सीमा के मध्य और पूर्वी खण्डों की देखभाल करना भी हो गया। पूर्वी पाकिस्तान के सीमान्त की देखभाल करना तो जारी ही रहा आया। अनुभव ने बताया कि यह क्षेत्राधिकार एक आर्मी-कमांडर द्वारा देखभाल के लिए काफी बड़ा है। तदनुसार मई, १९६३ में पूर्वी कमान को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। पूर्वी कमान का मुख्यालय लखनऊ से कलकत्ता ले जाया गया। और एक नयी मध्य कमान लखनऊ में मुख्यालय के साथ बनायी गयी। मध्य कमान का क्षेत्राधिकार यू० पी०, बिहार, उडीसा और मध्य प्रदेश था, जबकि पुनर्गठित पूर्वी कमान के अधीन पश्चिमी बंगाल, आसाम, 'नेफा' (उत्तर-पूर्वीय सीमा—'उपूसी') नागालैण्ड, मणिपुर और त्रिपुरा आ गए।

युद्धरत यूनिटों के प्रसंग में, अक्तूबर-नवम्बर, १९६२ में उपूसी में, चीनी सेना के साथ हुई सक्रिया के अनुभव-विशेष के आधार पर, पर्वत-डिवीजन नामक एक नयी विरचना बनायी गयी। यह संगठन ऊँचे पहाड़ी प्रदेशों में वर्धित चलिष्णुता और अग्नि-शक्ति के साथ सक्रिया के लिए खड़ा किया गया है। सैनिकों की चलिष्णुता बढ़ाने के लिए उनको पशु-परिवहन और हलकी गाड़ियाँ दी जाती हैं। उनको हलके शस्त्रास्त्रों से सज्जित किया गया है, जिनको आदमी या

पशु ले जा सकते हैं और जोर इस बात पर दिया गया है कि जिस भूभाग पर उनको काम करना है, उस पर उनकी अग्नि-शक्ति बढ़ा दी जाये। पर्वत-डिवीजन के संगठन-ढाँचे में यह आश्वस्त करने के लिए यथोचित परिवर्तन किये गये हैं कि प्रत्येक सैन्य-विरचना यथासम्भव आत्मनिर्भर रहे। आपात के आरम्भ के बाद छः नये डिवीजन बढ़ाने की मजूरी दी गयी थी, जिनमें से चार पर्वत डिवीजन बनने थे। एक विद्यमान पैदल-सेना-डिवीजन को भी पर्वत-डिवीजन में पुनर्गठित किया गया और इस तरह पर्वत-डिवीजनों की संख्या पाँच हो गयी। सेना के भावी रूप के बारे में एक और दूरगामी निर्णय की बात 'भरती और प्रशिक्षण' वाले अध्याय में कही गयी है।

नौसेना

सत्ता हस्तान्तरण के बाद शुरू में नौसेना मुख्यालय को दो मुख्य विभागों में गठित किया गया। एक चीफ-ऑफ स्टाफ का विभाग था, जो आयोजना, संक्रिया, सञ्चार, आसूचना और सुरक्षा, व्यक्तिक मामले, पोतों और तट-स्थापनाओं का समुच्चय, प्रशिक्षण और शिक्षा, कल्याण और नौ सैनिक विधि के लिए उत्तरदायी था। दूसरा प्रशासन-प्रमुख का विभाग था, जो पूर्ति, खाद्य-भरण, शस्त्रीकरण, निर्माण-कार्य, इंजीनियरी आदि के लिए उत्तरदायी था। इन विभागों को विभिन्न शाखाओं और निदेशालयों में भी बाँट दिया गया, जो एक विषय-विशेष का काम करते थे।

कमान की शृङ्खला में फ्लैग-अफसर कमाण्डिंग के बाद कमोडोर, भारसाधक, बम्बई थे, जिनका मुख्यालय भी बम्बई के बन्दरगाह में था। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर आधार वाले नौसेना के पोतों (जिनको उस समय हिज मैजेस्टी के भारतीय पोत कहा जाता था) के लिए, उस क्षेत्र के रॉयल इंडियन नेवी संस्थापनों और व्यक्तियों और तटरेखा की नौसैनिक रक्षा के लिए, उत्तरदायी थे। अनेक उप-कमान भी थे। प्रत्येक, एक नौसैनिक-भारसाधक-अधिकारी या आवासी-नौसेना-अधिकारी के अधीन था। वे अपने-अपने बन्दरगाहों के आधार वाले पोतों के लिए और अपने-अपने क्षेत्र के नौसेना-संस्थापनों और व्यक्तियों के लिए उत्तर-दायी थे। दो नौसैनिक-भारसाधक-अधिकारी थे. एक पश्चिमी तट में कोचीन में और दूसरा पूर्वी तट में विशाखापटनम् में। दो आवासी-नौसेना-अधिकारी भी थे एक मद्रास में और दूसरा कलकत्ता में।

१५ अगस्त, १९४७ को नौसेना के पास एक फ्रिगेट स्क्वेड्रन था, जिसमें ये जहाज थे जमुना, कावेरी, सतलज और कृष्णा, एक क्वायद-प्रशिक्षण-पोत, 'तीर', एक सुरंग साफ करने का स्क्वेड्रन, जिसमें ये जहाज थे बंगाल, बम्बई, कोंकण, मद्रास, राजपूताना और रुहेलखण्ड और सर्वेक्षण-पोत-इन्वेस्टीगेटर। ये सभी बहुत पुराने जहाज थे। मूलतः यह प्रस्ताव था कि युद्धोत्तर नौसेना में तीन क्रूजर होने चाहिये, पर ब्रिटिश सरकार द्वारा सत्ता-हस्तान्तरण की घोषणा के बाद यह आयोजना बदल दी गयी। फलस्वरूप महामहिम सम्राट् सरकार से एक क्रूजर के लिए की गयी प्रार्थना को रद्द कर दिया गया। विभाजन के तुरन्त बाद नयी भारत सरकार ने स्थिति पर पुनर्विचार किया और यह निर्णय किया कि भारतीय नौसेना के लिए

रॉयल नेवी से एक क्रूजर मगाया जाय, भारत सरकार ने ५ अप्रैल, १९४८ को फिर से, उपयुक्त रूप से फिट कराकर, भूतपूर्व एच० एम० एस० एचाइल्स (७००० टन) प्राप्त किया। इस जहाज का नाम एच० एम० एस० दिल्ली रखा गया और यह १६ नवम्बर, १९४८ को नौ-बेडे में शामिल हो गया। नौसेना के क्रमबद्ध विकास कार्यक्रम में अगला कदम रॉयल नेवी से 'आर' श्रेणी के तीन डेस्ट्रोयर प्राप्त करना था। आधुनिकन और रक्षा-कटिबन्धीय-अनुकूलन के बाद ये जहाज जनवरी, १९५० में भारत पहुँचे। नौसेना मे शामिल होने पर उनके नाम एच० एम० आई० एस० राजपूत, और राणा रखे गये।

इस बीच १५ जनवरी, १९४९ को जरूरी समझते हुए नौसेना मुख्यालय का पुनर्गठन किया गया। इसमें पाँच प्रमुख विभाग, प्रत्येक एक-एक प्रमुख स्टाफ-अधिकारी के अधीन बनाये गये। उस समय प्रमुख-स्टाफ-अधिकारी डिप्टी चीफ ऑफ नेवल स्टाफ और डिप्टी कमाडर-इन-चीफ थे जिनका ओहदा कमोडोर का था और शेष कैप्टेन के ओहदे के थे और ये आयोजना सक्रिया सचार, और आसूचना के लिए उत्तरदायी थे और स्टाफ के समग्रीण समन्वय के लिए भी), कार्मिक-प्रमुख (जो नौसेना के व्यक्तियो की भरती, सेवा-शर्ता, प्रशिक्षण, कल्याण और अनुशासन, अधिकारियो की नियुक्ति और नौ-बेडे मे सामान्यत व्यक्ति-व्यवस्थापन के लिए उत्तरदायी थे), प्रशासन-प्रमुख (जो पूर्ति और खाद्य-भरण, भण्डार, वेतन और भत्ते, परिवहन और निर्माण-प्रायोजनाओ के लिए उत्तरदायी थे), सामग्री-प्रमुख (जो सेना के सामग्री-ससाधन के लिए उत्तरदायी थे) और नौसेना-उड्डयन के प्रमुख (जो नौसेना की वायुशाखा के लिए उत्तरदायी थे) थे। सामग्री-प्रमुख और कार्मिक प्रमुख के ओहदे अक्तूबर, १९५६ मे बढाकर कमोडोर के कर दिये गये और प्रशासन-प्रमुख का पद खत्म कर दिया गया।

यहाँ पर नौसेना के नौसैनिक-उड्डयन-विंग के बारे मे कुछ बता देना उचित ही होगा। पिछले महायुद्ध ने बता दिया था कि किसी भी सक्रिया को सफल रूप से चलाने के लिए थलसेना, नौसेना और वायुसेना का मिला-जुला प्रयास अत्यावश्यक होता है। नौसेना-उड्डयन आक्रमण और रक्षा दोनो हो प्रयोजनो से बडी भारी भूमिका निभा सकता है। यदि समुद्र पर का कोई निशाना भू-आधारित विमान की मार से बाहर है, तो विमान-वाहक पोत नौसेना के विमान को समुद्र में काफी दूर तक ले जा सकते है, जहाँ से वे निशाने पर हमला कर सकें। रक्षा की भूमिका में, शत्रु के पोत हमारी स्थितियो पर हमला करने की कोशिश से पहले ही, विमान-वाहक पोतो पर स्थित विमानो द्वारा रोके जा सकते है और वायु से उन पर हमला किया जा सकता है।

कुछ उपलक्षण नौसेना के विमानो को सामान्य विमानो से पृथक कर देते है। उनमें एक पाशक हुक लगा रहता है, जो अवतरण करते समय विमान-वाहक के डेक पर लगे एक पाशक-तार में फँस जाता है और २०० फीट की दूरी में ही विमान को रोक देता है। कुछ मे मोडे जा सकने योग्य विंग होते है, जिससे एक विमान-वाहक पर ज्यादा संख्या मे जहाज ले जाना सम्भव हो जाता है।

नौसेना के एयरमैन को काफी विशेषीकृत प्रशिक्षण लेना पडता है। रॉयल इंडियन

नेवी के १८ अधिकारियों के पहले बैच ने अपना आरम्भिक पाइलट-प्रशिक्षण, वायुसेना के साथ, प्रारम्भिक-उडान-प्रशिक्षण-विद्यालय, जोधपुर में १९४९ के मध्य में शुरू किया।

हंट वर्ग के तीन डेस्ट्रोयर, गोदावरी, गोमती और गंगा आरम्भ में रॉयल नेवी से उधार लिये गये और उनको १९५३ के मध्य में भारतीय नौसेना बेडे में शामिल किया गया। १९५४-५५ में रायल नेवी से एक और क्रूजर प्राप्त करने की व्यवस्था पूरी कर ली गयी थी। यह क्रूजर, आई० एन० एस० मैसूर, २९ अगस्त, १९५७ को नौसेना में शामिल किया गया।

प्रथम क्रूजर, और अन्य पोतों को प्राप्त करने के बाद, नौसेना कमान में एक नयी नियुक्ति १५ अगस्त, १९४८ में की गयी, जिसका पदनाम फ्लैग-अफसर-कमांडिंग, रायल इंडियन स्क्वेड्रन रखा गया। इस नियुक्ति के नाम में समय-समय पर अन्तर पड़ता रहा और अब इसे फ्लैग-अफसर कमांडिंग इंडियन फ्लीट कहा जाता है और उसका ओहदा रीयर एडमिरल का है।

दो तटान्त सुरंग-मार्जक बेसीन और बिमलीपट्टम् भी १९५५ में प्राप्त किये गये। ब्रिटेन से प्राप्त किये गये चार तटीय सुरंग-मार्जक मई, १९५७ में बेडे में शामिल हुए, जिनके नाम थे : आई-एन-शिप कारवाड, कन्नानूर, कड्डलूर और काकीनाडा। इंगलैंड में आठ और नये फ्रिगेट बनवाने का कार्यक्रम १९५६-६१ में चलता रहा। पनडुब्बी-रोधी फ्रिगेट खुकरी और विमान-रोधी फ्रिगेट ब्रह्मपुत्र ७ नवम्बर, १९५८ को बेडे में शामिल हुए और उनके बाद पनडुब्बी रोधी फ्रिगेट कृपाण और कुठार १० नवम्बर, १९५९ को आये। शेष चार फ्रिगेट तलवार, त्रिशूल, ब्यास और बेतवा १९६०-६१ में बेडे में शामिल हुए—जिनमें से आखीरी मई, १९६१ में आया। फरवरी, १९५७ में भारत सरकार ने १९००० टन का एक विमान-वाहक प्राप्त किया, जिसका निर्माण अभी इंगलैण्ड में पूरा होना था। उसके बाद पोत को पूरा किया गया और उसका आधुनिकन किया गया। यह वाहक, आई० एन० एस० विक्रान्त, औपचारिक रूप में बेलफास्ट में ४ मार्च, १९६१ को उतारा गया। फिर ब्रिटेन और भूमध्य सागर में उसे* कार्यरत रहना पड़ा। रास्ते में भी कुछ अभ्यासों में भाग लेता हुआ, यह वाहक भारत में नवम्बर, १९६१ में पहुँचा। उस पर ब्रिटेन से लिये गये सीहॉक विमान हैं और फ्रान्स से लिये गये एलिज विमान। भारत में बना पहला सर्वेक्षण-पोत-दर्शक हिन्दुस्तान शिप-यार्ड लिमिटेड, विशाखापटनम् में बना था और औपचारिक रूप से उसे, २८ दिसम्बर, १९६४ को उतार कर, बेडे में शामिल किया गया। हाल में नौसेना में पनडुब्बी-शाखा भी जोड़ दी गयी है।

पोर्ट ब्लेयैर में १५ फरवरी, १९६४ को एक आवासीय-नौसेना-अधिकारी संगठन स्थापित किया गया और उसका नाम आई० एन० एस० जरवा (अंदमान नीकोबार द्वीप समूह की एक पुरानी जनजाति के नाम पर) रखा गया। नौसेना अड्डे (बेस) के रूप में विकसित करने के लिए मारमागाओ का नाम ७ मई, १९६८ को आई० एन० एस० गोमन्तक रखा गया।

---

* सायन्त्रिकों को एक टुकड़ी के रूप में पोत चलाने का प्रशिक्षण।

इस बेड़े में नौसेना का हवाई अड्डा हंसोंगिय भी आता था, जहाँ पर जरूरी सुविधाओं में सुधार और विकास कर लिया गया।

बम्बई की नौसैनिक गोदी का विस्तार कई चरणों में किया जा रहा है। जून, १९६४ में नौसेना ने तटीय बैटरियों का उत्तरदायित्व, सन्धारण और सक्रिया के लिए, थलसेना से लेकर, सँभाल लिया।

मझगाँव गोदी में, ब्रिटेन के वाइकर्स-यारो के सहकार से तीन नये फ्रिगेट बनने हैं। ब्रिटिश सरकार, ने फ्रिगेट-प्रायोजना की वाह्य लागत को पहले चार साल में पूरा करने के लिए, और मझगाँव गोदी के विस्तार के लिए, लगभग ८७ लाख पौंड का विशेष ऋण दिया। नये फ्रिगेट नौसेना में १९७१ और १९७३ के बीच बनकर शामिल हो जाएँगे, ऐसी आशा की जाती है।

बेड़े में विस्तार के साथ-साथ, नौसेना की विभिन्न वरिष्ठ नियुक्तियों से संलग्न जिम्मेवारियाँ भी काफी बढ़ गयी। १९५८ में कमोडोर भारसाधक, बम्बई और नौसैनिक अधिकारी भारसाधक विशाखापटनम् के ओहदे बढ़ाकर क्रमश: रीयर एडमिरल और कमोडोर कर दिये गये और उनके पदनाम फ्लैग अफसर, बम्बई और कमोडोर पूर्वी तट, कर दिये गये। अगले साल डिप्टी चीफ ऑफ नेवल स्टाफ (नौसेना-स्टाफ-उप-प्रमुख) की नियुक्ति का ओहदा बढ़ाकर रीयर एडमिरल कर दिया गया। १९६५ में कार्मिक-प्रमुख और सामग्री-प्रमुख के पदों के ओहदे भी बढ़ाकर रीयर एडमिरल कर दिये गये।

अब नौसेना-मुख्यालय में प्रमुख स्टाफ-अधिकारी ये हैं : नौसेना-स्टाफ-उप-प्रमुख, कार्मिक-प्रमुख, सामग्री-प्रमुख (तीनों ही रीयर एडमिरल के ओहदे में) और नौसेना उड्डयन-प्रमुख (कमोडोर के ओहदे में)। नौसेना-मुख्यालय के बाहर विभिन्न नौसेना-प्राधिकारी इस तरह हैं : फ्लैग-अफसर-कमांडिंग, इंडियन फ्लीट, फ्लैग-अफसर, बम्बई, कमोडोर-भारसाधक कोचीन, नौसेना-अधिकारी-भारसाधक गोआ, कमोडोर पूर्वी तट, विशाखापटनम् आवासी-नौसेना-अधिकारी मद्रास, नौसेना-अधिकारी भारसाधक, कलकत्ता, और आवासी-नौसेना-अधिकारी, पोर्ट ब्लेयर।

नौसेना के अधिकारी-मवर्ग में छ शाखायें हैं : कार्यपालक, इंजीनियर, बिजली, पूर्ति और सचिवालय, अनुशिक्षक तथा चिकित्सा (चिकित्सा अधिकारी सेना-चिकित्सा-कोर के अधिकारी होते हैं, जिनको नौसेना के लिए अनुप्रमाणित कर दिया जाता है।) नौसेना में अधिकारियों के ओहदे इस तरह हैं : मिडशिप मैन, सब लेफ्टीनेंट, लेफ्टीनेंट, लेफ्टीनेंट कमांडर, कमांडर, कैप्टेन, कमोडोर, रीयर एडमिरल और वाइस एडमिरल (नौसेना में कमोडोर एक ओहदे की अपेक्षा एक नियुक्ति अधिक है)। सेना के कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारियों जैसे ओहदे नौसेना में नहीं हैं। नाविकों के ओहदे हैं : आर्डिनरी सीमैन, एबुल सीमैन और लीडिंग सीमैन।

वायुसेना

१५ अगस्त, १९४७ को नये वायुसेना मुख्यालय में दो मुख्य शाखायें थीं, नामत. (१) वायुशाखा, जो आयोजना, संक्रिया, प्रशिक्षण, सिगनल्स और आसूचना के लिए उत्तरदायी

थी और (२) प्रशासनिक शाखा, जो उपस्कर, कार्मिक जनसाधन, संगठन और तकनीकी तथा उपस्कर सेवाओं के लिए उत्तरदायी थी।

उस समय वायुसेना-मुख्यालय के अधीन दो वायुसेना विरचनायें थीं संख्या १—सक्रिया समूह, जो सभी उड़ान यूनिटों का नियन्त्रण करता था (लड़ाकू, बममार, परिवहन, विमान आदि का) और भारत की वायु-रक्षा के लिए उत्तरदायी था और संख्या २—प्रशिक्षण समूह—जो वायुसेना के रंगरूटों के प्रशिक्षण और प्रशिक्षण-संस्थानों के लिए उत्तरदायी था।

पुनर्गठन के बाद २० अक्तूबर, १९४८ से वायुसेना मुख्यालय में तीन विभाग थे एक वायुसेना स्टाफ के उप-प्रमुख और डिप्टी एयर कमांडर के अधीन, जिनका ओहदा एयर वाइस मार्शल का था (जो आयोजना और सक्रिया के लिए जिम्मेवार थे) और शेष दो का ओहदा एयर कमोडोर का था वायुसेना अधिकारी भारसाधक कार्मिक और संगठन तथा वायुसेना-भारसाधक-अधिकारी, तकनीकी पूर्ति और सेवायें (जिसका नया नाम १६ मार्च, १९४९ से तकनीकी और उपस्कर-सेवायें रखा गया)।

सक्रिया-समूह और प्रशिक्षण समूह के पूरे महत्व और कृत्यों का, तथा उनकी कमान संभालने वाले वायु-अधिकारियों की प्रास्थिति का, निरूपण करने के लिए (जो एयर कमोडोर के ओहदे के थे), इन समूहों का नया नाम २२ जुलाई, १९४९ से सक्रिया कमान, भारतीय वायुसेना और प्रशिक्षण कमान, भारतीय वायुसेना रख दिया गया। प्रशिक्षण कमान के अधीन पहले भूतलीय प्रशिक्षण संस्थान ही थे, उड़ान-प्रशिक्षण-संस्थानों (वायुसेना अकादेमियों) का नियन्त्रण सीधे वायुसेना-मुख्यालय द्वारा ही किया जाता था। १५ दिसम्बर, १९५४ से इनको भी प्रशिक्षण-कमान के अधीन ले आया गया, जो अब अधिकारियों के उड़ान और भूतलीय प्रशिक्षण दोनों के लिए उत्तरदायी है। भारतीय वायुसेना में भरती होने वाले एयरमैनों के पूरे प्रशिक्षण के लिए २६ जनवरी, १९५५ से एक सन्धारण कमान स्थापित की गयी। इसके सामान्य कृत्य है, विमानों और विमान इंजनों का ओवरहाल, और विमानों, उपस्कर, विस्फोटक मोटर-परिवहन, गाड़ियाँ आदि की प्राप्ति, भण्डारण और वितरण।

१५ अगस्त, १९४७ से पहले सभी विमान-मरम्मत-डिपो पाकिस्तान में ही स्थित थे। १५ अगस्त, १९४७ को एक नया विमान-मरम्मत-डिपो कानपुर में स्थापित किया गया। बचत करने के लिए विमान-मरम्मत-डिपो और विमान-भण्डारण-यूनिट को १५ अगस्त, १९४७ से एक एकीकृत मिले-जुले बेस-मरम्मत-डिपो में बदल दिया गया। यह डिपो अन्य चीजों के साथ-साथ नयी सन्धारण कमान का अंग बन गया।

१५ अगस्त, १९४८ से एक फोटोग्राफिक-टोह-उड़ान गठित की गयी। इसे १८ अप्रैल, १९५० से फोटोग्राफिक-टोह-स्क्वेड्रन नाम दे दिया गया। १९५१ के मध्य के करीब, भारत के सर्वेक्षण के निकट सहकार से काम करने के लिए, एक सर्वेक्षण-उड़ान भी बनायी गयी। उस समय तक वायु-सर्वेक्षण- कार्य खाद्य और कृषि-मन्त्रालय के साथ संविदा करने वाली एक विदेशी फर्म चलाती थी। इस फर्म की शाखायें भारत के बाहर भी थीं। वायु-सर्वेक्षण कार्य अत्यन्त राष्ट्रीय महत्व का काम है। इसलिए इसे भारतीय वायुसेना ने अपने हाथ में ले लिया।

'कार निकोबार' (अन्दमान और नीकोबार द्वीप-समूह में) का हवाई-क्षेत्र रॉयल एयर फोर्स के व्यक्तियों के औपचारिक नियन्त्रण में था। ३ जुलाई, १९५६ को यह भारतीय वायुसेना ने अपने हाथ में ले लिया।

१९५७-५८ में वायुसेना के नियमित स्क्वेड्रनों को मिस्टीयर, केनबरा, नेट, हंटर, मिग और ज्यादा हाल में एच एफ २४ जैसे नये प्रकार के विमानों से सज्जित किया गया। वायुसेना के इस विकास के साथ-साथ देश में विमान-उद्योग के उत्पादन का आधार भी विस्तृत हो गया है। १९५८ में सक्रियागत-कमान एक एयर वाइस मार्शल के प्रभार के अधीन कर दी गयी। सन्धारण-कमान के कमांडर का ओहदा भी ग्रुप कैप्टेन से बढ़ाकर एयर कमोडोर और बाद में १९५९ में एयर वाइस मार्शल कर दिया गया।

१९५९ में एक एयर वाइस मार्शल के अधीन एक नयी कमान बनायी गयी, जिसका मुख्यालय कलकत्ते में था। इस साल, भारी ऊँचाइयों पर सक्रिया कर सकने में समर्थ कुछ हेलीकोप्टर भी मँगाये गये। १९६० में विमान-निर्माण-डिपो, कानपुर में यू. के. के हाकर सिडलेग्रूप के सहकार से, एव्रो-७४८ परिवहन विमान का निर्माण भी हाथ में लिया गया और कानपुर में बने विमान ने अपनी पहली सफल परीक्षण-उड़ान नवम्बर, १९६१ में भरी। उत्तरी सीमा के अपवर्ती इलाकों में सैनिकों के लिए, वायु से पूर्ति-व्यवस्था करने की बढ़ी हुई वचनबद्धता के अनुसरण में १९६० में परिवहन-बेड़े को बढ़ाने के लिए कदम उठाये गये। १९६१-६२ में सोवियत-संघ से भारी परिवहन विमान (ए एन १२) एम आई-१४ हेलीकोप्टर और आई एल-१४ विमान मँगाये गये।

अक्तूबर, १९६२ के बाद वायुसेना के विस्तार में तेजी लानी पड़ी। परिवहन विमानों के बेड़े में सोवियत संघ से ए०एन० १२, एन० आई० ४ हैलीकोप्टर और आई एल १४ विमान मँगाकर (आस्थगित भुगतान की शर्तों पर खरीदकर), सैन्य सहायता कार्यक्रम के अधीन सं० रा० अमेरिका से सी-११९ विमान मँगाकर और कनाडा से कैरिबो मध्याकारी परिवहन विमान मँगाकर और वृद्धि की गयी। साथ ही कनाडा ने हमें आठ डकोटा विमान भेंट में दिये। आधुनिक और बढ़िया प्रकार के विमान आ जाने से प्रशिक्षण-सुविधाओं के लिए भी व्यवस्था की गयी। बंगलौर में विकसित बुनियादी-जेट प्रशिक्षक को जेट-प्रशिक्षण देने के काम में लाया जायेगा। एक हेलीकोप्टर-बेड़े की जरूरत भी समझी गयी और अनेक हेलीकोप्टर मँगाये गये—खासकर एल्यूट और एम आई-४ प्रकार के। हेलीकोप्टरों के लिए भी बंगलौर में एल्यूट हेलीकोप्टरों का निर्माण-काम हाथ में लेकर एक उत्पादन-आधार खड़ा करने के लिए कदम उठाये गये हैं।

विस्तार और बढ़ी हुई जिम्मेवारियों के साथ, वायु स्टाफ के उपप्रमुख का एक पद वायुसेना-मुख्यालय में एयर वाइस मार्शल के ओहदे में बनाया गया। पहले वायुसेना के दो सक्रिया कमान थे, जिनके मुख्यालय पालम और कलकत्ते में थे। जून, १९६३ में, वायु-रक्षा का ज्यादा अच्छा नियन्त्रण और पर्यवेक्षण आश्वस्त करने की दृष्टि से, एक तीसरा सक्रिया कमान शिलांग (आसाम) के मुख्यालय के साथ बनाया गया। तीनों सक्रिया कमान जो अब पालम,

इलाहाबाद (हाल में कलकत्ते से लाया गया) और शिलांग में है, क्रमशः पश्चिमी, मध्य और पूर्वी वायु-कमान कहे जाते हैं। वायुसेना में दो अन्य कमान ये हैं बंगलौर में मुख्यालय वाला प्रशिक्षण-कमान और सन्धारण-कमान, जिसका मुख्यालय १९६४ में कानपुर से नागपुर ले जाया गया था। पाँचों में से प्रत्येक कमान एक-एक एयर वाइस मार्शल के अधीन है।

लड़ाकू बेड़े में नेट जो बंगलौर में निर्मित होने लगा है, एच एफ-४ (बंगलौर में निर्मित करके) और मिग-२१ विमान बढ़ाकर वृद्धि की जायेगी, जिनके लिए हिन्दुस्तान एयरोनौटिक्स लिमिटेड के प्रबन्ध के अधीन नासिक, कोरापुर और हैदराबाद में तीन नये कारखाने लगाये जायेंगे। इन्हें स्थापित किया जा रहा है। मध्यवर्ती काल की जरूरतें पूरी करने के लिए कुछ मिग-२१ विमान सोवियत-संघ से प्राप्त किये हैं।

रक्षा-आयोजना में ४५-स्क्वेड्रन वाली आधुनिक वायुसेना खड़ी करने की कल्पना की गयी है, जिसमें लड़ाकू, लड़ाकू-बममार, बममार, स्त्रावेजिक और समुद्री टोह-विमान और हेलीकोप्टरों समेत परिवहन विमान शामिल होंगे। वायु-आक्रमण के विरुद्ध रक्षा में सुधार करने के अतिरिक्त उपाय के रूप में कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में धरातल-से-वायु मार्गदर्शित शस्त्र समुच्चय में सस्थापित किये गये हैं। वायु-रक्षा के समर्थन में ज्यादा विस्तृत सचार पद्धति के साथ साथ रेडार की ज्यादा अच्छी व्याप्ति की व्यवस्था भी की जा रही है।

१५ जनवरी, १९६६ से वायु-स्टाफ-प्रमुख के पद का उन्नत करके उनका ओहदा एयर चीफ मार्शल का कर दिया गया और एयर मार्शल अर्जुन सिंह इस ऊँचे ओहदे पर पहली बार नियुक्त किये गये। वायु स्टाफ के उप-प्रमुख का पद भी बढ़ाकर उनका ओहदा एयर मार्शल का कर दिया गया। यह भी तय किया गया कि नीति और आयोजना-निदेशक तथा सिगनल्स-निदेशक पर भी एयर वाइस मार्शल के ओहदे के अधिकारी रहेंगे।

वायु-स्टाफ-प्रमुख की सहायता करने वाले प्रधान स्टाफ अधिकारी अब ये लोग हैं—

१—वायु-स्टाफ के उप-प्रमुख (एयर मार्शल) जो नीति और आयोजना, प्रशिक्षण, सिगनल्स, सहायक वायु सेना और कर रक्षिति, शिक्षा और मार्ग निदेशक अस्त्रनिदेशालयों के लिए उत्तरदायी हैं।

२—वायु-स्टाफ के प्रति प्रमुख (एयर वाइस मार्शल), जो सक्रिया (लड़ाकू, बममार, परिवहन और सम्भारिकी), उड़ान सुरक्षा, आसूचना और ऋतुविज्ञान निदेशालयों के लिए उत्तरदायी हैं।

३—प्रशासन-भारसाधक वायु अधिकारी (एयर वाइस मार्शल), जो अधिकारियों और एयरमैनों की सेवा शर्तों, अनुशासन, वायुसेना निर्माण कार्य और चिकित्सा सेवा (वायु) के लिए उत्तरदायी हैं।

४—वायु अधिकारी-भारसाधक सन्धारण (एयर वाइस मार्शल) जो तकनीकी और सामग्री सेवाओं, यान्त्रिक परिवहन, शस्त्रास्त्र और बिजली इंजीनियरी के लिए उत्तरदायी हैं।

वायुसेना के अधिकारियों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, अर्थात् (क) सामान्य-कर्तव्य शाखा के अधिकारी, जिनमें पाइलट और नेविगेटर आते हैं और (ख) धरातल-कर्तव्य-

आई एन एस विक्रान्त
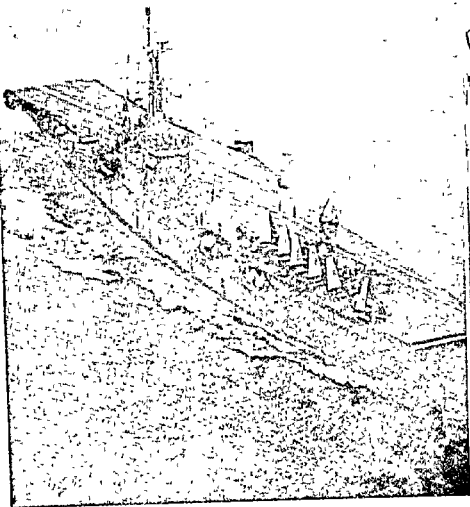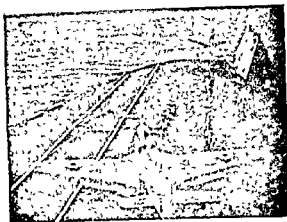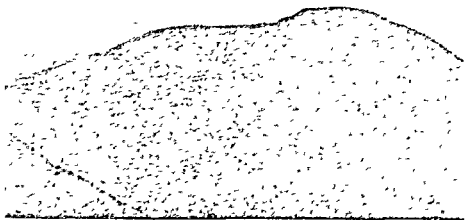
कोटा

नैट

कैनबरा

मिस्टीयर

हंटर

पैकेट

वाईकाउंट

एच एफ २४
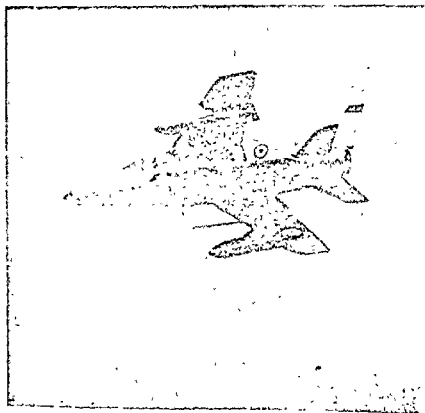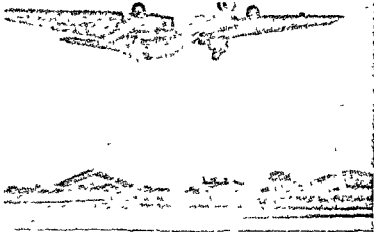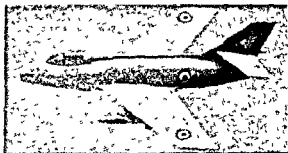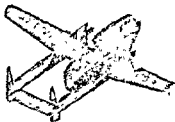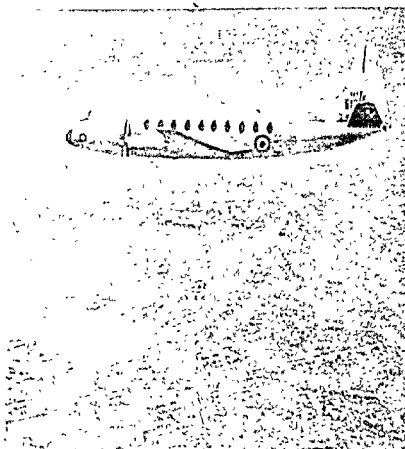
एच जे टी १६
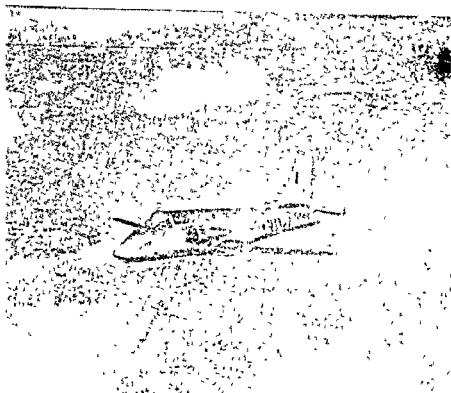
शाखाओं के अधिकारी, जो ये है तकनीकी शाखा, प्रशासन शाखा, सामग्री शाखा, लेखा शाखा, ऋतु विज्ञान शाखा, शिक्षा शाखा और चिकित्सा और दन्त चिकित्सा शाखायें अन्तिम उल्लिखित श्रेणी में सेना-चिकित्सा तथा दन्तचिकित्सा-कोर से भेजे गये अधिकारी होते है)।

भारतीय वायुसेना में अधिकारियो के ओहदे इस तरह है पाइलट अफसर, फ्लाइंग अफसर फ्लाइट लेफ्टिनेंट, स्क्वेड्रन लीडर, विंग कमाडर, ग्रुप कैप्टेन, एयर कमोडोर, एयर वाइस मार्शल, एयर मार्शल और एयर चीफ मार्शल। कनिष्ठ कमीशन प्राप्त अधिकारियों के तत्सवादी ओहदे मास्टर वारंट अफसर है और एयरमैनों के ओहदे है . एयरक्राफ्टस मैन-वर्ग दो, एयर क्राफ्ट्स मैन-वर्ग एक, लीडिंग एयर क्राफ्टसमैन, कारपोरल और सार्जेंट।

तीनों सेनाओ के सापेक्ष ओहदे पुस्तक के अन्त में दिये गये है।

वायुसेना आरक्षिति

आरक्षित और सहायक वायुसेनायें अधिनियम, १९५२ (१९५२ का ६२वा) इसके गठन की व्यवस्था करता है (एक) नियमित वायुसेना आरक्षिति भारतीय वायुसेना के सेवा-मुक्त और कार्यनिवृत्त व्यक्तियो से बनी हुई, (दो) वायु-रक्षा आरक्षिति, जिसमे असैनिक पाइलट, असैनिक वायु-सामान्रिक और विमान इंजीनियर और शिल्पज्ञ होते है, और (तीन) सहायक वायुसेना, जिसमें असैनिक स्वयंसेवकों की नामावली रखकर उसको अशकालिक वायुसेना प्रशिक्षण दिया जाता है।

भारत का ऐसा प्रत्येक नागरिक, जिसके पास उड्डयन सम्बन्धी कुछ विहित योग्यतायें हों, अधिनियम के अधीन वायुसेना आरक्षिति के लिए पञ्जीबद्ध होने के लिए दायी है अगर उसकी आयु कुछ श्रेणियो के लिए ३७ वर्ष और कुछ अन्य श्रेणियो के लिए ५० वर्ष से कम है, और फिर वायु-रक्षा आरक्षिति मे नामांकित होने पर क्रमश. ४२ वर्ष और ५५ वर्ष की आयु तक सेवा के लिए दायी है।

सहायक वायुसेना में नामांकित होने के लिए कोई भी ऐसा भारतीय नागरिक सुपात्र है, अगर वह विहित शर्तों को पूरा करे। नामावली पर आने के बाद उसमें नियुक्ति या नामांकन की तारीख से पाँच वर्ष तक सहायक वायुसेना में सेवा की अपेक्षा की जाती है। वह पाँच-पाँच वर्षों से अनधिक की प्रत्येक अवधि के लिए भी अपनी सेवायें अर्पित कर सकता है।

वायुसेना आरक्षिति या सहायक वायुसेना का प्रत्येक सदस्य भारत या विदेश में प्रशिक्षण या सेवा के लिए बुलाये जा सकने का दायी है। इस अवधि के दौरान वह वायुसेना अधिनियम, १९५० के अधीन रहता है और वायुसेना के तत्सवादी ओहदो वाले वेतन और भत्तो का पात्र होता है। आवाहन से तत्काल पूर्व यदि ऐसा कोई व्यक्ति गैरसरकारी नौकरी में हो, तो उसके मालिक को उसके वेतन-भत्तों का वह अन्तर चुकाना पड़ता है, जो उसे प्रशिक्षण या सेवाकाल के लिये बुलाये जाने पर मिलते हैं तथा जो उसे न बुलाये जाने पर अपने मालिक से मिलता। अधिनियम के अधीन सेवा के लिए बुलाये गये किसी व्यक्ति के बारे में अधिनियम मालिक के लिए यह बाध्यकर कर देता है कि वह उसे जरूरी छुट्टी दे दे और उसे इस तरह न बुलाये जाने पर जो भी हितलाभ प्राप्त होते, उनके साथ उसको पुन सेवायोजित कर ले। जब मालिक ऐसा

सातवाँ अध्याय

रक्षा-सेनाओं का राष्ट्रीयकरण और रियासती सेनाओं का एकीकरण

खण्ड १ रक्षा-सेनाओं का राष्ट्रीयकरण

सशस्त्र सेनाओं के राष्ट्रीयकरण के निर्णय के बावजूद, आजादी के बाद कुछ वर्षों तक, ब्रिटिश अधिकारियों को नियोजन में रखना पड़ा। पहले कहा जा चुका है, यह बिना जाने ऐसे सेवायोजन की जरूरत समझना सरल नहीं है। हमेशा से सभी मुख्य पदों पर ब्रिटिश अधिकारी रहे थे और इसलिए सत्ता-हस्तान्तरण के समय अपेक्षित वरिष्ठता, प्रशिक्षण और अनुभव वाले भारतीय अधिकारी सीधे-सीधे उन सभी के स्थान पर लगाने के लिए उपलब्ध न थे।

सेना में किंग कमीशन का दिया जाना

जैसा बताया जा चुका है, १६१८ तक भारतीय किंग कमीशन न पा सकते थे, बल्कि केवल एक निम्नतर कमीशन पा सकते थे जिसे वायसराय कमीशन कहा जाता था। वायसराय कमीशन भी सामान्यतः सीधे-सीधे नहीं दिया जाता था, बल्कि गैर कमीशन ओहदों से पदोन्नति पाकर ही प्राप्त किया जा सकता था। इस तरह वस्तुतः भारतीय सेना में निम्नतम ओहदों पर ही भरती हो सकते थे। यह मांग बार-बार दुहरायी गयी थी कि भारतीय सेना में सेवा के लिए भारतीयों को वही अवसर मिलने चाहिये, जैसे कि ब्रिटिश प्रजा-जनों को मिलते हैं, पर ब्रिटिश अधिकारियों ने कभी इस मांग का पर्याप्त उत्तर न दिया। १६०५ में हिज मैजेस्टी की स्थानीय भारतीय थल सेना में उन भारतीयों के लिए एक विशेष प्रकार का कमीशन बनाया गया, जो तथाकथित इम्पीरियल-कैडेट-कोर के पूरे पाठ्यक्रम में सफल हो जायें। लेकिन इस कमीशन में कमान-शक्ति केवल भारतीय सैनिकों के ही ऊपर थी और धारक एक रेजीमेंट-यूनिट में कम्पनी-अफसर से ज्यादा उन्नति न कर सकता था। इस प्रतिबन्धित कमीशन ने स्वभावतः भारतीय के लिए कोई प्रभावी सैन्य-जीवन के अवसर न प्रदान किये। १६१८ में प्रथम विश्वयुद्ध के अनेक रणक्षेत्रों में भारतीय सैनिकों के कुशल युद्ध के बाद ही, भारतीयों को हिज मैजेस्टी की थल-सेना में किंग कमीशन का पात्र पहली बार घोषित किया गया और साथ

ही ब्रिटिश[1] और भारतीय सैनिकों के ऊपर उनको कमान-शक्ति दी गयी।

युद्ध-काल मे अधिकारियों की अविलम्बनीय जरूरत के कारण, अक्तूबर, १६१८ में अधिकारी बनने वाले कैडेटों को प्रशिक्षण देने के लिए, इन्दौर में एक कैडेट स्कूल खोला गया। पर यह एक अस्थायी उपाय, युद्ध की विशेष जरूरतें पूरी करने के ही लिए, किया गया था। एक वर्ष बाद स्कूल बन्द कर दिया गया। प्रवेश दिये गये ४६ कैडेटों में से ३६ को किंग-आपात-कमीशन दिया गया। रॉयल मिलिटरी कालेज, सैंडहर्स्ट मे भी रिक्त स्थान भारतीयों को आवण्टित किये गये और तब से किंग कमीशन केवल उन्हीं भारतीय बालकों को दिये जाते थे, जो सैंडहर्स्ट मे प्रशिक्षण पाते थे और वहाँ से उत्तीर्ण होकर आते थे। सेना मे भारतीयों को नियमित कमीशन जुलाई, १६२० से ही दिये गये, लेकिन तब भी भारतीय केवल पैदल और घुड़सवार सेना मे ही कमीशन के पात्र थे, आर्टिलरी, इंजीनियर्स, सिगनल्स या वायु-शाखा जैसी तकनीकी शाखाओं में नहीं।

सैंडहर्स्ट मे प्रवेश के मार्ग में बाधायें

सैंडहर्स्ट में १० रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए भारतीय उम्मीदवारों के चुनाव के वास्ते एक सेना-प्रवेश-परीक्षा ली गयी। लेकिन यह एक खुली स्पर्धा-परीक्षा न थी। प्रवेश-परीक्षा के लिए पहले एक आरम्भिक चुनाव किया गया। आगामी परीक्षा के लिए निश्चित तिथि के बारे में घोषणा किये जाने पर, इच्छुक उम्मीदवार को अपना आवेदन-पत्र अपने जिलाधीश के पास भेजना होता था, जो उम्मीदवार को उपयुक्त समझने पर, उसे अपने डिवीजन के कमिश्नर के पास भिजवा देते थे। अगर कमिश्नर आवेदन को ठीक समझते थे, तो उसे प्रादेशिक सरकार के पास भिजवा देते थे। इन सभी अधिकारियों को स्पष्ट अनुदेश दिये गये थे कि सामान्य नियम के रूप में ऐसे ही समुदायों के उम्मीदवारों को भेजें, जिनके लोग सेना मे भरती किये जाते हैं, हालांकि मध्य-वित्त शिक्षित-वर्ग के उम्मीदवारों के दावों पर भी विचार किया जाय। जिन उम्मीदवारों के आवेदन प्रादेशिक सरकार तक पहुँच जाते थे, उन सब को राज्यपाल की अध्यक्षता वाले एक प्रादेशिक चुनाव-बोर्ड के समक्ष बुलाया जाता था। इस बोर्ड द्वारा चुने गये उम्मीदवारों को ही स्पर्धा-प्रवेश-परीक्षा में बैठने दिया जाता था। परीक्षा मे एक लिखित प्रश्न-पत्र, चिकित्सा परीक्षा, और वायसराय द्वारा नामित दो वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों और एक शिक्षा अधिकारी द्वारा बने, एक बोर्ड द्वारा मौखिक परीक्षा शामिल थी। संयुक्त परिणाम आ जाने पर अन्तिम चुनाव वायसराय द्वारा किया जाता था, जो सैंडहर्स्ट में प्रवेश के लिए चुने गये लोगों के बारे में अपनी सिफारिश सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास भेज देते थे। ये सब ब्यौरे यहाँ पर केवल यह बताने के लिए दिये गये हैं कि एक भारतीय बालक को सैंडहर्स्ट तक पहुँचने मे कितनी बाधायें पार करनी होती थी।

---

१ इस सूत्रपात के बाद भी सामान्य रूप मे किसी भारतीय के लिए ब्रिटिश सैनिकों की कमान सम्भालने में कम से कम २५ साल और लग जाते (अर्थात् लेफ्टिनेंट कर्नल का ओहदा पाने के लिए अपेक्षित सेवा-काल)।

चुने गये भारतीय उम्मीदवार सेंडहर्स्ट में अपने को बिलकुल नये परिवेश में पाते थे। प्रारम्भ में इसका नतीजा यह रहा कि उनमें से बहुत ज्यादा प्रतिशत अनुत्तीर्ण रहा। एक और भी बाधा थी। सेंडहर्स्ट में १८ महीने के पाठ्यक्रम का खर्च भारतीय जनक को ११,००० रुपये देना पड़ता था, हालांकि पिता के सैन्य-अधिकारी होने पर फीस कम करके लगभग ७००० रुपये मात्र रह जाती थी। इतना भारी खर्च एक औसत भारतीय मध्यवित्त परिवार के जनक की क्षमता के परे होता था। फिर अगर उम्मीदवार सेंडहर्स्ट में अनुत्तीर्ण होकर कमीशन न पा सका, तो भारी खर्च करने पर भी उसे भारत प्रायः खाली हाथ ही लौटना पड़ता था। सेंडहर्स्ट जाने से पहले वह अपना उपाधि-पाठ्यक्रम पूरा न कर चुका होता था, न ही सम्भव था कि वह यू० के० में सामान्य शिक्षा के लिए फिर से शुरुआत करे। यह बाधा सिविल सर्विस के लिए न थी, क्योंकि जो आई० सी० एस० में न आ पाते थे, वे कम से कम किसी विश्व-विद्यालय से एक उपाधि तो प्राप्त कर ही लेते थे, जो उनके स्वदेश लौटने पर एक अच्छा जीवन-क्रम शुरू करने में मदद देती थी।

भारतीय कमीशन अधिकारियों को कमीशन दिया जाना

सेंडहर्स्ट के लिए चुने गये कैडेटों की शैक्षिक बाधायें कम करने के लिए देहरादून में १३ मार्च १९२२ को प्रिंस ऑफ वेल्स रॉयल इंडियन मिलिटरी कालेज खोला गया। निरन्तर चल रही भारतीय माँग के प्रति रियायत देते हुए जून, १९२५ में एक भारतीय सेंडहर्स्ट-समिति (स्कीन समिति के नाम से भी विदित) बनायी गयी, जिसका काम था कि किंग कमीशन के लिए संख्या और गुण, दोनों दृष्टियों से, भारतीय उम्मीदवारों की पूर्ति में सुधार करने के और भारतीय सेना में कमीशन-वाले ओहदों के लिए, भारतीयों को प्रशिक्षित करने के लिए तथा भारत में एक मिलिटरी कालेज स्थापित करने की वांछनीयता पर विचार करने के लिए उठाये जाने वाले कदमों के बारे में जाँच करे और प्रतिवेदन दे। समिति ने सिफारिश की कि भारतीय सेना की तकनीकी शाखाओं में कमीशन पाने के लिए भारतीय पात्र होने चाहिये। समिति ने यह भी सिफारिश की कि सेना में कमीशन-ओहदों के लिए भारतीय कैडेटों को योग्य बनाने के लिए एक भारतीय मिलिटरी कालेज भी स्थापित किया जाना चाहिये।

आगे चलकर भारतीय सैन्य-अकादेमी, देहरादून में १९३२ में स्थापित की गयी और उम्मीदवारों के पहले बैच को १९३५ में कमीशन दिये गये। इनको किंग कमीशन न देकर, भारतीय कमीशन, वायसराय द्वारा, हिज़ मैजेस्टी द्वारा प्रत्यायोजित प्राधिकार के अधीन, दिये गये। इसके बाद भारतीयों को भारतीय सेना में किंग कमीशन नहीं दिये गये। भारतीय सैन्य-अकादेमी से भारतीय कमीशन पाने वाले अधिकारियों को ब्रिटिश सेना के व्यक्तियों के ऊपर वह शक्तियाँ न मिलीं, जो उनको भारतीय व्यक्तियों के ऊपर मिली हुई थीं। ब्रिटिश सैनिकों को दण्ड देने की कोई शक्ति उनको न मिली। उनके ऊपर कमान की शक्ति भी बड़ी सीमित थी, क्योंकि यह ऐसे ही अवसरों पर और ऐसे प्रतिबन्धों के अधीन प्रयोग में लायी जा सकती थी, जो स्टेशन कमांडर या ब्रिगेड कमांडर, (जो हमेशा ब्रिटिश अधिकारी ही होते थे)

निश्चित कर दे। १९४२ में ही जब युद्ध भारत की सीमा पर पहुँच गया, तब भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को कमान की समान शक्ति प्रदान की गयी।

स्कीन-समिति ने अपने प्रतिवेदन में, एक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी के एक भाषण में से जो अंश उद्धृत किये है, वे बड़े रोचक हैं। यह भाषण वे, रॉयल मिलिटरी कालेज में भारतीय सेना में जाने वाले ब्रिटिश-जनों के आगे, भारतीयों के अधीन काम करने के भय को दूर करने के लिए, दे रहे थे। व्याख्याता ने कहा, आज (१९२५) भारतीय सेना में सात भारतीय कैप्टेन है, जिनमें से दो तो जाने वाले ही है। शेष पाँच में से दो का सम्बन्ध भारतीयकृत यूनिटों से है, जिनमें ब्रिटिशजन तैनात नहीं किये जाते। इसलिए भारतीय सेना के कुल १५८३ कैप्टनों में से केवल तीन ही ऐसे भारतीय हैं, जिनके अधीन एक ब्रिटिश-जन को काम करने लिए कहा जा सकता है। इनमें से दो अपनी आयु के कारण मेजर के ओहदे से ज्यादा आगे नहीं जा सकते। १९२० से १९३४ तक के पन्द्रह सालों के दौरान केवल २१४ भारतीयों को किंग कमीशन प्रदान किया गया। १९३५ से १९३९ के दौरान केवल २७९ कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को भारतीय सेना में कमीशन दिये गये। सेना के अधिकारियों की संख्या को देखते हुए भारतीयों के लिये जाने की यह संख्या बड़ी नगण्य थी।

पर चिकित्सा-सेनाओं में भारतीयों की स्थिति ज्यादा सन्तोषजनक थी। १८९० से ही भारतीयों को भारतीय चिकित्सा-सेवा में किंग कमीशन का पात्र माना गया था। १९२२ में दो यूरोपीय और एक भारतीय का अनुपात विहित किया गया था।

१९३८ अर्थात् दूसरा महायुद्ध होने से पहले के वर्ष में पूरी भारतीय सेना में, ४००० ब्रिटिश अधिकारियों की तुलना में, भारतीय अधिकारियों की कुल संख्या ४०६ ही थी। थल-सेना में, और अन्य दोनों सेनाओं में भी, मेजर और उसके समकक्ष पद तक पदोन्नति वेतन-मान के अनुसार की जाती थी, अर्थात् अधिकारियों को न्यूनतम विहित सेवा-काल तक सेवा करनी होती थी और विहित परीक्षा पास करनी होती थी, तभी अगले उच्च ओहदे में उनकी पदोन्नति हो सकती थी। इस सामान्य नियम को लागू करने से, १९३८ के आरम्भ तक, भारतीयों द्वारा प्राप्त किया गया उच्चतम ओहदा कैप्टेन का था। जुलाई, १९३८ में एक भारतीय को मेजर के पद पर पदोन्नति दी गयी। १९३९ के आरम्भ में मेजर के ओहदे के ८ भारतीय अधिकारी से ज्यादा न थे, जब कि इस ओहदे की कुल स्थापना १०५९ थी। इस तरह यह स्पष्ट है कि अगर युद्ध न छिड़ा तो एक भारतीय के लेफ्टिनेंट कर्नल तक के ओहदे पर पहुँचने में कुछ वर्ष और लग जाते, और वह अगर पहले सेवा-निवृत्त न हो गया होता तो वह इस तरह के रेजीमेंट की कमान सम्भाल पाता। युद्ध चलने पर भी अप्रैल, १९४२ में ही एक भारतीय लेफ्टिनेंट कर्नल के ओहदे में [के० क० करिअप्पा] कमान को सम्भाल पाया। इसी अधिकारी ने १९४६ में ब्रिगेड की कमान सम्भाली। अधिकारियों की भारी कमी के बावजूद युद्ध की समाप्ति तक एक भारतीय जिस उच्चतम पद तक पहुँचा, वह एक ब्रिगेडियर का ही ओहदा था। अक्तूबर, १९४६ में सेना में ब्रिगेडियर के अस्थायी या स्थानापन्न ओहदे पर काम करने वाले केवल चार ही अधिकारी थे। कुल मिलाकर कर्नल और ब्रिगेडियर के

स्थानापन्न ओहदे पर केवल एक दर्जन अधिकारी थे, हालांकि उनका मूल ओहदा मेजर का ही था।

साथ ही, युद्ध शुरू होने के बाद तक एक भी भारतीय सेना-मुख्यालय में स्टाफ अधिकारी के पद पर नहीं था। किसी अधिकारी के लिए आयोजना और स्ट्रातेजी की, और नीति-निर्माण की तकनीक को साक्षात् रूप से समझने के लिए, स्टाफ नियुक्ति बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। सारी समस्याओं को, एक यूनिट के नहीं बल्कि पूरी सेना के दृष्टिकोण से देखते हुए, उसमें एक व्यापक दृष्टि आती है और उसमें सरकारी नीति की अन्तर्दृष्टि पाने का भी अवसर मिलता है। इसलिए किसी अधिकारी का प्रशिक्षण केवल सैनिकों या विरचनाओं की कमान संभालने से ही पूरा नहीं हो जाता। इसीलिए चुने हुए सैन्य-अधिकारी एक सीमित अवधि तक मुख्यालय में काम करने के लिए चुने जाते हैं, जो सेवा सामान्यतः चार साल से ज्यादा नहीं होती। शान्तिकाल में सामान्यतः केवल वे ही अधिकारी मुख्यालय के स्टाफ-पदों पर तैनात किये जाते थे, जो स्टाफ कालेज का पाठ्यक्रम पूरा कर चुके होते थे।

नौसेना की स्थिति और भी बुरी थी। रॉयल इंडियन नेवी में जो पहले दो भारतीय कमीशन देकर नियुक्त किये गये थे, वे १ सितम्बर, १९३३ को मिडशिप मैन बनाये गये थे (एच० एम० एस० चौधरी जो पाक नौ सेना में चले गये, १ सितम्बर १९३२ को मिडशिप मैन नियुक्त किये गये थे)। १९३८ के मध्य तक रॉयल इंडियन नेवी में बनाया गया उच्चतम ओहदा कैप्टेन (थल-सेना में कर्नल के समकक्ष) का था। कैप्टेन ओहदे के छः मंजूर पद और कमांडर ओहदे के २० पद सारे के सारे रॉयल इंडियन नेवी के ब्रिटिश अधिकारियों के हाथ में थे, सबसे वरिष्ठ भारतीय अधिकारी, दो वर्ष की वरिष्ठता वाले लेफ्टिनेंट ही थे। कहना व्यर्थ है, द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक नौसेना मुख्यालय के स्टाफ में एक भी भारतीय अधिकारी न था। अगस्त, १९४४ में रीयर एडमिरल का पद रॉयल इंडियन नेवी में बनाया गया। जनवरी, १९४५ तक एग्जीक्यूटिव शाखा में भारतीय जिस उच्चतम मूल ओहदे तक पहुँचे थे, वह केवल लेफ्टिनेंट का था और केवल छः भारतीय रॉयल इंडियन नेवी में लेफ्टिनेंट कमांडर के ओहदे पर थे। पर इंजीनियरी शाखा में दो भारतीय, मूल पदधारी लेफ्टिनेंट कमांडर हो गये थे—उनमें से एक सितम्बर, १९४३ से कार्यवाहक कमांडर था। १ जनवरी, १९४६ को केवल तीन भारतीय अधिकारी एग्जीक्यूटिव शाखा में कमांडर के ओहदे पर थे। सत्ता-हस्तान्तरण के समय तक नौसेना के भारतीय अधिकारियों की बहुत थोड़ी ऐसी नियुक्तियाँ की गयी थीं कि वे कमान या स्टाफ कार्यों का विविध अनुभव प्राप्त कर पाते।

वायुसेना की हालत भी बहुत कुछ नौसेना जैसी ही थी, पर एक बात अपवाद थी कि इसमें आरम्भ से ही केवल भारतीयों को कमीशन दिये जाते थे। अतः भारतीय वायुसेना में स्थायी कमीशन-प्राप्त कोई ब्रिटिश अधिकारी न था। लेकिन भारतीय वायुसेना सम्भारण और उपकरणों के लिए पूर्णतः रॉयल एयर फोर्स पर निर्भर थी, जिसके लिए अपेक्षित संख्या में रॉयल एयर फोर्स के अधिकारी भारतीय वायुसेना से संलग्न रहते थे। १९३८ में किसी भारतीय द्वारा प्राप्त उच्चतम ओहदा फ्लाइंग अफसर (सेना में लेफ्टिनेंट के समकक्ष) का था और भारतीय वायुसेना में केवल आधे दर्जन भारतीय फ्लाइंग अफसर थे। फरवरी, १९३९

में दो भारतीय फ्लाइंग लेफ्टिनेंट (थल सेना में कैप्टन और नौ सेना मे लेफ्टिनेंट के समकक्ष) के ओहदे पर आये। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही भारतीय वायुसेना कुछ अक्षयनीय इकाई बन सकी और तब तक कोई भारतीय मुख्यालय मे स्टाफ पद पर नही था।

तुलना में, सिविल सर्विस की स्थिति कही अच्छी थी। १६३६ में १२६६ अधिकारियों की कुल सख्या मे से आई० सी० एस० में ५४० भारतीय थे। भारत सरकार सचिवालय में भी ४६ यूरोपीय अधिकारियो मे से २१ भारतीय अधिकारी थे। वे उस समय तक भारतीय भारत सरकार के सचिव तक बन गये थे और १६४२ में भारतीय कुछ प्रान्तो में मुख्यसचिव तक बन चुके थे (जैसे मद्रास और मध्य प्रान्त में)। १ अगस्त, १६४७ को आई० सी० एस० अधिकारियों की कुल सख्या २२६ थी, जिनमें १२८ भारतीय थे। उस समय केवल १४ यूरोपीय आई० सी० एस० अधिकारी सचिव, सयुक्त-सचिव या भारत सरकार सचिवालय के समकक्ष पदो पर थे (अन्य १३ छुट्टी पर थे), लेकिन ४३ भारतीय आई० सी० एस० अधिकारी सचिव, सयुक्त-सचिव या समकक्ष पदो के ऊपर आरुढ थे। इन आँकड़ों में वे यूरोपीय और भारतीय अधिकारी शामिल नही है, जो भारतीय राजनीतिक सेवा में काम कर रहे थे। ये आँकडे यह बताने के लिए दिये जा रहे है कि भारतीय सिविल सर्विस की तुलना में सशस्त्र सेनाओ का राष्ट्रीयकरण करने के लिए काफी बडा मैदान पार करना था।

राष्ट्रीयकरण समिति

सितम्बर, १६४६ के शुरू में अन्तरिम सरकार द्वारा पद-ग्रहण करते ही, सशस्त्र सेनाओं के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बड़ी तेजी से हाथ में लिया गया। ३० नवम्बर, १६४६ के एक प्रस्ताव के अधीन सशस्त्र-सेना-राष्ट्रीयकरण-समिति एन० गोपालस्वामी अय्यगार के सभापतित्व में बनायी गयी*। समिति ने १२ मई, १६४७ को अपनी रिपोर्ट पेश की, पर जब २ जून, १६४७ को सत्ता हस्तान्तरण की आयोजना घोषित कर दी गयी, तो इस समिति की सिफारिशें पीछे पड़ गयी। लेकिन इसके निष्कर्षों से उन दिक्कतो पर तो प्रकाश पडता ही है, जो १५ अगस्त, १६४७ को या उसके बाद पूरी तरह से राष्ट्रीयकृत थलसेना, नौसेना या वायुसेना बनाने के आडे आ रही थी।

समिति ने बताया कि हालांकि थलसेना में उस समय उपलब्ध अधिकारी सख्या में काफी थे, यह मान कर कि आपात कमीशन अधिकारियो को सेवामुक्त न किया जायेगा, पर तकनीकी शाखाओ और अतकनीकी शाखाओ में भी वरिष्ठ भारतीय अधिकारियो की भारी कमी थी। हालांकि अविभाजित सेना में उपलब्ध भारतीय अधिकारियों की सख्या ६५४० हो

---

* इसके सदस्य थे पंडित हृदय नारायण कुंजरू, मुहम्मद इस्माइल खाँ, सरदार सम्पूर्ण सिंह, मेजर जनरल डी० ए० एल० वाडे, एम० सी०, ब्रिगेडियर के० एस० तिम्मय्या डी० एस० ओ०, विंग कमांडर मेहर सिंह, डी० एस० ओ०, रॉयल इंडियन एयर फोर्स और कमांडर एच० एम० एस० चौधरी, रॉयल इंडियन नेवी। इसके सचिव थे ले० कर्नल बी० एम० कौल।

जाती थी, उनमें से केवल ५०० ही युद्ध-पूर्व के नियमित अधिकारी थे, जो ३ सितम्बर, १९३९ से पहले सैंडहर्स्ट या भारतीय-सेना-अकादमी, देहरादून में प्रशिक्षण पा चुके थे। शेष युद्धकाल में या पश्चात् कमीशन प्राप्त किये हुए अधिकारी थे। युद्धकाल में कमीशन प्रदत्त अधिकारियों को केवल संक्षिप्त प्रशिक्षण दिया गया था, ताकि वे युद्ध क्षेत्र में सीमित काम को संभालने के लिए तुरन्त समर्थ हो जायें। ९० प्रतिशत से ज्यादा अधिकारियों का कुल सेवाकाल सात वर्ष से ज्यादा का न था और शान्तिकाल में सेना में भरती होने वाले अधिकारियों को दिया जाने वाला कुछ भी प्रशिक्षण उनको न मिला था।*

भारतीय अधिकारियों के इस विवरण के समक्ष भारतीय सेना में जनवरी, १९४७ में २० साल से ज्यादा सेवाकाल वाले ८०० नियमित ब्रिटिश अधिकारी थे और १२०० नियमित ब्रिटिश अधिकारी (चिकित्सा, दन्तचिकित्सा और पशुचिकित्सा वाले अधिकारियों को छोड़ कर) २० साल से कम सेवाकाल वाले थे। २० साल से ज्यादा सेवा वालों में से अधिकांश १५ अगस्त, १९४७ तक पेन्शन लेकर सेवा-निवृत्त हो गये और २० साल से कम सेवा वालों में से लगभग ७०० ब्रिटिश सेना में रख लिये गये। इनके अलावा ब्रिटिश सेना के लगभग ८००० ब्रिटिश अधिकारी थे। इनको पुन ब्रिटिश यूनिटों में स्थानान्तरित कर दिया गया।

साथ ही लगभग ५०० श्रेणीबद्ध स्टाफ-नियुक्तियों में से स्टाफ-प्रशिक्षण-प्राप्त केवल २४२ भारतीय अधिकारी उपलब्ध थे। (इनमें से केवल १७ युद्ध-पूर्व प्रशिक्षित थे और शेष २२५ युद्धकाल में प्रशिक्षित थे)। भले ही कुछ शाखाओं या सेवाओं के अतिरिक्त व्यक्तियों को,

---

* उच्चतर पदों के अभाव इस सारणी से स्पष्ट हो जायेंगे :

ओहदा	सामान्य सेवाकाल	नियुक्तियों की संख्या	उपलब्ध भारतीय अधिकारी
जनरल अफसर	३०-४० साल	३८	किसी का भी सेवाकाल २७ साल से ज्यादा न था, इसलिए २० या १९ साल की सेवा वाले अधिकारी नियुक्त करने होंगे।
ब्रिगेडियर और कर्नल	२० से ३५ साल	२२०	किसी का सेवाकाल १० साल से ज्यादा न था। इसलिए दस या ज्यादा साल की सेवा वाले अधिकारी नियुक्त करने होंगे।
लेफ्टिनेंट कर्नल	२० से ३० साल	४४०	किसी का सेवाकाल १० साल से ज्यादा न था। इसलिए ८ साल या ज्यादा सेवाकाल वाले और ३०० के लगभग युद्ध-कमीशन वाले अधिकारी नियुक्त होंगे।

और अन्यत्र के अभावों को, स्थानान्तरण या पुन प्रशिक्षण द्वारा प्रदान पूरा भी कर लिया जाय, फिर भी उच्चतर कमान और वरिष्ठ स्टाफ नियुक्तियो के लिए, प्रशिक्षण और अनुभव के सामान्य मानको के अनुसार, योग्य अधिकारियो की कमी बनी ही रहेगी। यह स्थिति प्रशिक्षित स्टाफ अफसरो, स्कूलो में शिक्षको, आर्मर्ड कोर, आर्टिलरी, इजीनियर्स, सिगनल्स और बिजली और यान्त्रिक इजीनियर्स के अधिकारी-सवर्गों में नियुक्तियो में बारे मे थी। इसलिए इस तथ्य का सामना करना था कि बहुत सख्या मे कनिष्ठ अधिकारियो को उच्च ओहदो पर तरक्की देनी होगी, जो सामान्य स्थिति या शान्ति काल मे प्रशिक्षण के सामान्य मानको और सेवाकाल के अनुसार यथोचित न होता। १०० स्टाफ नियुक्तियो के आगे तो २४२ भारतीय अधिकारी उपलब्ध थे ही, साथ ही सशस्त्र-सेना- मुख्यालयो में अनेक दूसरी और तीसरी श्रेणी की स्टाफ नियुक्तियाँ थीं, जिन पर सामान्यत मेजर या कैप्टेन या उनके समकक्ष ओहदे के अधिकारी रहते है। युद्धकाल में अनुभवी सेना-अधिकारियो की कमी के कारण इन पदो पर असैनिक अधिकारी थे और मई १९४७ में ऐसे १७४ अधिकारी काम कर रहे थे। सशस्त्र-सेना-मुख्यालयो में अनेक पदो के लिए विनियमो, पूर्व दृष्टान्तो और कार्यविधि का गहरा ज्ञान अपेक्षित था। इन पदो पर विशद आदेश तैयार करने और विद्यमान नियमो और आदेशो का निर्वचन करने का काम करना होता है। सशस्त्र-सेना- मुख्यालयो में, अपने प्रशिक्षण और निरन्तर सेवा के कारण, ये असैनिक अधिकारी कुछ स्टाफ पद सँभाल सकते थे, जिनके लिए वे उपयुक्त थे।

रॉयल इडियन नेवी मे मूलत यह प्रस्ताव किया गया था कि बेड़े में तीन क्रूजर होने चाहिये, पर २० फरवरी, १९४७ को ब्रिटिश सरकार की घोषणा के बाद इस योजना को बदल दिया गया। रॉयल इडियन नेवी के तत्कालीन कमाडर-इन-चीफ ने बेड़े में कम से कम एक क्रूजर रखना सबसे ज्यादा वाञ्छनीय समझा, मुख्यत इसलिए कि वह भारतीय नौसेना के और आगे विस्तार मे प्रशिक्षण मञ्च का काम दे सके और सेवा का अनुशासन सुधारा जा सके। फिर भी, वे भारतीय बेड़े मे क्रूजर के न शामिल करने की सिफारिश करने के लिए विवश हो गये, क्योकि (१) क्रूजर की कमान सँभालने के लिए अपेक्षित सेवा-काल या समुद्र-गमन अनुभव वाला कोई भी भारतीय अधिकारी उपलब्ध न था, (२) कुछ तकनीकी पदो पर लगाने के लिए उपयुक्त भारतीय उपलब्ध न थे और (३) क्रूजर को फिर मरम्मत करने के लिए गोदी-घाट सुविधाओ का अभाव था। ये तर्क सही थे, क्योकि १९४७ में नौसेना में केवल सात ही ऐसे भारतीय अधिकारी थे, जिनकी वरिष्ठता कमीशन-प्राप्त अधिकारी के रूप में १३-१४ साल हो थी।

युद्धकाल मे रॉयल इडियन एयर फोर्स एक स्क्वेड्रन से दस स्क्वेड्रन वाला होकर तेजी से बढा था। इस तीव्र प्रसार के कारण प्रवीण वायु-कार्मिको के प्रशिक्षण के लिए पर्याप्त ध्यान न दिया जा सका था। अधिकारी सख्या की दृष्टि से, दस साल से ज्यादा सेवाकाल वाले केवल आठ अधिकारी थे पर रॉयल इडियन नेवी और भारतीय थलसेना के विपरीत इसमें किसी अभारतीय को कमीशन न दिया गया था।

राष्ट्रीयकरण के बाद पदोन्नतियो में त्वरा आ जाने से यह अनिवार्य हो गया कि ज्यादा

वरिष्ठ अधिकारी अपेक्षतया कम आयु में उच्चतर ओहदों पर आ जायेंगे। जब तक एक प्रकार की पदावधि-व्यवस्था जारी न की जाय, ये अधिकारी इन ओहदों पर अनुचित रूप से दीर्घकाल तक बने रहेंगे और इस तरह नीचे वालों की पदोन्नति के मार्ग में भारी बाधा खड़ी कर देंगे।

समिति ने यह माना कि ऊपर के पदों को भरने के लिए पर्याप्त अनुभव वाले अधिकारियों की भारी कमी है। इस काम में इस नाते भी भारी अड़चनें थीं कि अपेक्षतया सीमित अनुभव वाले अधिकारियों द्वारा थोड़ी-सी ही अवधि में भारतीय सशस्त्र सेनाओं जैसे संगठन का कार्यभार ग्रहण किया जाना था। फिर भी समिति इस बात से प्रभावित हुई कि भारतीय अधिकारियों को अपनी योग्यता में पूरा आत्मविश्वास था और उनको अपने साथियों और सैनिकों का भी विश्वास प्राप्त था, जिससे वे यह काम जोश और कार्यकुशलता के साथ निभा सकते थे।

पुनर्गठन और राष्ट्रीयकरण

जो समस्या समिति को सौंपी गयी थी, वह अविभाजित भारतीय सशस्त्र सेनाओं के सम्बन्ध में थी। लेकिन स्थिति तब और भी गम्भीर हो गयी, जब यह फैसला किया गया कि १५ अगस्त, १९४७ को सशस्त्र सेनाओं का विभाजन कर दिया जाय। उपलब्ध भारतीय अधिकारी दोनों डोमीनियनों के बीच बँट जाने से अधिकारियों की कमी, खासकर वरिष्ठ ओहदों और तकनीकी शाखाओं में, और भी ज्यादा उग्र हो गयी। यह स्पष्ट हो गया कि सशस्त्र सेनाओं का पुनर्गठन और उनका राष्ट्रीयकरण साथ-साथ नहीं चल सकता। प्रत्यक्ष ही पुनर्गठन पहले होना था और इसके लिए उस समय भारत में सेवा कर रहे अनेक ब्रिटिश अधिकारियों की सेवायें प्राप्त करना अत्यावश्यक हो गया।

ब्रिटिश अधिकारियों का नियोजन

भारत और पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं में १५ अगस्त, १९४७ के बाद काम करने के लिए उनसे स्वैच्छिक विकल्प माँगा गया। जिन अधिकारियों ने सेवा करने के लिए विकल्प दिया, उनको क्रमशः एक विशेष ब्रिटिश सेना या ब्रिटिश नौसेना सूची में रखा गया। प्रत्येक अधिकारी से पहले पहल एक वर्ष काम करने के लिए कहा गया। उनको जो क्षतिपूर्ति दी जानी थी, वह १५ अगस्त, १९४७ के अनुसार जोड़ी जानी थी और उस तारीख के बाद उनके आवेदन पर उनको देय था। रॉयल नेवी, ब्रिटिश सेना और रॉयल एयर फोर्स के नियमित अधिकारियों को भी एक साल नौकरी करनी थी, पर यह शर्त थी कि सुप्रीम कमांडर तीन महीने की पूर्व सूचना देकर उनकी संविदा समाप्त कर सकते हैं। बाद में देखा गया कि काफी संख्या में अधिकारी और सैनिक एक साल तक काम करने का विकल्प नहीं दे रहे हैं, क्योंकि वे इतने समय तक नौकरी के बन्धन में नहीं बँधना चाहते। कुछ लोग थोड़े से समय तक काम करना चाहते थे, जिससे हाथ का काम पूरा हो जाय, जो तीन या छः महीनों में हो जाता।

इसलिए सयुक्त-रक्षा-परिषद्, अवधि यथोपेक्ष, तीन, छ, नौ और बारह महीनो में बदल देने के लिए तैयार हो गयी।

थोडे से स्टाफ अफसरो को छोड कर, जो अधिकाश ब्रिटिश अधिकारी रहने थे, वे वैज्ञानिक और तकनीकी कोरो मे थे अर्थात् आर्टिलरी, इजीनियर्स, सिगनल्स, बिजली और यान्त्रिक इजीनियर्स, जिनके स्थान पर दूसरो का रखा जाना, प्रशिक्षित भारतीय अधिकारियो की भारी कमी के कारण, बिलकुल असम्भव ही था। गैर-तकनीकी शाखाओ में भी स्थिति गहन थी। नियमित युद्ध-पूर्व प्रशिक्षण पाने वाले अधिकारियो की सख्या कम थी और ज्यादा महत्व की स्टाफ नियुक्तियो, और रेजीमेट के ऊपर के कमान पदो को भरने के लिए उन सभी की जरूरत थी। ऐसा करने पर कैप्टेन के मूलपद के ऊपर कोई भी भारतीय अधिकारी न रहता, जो किसी बडी यूनिट (बटालियन और रेजीमेंट) को कमान सभाल सकता, (जिनकी कमान सामान्यत कम से कम २० साल के सेवाकाल वाले लेफ्टिनेंट कर्नल द्वारा सम्भाली जाती है)। सुप्रीम कमाडर की गणना ने स्पष्ट किया कि विभाजन के बाद भारतीय सेना में ५२५० अफसरो की कमी पडेगी और पाक सेना मे ३५५० अफसरो की। भारतीय-सैन्य-अकादमी और अधिकारी-प्रशिक्षण-विद्यालयो की प्रवेश सख्या घटाकर और वायसराय कमीशन अधिकारियो और अन्य पदधारियो को सीधे कमीशन देकर भी, जिनका जोड १०५० आता था, दोनो डोमीनियनो में ७७५० अधिकारियो की कुल कमी बतायी गयी। इस रिक्ति को भरने के लिए इसके अलावा और कोई चारा न था कि ब्रिटिश अधिकारियो को अस्थायी तौर पर लगाये रखा जाय।

आगे सेवा के लिए स्वेच्छा से बने रहने के लिए ब्रिटिश अधिकारियो से किये गये अनुरोध के फलस्वरूप, भारतीय सेना के ८००० ब्रिटिश अधिकारियो में से लगभग २७०० ने और रॉयल इडियन नेवी के २०० ब्रिटिश अधिकारियो में से लगभग १०० ने १५ अगस्त, १९४७ के बाद नौकरी में बने रहने का विकल्प दिया। बहुत से अधिकारी रॉयल नेवी, ब्रिटिश सेना और रॉयल एयर फोर्स के भी ऐसे थे, जो पुरानी भारतीय सशस्त्र सेनाओ में काम कर रहे थे और वे भी रुक जाने के लिए तैयार हो गये। १५ अगस्त १९४७ के बाद, भारत और पाकिस्तान में काम कर रहे सभी ब्रिटिश अधिकारी और अन्य पदधारी, सुप्रीम कमाडर के नियत्रण-अधीन थे। इन लोगों को पहले एक साल के लिए रखा गया, क्योकि यह अनुमान था कि सुप्रीम कमाडर का मुख्यालय उससे पूर्व बन्द न होगा। पर चूँकि सुप्रीम कमाडर के मुख्यालय का बन्द होना प्रत्याशित समय से पहले ही नजर आने लगा, इसलिए १ अक्टूबर, १९४७ को सभी ब्रिटिश अधिकारियो को अपेक्षित तीन महीने की पूर्व सूचना दी गयी (कुछ को यह पूर्व सूचना पहले ही दी जा चुकी थी), ताकि उनकी सविदा ३१ दिसम्बर, १९४७ से समाप्त की जा सके। इसके बाद यह बात भारत और पाकिस्तान के डोमीनियनो के ऊपर छोड दी गयी कि वे हिज मैजेस्टी की सरकार से सीधे ही १ जनवरी, १९४८ के बाद ब्रिटिश अधिकारियो की अपनी जरूरत के बारे मे बातचीत कर लें।

विभाजन के तुरन्त बाद भारत डोमीनियन की स्थिति

१५ अगस्त, १६४७ को भारत में थोड़े से ही ऐसे अधिकारी थे, जो सेना में २० साल से ज्यादा काम कर चुके थे। उस समय २१ जनरल अफसरों और ५१ ब्रिगेडियरों की जगहें थीं, पर उस समय उपलब्ध भारतीय अधिकारियों की संख्या थी—पांच मूल पदधारी लेफ्टिनेंट कर्नल और ८८ कार्यवाहक अस्थायी लेफ्टिनेंट कर्नल, जो सभी किंग कमीशन-प्राप्त अधिकारी थे और १५ और २७ साल तक सेवा कर चुके थे। लेफ्टिनेंट कर्नलों द्वारा धारणीय ५३० नियुक्तियों के आगे ५६० भारतीय कमीशन प्राप्त अधिकारी और भारतीय आपात कमीशन प्राप्त अधिकारी थे (पिछले सभी को युद्धकाल में ही कमीशन मिला था)। इनमें से केवल ६० ही १० से १५ वर्ष तक सेवा कर चुके थे और शेष ने सेना में ५ से १० साल तक की ही सेवा की थी। लेफ्टीनेंट कर्नल के ओहदे के ६३ अफसरों में से (मूल, अस्थायी या कार्यवाहक) छ मेजर जनरल बना दिये गए थे और १७ को ब्रिगेडियर के ओहदे में पदोन्नति दे दी गयी थी।

नौसेना में केवल दो ही ऐसे नियमित भारतीय अधिकारी थे, जिनका सेवाकाल रॉयल इंडियन नेवी में १० साल से ज्यादा था। ये जुलाई, १६४७ में कैप्टेन के कार्यवाहक ओहदे तक आ गये थे। लेफ्टीनेंट कमांडर और ऊपर के ओहदे के उपलब्ध भारतीय अधिकारियों की संख्या इस तरह थी दो कैप्टेन, तीन कमांडर और १५ लेफ्टिनेंट कमांडर, एग्जीक्यूटिव शाखा में, और १ कमांडर और चार लेफ्टीनेंट कमांडर इंजीनियर शाखा में। विभाजन के समय रॉयल इंडियन नेवी में २११ ब्रिटिश कमीशन प्राप्त अधिकारी थे और १६ वारंट अफसर। १ अक्तूबर, १६४७ को कम कर के यह संख्या क्रमशः ४६ और ८ हो गयी थी। भारत के लिए एक अड़चन यह भी थी कि पुनर्गठन से पहले नौसेना के सभी वारंट अफसर मुसलमान थे साथ ही तकनीकी शाखाओं में अधिकांश रेटिंग भी मुसलमान थे, जो पाकिस्तान चले गये। उनकी कमी भी पूरी करनी थी।

वायुसेना में ११ साल से ज्यादा सेवाकाल के केवल चार ही अधिकारी थे और इनको मिलाकर कुल ३३ अधिकारी ही लगभग सात साल या ज्यादा सेवाकाल वाले थे। दो वरिष्ठतम अधिकारी १६४६ में ही ग्रुप कैप्टेन बने थे। वरिष्ठतम भारतीय अधिकारी को १५ मई १६४७ को पदोन्नति देकर उसका ओहदा एयर कमोडोर का बनाया गया। अक्तूबर, १६४७ में सात ब्रिटिश अधिकारी रॉयल इंडियन एयरफोर्स में काम कर रहे थे।

इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय अधिकारी, खासकर नौसेना और वायुसेना में, ओहदे और अनुभव में दोनों सेनाओं में, सीधे उच्चतम पदों पर, उनकी क्षमता पर प्रभाव डाले बिना, नियुक्ति के लिए बहुत ही कनिष्ठ थे। थलसेना में भी जो सबसे बड़ी सेना है, सभी शीर्षस्थ पदों को भरने के लिए पर्याप्त संख्या में वरिष्ठ भारतीय अधिकारी उपलब्ध न थे। कुछ स्टाफ पदों को भरने, और कनिष्ठ ओहदों पर भी तकनीकी शाखाओं में रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए, इस कारण ब्रिटिश अधिकारियों की सेवायें बड़ी जरूरी थीं, ताकि तीनों सेनाओं की कार्यक्षमता कायम रखी जा सके।

राष्ट्रीयकरण की नीति

सेनाओं का शीघ्र राष्ट्रीयकरण करने का मतलब यह होता कि कार्यकुशलता में कुछ कमी आ जाती। इसका अर्थ यह भी होता कि कनिष्ठ अधिकारियों को शीघ्र पदोन्नतियाँ मिल जातीं। इन खतरों के बावजूद, भारत सरकार ने नीति के रूप में यह फैसला किया कि सक्रिय कमान ब्रिटिश अधिकारियों के हाथों में न रहे और उनका उपयोग केवल अ-सक्रिय कमानों, तकनीकी शाखाओं, प्रशिक्षण संस्थापनों और बीच की स्टाफ नियुक्तियों में किया जाय। सेना-मुख्यालय में वरिष्ठ भारतीय अधिकारियों का विशेषज्ञ सलाह देने की दृष्टि से यह भी तय किया गया कि कुछ ब्रिटिश सलाहकार नियुक्त किये जायें। यह ध्यान रखना होगा कि आजादी के तुरन्त बाद सेना के वरिष्ठ अधिकारी पूरी तौर से आयोजना में हिस्सा बँटाने लगे थे, हालाँकि उनको पहले से इस काम का कोई अनुभव न था। तथापि नौसेना में सक्रियागत नियुक्तियाँ तब तक ब्रिटिश अधिकारियों को देना जरूरी हो गया, जब तक भारतीयों को अपेक्षित अनुभव न हो जाय।

भारत द्वारा नियोजित ब्रिटिश अधिकारियों के लिए शर्तें

१ जनवरी, १९४८ से ब्रिटिश अधिकारियों की सेवायें उधार लेने के बारे में ब्रिटिश सरकार के साथ एक समझौता किया गया, जिस के अनुसार पहले से भारतीय थलसेना और रॉयल इंडियन नेवी में काम करते चले आ रहे ब्रिटिश अधिकारी पूर्ववत् यू० के० की विशेष सूचियों पर बने रहे और और पहले की तरह सेवा-शर्तों और निबन्धनों से शासित होते रहे, केवल छुट्टी और यात्रा-भाड़े के बारे में कुछ परिवर्तन किया गया। उस समय भारत या अन्यत्र काम कर रहे ब्रिटिश सेना अधिकारी ब्रिटिश-वेतन-संहिता और अन्य विनियमों से शासित होते थे और उन्हें समुद्रपार सेवा के लिए अलावा भत्ते मिलते थे। अनुशासन के मामले में भारतीय थलसेना के कमांडर को एक अधिपत्र दिया जाना था, जिससे उसे यह अधिकार मिल जाता कि अपनी कमान में काम कर रहे ब्रिटिश सेना अधिनियम के अधीन आने वाले ब्रिटिशजनों पर मुकदमा चलाने के लिए कोर्ट मार्शल बना सकें। इस कोर्ट मार्शल द्वारा दिये गये कुछ दण्डों की पुष्टि सम्राट सरकार द्वारा होनी आवश्यक थी। हालाँकि इस योजना के अधीन काम कर रहे ब्रिटिशजन ब्रिटिश-सेना-अधिनियम या अन्य उपयुक्त अधिनियमों के अधीन आते थे, तथापि समवर्ती असैनिक क्षेत्राधिकार बना रहा, जिसके अधीन ब्रिटिशजन भारतीय न्यायालयों में जाँच और कार्रवाई के लिए दायी हो गये। यदि सेवाकाल में किसी समय सम्राट्-सरकार ने यह फैसला किया कि ऐसी हालत पैदा हो गयी है, जिनके कारण उनका यू० के० में बुलाया जाना इष्टकर हो गया है, वे भारत सरकार को इस प्रकार सूचित करेंगे और वह तब उनके प्रत्यावर्तन के लिए यथोचित कदम उठायेगी। भारत सरकार को भी अधिकार था कि जब कभी ऐसा करना जरूरी या वांछनीय समझा जाय वह ब्रिटिश अधिकारियों के वापस जाने के लिए कह सके।

थलसेना में जरूरी समझे गये ब्रिटिश अधिकारी १ जनवरी, १९४८ से एक साल के

लिए रखे गये थे, नौसेना में तीन साल के लिए और वायुसेना में दो साल के लिए, जो अवधि एक साल और बढ़ायी जा सकती थी। थलसेना की कुछ विशिष्ट पदों की निश्चित संख्या पर अवधि २ या ३ साल या और भी ज्यादा होनी थी। सभी मामलों में दोनों में से किसी भी पक्ष द्वारा तीन महीने की सूचना देकर सेवा समाप्त की जा सकती थी।

तीनों सेनाओं के लिए पदक्रम समिति

युद्ध-पूर्व के वर्षों में जो चुनाव-बोर्ड वरिष्ठ नियुक्तियों के लिए बैठता था, उसे काफी संख्या में अधिकारी उस वर्ग में से चुनने होते थे, जो एक बटालियन-कमान में पूरी पदावधि पूर्ण कर चुके होते थे। उस समय प्रश्न था कि अनेक उपलब्ध और उपयुक्त व्यक्तियों में से कुछ को चुना जाय। १५ अगस्त, १९४७ के बाद समस्या यह हो गयी कि उपलब्ध वरिष्ठ भारतीय अधिकारियों की सीमित संख्या की सेवाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय।

उच्चतर ओहदों पर नियुक्तियों की संख्या निश्चय ही सीमित रहती है। अगर कोई युवा अधिकारी वरिष्ठ पद पर आ जाय और फिर आगे न बढ़े, तो उसे सेवानिवृत्ति तक वहीं ठहरना होता है। उसे तो निराशा होती ही है, साथ ही यह निचले ओहदों के अनेक अफसरों का रास्ता रोक देता है। इन दोनों बातों का ही विपरीत मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। युद्ध-काल में कार्यवाहक, अस्थायी और युद्ध-मूलपद के ओहदों की पद्धति चलानी पड़ी थी, ताकि उच्चतर ओहदों में पदोन्नतियाँ दी जा सकें। प्रायः सभी अधिकारी इनमें से किसी एक श्रेणी में उच्चतर पदों पर काम कर रहे थे। यह पद्धति युद्धकालीन जरूरतों को पूरा करने के लिए चालू की गयी थी और स्वभावतः पुरानी पड़ चुकी थी। इसलिए अधिकारियों के ओहदों को युक्तिसंगत करना था। इस प्रयोजन से तीन पदक्रम और स्थापना-समितियाँ एक-एक थलसेना, नौसेना और वायुसेना के लिए नियुक्त की गयी। उनसे कहा गया कि तीनों सेनाओं में विभिन्न पदों को दिये जाने वाले ओहदों और अफसरों के उच्चतर पदों पर पदोन्नति के लिए, अपेक्षित योग्यताओं की सिफारिश करें। भारतीय सेना-अधिकारियों के ब्रिगेडियर, कर्नल और लेफ्टीनेंट कर्नल के रूप में, १ दिसम्बर, १९४७ को सेना की विभिन्न शाखाओं में सेवाकाल की तुलना, इन ओहदों में पदोन्नति के लिए विहित न्यूनतम औसत सेवाकाल से करने से, यह स्पष्ट हो गया कि कार्यकुशलता पर प्रभाव डाले बिना, सरकार भारतीय अधिकारियों को सभी ब्रिटिश अधिकारियों की जगह ले लेने के लिए सीधे-सीधे पदोन्नति नहीं दे सकती।

नौसेना के कुल लगभग ५०० अधिकारियों में से केवल एक ही भारतीय अधिकारी कमांडर का मूल ओहदा प्राप्त कर पाया था। १९ वर्ष के कुल सेवाकाल के साथ इंजीनियरी शाखा में कमांडर थे। केवल २७ अधिकारी लेफ्टीनेंट कमांडर के मूल ओहदे तक पहुँच पाये थे, जिनमें से दो वरिष्ठतम कार्यवाहक कैप्टेन थे। इन दोनों अधिकारियों का सेवाकाल केवल १३ साल ही था। रॉयल इंडियन नेवी के अधिकांश अधिकारी रक्षित में से स्थानान्तरित होकर आये थे और उनका सेवा काल उ३ ८ वर्ष तक का था।

वायुसेना में १ दिसम्बर, १९४७ को केवल ३६ अधिकारी विंग कमांडर या उससे

ऊपर के ओहृदे के थे। इनमें से केवल ५ का ही कुल सेवाकाल १० साल से ज्यादा था,—वरिष्ठतम का सेवाकाल लगभग १५ साल था। भारतीय वायुसेना की युद्धपूर्व स्थापना में केवल एक ही स्क्वैड्रन था। फलस्वरूप सेना का वरिष्ठतम अधिकारी भी दिसम्बर, १९४७ में एकमात्र मूलपदधारी स्क्वैड्रन-लीडर था। अन्य अधिकारियों के मूल ओहृदे फ्लाइट लेफ्टीनेंट या फ्लाइंग अफसर ही थे।

इन समितियों की सिफारिशों पर सरकार द्वारा सामान्य आदेश निकाल दिये जाने के बाद, तीनों सेनाओं के लिए ब्यौरे तैयार करने, और इस बारे में शेष प्रश्नों को निपटाने के लिए, तीन पदक्रम और सवर्ग-समितियाँ बनायी गयी। इन तीनों समितियों के सभापति रक्षा-सचिव थे और वित्तीय सलाहकार सदस्य थे। कमांडर-इन-चीफ, थलसेना, फ्लैग अफसर कमांडिंग रॉयल इंडियन नेवी, और ए० एम० सी० रॉयल इंडियन एयर फोर्स सेवा विशेष से सम्बन्धित समिति के सदस्य थे।

अन्तरिम पदोन्नति नियम और कुछ नियुक्तियों के ओहृदे

अन्त में यह फैसला किया गया कि जब तक नये पदोन्नति नियम बनें, कार्यवाहक पदोन्नतियों के लिए सभी शाखाओं में सेनाओं में कई सेवाकाल की सीमायें काफी कम कर दी जायें। तदनुसार उपयुक्त रूप में कम की गयी सेवायें विहित की गयी। उपयुक्त चुनाव बोर्डों को यह भी शक्ति दी गयी कि लेफ्टीनेंट कर्नल और ऊपर के पदों पर उन्नति के लिए अपवाद-भूत मामलों में सेवाकाल सीमाओं तक में ढील दे दें। कार्यवाहक पदोन्नति के लिए इन घटी हुई सीमाओं के शुरू होने से सवेतन कार्यवाहक और अस्थायी ओहृदे और परिणामतः युद्ध-मूल ओहृदा प्रदान करना २० फरवरी, १९४८ से समाप्त कर दिया गया, पर जो अधिकारी पहले ही अस्थायी ओहृदे प्राप्त कर चुके थे, उनका ये ओहृदे रखना अनुमत कर दिया गया। जो अधिकारी युद्ध मूल-ओहृदा पा चुके थे, वे भी नये नियम बनने तक उन्हें रख सकते थे, पर जो अधिकारी अपने मूल ओहृदे या उच्चतर ओहृदे में किसी नियुक्ति पर न आ चुके हों, वे १२२ दिनों बाद उसका त्याग कर देंगे।

यह भी निर्णय किया गया कि सेना, नौसेना और वायुसेना के प्रमुखों के ओहृदे क्रमशः जनरल, वाइस एडमिरल और एयर मार्शल होने चाहिए। सेना-कमांडरों का ओहृदा लेफ्टीनेंट जनरल का बना रहा। सेना-मुख्यालय के प्रधान स्टाफ-अधिकारियों का ओहृदा पहले लेफ्टीनेंट जनरल था, वह अब मेजर जनरल रखा गया। इसका कारण यह था कि विभाजन के बाद इन अधिकारियों की जिम्मेवारी कम रह गयी थी। सैन्य-संख्या अब कम हो गयी थी और प्रदेश-सीमा भी घट गयी थी और ब्रिटिश सैनिकों के लिए कोई भी जिम्मेवारी न रही थी। प्र० स्टा० अ० की जिम्मेवारी एरिया कमांडरों से (जो मेजर जनरल ही रहते थे) कुछ ही ज्यादा थी, पर सेना-कमांडरों (लेफ्टीनेंट जनरल) से कम थी। यह बात ओहृदे से प्रकट नहीं हो सकती थी, क्योंकि कोई मध्यवर्ती ओहृदा मेजर जनरल और लेफ्टीनेंट जनरल के बीच में न था। इस तरह यह तय किया गया कि प्र० स्टा० अ० के पदों पर काम कर रहे मेजर जनरलों का वेतन इस तरह तय किया जाय कि उनको एरिया कमांडरों की तुलना में कुछ ज्यादा मिले।

उनको प्राथमिकता-क्रम में एरिया कमांडरों के ऊपर स्थान दिया गया।

यहाँ पर यह बता दिया जाय कि नौसेना और वायुसेना के वरिष्ठ अधिकारियों को भी नये प्राथमिकता-क्रम में उनका स्थान निर्धारण करते समय गुरुत्व प्रदान किया गया। इन सेनाओं में रीयर एडमिरल या एयर वाइस मार्शल पदधारी एक-दो अधिकारी ही थे। अगर ओहदे के आधार का सख्ती से पालन किया जाता तो मेजर जनरल या उनके ऊपर के ओहदे वाले या समकक्ष अधिकारी ही जिन राज्य समारोहों में निमन्त्रित किये जाते है, इनमें ये दोनों सेनायें कोई प्रतिनिधित्व न पा सकती थी। इसे दूर करने के ही कारण कमोडोर, एयर कमोडोर के ओहदे वाले प्र० स्टा० अ० को मेजर जनरलों के साथ प्राथमिकता-सारणी में शामिल किया गया। यह नौसेना और वायुसेना को महत्व देने की एक युक्ति मात्र थी। यह तीनों सेनाओं के अधिकारियों के ओहदे या हैसियत का समानीकरण नहीं है।

नौसेना में विभिन्न ओहदों के लिए सेवाकाल सम्बन्धी वह ढील केवल राष्ट्रीयकरण में मदद देने के लिए दी गयी थी और यह ब्रिटिश अधिकारियों पर लागू न थी, क्योंकि उनमें से अधिकांश वरिष्ठतम भारतीय अधिकारियों से ज्यादा वरिष्ठ थे। साथ ही ब्रिटिश अधिकारियों को पदोन्नति से अलग भी न रखा गया था, पर एक ऊँची नियुक्ति को भरने में मुख्यत विचारणीय बात यही थी कि क्या कोई भारतीय अधिकारी इस पद के लिए उपयुक्त था। यदि कोई भारतीय अधिकारी उपलब्ध न हो, तो एक ब्रिटिश अधिकारी का उस उच्चतर पद के लिए समर्थन किया जा सकता है।

भारतीय वायुसेना में भी विभिन्न ओहदों में पदोन्नति के लिए न्यूनित कुल सेवाकाल विहित किया गया।

राष्ट्रीयकरण की प्रगति

हालांकि आरम्भ में ब्रिटिश अधिकारियों को लगाया जाता था, हर प्रक्रम में प्रत्येक उपाय किया गया कि उनकी जगह पर भारतीयों को रखा जाय। यथावश्यक चुने गये भारतीय अधिकारी प्रशिक्षण के लिए विदेश भेजे गये, ताकि वे उच्चतर या विशेष नियुक्तियों के लिए उपयुक्त हो जायें। वस्तुत. किसी खास पद पर किसी ब्रिटिश अधिकारी को लगाने, या उसमें उसकी पदावधि-बढ़ाने के हर मामले में, यह बात ध्यान से देखी जाती थी कि क्या उस नियुक्ति पर रखने के लिए कोई उपयुक्त भारतीय अधिकारी मिल सकता है। इसके फलस्वरूप तीनों सेनाओं के राष्ट्रीयकरण में हुई प्रगति आगे संक्षेप में वर्णित की जा रही है।

थलसेना—१५ अगस्त, १९४७ के पूर्व अविभाजित भारतीय सेना में १०,००० ब्रिटिश अधिकारी थे। १५ अगस्त को यह संख्या कम होकर भारत के लिए १२०० रह गयी। १ जनवरी, १९४८ के बाद भारत में नियुक्त ब्रिटिश अधिकारियों की संख्या लगभग ३०० रह गयी। १५ अगस्त, १९४७ की आर्मर्ड-कोर के मामले में बटालियनों और रेजीमेंटों के कमांडरों के १० प्रतिशत से कम भारतीय थे। १ फरवरी, १९४८ को स्थिति पलट गयी और लगभग ९५ प्रतिशत कमांडर भारतीय हो गये। जो ब्रिटिश अधिकारी रह गये, वे केवल रेजीमेंट-प्रशिक्षण-केन्द्रों के ही कमानधारी थे। अप्रैल, १९४८ तक लेफ्टीनेंट कर्नल तक के सारे कमान भारतीयों के

हाथ में आ गये। फिर १५ अगस्त, १६४७ को केवल ५ प्रतिशत ब्रिगेड और सब एरिया कमांडर भारतीय रहे। १ जनवरी, १६४८ को सभी ब्रिगेडों की कमान भारतीयों के हाथ में थी और १३ सब एरिया कमांडरों में से केवल ३ ही ब्रिटिश अधिकारी थे। १५ अगस्त, १६४७ को ऐसा कोई भी भारतीय अधिकारी न था जो मेजर जनरल के ओहदे पर किसी डिवीजन या एरिया का कमानधारी हो। १ जनवरी, १६४८ तक केवल दो एरिया कमांडर ही ब्रिटिशजन रह गये। बाकी सभी एरिया और डिवीजन कमानों पर भारतीय आ गये थे। तकनीकी शाखाओं, जैसे आर्टिलरी और सिगनल्स में १५ अगस्त, १६४७ को किसी भी भारतीय को ब्रिगेडियर का ओहदा न मिला हुआ था। १ जनवरी, १६४८ तक ६० प्रतिशत पदों पर भारतीय थे और अगले अप्रैल तक यह प्रतिशत बढ़कर ८० हो गया था।

इस बीच सेना कमांडरों के प्रमुख पदों (जिनका पदनाम जनरल अफसर कमांडिंग-इन-चीफ था) का भी तेजी से भारतीयकरण कर दिया गया। एक भारतीय अधिकारी ने पूर्वी कमान २१ नवम्बर, १६४७ को सँभाल ली। दिल्ली और पूर्वी पंजाब कमान (जिसका नाम बाद में पश्चिमी कमान रखा गया) २० जनवरी १६४८ को सँभाल ली गयी और दक्षिणी कमान १ मई, १६४८ को। इस तरह मई १६४८ तक तीनों सेना कमानों पर भारतीय अधिकारी आ गये।

सेना मुख्यालय में १५ अगस्त, १६४७ को एक भारतीय अधिकारी ने चीफ आफ जनरल स्टाफ का पद सँभाला और दूसरे ने सैन्य-सचिव का। जनवरी, १६४८ के आरम्भ में एक भारतीय अधिकारी को एडजुटेंट जनरल बनाया गया और दूसरे को मार्च, १६४८ में क्वार्टर मास्टर जनरल। जब जनवरी, १६४६ में मास्टर जनरल आफ आर्डनेंस (एम जी. ओ) शाखा को पुन चलाया गया तो पहला पदधारी एक ब्रिटिश अधिकारी था, जिसकी जगह एक भारतीय ने अगस्त, १६४६ में ले ली। इंजीनियर-इन-चीफ के पद पर एक ब्रिटिश अधिकारी काफी बाद तक बना रहा। १५ अक्टूबर, १६५५ को एक भारतीय इंजीनियर-इन-चीफ बनाया गया। अब सेना-मुख्यालय में किसी भी शाखा का प्रमुख अ-भारतीय न रहा।

सेना मुख्यालय में तब तक वरिष्ठ तकनीकी पदों पर ब्रिटिश अधिकारी अनिवार्यत. रखने पड़े, जब तक उपयुक्त भारतीय अधिकारियों ने अपेक्षित वरिष्ठता और अनुभव न प्राप्त कर लिया। तकनीकी विकास-निदेशक, शस्त्रास्त्र और उपकरण-निदेशक, सैन्य-प्रशिक्षण-निदेशक, निर्माण-कार्य-निदेशक, इंजीनियर-इन-चीफ शाखा के अध्यक्ष, सिगनल्स-निदेशक और यान्त्रिक इंजीनियरों के निदेशक के पदों पर अक्टूबर, १६५६ तक भारतीय आ गये।

१५ अगस्त, १६४७ को उस समय तक दक्षिणी कमान के जनरल अफसर कमांडिंग-इन-चीफ को भारतीय सेना का कमांडर-इन-चीफ बनाया गया, पर वे स्वास्थ्य के कारण १ जनवरी, १६४८ को चले गये और उनके स्थान पर जनरल एफ० आर० आर० बूचर को रखा गया। १५ जनवरी, १६४६ को जनरल के० एम० करियप्पा पहले भारतीय कमांडर-इन-चीफ बने।

सेना के कुछ वरिष्ठ पदों पर निरन्तरता बनाये रखने के उद्देश्य से सरकार ने फैसला दिया कि इन पदों पर एक व्यक्ति को सामान्यत चार साल से अधिक समय तक न रहना

चाहिए। लेकिन सेना में पदोन्नति और सेवा निवृत्ति साथ-साथ ही एक और नियम मे शासित होते है, जिसमे यह विहित किया गया है कि अगर कोई वरिष्ठ अधिकारी अगले निचले ओहदे पर अपनी मूल पदावधि में उच्चतर मूल पद पर पदोन्नति नही पा लेता, तो उसे अपने उस ओहदे की पदावधि पूरे होने पर सेना मे सेवानिवृत्त होना पडेगा। युद्ध पश्चात् की विशेष स्थितियो में आयु और ओहदा वाला सेना का यह ढांचा काफी असन्तुलित हो गया। यह असन्तुलन अनेक उपाय करके कम किया गया। कुछ मामलों में वरिष्ठ पदो पर काम कर रहे अधिकारियों की पदावधि बढानी पडी, ताकि अगले निचले ओहदे पर काम कर रहे लोगो को बहुत जल्दी पदोन्नति न मिल जाय। कुछ मामलो में कुछ बहुत ज्यादा वरिष्ठ अधिकारियो की पदावधि चार साल से कम करना इसीलिए जरूरी हो गया। हालांकि सरकार चार साल की पदावधि रखना चाहती थी, ताकि निरन्तरता बनी रहे, पर उस समय के विशेष कारणों को ध्यान में रखना होगा। इसी कारण कुछ पदावधियां कम करनी पडी और कुछ बढानी पड़ी।

नौसेना—नौसैनिक प्रशिक्षण एक लम्बी प्रक्रिया है और इस समुद्रगामी सेवा मे अनुभव का बहुत ही महत्व है। युद्ध-पूर्व-काल की रॉयल इंडियन नेवी एक बहुत ही छोटी सी सेना थी और हालांकि युद्धकाल में कुछ विस्तार भी हुआ था, पर नियमित भरती की संख्या कोई खास न बढी थी। फल यह हुआ कि १९४७ तक हमारे अधिकांश नौसेना अधिकारियो का सेवा काल केवल ५ से ८ साल तक का था। ६२० कमीशन वाले अधिकारियो के सवर्ग मे से केवल ९ का सेवाकाल दस साल से ज्यादा था।

१५ अगस्त, १९४७ को रॉयल इंडियन नेवी के कुल ८५० के सवर्ग में मे २०० ब्रिटिश कमीशन-प्राप्त और वारंट अधिकारी थे। १९४८ मे अपेक्षित ब्रिटिश अधिकारियो की कुल संख्या लगभग ६० कमीशन-प्राप्त और ७० वारंट अधिकारी थी। १९४७ के अन्त तक सभी रॉयल इंडियन नेवी पोतो की कमान पर भारतीय अधिकारी आ गये, जिनके पास अनेक तटीय नियुक्तियां भी थीं। नौसेना मुख्यालय के ७५ अधिकारियों के स्टाफ में ९ को छोड शेष सभी भारतीय थे।

रीयर एडमिरल जे० टी० एस० हॉल को १५ अगस्त, १९४७ को रॉयल इंडियन नेवी का कमांडर-इन-चीफ बनाया गया। उनके स्थान पर अगस्त, १९४८ मे वाइस एडमिरल सर एडवर्ड पैरी आये, जब आई० एन० एस० दिल्ली के अवतरण पर पहले ने भारतीय नौसेना स्क्वेड्रन की कमान संभाल ली। वाइस एडमिरल सी० टी० एम० पिजे ने १४ अक्टूबर, १९५१ को वाइस एडमिरल पैरी से कार्यभार संभाल लिया और फिर उनकी जगह पर २२ जुलाई, १९५५ को वाइस एडमिरल कारलिल आये। वाइस एडमिरल आर० डी० कटारी ने २२ अप्रैल, १९५८ को पहले भारतीय के रूप में चीफ आफ नेवल स्टाफ का कार्यभार सँभाला।

कमोडोर कमांडिंग आई० एन० स्क्वेड्रन के रूप में रीयर एडमिरल हाल के बाद उस स्थान पर कमोडोर एच० एन० एस० ब्राउन अप्रैल, १९४९ से मार्च, १९५० तक रहे। इस नियुक्ति का नाम बाद में रीयर एडमिरल कमांडिंग आइ एन० स्क्वेड्रन और फिर आगे चल-कर फ्लैग अफसर, फ्लोटिला, भारतीय नौ बेडा रख दिया गया और इस पर एक-एक करके रॉयल नेवी के चार रीयर एडमिरल रहे। पहला भारतीय इस नियुक्ति पर २ अक्टूबर, १९५६

को रीयर एडमिरल के ओहदे में आया। दिसम्बर, १९५१ से दिसम्बर, १९५४ तक की अवधि में कैप्टेन अधीक्षक, आई० एन० डोकयार्ड, नौसेना सचिव (नौसेना मुख्यालय), कमोडोर भारसाधक, कोचीन, नौसेना स्टाफ उप-प्रमुख, कमोडोर भारसाधक, बम्बई, सामग्री-प्रमुख (नौसेना मुख्यालय) और नौसेना इंजीनियरिंग निदेशक के पदों पर भारतीय अधिकारी आ गये। एक भारतीय सिविलियन अधिकारी ने फरवरी, १९५५ में शस्त्रास्त्र-पूर्ति-निदेशक का पद सम्भाल लिया।

१९५७ के आरम्भ में नौसेना स्टाफ प्रमुख के अलावा जो थोड़े से ब्रिटिश अधिकारी अब भी नौसेना में काम कर रहे थे वे अधिकांशतः शस्त्रास्त्र-पूर्ति-निदेशालय, शस्त्रास्त्र-निरीक्षण-निदेशालय में और नौसेना उड्डयन, नौसेना-निर्माण और नौसेना-सचार में तकनीकी अधिकारी थे। नौसेना के विस्तार और तकनीकी भारतीय अधिकारियों की कमी के कारण सेना की कार्य-कुशलता को क्षति न पहुँचे इसलिए कुछ और काल तक ब्रिटिश अधिकारियों का लगाया जाना आवश्यक हो गया था।

मुख्यालय में नौसेना-उड्डयन के प्रमुख के पद को, जिस पर अब तक रॉयल नेवी का एक अधिकारी था, अप्रैल १९६२ में एक भारतीय ने सँभाल लिया और इस परिवर्तन के बाद नौसेना का पूरा-पूरा भारतीयकरण हो गया।

वायुसेना—पन्द्रह अगस्त, १९४७ से पहले रॉयल इंडियन एयर फोर्स की यूनिटों में १०० रॉयल एयर फोर्स अधिकारी और ५०० रॉयल एयर फोर्स के एयरमैन काम कर रहे थे। १५ अगस्त, १९४७ के बाद तुरन्त सभी वरिष्ठ स्टाफ और समादेशन पद भारतीयों ने सँभाल लिये और केवल कुछ तकनीकी पदों पर ब्रिटिश अधिकारी रह गये। दिसम्बर, १९४७ के अन्त तक केवल छः ही रॉयल एयर फोर्स के अधिकारी रह गये थे। सरकार ने वायुसेना के विकास को बहुत अधिक महत्व दिया और इस नीति के अनुसार विशेषीकृत ज्ञान की अपेक्षा करने वाले पदों के लिए कुछ और रॉयल एयर फोर्स अधिकारियों की सेवायें प्राप्त करनी पड़ीं। यही कारण था कि १९४७ से बाद के कुछ वर्षों में भारतीय वायुसेना में काम करने वाले ब्रिटिश अधिकारियों की संख्या में वृद्धि हुई।

१५ अगस्त, १९४७ को रॉयल इंडियन एयर फोर्स के वरिष्ठतम भारतीय अधिकारी को रॉयल इंडियन एयर फोर्स का उप-वायु-कमांडर और वायु-मुख्यालय में वरिष्ठ-वायु-स्टाफ अधिकारी नियुक्त किया गया। उनको १५ नवम्बर, १९४७ को एयर वाइस मार्शल के ओहदे पर पदोन्नति दी गयी, जब उनको डिप्टी चीफ आफ एयर स्टाफ का पदनाम दिया गया।

१५ अगस्त, १९४७ को भारतीय वायुसेना के कमांडर-इन-चीफ का पद सँभालने के लिए एयर मार्शल सर थामस वाकर एमहर्स्ट को चुना गया। उनके बाद एयर मार्शल सर रोनल्ड आइवला चैपमैन और एयर मार्शल जी० ई० गिब्स क्रमशः मार्च, १९५० और दिसम्बर, १९५१ में आये। पहले भारतीय अधिकारी एयर मार्शल एस० मुखर्जी ने १ अप्रैल, १९५४ को भारतीय वायुसेना के प्रमुख का पद सम्भाला और इस तरह अब इस सेना का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो गया। उसी दिन राष्ट्रपति ने रंगध्वज प्रदान करके सेना का सम्मान किया।

१५ अगस्त, १९४७ के बाद भारत में नियुक्त ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा की गयी

जनरल के० एम० करियप्पा
सेना के प्रथम भारतीय चीफ

वाइस एडमिरल ग्रार० डी० कटार
नौसेना के प्रथम भारतीय चीफ

एयर मार्शल एस० मुखर्जी
वायुसेना के प्रथम भारतीय चीफ

विशिष्ट सेवा को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में २५ मार्च, १९५५ को लोक सभा में दिये गये प्रधान मन्त्री के भाषण का एक उद्धरण नीचे दिया जा रहा है।

"मैं कहना चाहूँगा कि पिछले कुछ वर्षो में जो ये ब्रिटिश अधिकारी हमारे यहाँ रहे है, उन्होने रक्षा-सेनाओ में बड़ा ही उत्तम काम किया है और मै उनके काम को बडी सराहना करना चाहूँगा कि उन्होंने तीनो सेनाओ के विकास मे कितने मनोयोग से काम किया है खासकर नौसेना और वायुसेना मे, जो अपेक्षतया अविकसित थी—सेना तो हमारे देश में काफी विकसित थी ही—और सब तरफ काफी सुधार हुआ है।

इसके प्रतीकस्वरूप ही एयर मार्शल एमहर्स्ट और एयर मार्शल गिब्स को भारतीय वायुसेना के चीफ एयर स्टाफ और कमांडर-इन-चीफ के पद से मुक्त होने पर एयर मार्शल का मानद ओहदा दिया गया। इसी तरह मुख्यालय में १९४८ से १९५५ तक इजीनियर-इन-चीफ के पदधारी मेजर जनरल विलियम्स को सेना मे लेफ्टीनेंट जनरल का मानद ओहदा दिया गया।

ब्रिटिश अधिकारी—अनुशासन

हालाँकि इस बात का अब केवल शैक्षिक महत्व है, फिर भी एक भारतीय अधिकारी द्वारा सेना के प्रमुख का पद संभाल लिये जाने के बाद, ब्रिटिश अधिकारियो के अनुशासनात्मक मामलो के बारे मे की गयी व्यवस्था का, यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। नवम्बर, १९४७ में सम्राट्-सरकार से हुए करार के फलस्वरूप, जब जनरल करिअप्पा जनवरी, १९४९, मे भारतीय सेना के कमाडर-इन-चीफ बने, तो ब्रिटिश सेना के अधीन एक रॉयल वारंट उनको प्रदान किया गया, जो ब्रिटिश-सेना-अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश व्यक्तियो की जाँच के लिए कोर्ट मार्शल बनाने और कुछ मामलो में दण्ड की पुष्टि करने से सम्बन्धित था। जनरल करिअप्पा सम्राट् की थल सेना में किंग-कमीशन प्राप्त थे, इसलिए यह सम्भव था। २६ जनवरी, १९५० को जब भारत गणराज्य बन गया तो उन्होंने और किंग-कमीशन-धारी अन्य लोगो ने उस कमीशन का त्याग कर दिया और तब कोर्ट मार्शल खडी करने की शक्ति उन्हे देने वाला रॉयल वारण्ट अप्रभावी हो गया।

जैसा बताया जा चुका है, ब्रिटिश अधिकारियो के प्रसग में अनुशासन के प्रश्न का केवल शैक्षिक महत्व है। एक ब्रिटिश अधिकारी की जाँच के लिए कोर्ट मार्शल खडी करने का प्रश्न ही न था, क्योंकि चुने गये थोडे से ऐसे ही लोग रह गये थे, जो भारत मे सेवा करने के लिए सहमत हो गये थे। इसलिए ऐसी कोई जरूरत न पडी कि किसी ब्रिटिश अधिकारी को, भारतीय सेना में काम कर रहे ब्रिटिशजनो की कमान सम्भालने वाला, ब्रिटिश अधिकारी औपचारिक रूप मे नियुक्त किया जाय। लेकिन खासकर सैन्य-प्रशासनो मे यह चलन है कि अनुशासन के बारे मे जानबूझकर कोई त्रुटि न छोड दी जाय। फलस्वरूप, प्रशासन या अनुशासन के प्रयोजन मे, भारतीय सेना में काम कर रहे ब्रिटिश अधिकारी और अन्य पदधारी, औपचारिक रूप से, सम्राट् की थल सेना में कमीशन प्राप्त वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियो की कमान के अधीन रख दिये गये थे।

नौसेना के मामले में ब्रिटिश नौसेना के एक वाइस एडमिरल ही चीफ ऑफ नेवल

स्टाफ थे और उनको सम्राट्-सरकार ने एक कोर्ट मार्शल वारण्ट प्रदान कर दिया था, ताकि जरूरत पडने पर वह भारतीय नौसेना में काम कर रहे, रॉयल नेवी के अधिकारियो द्वारा किये गये अपराधो की जाँच के लिए, कोर्ट मार्शल बनाने का आदेश दे सकें। इसी तरह वायुसेना के मामले मे १ अप्रैल १९५४ तक एक रॉयल एयर फोर्स के अधिकारी के हाथ में भारतीय वायु-सेना की कमान थी और सम्राट्-सरकार ने उनको भी ऐसा ही कोर्ट-मार्शल-वारण्ट, भारतीय वायुसेना मे काम कर रहे रॉयल एयर फोर्स के व्यक्तियो के बारे में कोर्ट मार्शल द्वारा जाँच करने के लिए, प्रदान कर दिया था।

सौभाग्य से ऐसा कोई अवसर न आया कि ब्रिटिश सेना, रॉयल नेवी या रॉयल एयर फोर्स के किसी अधिकारी के सम्बन्ध मे, भारत की सशस्त्र सेनाओ मे काम करते समय, इस उपबन्ध को प्रयोग मे लाया जाय।

आर्डनेंस कारखाने

सशस्त्र सेनाओ के तीनो स्कन्धों के अलावा आर्डनेंस कारखानो में भी विदेशी व्यक्ति काम कर रहे थे।

यहाँ भी तेजी से भारतीयकरण किया गया। उदाहरण के लिए इस सगठन मे अ-भारतीयो की सख्या १५ अगस्त, १९४७ को ९६ की जगह पर १९५९ में ३० रह गयी। इन ३० अधिकारियो में भी अधिकाश स्थायी अफसर थे, जो सामान्यत वार्द्धक्य आयु तक काम करते। बाकी सविदा पर थे, जो १९५८ को समाप्त हो रही थी।

खण्ड २—भारतीय रियासती सेनाओ का भारतीय सेना के साथ एकीकरण

जब सशस्त्र सेनाओ का पुनर्गठन और राष्ट्रीयकरण किया जा रहा था, तो एक तुरन्त ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण समस्या भूतपूर्व देशी रियासतो की सेनाओ का भारतीय सेना के साथ एकीकरण की भी समस्या थी।

ब्रिटिश काल में सभी बड़ी रियासतो के पास अपनी-अपनी सेनायें थी। ये १८८२ में मूलत सम्राट् के अधीन सेवा के लिए सैनिक प्रदान करने के लिए गठित की गयी थी और इनको इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स कहा जाता था। ये सेनायें देशी रियासतो के नरेश अपने ही खर्च पर खड़ी और सन्धारित करते थे और भारत सरकार का, स्थायी रूप से सैन्य सलाह-कार और सहायक सैन्य सलाहकार के रूप में, भारतीय सेना के कुछ ब्रिटिश अधिकारियो का स्टाफ, देशी नरेशो को उनकी रियासतों की सेना गठित और प्रशिक्षित करने में मदद और सलाह देता था। इस स्टाफ का प्रमुख मिलिटरी एडवाइजर-इन-चीफ था। वह एक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी, साधारणत, मेजर जनरल के ओहदे वाला होता था। सैन्य-सलाहकार-स्टाफ राजनीतिक विभाग के प्रशासनिक नियन्त्रण में था।

१९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध होने से पहले उनतीस देशी रियासतो में इम्पीरियल सर्विस

ट्रूप्स थी। युद्ध में प्राप्त अनुभव के फलस्वरूप, इन सेनाओं का पुनर्गठन जरूरी समझा गया, ताकि इनकी यूनिटों और भारतीय सेना की संवादी यूनिटों के बीच की असमानता यथासम्भव दूर की जा सके। नरेशों और रियासतों के प्रतिनिधियों की एक प्रवर समिति में सुधार-प्रस्तावों पर चर्चा की गयी और प्रवर समिति द्वारा की गयी सिफारिशों की मदद से १९२० की देशी रियासत सेना-योजना तैयार की गयी। पुनर्गठन के अनुसार देशी रियासतों की सेनाओं में तीन तरह के सैनिक रहे, अर्थात् -

वर्ग-क भारतीय सेना की पद्धति पर गठित सैनिक, जो नियमित भारतीय सेना की संवादी यूनिटों जैसे ही शस्त्रास्त्र से लैस किये गये।

वर्ग-ख जो सैनिक प्रशिक्षण और अनुशासन की दृष्टि से वर्ग-क के समकक्ष थे, पर भारतीय सेना की यूनिटों की तरह गठित और सज्जित न थे, और

वर्ग-ग . मुख्यतः मिलिशिया विरचना वाले सैनिक, जिनके वर्ग-ख की तुलना मे प्रशिक्षण, अनुशासन और शस्त्र के मानक निचले थे।

इस पुनर्गठन के बाद इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स का नाम देशी रियासत सेना (इंडियन स्टेट फोर्सेज) रख दिया गया और पहली बार रियासत के भीतर आन्तरिक सुरक्षा आश्वस्त करने के लिए देशी रियासतों की सेनाओं का उपयोग उनका एक वैध, हालांकि अप्रधान कार्य माना गया।

इस योजना के अधीन कोई सैनिक-संख्या स्थिर न की गयी थी, क्योंकि वस्तुतः ऐसा उपबन्ध न रहने पर भी किसी भारी वृद्धि की प्रत्याशा न की गयी थी। जब कभी कोई रियासत कोई नयी यूनिट खड़ी करने की इच्छा व्यक्त करती थी, तो मुख्यतः जिस बात पर ध्यान दिया जाता था, वह यह थी कि क्या इस राज्य के पास इस वृद्धि के पोषण के लिए पर्याप्त पैसा है। इसलिए हालांकि १९२० की योजना का एक उद्देश्य कार्यकुशलता बढ़ाना था, नतीजा यह हुआ कि कार्यकुशलता का महत्व संख्या की अपेक्षा कम हो गया। भारत सरकार की देयता भी असीमित थी, क्योंकि देशी रियासत के दो वर्गों के के लिए शुरू में शस्त्र और उपकरण निःशुल्क प्रदान करने की उसकी जिम्मेवारी असीमित थी। इन कारणों से एक नयी योजना, देशी-रियासत-योजना, १९३९ में बनायी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और युद्ध की आसन्नता के कारण दरबारों से पहले विमर्श सम्भव न था। यह योजना कमांडर-इन-चीफ के अधीन एक छोटी-सी समिति ने बनायी। इस तरह रियासतों पर अपना एक अन्तिम निर्णय थोप दिया गया। पहले की तरह नयी योजना भी स्वरूपतः ऐच्छिक थी, पर उसमें एक यह महत्वपूर्ण उपबन्ध था। सम्राट् के प्रतिनिधि को यह विवेकाधिकार था कि वह इस योजना में किसी रियासत का शामिल होना स्वीकार या अस्वीकार कर सकता था और किसी रियासत के योजना में प्रवेश की एक शर्त यह थी कि रियासत में कोई नयी यूनिट बनाने या किसी विद्यमान यूनिट की मंजूर की गयी संख्या बढ़ाने-घटाने या मंजूर संगठन में कुछ भी परिवर्तन करने के लिए सम्राट् के प्रतिनिधि से पहले मंजूरी ले ली जाय। सम्राट् के प्रतिनिधि को यह भी अधिकार था कि योजना में शामिल हो चुकी किसी रियासत से प्रवेश की किसी शर्त के

उल्लंघन पर योजना में अलग होने के लिए कह दें।

१९३९ की योजना के अधीन अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार देशी रियासत सेना की यूनिटों का यह वर्गीकरण किया गया

(क) फील्ड सेवा यूनिटें—जिन यूनिटों के बारे में अनुमान किया गया कि आपात के समय सेवा के लिए सम्राट् की भारतीय सेना के साथ सम्राट् के प्रतिनिधि को सौंप दी जायेंगी।

(ख) सामान्य सेवा यूनिटें—जिन यूनिटों के बारे में पहले पहल (क) के अनुसार सेवा करने की प्रत्याशा नहीं की गयी थी, पर उन्हें भी सम्राट् के प्रतिनिधि को सौंपा जा सकता था। प्रशिक्षण, संगठन तथा दूसरे मामलों में ये यूनिट फील्ड सेवा यूनिटों के प्राय बराबर थी।

(ग) रियासत सेवा यूनिटें—जिन का प्रमुख काम रियासत की आन्तरिक सुरक्षा की देखभाल करना था।

योजना के आरम्भ होने के बाद शीघ्र ही एक चौथा वर्ग भी बन गया, ताकि ऊपर के वर्गों में न आ सकने वाली फुटकर यूनिटों को रखा जा सके, जैसे प्रशिक्षण यूनिटें, बेतार अनुभाग आदि। इन सब को 'अवर्गीकृत' नाम दिया गया।

रियासतों द्वारा रखी गयी अनियमित यूनिटों को भारत सरकार ने मान्यता न दी और वे पूर्णत सम्बन्धित रियासत की ही जिम्मेवारी में रहीं। भोपाल, रीवा, धौलपुर और धार को छोड़ कर शेष सभी रियासतों ने १९३९ की योजना स्वीकार कर ली।

फील्ड सेवा यूनिटें, योजना में बताये गये शस्त्रों और सामग्री का आरम्भिक प्रदान और पुन स्थापन, पा सकती थी, जैसे पिस्तौलें, रायफलें, आटोमेटिक आदि। सामान्य सेवा यूनिटें भी यही शस्त्रास्त्र पा सकती थी, पर लागत मूल्य पर राज्य के खर्चे पर। राज्य सेवा यूनिटें भी अपने कार्य के स्वरूप के अनुसार राज्य के खर्चे पर लागत मूल्य में शस्त्रास्त्र पा सकती थी, पर सामान्यत उनके लिए आटोमेटिकों की पूर्ति अधिकृत न थी। पर पिछले युद्ध में ये नियम काफी बदल गये थे। प्रथम विश्व युद्ध मे इम्पीरियल स्टेट ट्रूप्स की संख्या २२००० हो गयी थी और उनमें से लगभग १८०० ने विदेशों में काम किया। देशी रियासत सेना की कुल संख्या दूसरे महायुद्ध के समय लगभग ७७००० थी, जो जनवरी, १९४४ में बढ़कर ९९००० तक पहुँच गयी थी और इन में से केवल ३९००० ही विदेश में या भारत में सम्राट् की सेवा में लगाये गये थे। पर इस भारी संख्या के बावजूद अपेक्षतया कहीं कम यूनिटों का सक्रिय विरचनाओं में इस्तेमाल किया गया।

दूसरे विश्व युद्ध के तुरन्त बाद देशी रियासत सेना के भविष्य के बारे चर्चा हुई। हालांकि यह माना गया कि युद्ध छिड़ने पर रियासती सेना भारतीय सेना का एक विस्तार मानी जायेगी, पर यह तय किया गया कि देशी रियासत सेना का मुख्य काम रियासत की आन्तरिक सुरक्षा ही होना चाहिये। मोटे तौर पर यह निश्चित किया गया कि इस सेना में दो तरह की यूनिटें होनी चाहिये अर्थात् (क) सामान्य सेवा यूनिटें, जो भारतीय सेना की

यूनिटों की ही तरह गठित और सन्धारित की जायें, और (ख) स्थानीय या रियासत सेवा यूनिटें, जो आन्तरिक सुरक्षा के लिए गठित और सन्धारित की जायें। लेकिन इस बारे में और कदम उठाये जायें, इससे पहले ही सांविधानिक हलचलें सामने आ गयीं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रमुख सैन्य सलाहकार (मिलिटरी एडवाइजर-इन-चीफ) का मुख्यालय राजनीतिक विभाग का अंग था और इसका मुख्य कार्य था, समन्वय, पर्यवेक्षण और सलाह देना। मुख्यालय के स्टाफ के अलावा स्थानीय सलाहकार अम्बाला, जयपुर, ग्वालियर, इन्दौर, राजकोट और हैदराबाद में स्थित थे और साथ ही तकनीकी सैन्य सलाहकार रुड़की, शिमला, फीरोजपुर आदि सुविधाजनक केन्द्रों में स्थित थे। सैन्य सलाहकार के अमले में पूरी तरह ब्रिटिश अधिकारी ही थे।

भारत सरकार के राज्य विभाग की स्थापना ५ जुलाई, १९४७ को की गयी। १५ अगस्त, १९४७ को प्रभुसत्ता के व्यपगत हो जाने पर देशी रियासतों की स्थिति की सम्मिलन-लिखतों और उनके द्वारा भारत के डोमीनियन के साथ किये गये यथास्थिति करार के प्रकाश में देखना होगा। इस तरह सम्राट् के प्रतिनिधि का स्थान व्यवहारत भारत सरकार के राज्य-मन्त्रालय ने ले लिया।

१५ अगस्त, १९४७ से राजनीतिक विभाग समाप्त हो गया। उसी तारीख मे विभाग द्वारा पहले निकाले गये आदेश द्वारा, देशी रियासत सेना के प्रमुख सैन्य सलाहकार को, दोनों डोमीनियनों ने, संयुक्त रूप से अपनी सेवा में रख लिया। सरकिलों के सैन्य सलाहकारों और उनके अमले के पद समाप्त कर दिये गये। इस तरह प्रमुख सैन्य सलाहकार का मुख्यालय दो अलग संगठनों में बँट गया, एक भारतीय डोमीनियन के लिए और दूसरा पाकिस्तानी डोमिनियन के लिए। प्रत्येक एक अलग उप-प्रमुख सैन्य-सलाहकार के अधीन था और ये दोनों प्रमुख-सैन्य-सलाहकार के अधीन थे। प्रमुख-सैन्य-सलाहकार सेना-मुख्यालय, भारत के प्रति उत्तरदायी थे और उसके जरिये भारत के रक्षा-मन्त्रालय के प्रति, उन रियासतों के बारे मे जो भारत संघ मे शामिल हो गयी थीं, और पाकिस्तान के रक्षा-विभाग के प्रति, उन रियासतों के बारे मे जो पाकिस्तानी डोमिनियन में शामिल हो गयी थी। पर वे संयुक्त-रक्षा-परिषद् के प्रति उत्तरदायी न थे और, दो तरह की हैसियत रखते हुए भी वे भारत और पाकिस्तान के प्रति संयुक्त उत्तर-दायित्व वाले पद पर न थे।

सैन्य-सलाहकार-संगठन (जो अब तक राजनीतिक विभाग के प्रशासनिक नियन्त्रण में रहा था और जिसकी जगह अब राज्य-मन्त्रालय ने ले ली थी) इस तरह रक्षा-मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में आ गया। वस्तुत १५ अगस्त, १९४७ के कुछ प्रारंभिक सप्ताहों में इस संगठन का कार्य उथल पुथल की स्थिति में था। शीघ्र ही यह निर्णय लिया गया कि १५ अक्टूबर, १९४७ से प्रमुख-सैन्य-सलाहकार का पद समाप्त कर दिया जायेगा। वस्तुतः देशी रियासत सेना के सैन्य-सलाहकार १ नवम्बर, १९४७ से भारतीय सेना-मुख्यालय मे आ गये और उन्हें देशी रियासतों की सशस्त्र सेनाओं के प्रशिक्षण और प्रशासन का काम सौंपा गया। वे ब्रिगेडियर के ओहदे के एक यूरोपीय अधिकारी थे और चीफ ऑफ़ दि जनरल स्टाफ के निदेशाधीन काम करते थे।

हालांकि शुरू में राज्य-मन्त्रालय ने यह मान लिया था सैन्य-सलाहकार-संगठन रक्षा-मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में रहे, पर शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि इस संगठन का कार्य अधिकांशतः राजनीतिक था और तब उसने यह इच्छा प्रकट की कि यह संगठन उनके प्रशासनिक नियन्त्रण में कर दिया जाय। वस्तुतः १९४७ से भी पहले, तीन अलग-अलग अवसरों पर, इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि प्रमुख-सैन्य-सलाहकार का नाता सामान्य मुख्यालय (अब सेना-मुख्यालय) के साथ होना चाहिये या राजनीतिक विभाग से, पर यह सोचा गया था कि उसे राजनीतिक विभाग के ही साथ रहने दिया जाय, क्योंकि देशी रियासत सेना सम्बन्धी मामले बहुत कुछ राजनीतिक प्रकार के होते हैं। पर रक्षा-मन्त्रालय का विचार था कि १५ अगस्त, १९४७ के बाद स्थिति में आमूल परिवर्तन आ गया है, क्योंकि एक आपात जैसी स्थिति आ गयी है और रियासतों से शस्त्रों और उपकरणों की ऐसी मांग आ रही है, जिसकी पूर्ति उसी दिन की जानी चाहिये। साथ ही निष्क्रमणार्थी और शरणार्थी समस्याओं के निपटारे के लिए और सीमा-संघर्षों से सरक्षण के लिए भी रियासतें सैन्य-मदद की मांग कर रही हैं। यह काम बड़ी तेजी से किया जाना है, जिसके लिए सशस्त्र सेना-मुख्यालयों और देशी रियासतों के बीच निकट का सम्पर्क होना चाहिये। इस कारण कुछ समय तक सैन्य-सलाहकार-संगठन रक्षा-मन्त्रालय के अधीन बना रहा। स्थिति का पुनर्विलोकन करने के बाद जनवरी, १९४८ में यह निर्णय लिया गया कि सैन्य-सलाहकार देशी रियासत सेना का राज्य-मन्त्रालय के अधीन रहना ज्यादा उपयुक्त होगा। तदनुसार उक्त संगठन का प्रशासनिक नियन्त्रण १ मार्च, १९४८ से राज्य मन्त्रालय को सौंप दिया गया और तब तक वह उसी के अधीन बना रहा जब तक कि रियासती सेना के एकीकरण का अधिकांश पूरा न हो गया।

जब सैन्य-सलाहकार-संगठन रक्षा-मन्त्रालय के अधीन आया तो यह वांछनीय समझा गया कि सैन्य-सलाहकार, देशी रियासत सेना, के पद पर एक भारतीय होना चाहिये। ज्यादा अच्छा हो कि वह किसी देशी रियासत की ही प्रजा हो, ताकि रियासतों में विश्वास पैदा किया जा सके। इसलिए जनवरी, १९४८ के आरम्भ में इस पद पर मेजर जनरल हिम्मतसिंह जी को नियुक्त किया गया। बाद में मुख्यालय के अमले के अलावा सैन्य-सलाहकारों के दो और पद (जिनका नाम अगस्त, १९४८ में रियासती सेना-सम्पर्क-अधिकारी कर दिया गया) लेफ्टीनेंट कर्नल के ओहदे के बनाये गये, एक दक्षिणी देशी रियासतों के लिए जिसका मुख्यालय बंगलौर में था, और दूसरा पश्चिमी देशी रियासतों के लिए जिसका मुख्यालय राजकोट में था। युक्ति-संगत रूप से मुख्यालय में स्थित सैन्य सलाहकार का पदनाम १९४८ से फिर प्रमुख-सैन्य-सलाहकार, देशी रियासत सेना, कर दिया गया।

अब रक्षा एक केन्द्रीय विषय था, इसलिए किसी भी संघटक इकाई के लिए एक अलग सेना रखना बिलकुल जरूरी न रह गया। भूतपूर्व देशी रियासतों को ब्रिटिश भारत के भूतपूर्व प्रान्तों से भिन्न नहीं माना जा सकता था। इसलिए देशी रियासतों द्वारा रखी गयी सेना को आगे चलकर उपयुक्त रूप में भारतीय सेना के साथ एकबद्ध करना जरूरी हो गया। फिर भी, यह देशी रियासत विशेष के सांविधानिक और वित्तीय रूप में भारत संघ में शामिल हो जाने के बाद ही किया जा सकता था। ऐसे समय पर, जब भारतीय सेना के सामने अन्य अनेक सम-

स्थायें भी थीं, रियासती का भारतीय सेना के साथ एकीकरण भी कोई आसान काम न था। साथ ही प्रशिक्षण के मानक और सेवा की सामान्य शर्तें राज्य-राज्य में अलग-अलग थीं।

विभाजन के तुरन्त बाद, जबकि भारतीय सेना अभी पुनर्गठित हो ही रही थी, और भारत सरकार के सामने लाखों विस्थापित व्यक्तियों को लाने की समस्या भी थी, और साथ ही कानून-व्यवस्था का सामना करना और काश्मीर में युद्ध भी चलाना पड़ा था, उस समय कई नरेशों ने उदारतापूर्वक अपनी रियासती सेनायें सेवा के लिए सङ्घ सरकार को सौंप दीं।

देशी रियासतों के भारत-सङ्घ में एकीकरण करने की प्रक्रिया में तीन अलग-अलग तरीके अपनाये गये। कुछ रियासतों का पड़ोस के प्रान्तों में विलय कर दिया गया (अर्थात् उन राज्यों के साथ जो संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग 'अ' राज्यों में मूलतः शामिल थे), और कुछ को, मुख्य आयुक्त या उपराज्यपाल के प्रान्तों के रूप में, भारत सरकार के सीधे नियन्त्रण में रखा गया और इनको भाग 'सी' राज्य कहा गया। कुछ रियासतों को आपस में मिलाकर उनके सङ्घ बना दिये गये और उनका प्रशासन-ढाँचा प्रान्तों के रूप में ही रखा गया। ये संविधान के भाग 'ब' के राज्य बन गये। इस तरह बने और एकीकरण के समय विद्यमान संघ थे ये मध्य-भारत, पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासत सङ्घ, राजस्थान, सौराष्ट्र, त्रिावांकुर-कोचीन। फिर मैसूर, हैदराबाद और जम्मू-काश्मीर बच गये, जिनको अलग इकाई के रूप में रहने दिया गया। इनको भी भाग 'ब' राज्यों में शामिल कर लिया गया।

विलीन राज्यों की सेनायें

भाग 'सी' राज्यों के प्रसंग में, कुछ मामलों में नियमित देशी राज्य-सेना की पूरी यूनिटें लेकर, भारतीय सेना के साथ एकीकृत कर दी गयीं, कुछ दूसरे मामलों में केवल वे व्यक्ति लिये गये, जिनको भारतीय सेना में आत्मसात् करने के लिए उपयुक्त पाया गया। (गैर-देशी रियासत सेना की यूनिटों का निपटान करने की जिम्मेदारी पूरी तरह उत्तरवर्ती सरकार के ही ऊपर रखी गयी)। सभी मामलों में यूनिटों के सदस्यों की छानबीन भारतीय सेना के चुनाव-बोर्डों द्वारा की गयी और जिनको उपयुक्त समझा गया, उनको भारतीय सेना में लागू शर्तों-निबन्धनों के ही अनुसार, कमीशन दिये गये या नामावली पर दर्ज किया गया। जिन लोगों को भारतीय सेना में आत्मसात् करने के उपयुक्त नहीं पाया गया और जिनको उत्तरवर्ती सरकारें पुलिस या असैनिक नौकरियों में न रख सकीं, उनको भारत सरकार ने सेवान्त-हितलाभ प्रदान किये, अर्थात् रियायतें जैसे-तैसे करके प्रदान करना, (जैसा कि इनको उस समय कहा गया)—अर्थात् रियासती सेना के नियमों में इनको जितना मिलता उससे ज्यादा उदार आधार पर पेन्शन या उपदान देना।

भाग (ब) राज्य

संविधान के अनुच्छेद २५९ (१) में, जैसा वह मूलतः अधिनियमित किया गया था, यह व्यवस्था थी कि प्रथम अनुसूची के भाग 'ब' में विनिर्दिष्ट, जिस किसी राज्य के पास यदि संविधान के आरम्भ के तुरन्त पूर्व कोई सशस्त्र सेनायें थीं, तो वह इस आरम्भ के बाद, इन सेनाओं का सन्धारण, राष्ट्रपति द्वारा इस बारे में समय-समय पर जारी किये गये सामान्य या

विशेष आदेशो के अधीन, तब तक सन्धारण करता रहेगा, जब तक कि संसद् विधि द्वारा अन्यथा व्यवस्था न करे। खण्ड (२) में व्यवस्था की गयी कि यह सेना सङ्घ की सशस्त्र सेनाओं का अंग होगी। जब रियासती सेना का अलग अस्तित्व न रहा, तो संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम, १९५६ द्वारा यह अनुच्छेद निकाल दिया गया।

तिरुवाकुर-कोचीन, मैसूर और हैदराबाद

मैसूर, हैदराबाद और तिरुवाकुर-कोचीन के राज्य-सङ्घ द्वारा सन्धारित सशस्त्र सेनायें पहले तो सम्बन्धित राज्य या राज्यसङ्घ की सरकार के प्रशासनिक नियन्त्रण मे थी, लेकिन इन सेनाओं का सक्रियागत नियन्त्रण जनरल अफसर कमाडिंग इन चीफ, दक्षिणी कमान के हाथ मे था और भारतीय सेना के अधिकारी इन सेनाओ के कमाडेंट भी नियुक्त किये जाते थे। १ अप्रैल, १९५० से इन सेनाओ का सारा प्रशासनिक नियन्त्रण भारतीय सेना ने अपने हाथ में ले लिया, और अधिकारियों और अन्य पदधारियो के लिए पूरी व्यवस्था करने, और उनके लिए भण्डार और उपकरण प्राप्त करने की पूरी जिम्मेवारी भी, अपने हाथ मे ले ली। भारत सरकार इन सेनाओ पर १ नवम्बर, १९४६ से ३१ मार्च, १९५० तक के समय के लिए उतना खर्च देने को भी राजी हो गयी, जो १९४६-४७ की तत्सवादी अवधि मे उन पर हुए खर्च के अलावा था। फिर इस सेना को पुनर्गठित किया गया और तदनुसार उसकी सख्या कम की गयी और प्रशिक्षण और उपकरणो की दृष्टि से उसको भारतीय सेना के स्तर तक ले आया गया। इन रियासती सेनाओ के अधिकारियों की छानबीन भी भारतीय-सेना-सेवा-चुनाव बोर्ड द्वारा की गयी और अन्य पदधारियो का परीक्षण भी भारतीय सेना के मानको के अनुसार किया गया। पुनर्गठन पूरा होने पर इन यूनिटो के सदस्यो पर भी भारतीय सेना की सेवा शर्तें-निबन्धन लागू कर दिये गये और ये सेनायें १ अप्रैल, १९५१ को भारतीय सेना के साथ पूरी तरह एकीकृत हो गयी। इन सेनाओ के व्यक्तियो का भारत-सङ्घ के प्रति निष्ठा की शपथ भी लेनी पडी।

राजस्थान, पेप्सू, मध्य-भारत और सौराष्ट्र पुरानी देशी रियासतो के सङ्घ थे। उनके बारे में विशेष व्यवस्था की गयी, जिसके अनुसार रियासती सेनायें राजप्रमुखो के नियन्त्रण में बनी रही, पर भारत सरकार द्वारा राजप्रमुख से परामर्श करके चुना गया भारतीय सेना का एक अधिकारी, सम्बन्धित राजप्रमुख द्वारा, उस सेना का जनरल अफसर कमांडिंग नियुक्त कर दिया गया। फिर भी इन सेनाओं का सक्रियागत नियन्त्रण भारतीय सेना के उस एरिया की कमान के जनरल अफसर कमांडिंग-इन-चीफ में निहित था, जिस एरिया में यह राज्य-सङ्घ स्थित था। सेना को खड़ा करने और उसका सन्धारण करने की शक्ति का प्रयोग राजप्रमुख भारत सरकार द्वारा भारतीय सेना के बारे में अपनाये गये नियमो के अनुसार, करते रहे। इन सेनाओ के व्यक्ति राजप्रमुख, और उनके जरिये भारत-सङ्घ के प्रति, निष्ठा की शपथ लेते थे। इन सेनाओ का भी पुनर्गठन करके उनका प्रशिक्षण और उपकरण ३१ मार्च, १९५१ तक भारतीय सेना के स्तर तक ला दिये गये। इस अवधि में वे अपनी विद्यमान सेवा-शर्तों-निबन्धनो के अधीन बने रहे, पर १ अप्रैल १९५१ से उन पर भी भारतीय सेना की सेवा-शर्तें-निबन्धन

लागू कर दिये गये। इन रियासती सेनाओं के अधिकारियों की भी भारतीय सेना-चुनाव-बोर्ड ने छानबीन की और भारतीय सेना और रियासती सेनाओं के बीच अधिकारियों का आदान-प्रदान भी किया गया।

सघीय-वित्तीय-एकीकरण की योजना के अनुसार भारत सरकार १ अप्रैल, १९५० (पेप्सू के मामले में १३ अप्रैल, १९५०, जो इसके अगले वित्तीय वर्ष शुरू होने की तारीख थी) से भारत सरकार देशी रियासत-सेना का सारा वित्तीय दायित्व सम्भालने को राजी हो गयी, जिसमे उस तारीख को या बाद मे सेवानिवृत्त होने वाले रियासती सेना के व्यक्तियों के पेन्शन का खर्च भी शामिल था। वह १ नवम्बर, १९४९ से ३१ मार्च, १९५० तक (पेप्सू के मामले में १३ अप्रैल) की अवधि के लिए रियासती सेना पर हुए खर्च और उस पर १९४६-४७ की सवादी अवधि मे हुए खर्च का अन्तर देने को तैयार हो गयी।

विन्ध्य-प्रदेश की रियासतों की सेना को विघटित कर दिया गया, क्योकि वह देश की समग्रीण रक्षा-आवश्यकताओं से ज्यादा थी। पर इन सेनाओं के उपयुक्त लोगों को भारतीय सेना या पुलिस जैसी दूसरी नौकरियो में लगा लिया गया।

रियासती सेनाओं के जिन अधिकारियो ने भारतीय सेना-चुनाव-बोर्डों मे स्वीकार्य पदक्रम प्राप्त कर लिया था, उनको भारतीय सेना में कमीशन दे दिये गये और उनकी वरिष्ठता भारतीय सेना के अधिकारियो के प्रसग में एक विशेष बिन्दु पद्धति के आधार पर तय कर दी गयी।

रियासती सेनाओं से सेवामुक्त किये गए लोगों के पुनर्वास के लिए, राज्य सरकारों से परामर्श करते हुए, योजना तैयार करके अमल मे लायी गयी।

भारत सरकार ने रियासती सेनाओं की सारी वित्तीय जिम्मेवारी संभाल ली थी, इसलिए रियासती सेना की सारी चल-अचल सम्पत्ति, जिसमे उनके कब्जे का आवास भी शामिल था, भारत सरकार की सम्पत्ति बन गयी और इस तरह भारतीय सेना के उपयोग के लिए उपलब्ध हो गयी।

रियासती सेना का भारतीय सेना के साथ एकीकरण धीरे-धीरे ही हो सकता था। १९४८ और १९४९ की परिस्थिति को देखते हुए इसका तुरन्त एकीकरण व्यावहारिक नहीं था। साथ ही एकीकरण से पहले रियासती सेना के अधिकारियो और सैनिकों को भारतीय सेना के स्तर तक लाना भी जरूरी था।

रियासती सेना का एकीकरण १ अप्रैल, १९५१ को पूरा हो गया, जिस तारीख से वह सेना अलग इकाई के रूप मे न रही। पहली बार देश में एक पूर्णत एकीकृत भारतीय सेना पूरे देश के लिए बनायी गयी।

विलीन राज्यों की सेनायें विलीन राज्य विधियाँ अधिनियम १९४८ का ४३वाँ के अनुसार भारतीय सेना अधिनियम, १९११ के अधीन आ गयी। भारतीय सेना अधिनियम १९११ उपयुक्त सशोधनो के साथ भारत के राजपत्र में अधिसूचना प्रकाशित करके, हैदराबाद, तिरुवाकुर-कोचीन, मध्यभारत, पेप्सू, राजस्थान और सौराष्ट्र की सेनाओ पर भी १ अप्रैल,

१६५० को लागू कर दिया गया। बाद में सेना अधिनियम, १६५० में रियासती सेनाओं पर लागू करने के लिए उपयुक्त उ बन्ध किये गये।

रियासती सेना-सलाहकार के संगठन की समाप्ति

एकीकरण में प्रगति होने पर यह तय किया गया कि प्रमुख-सैन्य-सलाहकार, देशी रियासत-सेना, और उनके सङ्गठन को फिर से १ अप्रैल, १६५० से रक्षा-मन्त्रालय के अधीन कर दिया जाय। उस तारीख से संगठन के भारसाधक अधिकारी (एक कर्नल) का पदनाम, सलाहकार, रियासत-सेना कर दिया गया और संगठन-मुख्यालय, सलाहकार, रियासती-सेना, कहा जाने लगा। राज्य सेना का एकीकरण पूरा हो जाने पर यह संगठन १ अक्टूबर, १६५१ को खत्म कर दिया गया। शेष कार्य केन्द्रित रूप से मन्त्रालय का एक अनुभाग सितम्बर, १६५३ तक चलाता रहा, और तब बाकी बचा काम विकेन्द्रीकृत करके मन्त्रालय के सम्बन्धित प्रशासनिक अनुभागों को सौंप दिया गया।

जम्मू और काश्मीर राज्य-सेना १ नवम्बर, १६४७ को भारतीय सेना के प्रशासनिक नियन्त्रण में सौंप दी गयी थी और वह १ जनवरी, १६५७ को भारतीय सेना के साथ एकीकृत कर दी गयी।

इस तरह एक दशक से भी कम समय में भारत की सेना को पूरी तरह एकत्र करके एकीकृत सेना के रूप में गठित कर दिया गया। अब इन सभी में देश के नागरिक ही अधिकारी थे। भरती सभी भारतीयों के लिए खोल दी गयी थी, चाहे वे देश के किसी भी भाग के क्यों न हों और उनकी जाति या धर्म कुछ भी क्यों न हो। पर इससे भी कहीं ज्यादा बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि भारत की सशस्त्र सेनाओं का सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

अनुबन्ध

उन राज्यों की सूची, जहाँ एकीकरण से पूर्व देशी रियासत-सेनायें थीं

राज्य	समूह	राज्य	समूह
१—नवानगर	सौराष्ट्र	२४—हैदराबाद	
२—भावनगर		२५—मैसूर	
३—ध्रांगध्रा		२६—जम्मू और काश्मीर	
४—पोरबन्दर		२७—चम्बा	हिमाचल प्रदेश
५—मेवाड़	राजस्थान	२८—सुकेत	
६—कोटा		२९—मंडी	
७—जोधपुर		३०—सिरमूर	
८—जयपुर		३१—कच्छ	
९—बीकानेर		३२—भोपाल	
१०—अलवर		३३—त्रिपुरा	
११—भरतपुर		३४—रीवाँ	विन्ध्य प्रदेश
१२—धौलपुर		३५—दतिया	
१३—ग्वालियर	मध्य भारत	३६—पन्ना	
१४—इन्दौर		३७—बड़ौदा	बम्बई
१५—धार		३८—कोल्हापुर	
१६—पटियाला	पेप्सू	३९—बारिया	
१७—कपूरथला		४०—ईदर	
१८—नाभा		४१—लुनावडा	
१९—जींद		४२—राजपीपला	
२०—फरीदकोट		४३—टेहरी-गढ़वाल	उत्तर प्रदेश
२१—मालेरकोटला		४४—रामपुर	
२२—त्रिवांकुर	त्रिवांकुर-कोचीन	४५—बनारस	
२३—कोचीन		४६—कूच बिहार	प० बंगाल

आठवाँ अध्याय

भरती और प्रशिक्षण

खण्ड १ भरती

स्वाधीनता के बाद सशस्त्र सेनाओं में भरती की रीति के बारे में महत्वपूर्ण और दूरगामी परिवर्तन आये हैं। देश में ही आवश्यक प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था करने में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। भरती को दो शीर्षों में वर्गीकृत किया जा सकता है (क) अधिकारियों की भरती और (ख) शेष की भरती, जिनको अन्य पदधारी कहा जाता है। अन्यपदधारी सशस्त्र सेना का अधिकांश होते हैं। उनकी भरती के बारे में किये गये परिवर्तनों को पहले लिया जा सकता है।

सेना में वर्गगत रचना

ब्रिटिश काल में सेना की भरती यूनिटों की वर्ग रचना पर आधारित थी और वह योद्धा जातियों कहकर पुकारे जाने वाले कुछ वर्गों तक ही सीमित थी। इस भेदभाव का औचित्य कमांडर-इन-चीफ ने कौंसिल आफ स्टेट में सितम्बर, १९३८ में एक भाषण में यह कहकर देना चाहा था

सैन्य अधिकारियों ने अपने अनुभव से यह सिद्ध कर दिया है कि कुछ वर्गों में सर्वाधिक कुशल सैनिक पैदा होते हैं। कुल मिलाकर और आज की नीति का एकमात्र औचित्य यही है कि यह सेना को प्रत्येक शाखा के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के चुनाव की गारण्टी देता है।

इस नीति का अनुसरण करते हुए कुछ वर्ग भरती के प्रयोजन से विनिर्दिष्ट कर दिये गये थे। इस वर्गीकरण के आधार पर प्रत्येक रेजीमेंट की रचना प्रत्येक वर्ग के प्रतिशत के आधार पर निर्धारित की गयी थी और शान्तिकाल में इस प्रतिशत का बड़ी सख्ती के साथ पालन किया जाता था। पर दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सेना का काफी विस्तार करना पड़ा और योद्धा जातियों से होने वाली भरती शीघ्र ही संतृप्ति-बिन्दु तक पहुँच गयी। अब और आगे भरती उन्हीं जातियों से करनी पड़ी जिनको पहले अ-योद्धा जातियाँ कहा गया था। युद्ध-

काल में योद्धा और अ-योद्धा जातियो का सिद्धान्त बिलकुल खत्म हो गया। वस्तुत. तभी यह समझा गया कि शान्तिकाल में सेना की रचना युद्धकाल मे उसके विस्तार के स्वरूप पर ही होनी चाहिये। युद्ध के बाद शीघ्र ही यह पाठ भुला दिया गया और सेना अधिकारी एक बार सामान्य भरती के लिए फिर उसी पुराने जाति-रचना वाले ढर्रे पर आ गये। ३० मार्च, १९४६ को निकाले गये विशेष सेना आदेश में भरती के प्रयोजन से वर्गों का नामोल्लेख कर दिया गया।

भरती का सभी भारतीय नागरिकों के लिए खुलना

विशुद्ध राजनीतिक इष्टसाधकता पर आधारित वर्ग-रचना सम्बन्धी योजना स्पष्ट ही स्वतन्त्र भारत में अमान्य हो गयी। १५ अगस्त १९४७ के तुरन्त बाद ही भारत सरकार ने निर्णय लिया कि भारतीय सेना से समग्र साम्प्रदायिक और वर्गगत रचना समाप्त कर दी जानी चाहिये और सभी भारतीय नागरिको को इसमें सेवा करने का समान अवसर मिलना चाहिये। जनवरी, १९४९ में आधिकारिक रूप से यह आदेश निकाले गये कि सभी सेनाओं/शाखाओं में वर्ग के आधार पर भरती को खत्म कर देना चाहिये। इस तरह भरती सभी भारतीय नागरिको के लिए खुली छोड़ दी गयी, बशर्ते कि वे विहित शैक्षिक और शारीरिक मानक के अनुरूप हो। फरवरी, १९४९ मे सरकार की इस संशोधित नीति का अनुपालन किये जाने के बारे में प्रशासनिक अनुदेश निकाल दिये गये, जिनके अनुसार आर्टिलरी, इंजीनियरी और सिगनल्स शाखायें बहुत कुछ एक मिश्रित आधार पर आ गयी। रेजीमेंटों की भरती सम्बन्धी माँग इस तरह से तैयार की जाती थी कि कम से कम १० प्रतिशत रिक्त स्थान पहली सूची पर न आने वाले वर्गों को मिलें। जिन सेनाओं, शाखाओ में पहले से ही वर्गगत रचना काफी भिन्नरूप थी, उनमें भी अन्य वर्गों को भरती के लिए गुंजाइश बढ़ा दी गयी।

पुरानी वचनबद्धता और सेना की स्थिति की दृष्टि में इस निर्णय का तुरन्त पालन पैदल सेना और आर्मर्ड कोर के मामले में सम्भव न था। वर्ग विशेषो से बनी हुई रेजीमेंटों ने अनेक दशकों में कुछ समरसता प्राप्त कर ली थी और हालांकि उनकी रचना को व्यापक आधार पर लाने के लिए कदम उठाये गये, यह भी आवश्यक समझा गया कि इस प्रकार की रचना के कारण उनमें जो लगाव पैदा हो गया है उसे सहसा ध्वस्त न कर दिया जाय। इस-लिए परिवर्तन क्रमिक ही होना था। फिर लड़ाकू यूनिटों की रचना में, कोई भी पूर्ण परिवर्तन करने से, कम से कम अस्थायी तौर पर, उनकी कार्यकुशलता पर असर पड़ेगा। इन स्थूल बातों को ध्यान में रखते हुए पैदल सेना और आर्मर्ड कोर में भी मिश्रित वर्ग रचना का सूत्रपात करने के लिए अनेक कदम उठाये गये हैं। इस बारे में एक उल्लेखनीय दृष्टान्त बंगालियों का है, जिनको पैदल सेना में कोई स्थान प्राप्त न था। मार्च १९४९ में आदेश निकाले गये कि एक रेजीमेंट के अंगस्वरूप बंगालियों की एक कम्पनी खड़ी की जाय। एक पैराशूट रेजीमेंट भी, मिश्रित वर्ग रचना के आधार पर खड़ी करने के लिए, आदेश निकाले गये।

जैसे ही रेजीमेंटों की रचना को व्यापक आधार पर लाने का प्रक्रम पूरा हो जायेगा, इसमें कोई संदेह नहीं कि वैसे ही सारे देश के विभिन्न-वर्ग की जनता में ज्यादा अच्छा अवबोध पैदा हो जायेगा और थलसेना, नौसेना और वायुसेना साथ-साथ देश की एकता का प्रतीक बन जायेंगी, भले ही भाषा, प्रथा और रीतिरिवाज में भेद रहे।

ब्रिटिश काल में सेना की वर्ग-रचना वाली पद्धति नौसेना और वायुसेना में लागू न की गयी थी। इसलिए किसी वर्ग विशेष के लिए स्थान आरक्षित न थे और इन सेवाओं में भरती के लिए सभी भारतीय पात्र थे। इसलिए १५ अगस्त, १९४७ के बाद नौसेना और वायुसेना में भरती सम्बन्धी कोई सुधार करना आवश्यक न था।

अब सशस्त्र सेनाओं में जाति, धर्म, समुदाय या देश के भागविशेष के भेदभाव के बिना, सभी भारतीय प्रवेश पा सकते हैं। किसी भी वर्ग के लिए न तो रिक्त स्थानों का आरक्षण ही किया जाता है और न आयु सीमा में ही ढील दी जाती है। भरती केवल शारीरिक समर्थता और विहित योग्यताओं के आधार पर की जाती है। सशस्त्र सेनाओं के लिए शारीरिक समर्थता का बहुत ज्यादा महत्व है। इसमें भरती असैनिक नौकरियों की अपेक्षा कम आयु में हो की जाती है, क्योंकि उस समय उनको सैन्य दृष्टिकोण और अनुशासन के अनुरूप ज्यादा अच्छी तरह से मोड़ा जा सकता है। शारीरिक समर्थता की दृष्टि से प्रशिक्षण के लिए उपयुक्तता और विभिन्न ओहदों में आयु वर्गों का विशेष महत्व है। अतएव सशस्त्र सेना के विभिन्न ओहदों में भरती के लिए विहित आयुसीमा का कड़ाई से पालन किया जाता है। किसी भी वर्ग विशेष के लिए ढील देना कार्य-कुशलता के प्रति साधक न होगा। हालांकि आयुसीमा के मामले में भी जनवर्ग को ढील नहीं दी जाती, पर सशस्त्र सेना के कमीशन वाले ओहदों में संघीय लोक-सेवा-आयोग द्वारा की गयी भरती के लिए देय फीस में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिमजातियों और पाकिस्तान से विस्थापित व्यक्तियों को रियायत दी जाती है।

रॅंगरूटों के चुनाव के मामले में कुछ समय पूर्व एक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया था। बाकी चीजें समान रहने पर, अब देहात से आने वालों को वरीयता दी जाती है, क्योंकि यह समझा जाता है कि सैन्य जीवन की कठोरता वे ज्यादा अच्छी तरह से बरदाश्त कर सकते हैं। इसी तरह शेष चीजें समान रहने पर अनुसूचित जाति वालों को वरीयता दी जाती है।

भारतीय सैन्य-अकादेमी

युद्ध से पूर्व गोरी सेनाओं में अधिकारियों का चयन फेडरल लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली गयी स्पर्धा परीक्षा (और मौखिक परीक्षा) के आधार पर किया जाता था।

सेनाछात्रों को भारतीय सैन्य-अकादेमी, देहरादून में प्रशिक्षण दिया जाता था और हर छमाही में भारतीय सेना में तीस रिक्त-स्थान रहते थे। इनमें से केवल पन्द्रह स्थान खुली स्पर्धा द्वारा भरे जाते थे, शेष पन्द्रह भारतीय सेना के सेना-छात्रों के लिए आरक्षित रहते थे, जो उन वायसराय कमीशन प्राप्त अफसरों और अन्य पदधारियों में से चुने जाते थे, जो किचनर कालेज, नौगांव में दो साल का पाठ्यक्रम पूरा कर चुके होते थे। किचनर कालेज में भी हर

साल जुलाई और दिसम्बर में दो बार तीस-तीस उम्मीदवार लिये जाते थे।

अकादेमी में दस स्थान हर छमाही में देशी रियासती सेनाओ के सम्भाव्य अधिकारियो के प्रशिक्षण के लिए रखे जाते थे।

पन्द्रह खुले स्थानो के लिए स्पर्धा परीक्षा सामान्यत हर साल मार्च और अक्टूबर मे फेडरल लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली जाती थी। उम्मीदवार को अपने जनकों के निवास के जिले के जिलाधीश ; उपायुक्त के जरिये अपना आवेदन भेजना होता था। आयुसीमा १८ और २० साल थी और परीक्षा शुल्क ५० रुपये तथा आवेदन पत्र का शुल्क साढे सात रुपये अलग। परीक्षा केवल दिल्ली में होती और इटरव्यू और अभिलेख के अलावा, जिसके लिए ५०० अंक होते थे, ९०० अंको के चार अनिवार्य विषय होते थे, और तीन वैकल्पिक विषय, जिनका योग ८०० अक तक का होना था। इंटरव्यू और अभिलेख परिक्षा एक बोर्ड द्वारा ली जाती थी, जिसके अध्यक्ष फेडरल लोक-सेवा-आयोग के एक सदस्य होते थे। दो सदस्य कमाडर-इन-चीफ द्वारा नामित दो भारतीय सेना के अधिकारी होते थे और दो गैर सरकारी भद्रजन होते थे, जिनमे से एक का नामन भारत सरकार करती थी और दूसरे का कमाडर-इन-चीफ। भारतीय सैन्य-अकादेमी में नियुक्ति के लिए पात्र बनने के लिए एक उम्मीदवार को इटरव्यू और अभिलेख मे कम से कम १७५ अक प्राप्त करने होते थे और सब विषयो मे मिलाकर ११००, अर्थात् लिखित और मौखिक सभी परीक्षाओ के कुल योग मे से ५० प्रतिशत से कम कदापि नही।

वर्ष मे दो सत्र होते थे और अनुशिक्षण पाठ्यक्रम २½ वर्ष तक चलता था। भारतीय सैन्य-अकादेमी में भारतीय सेना के सेना-छात्रो के अलावा अन्य सेना-छात्रो द्वारा देय शुल्क पहले दो सत्रो मे से प्रत्येक में ८०० रुपये होता था और फिर ७५० रुपये प्रति सत्र अथवा पूरे पाठ्यक्रम के लिए ३८५० रुपये। इस रकम मे ट्यूशन, आवास, भोजन, अकादेमी के भृत्य, शुरू मे वरदी का प्रदान, शिक्षा-भण्डार, खेलकूद, चिकित्सा आदि और प्रति मास २० रुपये का जेबखर्च (दीर्घावकाश को छोड) शामिल रहता था। अकादेमी में हर सत्र मे दो किंग एम्परर सैन्य-छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती थी। इसमें किंग कमीशन प्राप्त अधिकारियो या वायसराय कमीशन प्राप्त अधिकारियो या असैनिक राजपत्रित अधिकारियो के लडके लिए जाते थे।

भारतीय सैन्य-अकादेमी मे प्रवेश प्राप्त करने वाले भारतीय सेना के सेना-छात्रो को ६० रुपये प्रतिमास का समेकित वेतन, या वायसराय कमीशन प्राप्त अधिकारियो को उस उच्चतर दर से वेतन मिलता था, जो उन्हे अपनी यूनिट में ही बने रहने पर मिलता। अकादेमी में उनसे कोई फीस न ली जाती थी। अकादेमी उनके लिए वस्त्रो, वरदी और उपकरण के लिए भी व्यवस्था करती थी।

इस तरह भारतीय सैन्य-अकादेमी के एक सेना-छात्र के पिता को लगभग ४००० रुपये प्रतिवर्ष व्यय करना पडता था। पर कुछ छात्रवृत्तियाँ उपलब्ध थी, जो बम्बई, सयुक्त प्रान्त, मद्रास, मध्यप्रान्त और बिहार की सरकारें प्रदान करती थीं।

अकादेमी कमाडर-इन-चीफ के सीधे नियन्त्रण मे थी। भारतीय सैन्य-अकादेमी का

पाठ्यक्रम इस तरह बनाया गया था कि (क) सेना-छात्र में नेतृत्व, अनुशासन और शारीरिक समर्थता का विकास किया जा सके और उसमें कर्तव्य और सम्मान की उच्च भावना भरी जा सके और उसे राज्य के सेवक की जिम्मेवारियों का ज्ञान हो सके, (ख) यह आश्वस्त किया जा सके जब सेना-छात्र अपनी यूनिट में जाय तो वह प्लाटून कमांडर के अत्यावश्यक कर्तव्यों का निर्वहन कर सके।

नौसेना के लिए कमीशन-प्राप्त अधिकारी

नौसेना की एक्जीक्यूटिव और इंजीनियरी शाखाओं के उम्मीदवारों की भरती-परीक्षा दिल्ली में भारतीय सैन्य-अकादमी की परीक्षा के साथ-साथ होती थी। आयु सीमा १७½ और १९½ वर्ष थी। सेना के अधिकारियों के संवर्ग में एक तिहाई रिक्त स्थान भारतीयों के लिए आरक्षित थे। वार्षिक भरती स्वभावत बहुत कम थी, क्योंकि समुद्रगामी शाखा के लिए स्वीकृत अधिकार स्थापना की संख्या ही कम थी। उदाहरण के लिए १९४० में स्वीकृत, स्थापना, एक्जीक्यूटिव शाखा के लिए केवल ७७ और इंजीनियरी शाखा के लिए केवल ३७ थी। कुल मिलाकर इस छोटी-सी स्थापना में स्थायी स्थान तो सेवानिवृत्ति आदि के बाद ही सामान्यत खाली होते थे। फिर जिस किसी वर्ष में भारतीयों के लिए एक से ज्यादा रिक्त स्थान होता था, तो उनमें से कम से कम एक स्थान भारत सरकार के विवेकानुसार भारतीय वाणिज्य समुद्री-प्रशिक्षण-पोत, डफरिन, के कैडेटों के लिए आरक्षित रहता था। यदि दोनों शाखाओं में साथ-साथ मिलकर केवल एक ही स्थान रिक्त होता था, तो सरकार यह फैसला करती थी कि इसके लिए खुली स्पर्धा की जाय या वह डफरिन के कैडेटों तक ही सीमित रहे। नौसेना के परीक्षा-नियम भारतीय सैन्य-अकादेमी जैसे ही थे, पर नौसेना के उम्मीदवारों द्वारा लिये जाने वाले अनिवार्य विषय कुछ भिन्न थे और विज्ञान-विषयों पर ज्यादा आग्रह रहता था। उम्मीदवार, परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर ही, योग्यतानुसार चुने जाते थे लेकिन कोई भी उम्मीदवार तब तक नहीं चुना जा सकता था जब तक वह साक्षात्कार और लिखित परीक्षा में अलग-अलग, कम से कम ३५ प्रतिशत अंक प्राप्त न कर ले और कुल योग के ५० प्रतिशत।

यूरोपीय उम्मीदवारों की भरती के लिए एक परीक्षा लन्दन में भी होती थी। यह परीक्षा तीनों सेनाओं के लिए संयुक्त थी। डफरिन के कैडेटों के लिए फेडरल लोक-सेवा-आयोग एक विशेष परीक्षा लेता था।

सभी उम्मीदवार, चाहे भारत में चुने गये हों या इंगलैंड में, यूनाइटेड किंगडम की ही नौसेना स्थापनाओं में प्रशिक्षित होते थे। यह शिक्षण उम्मीदवार के जनक या अभिभावक के लिए बड़ा खर्चीला बैठता था, जिसे यू० के० में प्रशिक्षण के खर्च के लिए २६० पौंड (लगभग ३५००० रुपये) जमा करने होते थे। इन उम्मीदवारों का यू० के० में प्रशिक्षण भारत सरकार के लिए भी खर्चीला बैठता था, जिसे १२६८ पौंड ५ शिलिंग (जिसमें एडमिरलटी प्रशिक्षण-व्यय के ४६० पौंड शामिल थे) एक एग्जीक्यूटिव अधिकारी के लिए, और २२६१ पौंड ८ शिलिंग (एडमिरलटी प्रशिक्षण-व्यय के १३८५ पौंड शामिल करके) एक इंजीनियर अधिकारी के लिए देने पड़ते थे।
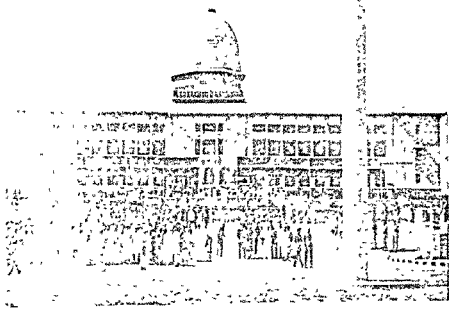
राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खडकवासला का प्रशासनिक ब्लाक

अकादमी का विज्ञान ब्लाक (आगे की ओर)
दायें कोने में प्रशासनिक ब्लाक है
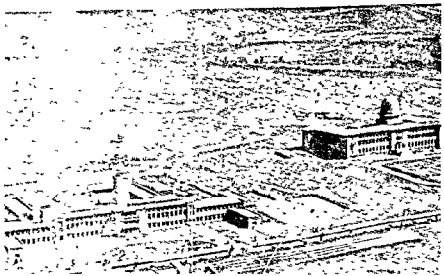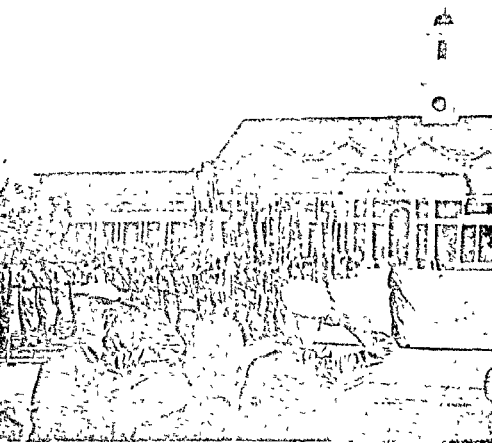
भारतीय सैन्य अकादमी, देहरादून का प्रशासनिक ब्लाक

अप्रैल, १९४७ में (जब अन्तरिम सरकार केन्द्र में पदारूढ़ थी), जनक के प्रशिक्षण व्यय का अंश घटाकर ११६ पौंड कर दिया गया। साथ ही जनक को यह रकम अब पेशगी न जमा करनी होती थी, जैसी कि पहले व्यवस्था थी, बल्कि वे सीधे भुगतान की व्यवस्था कर सकते थे। बाद में जुलाई, १९४७ में रॉयल इंडियन नेवी के कमीशन-प्राप्त अधिकारियों की भरती के लिए फैडरल लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षा की फीस भी ५० रुपये से घटाकर ३० रुपये कर दी गयी। यह परीक्षा, आयोग द्वारा, जनवरी, १९४६ तक वर्ष में तीन बार ली जाती रही और आयुसीमा १७½ से १९½ रही। जून, १९४२ के बाद यह परीक्षा एक वर्ष के लिए रोक दी गयी।

भारतीय वायुसेना में अधिकारियों की भरती

भारतीय सैन्य-अकादेमी की प्रवेश-परीक्षा, भारतीय वायुसेना में कमीशन दिये जाने से पहले, रायल एयर फोर्स कालेज, क्रानवेल के लिए संयुक्त रूप से ली जाती थी। पर परीक्षा-योजना थोड़ी-सी भिन्न थी। परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उम्मीदवार को एक सवारी के रूप में सैन्य-विमान में एक व्यावहारिक उड़ान-परीक्षण देना होता था। फिर अन्तिम रूप से चुने गये उम्मीदवार ही आर० ए० एफ० कालेज, क्रानवेल में उड़ान-प्रशिक्षण के लिए भरती किये जाते थे, जिसे सफलतापूर्वक पूरा करने के बाद उनको वायुसेना में कमीशन मिलता था। क्रानवाल में प्रशिक्षण-अवधि लगभग दो साल थी। पाठ्यक्रम के लिए कुल अनुमानित व्यय ५८० पौंड ८ शिलिंग था, जिसके लिए कैडेट के जनक या अभिभावक को पेशगी ३६० पौंड ८ शिलिंग की रकम (लगभग ४८०० रुपये) भेजनी होती थी और शेष २२० पौंड का योगदान सरकार देती थी। भारतीय कैडेटों की पहली टुकड़ी का प्रशिक्षण क्रानवेल में ४ सितम्बर, १९३० को शुरू हुआ और अन्तिम टुकड़ी का सितम्बर, १९३८ में।

युद्धकाल में अधिकारियों का चुनाव

युद्ध छिड़ने के बाद सेना और वायुसेना में स्थायी कमीशनों का दिया जाना रोक दिया गया और आपात कमीशन देने की पद्धति शुरू की गयी। १९४१ में भारतीय सैन्य-अकादमी एक अधिकारी प्रशिक्षण-स्कूल के रूप में बदल दी गयी और उसकी क्षमता बढ़ाकर, उसमें ११०० कैडेटों को प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था कर दी गयी। पर भारतीय नौसेना के कमीशन वाले ओहदों के स्थायी संवर्ग में भरती के लिए स्पर्धा-परीक्षा युद्धकाल में सीमित पैमाने पर चलती रही। युद्धकाल में, रॉयल भारतीय नौसेना की बढ़ती हुई जरूरतों को देखते हुए, रॉयल भारतीय नौसेना रक्षिति में (जो समुद्रगामी अनुभव वालों के लिए थी) और रायल भारतीय नौसेना स्वयंसेवक रक्षिति (जो समुद्रगामी अनुभव न रखने वालों के लिए थी) में अस्थायी कमीशन प्रदान किये गये।

युद्धकाल में अफसरों के चयन के लिए, १९४२ के आरम्भ तक, प्रत्येक सेना का अपना-अपना साक्षात्कार-बोर्ड था, पर १९४२ में तीनों सेनाओं में अधिकारियों की भरती को एकीकृत किया गया और यह काम सेना मुख्यालय की एडजुटेंट-जनरल की शाखा द्वारा किया जाने

लगा। इस एकीकरण के बाद स्थूलरूप से आपात आयोग के लिए उम्मीदवारों का चुनाव दो प्रक्रमों में किया जाता था . (क) प्रादेशिक चयन-बोर्ड द्वारा आरम्भिक चयन और (ख) केन्द्रीय साक्षात्कार-बोर्डों द्वारा अन्तिम चयन। इनकी संख्या तीन थी, एक उत्तर, एक दक्षिण और एक केन्द्रीय भारत के लिए। केन्द्रीय साक्षात्कार-बोर्डों में सामान्यत एक वरिष्ठ असैनिक अध्यक्ष होता था, एक वरिष्ठ सैन्य अधिकारी उपाध्यक्ष और दो सहयोजित स्थानीय असैनिक सदस्य होते थे। प्रादेशिक बोर्डों द्वारा अपनायी गयी चयन-रीति एकरूप न थी।

यू० के० में भी चयन की रीति यही थी, पर इसकी बहुत आलोचना हुई थी। यह माना गया था कि एक सक्षिप्त-सा साक्षात्कार एक अधिकारी बनने के लिए, किसी व्यक्ति की उपयुक्तता का परीक्षण करने के लिए, सर्वथा अपर्याप्त है। एकरूप मानक प्राप्त करना असम्भव है, क्योंकि साक्षात्कार की व्यक्तिक समरसता का बडा हाथ रहता है. यह भी देखा गया कि वैयक्तिक साक्षात्कार में चुने गये उम्मीदवारों का बडा अंश अधिकारी प्रशिक्षण-स्कूल कमीशन के लिए सफल नहीं हो पाता। फलस्वरूप १९४१ के उत्तरार्द्ध में यूनाइटेड किंगडम में साक्षात्कार की एक नयी पद्धति विकसित की गयी, जो नेतृत्व, सहज-बुद्धि और शक्ति आदि विभिन्न गुणों का परीक्षण ज्यादा सन्तोषपूर्वक करने योग्य मानी गयी। नयी पद्धति वैज्ञानिक रीतियों पर आधारित थी, जिसका समर्थन मनोवैज्ञानिक तथा अन्य व्यक्ति बहुत समय से करते चले आ रहे थे।

भारत में भी चुनाव की चालू पद्धति के बारे में बहुत शिकायतें थीं। १९४३ में काफी विमर्श के बाद यह तय किया गया कि यू० के० में अपनायी गयी नयी तकनीक प्रायोगिक रूप में लागू करने के लिए एक अलग चयन-बोर्ड बनाया जाय। नयी पद्धति में शारीरिक, बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षण लिये जाते थे। यह साधारणत. ज्यादा उपादेय माना गया। तदनुसार इसे भारत के सभी कैडेटों के चयन के लिए उपयुक्त माना गया और केन्द्रीय साक्षात्कार-बोर्ड समाप्त कर दिये गये। पर भारत में इस नयी पद्धति को लागू करने से भारतीय उम्मीदवारों के चयन की समस्या का वैज्ञानिक अन्वेषण करना जरूरी हो गया। भारतीय स्थितियों के अनुरूप इस परीक्षण की मान्यता फिर से सिद्ध की जानी थी और तदनुसार पुन मानक स्थापित किये जाने थे

जैसे-जैसे जरूरत बढती गयी, नये प्रकार के चयन-बोर्डों की संख्या भी बढ़ती गयी, लेकिन चयन-प्रक्रिया मूलत वैसी ही बनी रही। जो भी परिवर्तन आया वह यही था कि १९४५ में प्रान्तीय चयन-बोर्ड खत्म कर दिये गये और आरम्भिक चयन की एक नयी पद्धति शुरू की गयी। यही चयन-पद्धति भारत के आजाद होने के समय विद्यमान चली आ रही थी। युद्ध के बाद पहला शान्तिकालीन पाठ्यक्रम भारतीय सैन्य-अकादेमी में १९४५ में शुरू किया गया।

राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी की स्थापना

स्वाधीन भारत में सशस्त्र सेनाओं में, अधिकारियों की भरती और उनके आरम्भिक प्रशिक्षण के साथ, पूना के पास खड़कवासला में स्थित, राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी बहुत निकट से

सम्बद्ध है। अकादेमी की स्थापना, आजादी के बाद भारतीय सशस्त्र सेनाओं के इतिहास में, एक बहुत महत्व की घटना है।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के चरणों में ही भारत सरकार ने एक उपयुक्त भारतीय राष्ट्रीय-युद्ध-स्मारक बनाने की बात पर विचार किया था। २ मई, १९४५ को निकाली गयी एक प्रेस विज्ञप्ति में भारत सरकार ने घोषणा की कि वह रॉयल भारतीय नौसेना, भारतीय थलसेना, और रॉयल भारतीय वायुसेना के सभी भावी अधिकारियों को शिक्षा और बुनियादी प्रशिक्षण देने के लिए, प्रस्तावित राष्ट्रीय-युद्ध-स्मारक के सर्वाधिक उपयुक्त रूप में, वेस्ट प्वाइंट स्थित संयुक्त राज्य अमेरिका की सैन्य अकादेमी की तरह की (जहाँ नियमित सेना के अफसर सेना-छात्रों को प्रशिक्षण दिया जाता है), एक सैन्य-अकादेमी स्थापित करना चाहती है।

इस निर्णय के अनुसरण में, सरकार ने प्रस्तावित अकादमी की योजना तैयार करने के लिए, जिसमें इस तरह के मामलों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय कि अकादेमी का नाम क्या हो, कहाँ पर बनायी जाय, उसका आकार क्या हो, प्रवेश की आयु और रीति क्या हो, पाठ्य-क्रम की अवधि और पाठ्य विवरण क्या हो और क्या अकादेमी को अनुपोषित करने के लिए कोई विशेष शिक्षा संस्थायें स्थापित की जायें, एक समिति बनाई।*

इस समिति की एक उपसमिति सं० रा० अमेरिका, कनाडा और यू० के० को उन देशों की सेना-छात्र-प्रशिक्षण-संस्थाओं की कार्यप्रणाली देखने के लिए गयी। उपसमिति से कहा गया था कि वह खासकर इन संस्थाओं के विनियम, पाठ्य-विवरण, प्रशिक्षण-रीतियों और स्थापना का अध्ययन करे।

समिति ने अपना प्रतिवेदन दिसम्बर, १९४६ के अन्त में प्रस्तुत किया। इसकी मुख्य सिफारिशें ये थी - (क) तीनों सेनाओं में (चिकित्सा को छोड़ कर) कमीशन प्राप्त करने के हेतु शिक्षा और बुनियादी प्रशिक्षण की एक अकादेमी होनी चाहिये, जिसे राष्ट्रीय-युद्ध-अकादेमी कहा जाय, (ख) अकादेमी पूना के पास खडकवासला में स्थापित की जाय और इसमें प्रवेश का आधार एकमात्र योग्यता हो, (ग) १६ से १९ साल तक के उम्मीदवार, जिनके पास मैट्रिक या समकक्ष शैक्षिक योग्यता हो, प्रवेश के पात्र माने जायें और चयन एक योग्यता-परीक्षण और उसके बाद एक चयन-बोर्ड द्वारा साक्षात्कार के बाद, किया जाय (घ) इस अकादेमी में छात्र-सैनिकों के लिए ट्यूशन, वस्त्र और भोजन नि:शुल्क रहें पर उनको कोई अतिरिक्त मासिक वेतन न दिया जाय (ङ) अकादेमी में शिक्षण-पाठ्यक्रम की अवधि चार साल हो, जिसके अन्त में

---

* कमांडर-इन-चीफ इस समिति के सभापति थे और ये सदस्य थे : सामान्य स्टाफ-प्रमुख, फ्लैग अफसर कमांडिंग, रॉयल भारतीय नौसेना, एयर अफसर कमांडिंग, सचिव-युद्ध-विभाग, भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार, सर मिर्जा मोहम्मद इस्माइल प्रधान मन्त्री जयपुर राज्य, रावबहादुर राव राजा नरपत सिंह, जोधपुर, डा० अमरनाथ झा कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, खान बहादुर मियाँ अफजल हुसैन, भूतपूर्व कुलपति पंजाब विश्वविद्यालय, डब्ल्यु० एक्स० मैस्करेनहास, प्रिंसिपल इंजीनियरी कालेज पूना, और ए० ई० फूट, हेडमास्टर, दून स्कूल, देहरादून।

अकादेमी एक डिप्लोमा प्रदान करे, जिसे विश्वविद्यालयों से स्नातक उपाधि के समकक्ष मानने के लिए कहा जाय। आगामी सांविधानिक परिवर्तनों की दृष्टि में, सत्ता-हस्तान्तरण के समय तक, इस प्रतिवेदन पर विचार करने में कोई विशेष प्रगति न हुई।

१५ अगस्त के तुरन्त बाद भारत सरकार ने समिति की सिफारिशों पर विचार किया और खासकर यह देखा गया कि क्या बदली परिस्थितियों में कोई परिवर्तन तो जरूरी नहीं है।

फरवरी, १९४८ में यह फैसला किया गया कि एक संयुक्त अकादेमी खड़कवासला में स्थापित की जाय, जहाँ तीनों ही सेनाओं के सेनाछात्र प्रशिक्षण प्राप्त करें। अन्त सेना-पाठ्यक्रम की अवधि तीन साल रखी गयी। प्रवेश की आयु प्रायोगिक रूप में १५ से १७ साल रखी गयी, जिस पर अनुभव के अनुसार फिर विचार कर लिया जाय। नौसेना अधिकारियों ने इस बात पर जोर दिया कि सेनाछात्र ज्यादा से ज्यादा १८ साल की आयु में समुद्र पर ले जाये जायें और वायुसेना के अधिकारी चाहते थे कि सेनाछात्र किसी स्क्वेड्रन में पूरे-पूरे पाइलट लगभग २१ साल की आयु में बन जायें। इसलिए आयु-सीमा १५ और १७ साल रखी गयी (यह आयु सीमा बाद में १९५३ में १७½ साल तक बढ़ा दी गयी)। साथ ही नौसेना के सेनाछात्रों को १५ साल की आयु में ही प्रवेश पाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय, ऐसा तय किया गया। तीन साल के संयुक्त पाठ्यक्रम के बाद नौसेना और वायुसेना के सेनाछात्र अपनी-अपनी सेना की स्थापनाओं में विशेषीकृत प्रशिक्षण पाने के लिए अकादेमी से चले जायेंगे, जबकि सेना के सेनाछात्र, उच्च प्रशिक्षण के लिए, एक साल और रहेंगे।

खड़कवासला में नये भवन बनने में देर लगती। इसलिए यह निश्चय किया गया कि भारतीय सैन्य-अकादेमी, देहरादून में, जनवरी, १९४९ से, प्रयोगात्मक आधार पर, एक अन्त सेना स्कन्ध खोला जाय। १ जनवरी १९४९ से इसके दो स्कन्ध रहे, नामत सेना-स्कन्ध, जिसमें उस समय विद्यमान भारतीय सैन्य अकादेमी आती थी और दूसरा नवस्थापित अन्त सेना-स्कन्ध, जिसमें सभी सेनाओं के सेनाछात्र दो साल की अवधि तक संयुक्त प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले थे। आरम्भिक संयुक्त प्रशिक्षण के बाद, सेना के सेनाछात्र दो साल और सेना-स्कन्ध में आगे प्रशिक्षण के लिए, बने रहने को थे, जब कि नौसेना और वायुसेना के सेनाछात्र अपनी-अपनी प्रशिक्षण संस्थाओं में और आगे प्रशिक्षण के लिए जाने वाले थे। पहले कुछ वर्षों में, जब तक भारत में प्रशिक्षण सुविधायें स्थापित की जातीं, संयुक्त सेना-स्कन्ध का दो साल का पाठ्यक्रम पूरा करके, नौसेना-छात्र, ४ से ६ साल तक के और आगे के प्रशिक्षण के लिए, यू० के० को भेजे गये। भारतीय-सैन्य-अकादमी का नाम बदल कर सशस्त्र सेना-अकादेमी कर दिया गया।

अन्त सेना-स्कन्ध में प्रवेश के लिए आवेदन करने वाले उम्मीदवारों को पहले मैट्रिक स्तर की एक परीक्षा देनी होती थी, जो फेडरल (अब संघीय) लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली जाती थी। जो उम्मीदवार लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते थे, उनको एक सेना-चयन-बोर्ड के सामने साक्षात्कार के लिए उपस्थित होना पड़ता था, जो भारत सरकार से, अकादेमी में प्रवेश के लिए, उम्मीदवारों के अन्तिम चयन की सिफारिश करता था।

पहले, पाठ्यक्रम (जो जनवरी, १९४९ में शुरू होना था) की योग्यता की परीक्षा करने के लिए और जरूरी व्यवस्था के लिए कम समय उपलब्ध होने की दृष्टि में आरम्भिक चुनाव

सब-एरिया मुख्यालय में एक साक्षात्कार में किया गया। सब एरिया मुख्यालय द्वारा सिफारिश किये गये उम्मीदवार साक्षात्कार के लिए सेना-चयन-बोर्ड द्वारा बुलाये गये। दूसरे और अगले पाठ्यक्रमों के लिए विहित योग्यता-परीक्षा संघीय लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली गयी।

जैसा पहले बताया जा चुका है, द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले भारतीय सैन्य-अकादेमी में सेनाछात्रों को अपने प्रशिक्षण का सारा खर्च देना पड़ता था। १९३९ के अन्त की ओर जब युद्ध शुरू हुआ, सिविलियन सेनाछात्रों को अकादेमी में प्रवेश दिया गया। उनको ट्यूशन, वस्त्र और भोजन आदि के लिए कुछ न देना पड़ता था। साथ ही उनको लगभग ५ रुपये प्रति दिन मिलते थे। जुलाई, १९४६ में सेनाछात्रों को दिया जाने वाला भत्ता बढ़ाकर २१० रुपये प्रति मास कर दिया गया। कुछ आवश्यक खर्च करने के बाद सेनाछात्रों के पास लगभग १५० रुपये बच जाते थे। बदली हुई परिस्थिति में सभी सेनाछात्रों के लिए दर १ अप्रैल, १९४८ से ७५ रुपये प्रतिमास कर दी गयी। इसी सादृश्य पर यह तय किया गया कि प्रायोगिक अन्त:सेना-स्कन्ध के सेनाछात्रों को भी नि:शुल्क ट्यूशन, वस्त्र, भोजन आदि दिये जायें और कुछ अधिकृत मदों पर व्यय करने के लिए ७५ रुपये मासिक भत्ता दिया जाय। १ जनवरी, १९५० से सारा प्रशिक्षण-खर्च सरकार द्वारा दिये जाने के कारण, यह भत्ता खत्म कर दिया गया। भत्ते के एवज में हर सेनाछात्र के हिसाब में २० रुपये मासिक की रकम कमांडेंट के पास रख दी जाती थी, ताकि निधियों के लिए चन्दा आदि, जैसे सेनाछात्रों के बाध्यकर खर्च, पूरे किये जा सकें। साथ ही खिदमतगार की अशकालिक सेवा भी उपलब्ध की जाती थी, पर सेनाछात्रों के लिए जरूरी जेबखर्च जनक या अभिभावक को पूरा करना होता था। सरकार ने बाद में ऐसे सेना-छात्रों के लिए ३० रुपये प्रति मास तक की वित्तीय सहायता देना शुरू कर दिया, जिनके जनक या अभिभावक की आय ३०० रुपये मासिक से कम होती थी। नौसेना के लिये चुने गये सेनाछात्रों के जनक या अभिभावक को एक घोषणा पर हस्ताक्षर करना होता था कि वह इस स्थिति में हैं कि अन्त:सेना-स्कन्ध में उम्मीदवार का प्रारम्भिक प्रशिक्षण पूरा होने के बाद, आगे यू० के० में प्रशिक्षण के लिए उसका वित्तीय दायित्व पूरा कर सकेंगे और ऐसा करने के लिए तैयार हैं। इस तरह जनवरी, १९४९ में सशस्त्र सेना-अकादेमी में, संयुक्त सेना-स्कन्ध के उद्घाटन के बाद, नौसेना के लिए अधिकारियों के चयन के वास्ते तीन मार्ग थे, अर्थात् संयुक्त सेना-स्कन्ध, फेडरल लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली गयी परीक्षा द्वारा विशेष प्रवेश और भारतीय वाणिज्य-समुद्री-प्रशिक्षण-पोत, डफरिन, के कैडेटों में से हर साल एक विशेष परीक्षा द्वारा चयन।

संघीय-लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली जाने वाली प्रारम्भिक परीक्षा में कुल मिला कर ५० प्रतिशत से ऊपर अंक पाने वाले छात्रों को ही एक चयन-बोर्ड के सम्मुख उपस्थित होने के लिए बुलाया जाता। दूसरे और तीसरे पाठ्यक्रमों के लिए अन्तिम चुनाव केवल सेना-चयन-बोर्ड की सिफारिश पर ही आधारित था। उसके बाद अन्तिम नतीजा तैयार करने में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया, जिसका उल्लेख इस अध्याय के अन्त में किया गया है।

प्रायोगिक अन्त:सेना-अकादेमी में दो साल का समान पाठ्यक्रम तैयार करने और खड़कवासला में प्रस्तावित अकादेमी का तीन साल का पाठ्यविवरण संशोधित करने के लिए

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति डा० अमरनाथ झा के सभापतित्व में मई, १९४८ में एक समिति नियुक्त की गयी।

देहरादून में अन्त-सेना-स्कन्ध शुरू करने का तात्पर्य यह था कि जनवरी, १९५१ से फिर आगे और सीधी भरती न होगी, जबकि अन्त-सेना-स्कन्ध में अपना दो साल का प्रशिक्षण पूरा कर चुकने वाली सेनाछात्रों की पहली टुकड़ी उपलब्ध हो जायेगी। लेकिन इन सेनाछात्रों की संख्या अपर्याप्त रही और सेना-स्कन्ध में सीधी भरती जनवरी, १९५१ के बाद भी चालू रखनी पड़ी। कुंजरू-समिति की सिफारिश पर (बाद में उल्लिखित) यह तय किया गया कि सीधे प्रवेश की यह रीति चालू रहनी चाहिये, ताकि सेना में उच्चतर वयोवर्ग और अधिक शैक्षिक योग्यता वाले, और इस कारण भिन्न पृष्ठभूमि और अनुभव वाले, अधिकारी भी आते रहेंगे।

१ जनवरी, १९५० में सशस्त्र सेना अकादेमी का नाम राष्ट्रीय-रक्षा-अकादेमी कर दिया गया और अन्त-सेना-स्कन्ध का नाम संयुक्त-सेना-स्कन्ध। सेना-स्कन्ध का नाम वही बना रहा।

इस बीच खडकवासला में राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी का अपना स्थायी भवन बनाने के लिए तेजी से कदम उठाये गये। ६ अक्टूबर, १९४९ को प्रधान मन्त्री ने आधार-शिला रखी और फिर निर्माण कार्य तेजी से आगे बढा। इस प्रयोजन के लिए बम्बई सरकार ने उदारतापूर्वक ६,६७६ एकड जमीन प्रदान की। जमीन की कीमत के अलावा प्रयोजन के पूँजी व्यय का अनुमान ६ ५ करोड रुपये था। अकादेमी की योजना इस प्रकार बनी थी कि ५०० सेनाछात्र प्रतिवर्ष (२५० प्रति छमाही पर शुरू होने वाले प्रत्येक पाठ्यक्रम के लिए) लिये जा सकें और इस तरह एक समय में कुल १५०० सेनाछात्र रह सकें। प्रयोजना के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिए दो समितियाँ बनायी गयी एक पर्यवेक्षण-बोर्ड और दूसरी निर्माण-समिति।* पर्यवेक्षण-बोर्ड का काम अकादेमी सम्बन्धी प्रमुख नीति प्रश्नों से था, जबकि निर्माण समिति का सम्बन्ध अकादेमी के वस्तुत निर्माण तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं से था। निर्माण का खर्च रक्षा-सेनाओं के अनुमानों से पूरा किया जाता था, पर दान के लिए किये गये अनुरोध के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों और नरेशों से ५१ लाख रुपये दान में प्राप्त हुए, जिसके फलस्वरूप [अ]कादेमी के विभिन्न ब्लाकों के नाम दानदाताओं के नाम से रखने का निश्चय किया गया।

खडकवासला में अकादेमी का कार्यकलाप चलाने के लिए अत्यावश्यक इमारतें १९५४ [के अ]न्त तक पूरी हो गयी। खडकवासला में शुरू होने वाला पहला पाठ्यक्रम, जो संयुक्त-सेना-स्कन्ध का तेहरवाँ पाठ्यक्रम था, १० जनवरी, १९५५ को शुरू हुआ। नये भवनों का औपचारिक उद्घाटन १६ जनवरी, १९५५ को बम्बई के मुख्य मन्त्री द्वारा किया गया। अकादेमी

* दोनों ही समितियों के अध्यक्ष रक्षा-सचिव थे, और वित्तीय-सलाहकार, इंजीनियर-इन-चीफ और राष्ट्रीय-रक्षा-अकादेमी परियोजना के इंजीनियर उसके सदस्य थे। इसके अलावा पर्यवेक्षण-बोर्ड में तीनों सेनाओं के प्रमुख और भारत सरकार के मुख्य वास्तुकार सदस्य थे। निर्माण समिति में केन्द्रीय लोक-निर्माण-विभाग के अतिरिक्त-मुख्य-इंजीनियर भी सदस्य थे।

पूना से प्राय दस मील दूर मूठा नदी के बायें किनारे पर बनी हुई है। यह खडकवासला झील से नदी के किनारे-किनारे नीचे की ओर दो मील तक फैली हुई है और पूरा क्षेत्र लगभग दस वर्ग मील है। अकादेमी के कमाडेंट का ओहदा मेजर जनरल या समकक्ष अधिकारी का होता है और इस पर तीनो सेनाओ के अधिकारी क्रमवार रहते है। उसके स्टाफ के अधिकारी भी तीनो सेनाओ मे आते है।

जैसा पहले बताया जा चुका है, सेनाछात्रो के सभी खर्च सरकार द्वारा दिये जाते है, केवल जेबखर्च को छोडकर, जो पहले दो सालो मे लगभग ३० रुपये मासिक और तीसरे साल मे ४० रुपये मासिक आता है। जिन मामलो में जनक की आय ३०० रुपये मासिक से कम होती है, उन में सरकार यथास्थिति ३० या ४० रुपये प्रतिमास की वित्तीय सहायता दे देती है। जुलाई, १९६४ मे आय सीमा एक बच्चे के लिए ३५० रुपये मासिक, और अगर किसी जनक या अभिभावक के एक से ज्यादा बच्चे सेनाछात्र प्रशिक्षण स्थापनाओ मे हो, तो ४०० रुपये कर दी गयी।

देहरादून के सयुक्त-सेना स्कन्ध के दो साल के पाठ्यक्रम को भारत के अधिकाश विश्वविद्यालयो ने आगे पाठ्यक्रमो मे प्रवेश के लिए इंटरमीडिएट स्तर के समकक्ष की मान्यता दे दी है, और सघीय लोक-सेवा-आयोग और गृह-मन्त्रालय ने केन्द्रीय सरकार के अधीन सेवाओ के लिए। यह इसलिए किया गया कि यदि कोई सेनाछात्र पढाई के विषयो मे कमजोरी के अलावा किसी अन्य कारण से हटाया जाय, तो इसमे उसके जीवन-कार्य पर अकादेमी मे प्रवेश लेने के कारण प्रभाव न पडे। ऐसी ही मान्यता राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी द्वारा दो साल के पाठ्यक्रम के बाद ली जाने वाली परीक्षा के लिए दे दी गयी।

राष्ट्रीय रक्षा अकादेमी का समान पाठ्यक्रम अब तीन साल का है। इस प्रशिक्षण को पूरा करने के बाद नौसेना और वायुसेना के सेनाछात्र, और आगे प्रशिक्षण के लिए, अपनी-अपनी सेना की स्थापनाओ मे चले जाते हैं और सेनाछात्र अपने प्रशिक्षण के चौथे साल मे देहरादून चले जाते है।

जनवरी १९५४ मे दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति डा० जी० एस० महाजन की अध्यक्षता मे एक तदर्थ समिति बनायी गयी, जिससे तीसरे साल के दौरान, अध्ययन के पाठ्य विवरण पर प्रतिवेदन देने को कहा गया। जो पाठ्य-विवरण सरकार ने अनुमोदित किया, वह इसी समिति की सिफारिश पर आधारित था।

अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड की स्थायी समिति ने उन सेनाछात्रो के प्रश्न पर विचार किया, जिनको पहले या तीसरे वर्ष के अन्त में, अध्ययन की कमी या अनुशासन-हीनता के अलावा, किसी अन्य कारण से अकादेमी छोडनी पड जाती थी और उससे यह सिफारिश की कि इन सेनाछात्रो को विश्वविद्यालयो में, उनकी शैक्षिक उपलब्धि के बारे मे उपयुक्त परीक्षण करके, उसके आधार पर प्रवेश दिया जाय। अनेक विश्वविद्यालयो ने अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड के इस प्रस्ताव को मान लिया है।

तीनो सेनाओ के सेनाछात्रो के प्रशिक्षण के लिए सयुक्त व्यवस्था एक अपूर्व प्रयोग है। इससे तीनो सेनाओ के सम्भाव्य अधिकारियो का परस्पर बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित हो

जाता है। यह अन्त -सेना-अन्तर्बोध और सहकार में बहुत सहायक होता है। इस तरह पैदा हो जाने वाली सहयोग-भावना आधुनिक सक्रिया में बहुत काम की होती है, जब तीनों सेनाओं को बहुत महत्वपूर्ण योगदान देना पड़ता है।

जनवरी १९५५ के बाद भी देहरादून का सैन्य विंग (जिसे बाद में सैन्य कालेज नाम दे दिया गया) सेनाछात्रों को दो साल का प्रशिक्षण देता रहा, जो एक स्पर्धा-परीक्षा द्वारा चुने जाते हैं और उसके बाद सेना में सीधे कमीशन प्राप्त करने के लिए उनको एक चयन-बोर्ड का परीक्षण देना होता है। इन सेनाछात्रों के प्रशिक्षण के अलावा सैन्य कालेज (अब भारतीय सैन्य अकादेमी) में सेना में कमीशन देने से पहले एक साल का प्रशिक्षण तकनीकी स्नातकों को दिया जाता है।

चयन-रीति सम्बन्धी समिति

तीनों सेनाओं में अधिकारियों के चयन की पद्धति की अक्सर कुछ आलोचना की जाती रही थी। आरम्भिक चयन की पद्धति एकरूप न थी। सेना में हो, १९४८ में हो, सशस्त्र सेना-अकादेमी के सैन्य-स्कन्ध में प्रवेश के लिए, सब-एरिया बोर्ड आरम्भिक चयन करते थे, जबकि विशेष स्नातक पाठ्यक्रम या तकनीकी शाखाओं में संक्षिप्त सेवा-कमीशन देने के लिए ऐसा कोई आरम्भिक चयन नहीं किया जाता था। इन कमीशनों के लिए उम्मीदवारों की संख्या कम होने के कारण उनको सीधे ही चयन-बोर्ड के सामने आने दिया जाता था। नौसेना में संक्षिप्त सेवा कमीशनों के लिए सीधे प्रवेश वाले अधिकारियों का प्रारम्भिक चुनाव नौसेना मुख्यालय करता था और वायुसेना में प्रारम्भिक चयन पूर्णत वायुसेना भरती-अधिकारी ही करते थे।

सामान्य भावना यह थी कि इस चयन-पद्धति के कारण ऐसे बहुत से लोग अस्वीकृत हो जाते है, जो बड़े अच्छे अधिकारी बन सकते थे। इसलिए सरकार ने नवम्बर, १९४८ में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति स्थापित की।* इस बीच अन्त -सेना-स्कन्ध और सैन्य-स्कन्ध के उम्मीदवारों के प्रारम्भिक चुनाव के लिए एक योग्यता-परीक्षा लेने का निर्णय पहले ही किया जा चुका था।

समिति ने अपना प्रतिवेदन मार्च, १९४९ में प्रस्तुत किया। इसकी सिफारिशों में से सरकार द्वारा मानी गयी ज्यादा महत्व की सिफारिशें ये थीं —

(एक) सब एरिया या अन्य स्थानीय बोर्डों या भरती-अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले आरम्भिक चयन की जगह पर तीनों सेनाओं के लिए फेडरल लोक-सेवा-आयोग द्वारा

---

* इस समिति में ये लोग थे बी० बी० घोष, संयुक्त-सचिव, रक्षा-मन्त्रालय, अध्यक्ष और सदस्य थे कैप्टेन डब्ल्यू० आई० सैम्सटन, नौसेना शिक्षा निदेशक, नौसेना-मुख्यालय, ब्रिगेडियर सी० जे० एल० टर्नर, संगठन निदेशक सेना-मुख्यालय, ग्रुप कैप्टेन के० एल० सोंधी, कार्मिक निदेशक वायुसेना-मुख्यालय, डा० जी० एस० महाजनी, कुलपति राजपूताना वि० वि० और डा० सोहन लाल निदेशक मनोविज्ञान-निदेशालय, संयुक्त प्रान्त और बी० एम० भिंडे अवरसचिव, रक्षा मन्त्रालय इसके सचिव थे।

परीक्षा ली जानी चाहिये, लेकिन इंजीनियरी या तकनीकी शाखाओ के लिए अधिकारियों का चयन करते समय ऐसी परीक्षा आवश्यक नही है, और इन मामलों मे अपेक्षित योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को अन्तिम चयन-बोर्ड के सामने आ जाने देना चाहिए।

(दो) हालांकि चयन-बोर्डों द्वारा अपनायी गयी पद्धति के अनेक पहलुओ में सुधार अपेक्षित है, पर इसमे सन्देह नही कि केवल एक संक्षिप्त साक्षात्कार द्वारा या इसके पहले एक लिखित परीक्षा लेकर चयन करने की पुरानी परम्परागत पद्धति की तुलना मे कुल मिलाकर मनोवैज्ञानिक और मानस-परीक्षण पर आधारित चयन की नयी पद्धति निश्चय ही श्रेष्ठतर है। नयी पद्धति ने अधिकारी प्रशिक्षण-स्कूलो और सैन्य अकादेमी मे व्यर्थता को कम करने मे मदद दी है। लेकिन इस प्रणाली की एक महत्वपूर्ण कमी यह है कि इसमे किसी उम्मीदवार को अपने ज्ञान या शैक्षिक उपलब्धि के लिए कोई श्रेय नही मिल पाता, क्योकि अन्तिम चयन बोर्डों की सिफारिशो पर ही किया जाता है। फलस्वरूप शैक्षिक और अध्ययन वाली पृष्ठभूमि के महत्व को नकार दिया जाता है और कुछ सीमा तक समाजप्रियता और नेतृत्व जैसे गुणो के ऊपर अत्यधिक जोर दिया जाता है। इस बात को नही माना जाता कि ये गुण व्यक्ति विशेष मे समुचित रूप से प्रशिक्षित और अनुशासित होने के बाद भी विकसित हो सकते है। सशस्त्र सेनाओ में ऐसे अधिकारी भी चाहिये जो चिन्तन, लेखन और आयोजना बनाने मे भी समर्थ हो, अर्थात् जो अधिकारी उच्चतर आयोजना-निर्माण कार्य और स्टाफ के कर्त्तव्य निभा सकें। समिति ने सुझाव दिया कि लोक-सेवा-आयोग की प्रारम्भिक परीक्षा और चयन-बोर्डों के परीक्षणों को मिला दिया जाय यह ध्यान देना बड़ा रोचक है कि यू० के० मे, सैंडहर्स्ट के लिए चुने जाने वाले उम्मीदवारो को, केवल दो ही श्रेणियो में ग्रेड-बद्ध किया जाता है : उप-युक्त और अनुपयुक्त। जो उपयुक्त होते है, उनको असैनिक-सेना-आयुक्तो द्वारा ली गयी लिखित परीक्षा के ही आधार पर योग्यताक्रम मे रखा जाता है। रॉयल नौसेना के मामले मे परीक्षा-फल सयुक्त होता है—८०० अंक लिखित परीक्षा के लिए आवण्टित किये जाते है और ४०० चयन-बोर्डों के परीक्षणो के लिए। उम्मीदवारो को कुल प्राप्त अको के आधार पर योग्यता-क्रम में रखा जाता है। रायल वायुसेना मे भी अन्तिम चुनाव चयन-बोर्ड के परीक्षणो और लिखित परीक्षा में प्राप्त अंकों के सयुक्त प्रतिफलो पर आधारित होता है।

समिति ने सुझाव दिया कि भारत मे फेडरल लोक-सेवा-आयोग की परीक्षा और चयन-बोर्ड के परीक्षणो को बराबरी का गुरुत्व दिया जाना चाहिये। इसलिए चयन-बोर्डों को, उम्मीद-वारो का ग्रेड-निर्धारण न करके, उनको अंक प्रदान करने चाहिये। अन्त में ग्रेड-निर्धारण की जगह अंक देने की पद्धति नवम्बर, १९४९ से शुरू की गयी, जब अन्त-सेना-अनुसन्धान-संगठन ने, और आगे पडताल करके, इसकी व्यावहारिकता सिद्ध कर दी थी। तब तक चयन-बोर्ड ग्रेड-निर्धारण करते रहे, जिसको फेडरल लोक-सेवा-आयोग के परिणामो और चयन-बोर्डों के परीक्षणो को मिलाने के प्रयोजन से अकों में बदल दिया जाता था। सफल उम्मीदवारो को न्यूनतम अर्हकारी अंक प्रत्येक परीक्षण में प्राप्त करने होते थे। चयन बोर्डों द्वारा निर्धारण की रीति भी और ज्यादा यथातथ्य कर दी गयी। बोर्ड द्वारा अंकन के लिए अनेक गुणों को दर्शाने वाला एक दर-निर्धारण मान तैयार किया गया और जनवरी, १९५१ में लागू कर दिया गया।

(तीन) ऊपर उल्लिखित समिति ने एक अन्तः-सेना-अनुसन्धान-संगठन बनाये जाने की सिफारिश की। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय काम में आने वाले अधिकांश परीक्षण यू० के० में लिये गये थे और बहुत समय से इस्तेमाल में आ रहे थे। इनमें से कुछ परीक्षण भारतीय लड़कों के लिए उपयुक्त न थे और उनमें संशोधन करना जरूरी हो गया था। यह भी जरूरी था कि इन परिणामों के जरिए चुने गये उम्मीदवारों के वृत्यकरण का अनुगामी-अनुसन्धान किया जाय। परीक्षणों की मान्यता और परीक्षण सामग्री के गुणों का भी सांख्यिकीय अध्ययन करके देख-रेख रखना जरूरी था। तदनुसार, रक्षा-विज्ञान-संगठन के अंगस्वरूप, १९४९ में एक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान-स्कन्ध बनाया गया, जिसका उल्लेख एक अन्य अध्याय में किया गया है।

राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी (और नौसेना और वायुसेना की सवादी संस्थाओं) में प्रशिक्षण के लिए चुने गये सेनाछात्र सेवामुक्त किये जा सकते थे, यदि वे परीक्षण-काल में अधिकारियों जैसे गुण प्रदर्शित न करें। इस आधार पर कुछ उम्मीदवार निकाल दिये गये। फिर भी यह आश्वस्त करना जरूरी था कि प्रशिक्षण-काल के दौरान एक सेनाछात्र की सम्भाव्यताओं के निधारण में कोई त्रुटि तो न रह गयी थी। तदनुसार सरकार ने १४ नवम्बर, १९५३ को राज्य-सभा-सदस्य डा० हृदयनाथ कुँजरू के सभापतित्व में अधिकारी-सेनाछात्रों के अस्वीकृत किये जाने सम्बन्धी प्रश्न का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियुक्त की।*

समिति ने अपना प्रतिवेदन सरकार को ३० अप्रैल, १९५५ को सौंप दिया। समिति को सन्तोष था कि प्रशिक्षण-काल में सेनाछात्रों के निर्धारण की रीतियाँ तीनों सेनाओं में ठोस, न्यायसंगत और युक्तियुक्त हैं और सेनाछात्रों को अपने अभाव दूर करने के लिए और उनके अन्तर्निहित गुणों को विकसित करने के लिए पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध हैं। समिति ने कहा कि सेनाछात्रों के अस्वीकृत किये जाने की दर सेना और नौसेना में बहुत कम है, पर वायुसेना में कुछ ज्यादा है। वायुसेना में सेनाछात्रों की व्यर्थता को कम करने के लिए समिति ने सिफारिश की कि वायुसेना के उम्मीदवारों के अधिकारियों जैसे गुणों का परीक्षण सेना-चयन-बोर्ड द्वारा किये जाने से पहले, वायुसेना के उम्मीदवारों से पाइलट-रुझान-परीक्षण को उत्तीर्ण करने की अपेक्षा की जानी चाहिये। समिति का विचार था कि चयन की यह पद्धति, जिसमें संघीय लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली गयी परीक्षा और सेना-चयन बोर्ड द्वारा लिये गये परीक्षणों को समान महत्व दिया जाता है, उम्मीदवारों की बौद्धिक-क्षमता और अधिकारियों जैसे गुणों के निर्धारण के लिए समुचित अवसर प्रदान करती है, अतः इसे चालू रखा

---

* इस समिति के अन्य सदस्य थे : सरदार सुरजीत सिंह मजीठिया, उप-रक्षा-मन्त्री, डा० जी० एस० महाजनी, कुलपति दिल्ली वि० वि०, मेजर जनरल टी० महादेव सिंह, डी० एस० ओ०, एडजुटेंट जनरल, सेना-मुख्यालय, कैप्टेन बी० ए० सैमसन, इंडियन नेवी, कर्मिक प्रमुख, नौसेना-मुख्यालय, ग्रुप कैप्टेन ओ० पी० मेहरा, प्रशिक्षण निदेशक, वायु सेना-मुख्यालय, डा० सोहन लाल, मुख्य मनोवैज्ञानिक, रक्षा-मन्त्रालय, एच० सी० सरीन, आई० सी० एस० उपसचिव, रक्षा-मन्त्रालय (सदस्य-सचिव)।

जाना चाहिये। समिति ने यह भी सिफारिश की कि उम्मीदवारो की शारीरिक क्षमता और दृढ़ता के संख्यात्मक निर्धारण के लिए २०० अंक दिये जाने चाहिये और प्रत्येक उम्मीदवार को, लिखित परीक्षा और चयन-बोर्ड परीक्षणो की तरह, इसमे भी न्यूनतम अर्हकारी अक प्राप्त करने चाहिये। समिति ने देखा कि सैन्य कालेज, देहरादून मे १२ महीनो का राष्ट्रीय-सेना-छात्र दल का पाठ्यक्रम पूरा करने वाले सेनाछात्रो और दो साल तक वहाँ पर सीधे प्रवेश का पाठ्यक्रम पूरा करने वाले सेना-छात्रो के बीच अस्वीकृति-दरो में काफी असमानता है। इस असमानता को दूर करने के लिए समिति ने यह सिफारिश की कि राष्ट्रीय-सेनाछात्र-दल-पाठ्यक्रम प्रशिक्षण-काल १२ से बढ़ाकर १८ महीने कर दिया जाय।

जून, १९५६ से किये गये चयन में २०० अको का एक शारीरिक-सहन-सामर्थ्य-परीक्षण भी उन सभी उम्मीदवारो के लिए शुरू कर दिया गया, जो राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी, सैन्य कालेज, वायुसेना कालेज आदि में प्रवेश चाहते थे। बाद में अगस्त, १९५६ मे यह परीक्षण राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल के पाठ्यक्रम और तकनीकी स्नातक पाठ्यक्रम मे प्रवेश चाहने वाले उम्मीदवारो पर भी लागू कर दिया गया। साथ ही, वायुसेना के सेनाछात्रो का पहले पाइलट-रुझान-परीक्षण लिया जाता है, जो किसी उम्मीदवार को केवल एक ही बार देना पड़ता है। इस परीक्षण मे अनुत्तीर्ण होने वालो पर वायुसेना के लिए विचार नही किया जाता। अनुभव के आधार पर बाद में शारीरिक-सहन-सामर्थ्य-परीक्षण हटा दिया गया।

संक्षेप में राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी के लिए सेनाछात्रो के चुनाव की वर्तमान स्थिति यह है कि जो उम्मीदवार सघीय लोक सेवा-आयोग की लिखित परीक्षा (जिसमें कुल ९०० अक होते हैं) मे योग्य सिद्ध होते है, वे एक सेना-चयन-बोर्ड के सामने उपस्थित होते है, जहाँ पर थलसेना, नौसेना और वायुसेना के उम्मीदवारो के अधिकारी बनने की सम्भावनाओ मे परीक्षण लिया जाता है और वायुसेना वालों का पाइलट-रुझान में भी निर्धारण किया जाता है। चयन-बोर्ड के परीक्षण में भी ९०० अंक होते हैं। इन परीक्षणो में उम्मीदवारो को न्यूनतम अर्हकारी अक प्राप्त करने होते है। वायुसेना वालो को इसके अलावा पाइलट-रुझान-परीक्षण में भी उत्तीर्ण होना पड़ता है। इन शर्तों के अधीन उत्तीर्ण छात्रो को योग्यता-क्रम मे रख दिया जाता है, जिस का आधार लिखित परीक्षा और सेना-चयन-बोर्ड के परीक्षणो में उनके द्वारा प्राप्त कुल अक होते है। उनको दो अलग सूचियों में रखा जाता है, पहली मे थलसेना और नौसेना के लिए तथा दूसरी में वायुसेना के लिए। अन्तिम चयन, प्रत्येक सेना मे उपलब्ध रिक्त स्थानो के आश्रित रहते हुए, योग्यता-क्रम से ही किया जाता है।

चयन की यही योजना थलसेना, नौसेना और वायुसेना के लिए, कुछ ज्यादा आयु वर्ग में से, अधिकारियो की सीधी भरती पर भी लागू होती है। सैन्य अकादमी में प्रवेश के लिए आयु सीमायें प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम के आरम्भ के समय १८ और २१ है और प्रवेश के लिए न्यूनतम योग्यता इंटरमीजिएट या समकक्ष परीक्षा में उत्तीर्णता है। आयोग की लिखित अर्हकारी परीक्षा और चयन-बोर्ड के साक्षात्कार प्रत्येक में ९००-९०० अक रहते है। चुने गये सेनाछात्रो को सेना अधिनियम के अधीन भद्रजन सेनाछात्र के रूप में नामाङ्कित किया जाता है और उनको

सैन्य कालेज में लगभग दो साल का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है, जिसके बाद उनको स्थायी कमीशन मिल जाता है।

इन सीधे प्रवेश वाले सेनाछात्रों के लिए दो साल के पाठ्यक्रम और राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी से आने वाले थल-सेनाछात्रों के लिए एक साल से पाठ्यक्रम के अलावा भारतीय सैन्य कालेज में स्थायी कमीशन के लिए ये अतिरिक्त पाठ्यक्रम भी चलाये जाते है (क) थलसेना छात्र-कालेज से उत्तीर्ण होकर आने वाले सेनाछात्रों के लिए (१९½ से २४ साल के बीच की आयु-सीमा वाले), १½ साल का पाठ्यक्रम, (ख) राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल की अधिकारी प्रशिक्षण यूनिटों के सेनाछात्रों के लिए १½ साल का पाठ्यक्रम (इस प्रवेश के लिए आयु सीमा १९ और २२ साल के बीच), और (ग) तकनीकी स्नातकों के लिए एक साल का पाठ्यक्रम, जिसमें विश्वविद्यालय-प्रवेश-योजना वालों को (२० और २७ सालों की आयु-सीमा के भीतर, थलसेना शिक्षा-कोर को छोड़ कर, जिसके लिए आयु-सीमा २३ और २७ साल है) इंजीनियर-कोर, सिगनल्स-कोर, बिजली और यान्त्रिक इंजीनियरी-कोर, थलसेना-शिक्षा कोर और सैन्य-फार्म-सेवा में कमीशन देना शामिल है। इन तीनों मामलों में उम्मीदवारों को संघीय लोकसेवा-आयोग की लिखित परीक्षा में नहीं बैठना पड़ता, बल्कि वे सीधे ही सेना चयन-बोर्ड के समक्ष जाते हैं। अन्य पाठ्यक्रमों में विवाहित उम्मीदवार नहीं लिये जाते, पर स्नातक-पाठ्यक्रम में विवाहित उम्मीदवार भी प्रवेश के लिए पात्र माने जाते हैं। फिर भी अविवाहित उम्मीदवारों को प्रशिक्षण-काल में विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती।

नौसेना के लिए, विशेष प्रवेश-सेनाछात्रों का चयन करने के लिए, आयु सीमायें १७½ और १९½ वर्ष है और प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता इंटरमीडियेट या समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण होना है। लिखित अर्हकारी परीक्षा और चयन बोर्ड के साक्षात्कार में ६००-९०० अंक होते हैं। चुने गये उम्मीदवार सेनाछात्र नियुक्त कर लिये जाते हैं और फिर उनको राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी में एक साल का प्रशिक्षण दिया जाता है। यह प्रशिक्षण पूरा कर लेने के बाद उनको नौसेना के पोतों / स्थापनाओं में अतिरिक्त प्रशिक्षण दिया जाता है। पूरा प्रशिक्षण-काल (अकादमी के एक साल को जोड़कर) ३½ से ६½ साल तक का होता है, जो सेनाछात्र को आवण्टित शाखा पर निर्भर रहता है : राष्ट्रीय-सेनाछात्र-दल के वरिष्ठ डिवीजन के नौसेना-स्कन्ध के सेनाछात्र, जिनके पास 'सी'-प्रमाणपत्र होता है और जो १७½ और २० साल के बीच की आयु के होते है, नौसेना में विशेष प्रवेश वाले सेनाछात्र के रूप में लिये जाने के पात्र होते है। न्यूनतम शैक्षिक योग्यता इंटरमीजिएट या समकक्ष परीक्षा होती है। भारतीय वाणिज्य-समुद्री-प्रशिक्षण-पोत, डफरिन के कैडेट भी नौसेना में विशेष प्रवेश वाले सेनाछात्रों की तरह लिये जाते हैं और उनके लिए आयु सीमा १७½ और १९½ साल होती है। ये विशेष प्रवेश वाले सेनाछात्र राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी के पाठ्यक्रम के तीसरे साल में लिये जाते है और अपना प्रशिक्षण पूरा करने के बाद अकादेमी के नौसेना छात्रों की भाँति इनको भी भारतीय नौसेना के पोतों और स्थापनाओं में आगे प्रशिक्षण दिया जाता है।

इसी तरह वायुसेना कालेज में सामान्य-कर्तव्य-(पाइलट) पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए

आयु सीमायें १७½ और २१ वर्ष हैं और प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता मैट्रिक या सम-परीक्षा में उत्तीर्ण होना है। लिखित अर्हकारी परीक्षा में ६०० अंक होते हैं और वायुसेना-चयन-बोर्ड के परीक्षण में भी ६०० अंक ही होते हैं, पिछले में पाइलट-रुझान और अधिकारी-सम्भाव्यतायें आ जाती हैं। अन्तिम रूप से चुने गये उम्मीदवार लगभग १८ महीने वायुसेना कालेज में प्रशिक्षण पाते हैं। प्रशिक्षण सफलतापूर्वक पूरा होने पर उनको स्थायी कमीशन दिया जाता है।

सामान्य-कर्तव्य-शाखा में रिक्त स्थानों का एक प्रतिशतक राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल (वायु-स्कन्ध) के लिए आरक्षित रहता है।

स्नातकों को अ-तकनीकी शाखाओं (या जिनको भूमि-कर्तव्य-शाखायें कहा जाता है) में भी सीधे कमीशन दिये जाते हैं, अर्थात् प्रशासनिक और विशेष कर्तव्य-शाखा, उपकरण-शाखा, लेखा-शाखा प्रत्येक मामले में आयु-सीमा २१ और २३ वर्ष होती है), शिक्षा-शाखा (आयु सीमा २१ और २५ वर्ष) और ऋतुविज्ञान-शाखा (१६ और २६ वर्ष)। इन शाखाओं के उम्मीदवारों की कोई लिखित परीक्षा नहीं होती। वे सीधे ही वायुसेना चयन-बोर्ड के सम्मुख उपस्थित होते हैं।

संघीय लोक-सेवा-आयोग द्वारा सशस्त्र सेनाओं के संयुक्त ओहदों के लिए ली जाने वाली लिखित परीक्षा का एक रोचक रूप यह था कि जो उम्मीदवार परीक्षा में कुल मिलाकर ३० प्रतिशत या ज्यादा अंक प्राप्त करते थे (पहले यह ३५ प्रतिशत था) उनको ३० रुपये की परीक्षा शुल्क (अनुसूचित जातिवालों के लिए ७.५० रुपये, क्योंकि अनुसूचित जाति वाले इतनी ही घटी हुई शुल्क पहली बार में देते थे) वापस दे दी जाती थी। वापस देने की यह योजना १९६५ में समाप्त कर दी गयी। कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारियों, गैरकमीशन-प्राप्त अधिकारियों और अन्य पदधारियों के बच्चे और भूतपूर्व सैनिकों के जो बच्चे के० जी० स्कूलों (अब जिन्हें सैन्य स्कूल कहते हैं) में और सैनिक स्कूलों में पढ़ रहे होते हैं उनको इन परीक्षाओं के लिए कोई शुल्क न देकर यह प्रमाणपत्र देना होता है कि उनके कुल मिलाकर ३० प्रतिशत अन्यून अंक प्राप्त करने की सम्भावना है।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, आवास, पुस्तकें, वर्दी, भोजन और चिकित्सा को शामिल करते हुए सारा खर्च सरकार द्वारा दिया जाता है। उम्मीदवारों से अपना जेबखर्च स्वयं पूरा करने की आशा की जाती है, जो ४० रुपये महीने आता है। यदि सेनाछात्र का जनक या अभिभावक इतना भी खर्च न दे सके और उसकी आय ३५० या ४०० रुपये राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी के प्रसंग में बतायी गयी परिस्थितियों के अनुसार हो, तो सरकार ४० रुपये प्रति मास तक वित्तीय मदद मंजूर कर देती है।

खण्ड दो . आपात भरती

अक्टूबर, १९६२ में आपात की घोषणा के बाद भारतीय सैन्य-अकादेमी के जरिये स्थायी कमीशन दिया जाना बन्द कर दिया गया, केवल (१) उन सेनाछात्रों को छोड़कर जो राष्ट्रीय-अकादेमी से उत्तीर्ण होकर आते थे, (२) जो सैनिक सेनाछात्र कालेज, नौगांव (अब

पूना में) से प्रशिक्षण के लिए चुने जाते थे और (३) अधिकारी प्रशिक्षण यूनिटों में प्रशिक्षित होने वाले राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल के छात्र। सेना के अधिकारी सवर्ग के शीघ्र विस्तार की पूर्ति के लिए नवम्बर, १९६२ में आपात कमीशन देना शुरू किया गया। अ-तकनीकी सेवाओं में न्यूनतम प्रवेश-योग्यता इंटरमीडिएट परीक्षा विहित की गयी, लेकिन आयु सीमा स्थायी कमीशन के लिए रखी गयी योग्यता की तुलना में कम कर दी गयी। शुरू में तो आयु-सीमा ३५ वर्ष तक रखी गयी थी, पर बाद में १ जुलाई, १९६३ से इसे ३० साल तक लाया गया और १ जनवरी, १९६४ से २७ साल कर दिया गया। न्यूनतम आयुसीमा १९ साल बनी रही। उम्मीदवारों की छानबीन पहले एक प्रारम्भिक साक्षात्कार सेना-चयन-बोर्ड करता था। विहित आयु-सीमा में आने वाले नौकरी करने वाले ऐसे व्यक्ति, जो मैट्रिक या समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण थे, और दो साल तक सेना में नौकरी कर चुके थे, आपात कमीशन के लिए आवेदन करने के पात्र बना दिये गये। जो लोग इंटरमीजिएट या समकक्ष परीक्षा में उत्तीर्ण थे, उनमे नौकरी की शर्त भी हटा दी गयी।

आपात कमीशन के लिए चुने गये उम्मीदवारों के प्रशिक्षण के लिए भारतीय सैन्य-अकादेमी का विस्तार किया गया और धीरे-धीरे प्रशिक्षण-क्षमता आपात के आरम्भ मे १४८५ सेनाछात्रों से बढाकर जुलाई, १९६३ में ३२०० सेनाछात्र कर दी गयी, और दो अधिकारी प्रशिक्षण विद्यालय मद्रास और पूना में जनवरी, १९६३ मे शुरू किये गये, जिनकी आरम्भिक क्षमता ९०० सेनाछात्र थी जो बढाकर जुलाई, १९६३ तक १५०० भद्रजन सेनाछात्र कर दी गयी। आपात कमीशन देने के पूर्व का २२ हफ्ते का प्रशिक्षण इन सस्थाओं में दिया जाता था, जिसके बाद युवा अधिकारी अपनी-अपनी शाखा और सेना मे और आगे कमीशनोत्तर प्रशिक्षण के लिए भेज दिये जाते थे। अधिकारी-सवर्ग मे आपात भरती कार्यक्रम शीघ्र ही पूरा भी हो गया। स्थायी कमीशन प्रदान करने के लिए नियमित पाठ्यक्रम अगस्त, १९६४ से भारतीय सैन्य-अकादेमी में फिर से शुरू किया गया और अन्तिम आपात कमीशन के सेनाछात्र ३१ अक्तूबर, १९६४ को उत्तीर्ण होकर चले गये। पूना स्कूल में आपात कमीशन का अन्तिम पाठ्यक्रम १ मई, १९६४ को पूरा हो गया। तब यह स्कूल बन्द कर दिया गया और यह जगह सेनाछात्र कालेज को दे दी गयी, जिसे नौगाँव से यहाँ ले आया गया था। अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल, मद्रास का अन्तिम आपात कमीशन पाठ्यक्रम १० अप्रैल, १९६५ को पूरा हो गया। अब अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल मद्रास में दो तरह के पाठ्यक्रम चलते हैं अर्थात् (क) एक सक्षिप्त सेवा कमीशन (गैर-तकनीकी) प्रदान करने के लिए ४३ हफ्ते का पाठ्यक्रम, जिसके लिए उम्मीदवार १९ से २५ साल के होने चाहिये और उनके पास इंटरमीजियेट या समकक्ष योग्यता होनी चाहिये, और (ख) केन्द्र और राज्य सरकारों के प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी के असैनिक इंजीनियरी अधिकारियों के ऊपर लागू अनिवार्य दायित्व योजना के अधीन १४ हफ्ते का पाठ्यक्रम सक्षिप्त सेवा कमीशन के लिए (इस योजना का उल्लेख इस अध्याय में अन्त की ओर किया जायेगा)। पहली योजना के अधीन पहला पाठ्यक्रम जून, १९६५ में शुरू हुआ और अप्रैल, १९६६ में समाप्त हुआ। अनिवार्य दायित्व योजना के अधीन पहला पाठ्यक्रम ३१ जुलाई, १९६५ को शुरू हुआ और २० नवम्बर, १९६५ को समाप्त हुआ।

तकनीकी शाखाओ और सेवाओ (अर्थात् इंजीनियरी, सिगनल्स और ई० एम० ई० कोरो) मे आपात कमीशन देने की योजना १ जुलाई, १९६३ तक चलती रही, जब इसका स्थान पाँच वर्ष के संक्षिप्त सेवा कमीशन ने ले लिया, जिसे दो साल तक बढाया जा सकता था। इस तकनीकी कमीशन के लिए उम्मीदवारो को स्नातक होना पडता था और उनको अपनी स्नातक उपाधि के लिए दो साल का पूर्व-लाभ मिल जाता था।

आपात से पहले भी सेना-चिकित्सा कोर मे आपात कमीशन दिये जाते थे। चिकित्सा स्नातको की सेना चिकित्सा कोर में भरती के लिए भी आपात कमीशन योजना लागू की गयी, जिसमे अधिकतम ६½ वर्ष का पूर्व-लाभ दे दिया जाता था।

इंजीनियरो और चिकित्सा-स्नातको की भरती बढाने के लिए कई योजनायें शुरू की गयी। उदाहरण के लिए (क) असैनिक नौकरी की अवधि के आधार पर वरिष्ठता का पूर्व-लाभ प्रदान करना, (ख) सरकारी कर्मचारियो के मामले मे पुनर्ग्रहणाधिकार, वरिष्ठता, असैनिक वेतन और उपलब्धियो और अन्य सेवा-अधिकारो का संरक्षण (ग) सरकार को इंजीनियरी और चिकित्सा-सेवाओ के प्रथम और द्वितीय श्रेणी के स्थायी रिक्त स्थानो के ५० प्रतिशत का आरक्षण, जो आपात मे सशस्त्र सेनाओ मे कमीशन-प्राप्त स्नातक इंजीनियरो और और डाक्टरो मे से ही सीधी भरती करके भरे जाने थे, और (घ) विश्वविद्यालय-प्रवेश-योजना। विश्वविद्यालय-प्रवेश-योजना के अधीन विशेष चयन-टुकडियाँ देश की भिन्न-भिन्न इंजीनियरी और चिकित्सा-संस्थाओ में जाती थी और इंजीनियरी पाठ्यक्रम के अन्तिम या अन्तिम से पूर्व वर्ष मे पढने वाले और आयुर्विज्ञान पाठ्यक्रम के अन्तिम वर्ष में पढने वाले सम्भाव्य उम्मीदवारो का आरम्भिक चयन कर लेती थी। जो लोग आरम्भिक चयन-टुकडियो द्वारा उपयुक्त समझे जाते थे, उनका साक्षात्कार थल-सेना-चयन-बोर्ड करते थे और चुने गये उम्मीदवारो को परिवीक्षा पर, अस्थायी संक्षिप्त सेवा कमीशन अन्तिम वर्ष के छात्रो के मामले में, अन्तिम चयन की तारीख से, और अन्तिम-पूर्व वर्ष के छात्रो के मामले मे उनके अन्तिम वर्ष की कक्षा मे प्रवेश लेने की तारीख से, सेकिंड लेफ्टीनेंट के ओहदे में प्रदान कर दिया जाता था। उपाधि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने और कमीशन-पूर्व का प्रशिक्षण सफलतापूर्वक पूरा कर लेने पर, इन उम्मीदवारो को पाँच साल का संक्षिप्त सेवा कमीशन दे दिया जाता था।

विभिन्न प्रोत्साहनो के बावजूद इंजीनियरी अधिकारियो की कमी बनी रही और इस स्थिति का सामना करने के लिए एक अनिवार्य सेवा-दायित्व-योजना शुरू की गयी, जिसके अधीन इंजीनियरी सेवाओ में आने वाले लोग, पहले दस साल के सेवा-काल मे, न्यूनतम चार वर्ष तक की अवधि के लिए रक्षा-सेनाओ मे सेवा करने के दायी हैं। योजना के अधीन प्रथम या द्वितीय श्रेणी के पदो पर (स्थायी या अस्थायी) केन्द्र या राज्य सरकारो म (लोक उपक्रमो समेत) काम करने वाले ऐसे इंजीनियर जिनकी आयु ३० साल से कम है, उनको सेना मे चार साल का (प्रशिक्षण अवधि जोड कर) संक्षिप्त सेवा कमीशन दिया जाता है। उनके लिए सेना चयन-बोर्डों के सामने उपस्थित होना जरूरी नहो होता। मूलत. तृतीय श्रेणी के अधिकारियो को अलग रखा गया था, पर अब उनको भी इस योजना के अधीन कमीशन देने का पात्र बना दिया गया है, पर उनको सेना चयन-बोर्ड के सामने उपस्थित होना पडता है। चुने गये अधि-

कारियों के चिकित्सकीय दृष्टि से योग्य होने पर, अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल में उनको लगभग चार महीने का प्रशिक्षण दिया जाता है। संक्षिप्त सेवा कमीशन पाने वाले अधिकारियों को, विहित तकनीकी योग्यता रखने के लिए, दो साल का पूर्वलाभ दिया जाता है। संक्षिप्त सेवा कमीशन का समय, असैनिक नौकरी के वेतन में वार्षिक वृद्धि, पदोन्नति, पेन्शन, उपदान के लिए जोड़ा जायेगा। जैसा बताया जा चुका है, इस अनिवार्य सेवा-दायित्व-योजना के अधीन पहला संक्षिप्त सेवा कमीशन-पाठ्यक्रम अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल, मद्रास में ३१ जुलाई, १९६५ को शुरू हुआ था और २० नवम्बर, १९६५ को समाप्त हुआ।

नवम्बर, १९६२ के बाद जिन ९००० अधिकारियों को आपात कमीशन दिये गये हैं, उनकी छानबीन, कुल संख्या के एक तिहाई तक को सेना में स्थायी रूप से रख लेने के लिए, की जायेगी। सरकार ने, सेवामुक्त हुए आपात कमीशन वाले अधिकारियों के लिए, स्थायी रिक्त-स्थानों का एक प्रतिशतक आरक्षित करने का भी निर्णय किया है : भारतीय प्रशासन-सेवा और भारतीय विदेश-सेवा (आई० एफ० एस०) के लिए २० प्रतिशत, भारतीय पुलिस-सेवा के लिए ३० प्रतिशत, गैर-तकनीकी प्रथम श्रेणी सेवा पदों के लिए २५ प्रतिशत और गैर-तकनीकी द्वितीय श्रेणी सेवाओं-पदों के लिए ३० प्रतिशत।

आपात के समय से, २१ से २७ वर्ष के आयु समूह के भीतर, अन्य पदधारियों के लिए आरक्षित स्थायी कमीशनों के वार्षिक रिक्त-स्थानों का अनुपात १० प्रतिशत से बढ़ाकर २४ प्रतिशत कर दिया गया। बाद में स्थायी कमीशनों के वार्षिक रिक्त स्थानों में अन्य पदधारियों का अभ्यंश और बढ़ाकर ४२ प्रतिशत कर दिया गया। १९५३ में थलसेना में विशेषसूची-कमीशन शुरू किये गये, जो मुख्यतः उन कनिष्ठ कमीशन अधिकारियों और गैर-कमीशन अधिकारियों की सेवाओं का उपयोग करने के लिए है, जो अपने-अपने व्यवसाय विशेष या कोटि में विशेषीकृत ज्ञान अर्जित कर चुके हैं। विशेष सूची में पदोन्नति के लिए उम्मीदवार ४२ साल से कम आयु के और कम से कम मैट्रिक पास होने चाहिये। १५ जनवरी, १९६४ को ८४१ विशेष सूची अधिकारी ऐसे थे, जो कनिष्ठ कमीशन अधिकारियों में से और गैर-कमीशन अधिकारियों में से पदोन्नति देकर लिये गये थे। पदोन्नति के लिए ज्यादा अवसर प्रदान करने के लिए विशेष सूची-संवर्ग की संख्या बढ़ाकर १५०० कर दी गयी।

अन्य पदधारियों के प्रशिक्षण की बढ़ी हुई जरूरतें पूरी करने के लिए, १५ नये प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किये गये और विद्यमान प्रशिक्षण-केन्द्रों की क्षमता भी बढ़ायी गयी। प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम को ज्यादा सघन बनाकर और प्रति सप्ताह प्रशिक्षण के पीरियड बढ़ाकर, प्रशिक्षण की अवधि कम कर दी गयी। इस तरह प्रशिक्षण-क्षमता मोटे तौर पर बढ़ाकर पैदल सेना के लिए १७०० से ४०,००० कर दी गयी, तोपखाने के लिए ५५०० से १८,०००, इंजीनियर्स के लिए ३६०० से २०,००० और सिगनल्स के लिए २३०० से १२,०००।

यथासमय ज्यादा संख्या में प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध हो जाने से विभिन्न शाखाओं-कोरों के रंगरूटों के लिए आपात काल से पूर्व की पूरी प्रशिक्षण-अनुसूची क्रमशः फिर लागू कर दी गयी।

'नेफा' (उत्तर-पूर्वी सीमा) संक्रिया में अक्तूबर-नवम्बर, १९६२ में हुई पराजय के जांच-प्रतिवेदन के प्रकाश में सैनिकों को दिये जाने वाले प्रशिक्षण को एक नयी दिशा दी गयी और पहाड़ी क्षेत्रों और उच्च धरातलों पर लड़ाई की ओर खास ध्यान दिया गया। उच्च धरातल युद्ध-विद्यालय की, जो मार्च, १९६२ में स्थापित किया गया, क्षमता काफी बढ़ा दी गयी।

खण्ड ३ . सेना के रूप का पुनर्गठन

पुराने नियम के अनुसार सेना से निवृत्ति पाकर अधिकारी काफी बड़ी आयु तक आरक्षिति (रिज़र्व) में रहते थे, जैसा कि नीचे बताया गया है :

ओहदा	किस आयु तक आरक्षिति में रखे जाते हैं	
	आर्मर्ड-कोर, आर्टिलरी- इंजीनियर्स सिगनल्स और पैदल सेना।	अन्य सेवाएँ
मेजर और उनके नीचे	५३ साल	५५ साल
लेफ्टिनेंट कर्नल	५५ साल	५७ साल
कर्नल और ब्रिगेडियर	५७ साल	५८ साल
मेजर जनरल और ऊपर	सभी शाखाएँ	६० साल

फलस्वरूप, जब आरक्षिति वाले बुला लिये जाते थे, तो कठिन स्थितियों में युद्ध करने के लिए कुछ भी प्रभावी जनसाधन न रहता था।

पहले एक जवान का रंग-सेवा (कलर सर्विस) के लिए नानाङ्कित शाखा या व्यवहार के अनुसार ७ से १५ साल तक के लिए नामांकन किया जाता था और उसकी अवधि आगे भी ५ से १० साल तक के लिए बढ़ायी जा सकती थी। व्यवहार में चूंकि सेना को एक के बाद एक आघात का सामना करना पड़ा, इसलिए नामांकन की अवधि सामान्य आरक्षिति वाली अवधि तक बढ़ानी पड़ी, फलतः आघात में सेना का विस्तार करने के लिए कोई प्रभावी जन-साधन न रहता था। सेना में अनेक व्यक्ति काफी वृद्ध थे। अब सेना को काफी कठिन स्थानों पर, खासकर ऊंचे धरातलों पर, सन्निवासित होना पड़ता है। इसलिए इसमें सामान्यतः युवा और शारीरिक दृष्टि से बहुत योग्य व्यक्ति ही होने चाहिये। साथ ही आघात के समय सेना के तुरन्त विस्तार के लिए अपेक्षया कम आयु के समूह में प्रशिक्षित जनसाधन का एक समुच्चय उपलब्ध होना चाहिये। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए, २५ जनवरी, १९६६ से, नये रंगरूटों के सेवाकालीन होने की शर्तें सुधारी गयीं। नयी पद्धति के अनुसार एक गैर-तकनीकी रंगरूट १० साल तक रंग-सेवा में रहेगा और उसके बाद ५ साल तक या ३८ साल की आयु तक, जो भी पहले हो, वह आरक्षिति में रहेगा और इस तरह सेवा की कुल अवधि १५ साल ही होगी।

तकनीकी रेजिमेन्ट का रंग-सेवाकाल १२ साल और आरक्षित-दायित्व ३ साल या ४३ साल की आयु तक होगी, जो भी पहले हो। (यहाँ पर भी कुल दायित्व १५ साल ही है)। बहुत ज्यादा तकनीकी समूह में रंग-सेवा १५ साल होगी, जिसके बाद ३ साल की आरक्षित-दायित्व होगी या ४३ साल की आयु तक, जो भी पहले हो। इस तरह कुल दायित्व १८ साल होगी। रंग-सेवा के अन्त में उसे कोई अवधि-विस्तार न मिलेगा, बल्कि उसका आरक्षित में स्थानान्तरण कर दिया जायेगा और केवल आपात के समय ही उसे बुलाया जा सकेगा। समूह-चार (तकनीकी) के सब पदधारियों की सेवाकालीनता की अवधि १८ साल या ४३ साल की आयु तक, जो भी पहले हो, रखी गयी है। मात्र ही अवधि रंग-सेवा होगी और आरक्षित की दायित्व कुछ भी न होगी। नयी रंग-सेवा और दायित्व-अवधियाँ यह आश्वस्त करेंगी कि किसी भी समय सेना में युद्ध करने वाला कोई भी व्यक्ति ४३ साल से ज्यादा आयु का न होगा।

अन्य पदधारियों के नामांकन की आयु-सीमायें भी संशोधित कर दी गयी हैं। संशोधित आयु-सीमायें हैं १७ से २१, १७ से २४ और १७ से २७ साल, जो उस व्यवसाय पर निर्भर रहती है, जिसमें उस व्यक्ति को भर्ती किया जा रहा है।

ऐसी ही योजना अधिकारियों के लिए भी बनायी गयी थी। आपात के शुरू होने से लगभग ६००० अधिकारियों को आपात-अवधि के लिए कमीशन दिये गये थे और उसके बाद उतनी अवधि के लिए, जितनी अपेक्षित हो। १९६५ में आपात कमीशन प्रदान करना बन्द कर देने का निर्णय किया गया और उसकी जगह पर गैर-तकनीकी शाखाओं में संक्षिप्त सेवा कमीशन दिये गये। इसलिए अधिकारियों की भावी भर्ती स्थायी कमीशन (भारतीय सैन्य-अकादमी, राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी, सेनाछात्र कालेज के जरिए और राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल की अधिकारी प्रशिक्षण यूनिटों के सेनाछात्रों का और तकनीकी स्नातकों को, जिसमें विश्वविद्यालय-प्रवेश-योजना के अधीन लिये जाने वाले शामिल हैं) दे कर और अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल, मद्रास के जरिए संक्षिप्त सेवा कमीशन (गैर-तकनीकी) देकर की जायेगी। संक्षिप्त सेवा कमीशन (गैर-तकनीकी) वाले अधिकारी ५ साल की अवधि तक काम करेंगे, जिसके अन्त में चयन किया जायेगा और जो अधिकारी इच्छुक और उपयुक्त है, उनके एक हिस्से को स्थायी कमीशन दिये जायेंगे। शेष अधिकारियों का स्थानान्तरण आरक्षित में कर दिया जायेगा, जहाँ वे १० साल की अवधि तक रहेंगे या ४० साल की आयु तक, जो भी पहले हो। इन संक्षिप्त सेवा कमीशनों के उम्मीदवारों की छानबीन पहले एक आरम्भिक साक्षात्कार-बोर्ड द्वारा की जाती है और फिर चुने गये उम्मीदवारों का साक्षात्कार सेना-चयन-बोर्ड करता है। इन उम्मीदवारों का पहला प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम अप्रैल, १९६६ में पूरा हुआ। १९७१ से आगे वे संक्षिप्त सेवा कमीशन वाले अधिकारी, जिन का सेवाकाल सेना में ५ साल था (और जिनको स्थायी कमीशन नहीं दिया गया) सेवामुक्त (रिलीज) कर दिये जायेंगे और ऊपर बतायी गयी अवधि तक आरक्षित में रहेंगे। यह निर्णय किया गया है कि इन अधिकारियों के लिए असैनिक सेवाओं में रिक्त स्थानों का एक प्रतिशतक हर साल आरक्षित रखा जाय।

यह भी तय किया गया कि स्थायी कमीशन वाले अधिकारियों को उतनी अवधि तक ही आरक्षित में रखा जायेगा, जितनी उनकी अनिवार्य सेवा-निवृत्ति की आयु उस ओहदे में है,

जिससे वे सेवानिवृत्त हो रहे हैं, अगर वे उस ओहदे की पदावधि पूरी करने से पहले सेवानिवृत्त हो जायें, अन्यथा आरक्षित की कोई दायिता न होगी। इस तरह इन अधिकारियों की आरक्षित-दायिता प्रत्येक ओहदे के आगे नीचे दी गयी आयु तक ही है :

लेफ्टी० कर्नल और नीचे	४८ साल	मेजर जनरल	५४ साल
कर्नल	५० साल	लेफ्टी० जनरल	५६ साल
ब्रिगेडियर	५२ साल	जनरल	५८ साल

एक बार इस योजना के प्रभावी रूप में लागू हो जाने के बाद, देश के पास प्रशिक्षित और तरुण जनसाधन आरक्षित भी हो जायेंगे, जिनमें से सेना के किसी भी आपातकालीन विस्तार के लिए व्यक्ति लिए जा सकेंगे।

खण्ड ४ : प्रशिक्षण

सरकार की नीति रही है कि यथासम्भव अधिकतम मात्रा तक प्रशिक्षण देश में ही दिया जाय। आजादी के बाद से भारत में स्थापित की गयी प्रशिक्षण-सुविधाओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

सेना में प्रशिक्षण—सेना के प्रशिक्षण-संस्थानों में क्वेटा स्थित स्टाफ कालेज के अलावा अविभाजित भारतीय सेना की नीचे लिखी स्थापनायें भारत के पास न रहीं . सेना वायु-परिवहन-समर्थन स्कूल, चकलाला, पैरा-ट्रूप्स प्रशिक्षण स्कूल, चकलाला, विमानभेदी तोपखाना स्कूल, कराची, आर० आई० ए० एस० सी० स्कूल, काकुल, आसूचना प्रशिक्षण स्कूल, कराची, आर० आई० ए० एस० सी० प्रशिक्षण केन्द्र (पूर्ति) लाहौर, सामान्य भण्डार और वस्त्र प्रशिक्षण सैल, लाहौर, वाहनचालन और सधारण विशेषज्ञ प्रशिक्षण सैल, कराची। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए सवादी प्रशिक्षण स्थापनायें भारत में बनायी गयी हैं। इनके अलावा बैंड मास्टरों को प्रशिक्षण देने के लिए एक सैन्य संगीत स्कूल और घोड़ो-खच्चरों और ऐसे दूसरे पशुओं को प्रशिक्षण देने के लिए एक सवारी-पशु (रिमाउंट) डिपो भी स्थापित किये गये हैं।

पहले ऐसा कोई स्कूल न था, जहाँ बैंड मास्टर और बैंड के दूसरे आदमियों को प्रशिक्षण दिया जा सके। इन व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने के अलावा नया सैन्य संगीत स्कूल, सेना के बैंडों में, निरन्तर पश्चिमी धुनों के स्थान पर भारतीय धुनों के समावेश का भी प्रयास करता आ रहा है।

साथ ही विभाजन के समय भारत में कुछ विशेषज्ञ-पाठ्यक्रमों के लिए सुविधायें न थीं, जैसे सिगनल्स, दूरसञ्चार, अग्रिम आसूचना-प्रशिक्षण आदि। ऐसे प्रशिक्षण के लिए चुने हुए लोगों को यू० के० भेजना पड़ता था। अगस्त, १९४० से ये पाठ्यक्रम भारत में शुरू करने के लिए, और इस तरह विदेश भेजने की जरूरत खत्म करने के लिए प्रयास किया गया।

इस समय जो प्रशिक्षण स्थापनायें विद्यमान हैं और जो नये पाठ्यक्रम शुरू कर दिये गये हैं, उनके कारण भारत अब बहुत काफी सीमा तक सेना की प्रशिक्षण-सुविधाओं के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है। लेकिन प्रशिक्षण के नवीनतम तरीकों और कूटचाल और तकनीकी

विकास से परिचित रखने के लिए हर साल सेना के कुछ व्यक्तियों को अन्य प्रगतिशील देशों में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। कुछ चुने हुए अधिकारियों को स्टाफ कालेज-पाठ्यक्रमों में सामान्य उच्चस्तरीय प्रशिक्षण देने के लिए विदेश भेजा जाता है, ताकि आधुनिक युद्धप्रणाली के सामान्य पहलुओं के बारे में विदेशों में जो सिखाया जाता है, उसका परिचय उनको कराया जा सके।

अविभाजित भारत में जो प्रशिक्षण स्थापनाएँ विद्यमान थी, उनमें रुड़की में १९४३ में शुरू किये गये सैन्य इंजीनियरी स्कूल का भी उल्लेख करना जरूरी है। अक्तूबर, १९४७ में यह स्कूल करकी ले जाया गया और १९५१ में इसका नाम बदल कर सैन्य इंजीनियरी कालेज, करकी कर दिया गया। इस कॉलेज में इंजीनियर कोर, सिगनल्स कोर और बिजली तथा यान्त्रिक इंजीनियरी कोर के अधिकारियों के लिए स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चलाये जाते है, इसमें शिक्षकों (अधिकारी और अन्य पदधारी) और विशेषज्ञों को इंजीनियर-कोर तथा सेना इंजीनियरी सेवाओं के लिए भी प्रशिक्षण दिया जाता है। यह इंजीनियरी तरीकों और उपकरणों के सम्बन्ध में अध्ययन, अनुसन्धान और पड़ताल का काम भी करता है।

सेनाछात्र (आर्मी कैडेट) कालेज

अन्य होनहार पदधारियों को कमीशन वाले ओहदों में लाने के लिए प्रशिक्षण देने के लिए नौगाँव, (म० प्र०) में सेनाछात्र कॉलेज, मई, १९६० में शुरू किया गया। (यह किचनर कॉलेज की शैली पर था, जो वहाँ विगत विश्वयुद्ध के पहले और दौरान की अधिकांश अवधि तक काम करता रहा था)। मार्च, १९६४ में इस संस्था को पूना ले जाया गया। यह कॉलेज शिक्षित युवक सैनिकों को उच्चपदों पर आने के लिए प्रेरित करता है, ताकि वे कमीशन लेने का अवसर प्राप्त कर सकें। यह उन उम्मीदवारों को अतिरिक्त अवसर प्रदान करता है, जो सामान्य स्पर्धा या राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल के जरिए राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी और भारतीय सैन्य-अकादमी में प्रवेश नहीं ले पाते। चयन में आने के लिए वह अन्य पदधारी १९½ और २४ की आयु-सीमा में होना चाहिये, वह मैट्रिक या समकक्ष परीक्षा या भारतीय सेना प्रथम कक्षा प्रमाण-पत्र में उत्तीर्ण हो और वह सेना में दो साल काम कर चुका हो। सेना छात्र कॉलेज में पाठ्यक्रम की अवधि मैट्रिक या समकक्ष परीक्षा उत्तीर्ण लोगों के लिए १८ महीने है और भारतीय सेना प्रथम श्रेणी प्रमाणपत्र वालों के लिए २४ महीने। कॉलेज की क्षमता शुरू में ६० सेनाछात्र थी, जो अब बढ़ाकर ४८० कर दी गयी है। कॉलेज में पाठ्यक्रम पूरा करके सेनाछात्र १½ साल के पूर्व-कमीशन प्रशिक्षण के लिए भारतीय सैन्य अकादमी में प्रवेश लेते हैं।

सेना की प्रमुख प्रशिक्षण स्थापनाएँ ये हैं :

भारतीय सैन्य-अकादमी	देहरादून
आर्मर्ड-कोर-केन्द्र और स्कूल	अहमदनगर
तोपखाना स्कूल	देवलाली
सैन्य प्रशिक्षण कॉलेज	करकी, पूना

सिगनल्स स्कूल	महू
आसूचना-प्रशिक्षण स्कूल और डिपो	पूना
सेना स्वास्थ्य स्कूल	लखनऊ
सेना सेवा-कोर स्कूल	बरेली
बिजली और यान्त्रिक इंजीनियरी-कोर स्कूल	सिकन्दराबाद
सैन्य पुलिस-कोर का केन्द्र और स्कूल	फैजाबाद
आरोही पशुचिकित्सा कोर स्कूल	मेरठ छावनी
आरोही पशु-प्रशिक्षण स्कूल और डिपो	सहारनपुर
अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल	मद्रास
पैदल सेना स्कूल	महू
उच्च धरातल-युद्ध स्कूल	गुलमर्ग
सेनाशिक्षा कोर प्रशिक्षण कॉलेज और केन्द्र	पचमढ़ी
सेनाशास्त्र कॉलेज	पूना
सैन्य यान्त्रिक-परिवहन स्कूल	फैजाबाद
सेना वायु-परिवहन-समर्थन स्कूल	आगरा
सेना शारीरिक प्रशिक्षण स्कूल	पूना

नौसेना मे प्रशिक्षण

अविभाजित भारत मे मुख्य नौसेना प्रशिक्षण स्कूल कराची में थे। भारत में प्रमुख प्रशिक्षण केन्द्र ये थे : भारतीय नौसेना पोत शिवाजी (नौसेना के लिए इजीनियरी अधिकारियो और आर्टीफिशर के प्रशिक्षण को यान्त्रिक प्रशिक्षण स्थापना), लोनावला, (बम्बई के पास), और भा० नौ० पो० वालसुरा, जामनगर में विद्युत स्कूल। विभाजन के बाद, पहले कुछ वर्षों में भारत में प्रशिक्षण सुविधाओं के अभाव के कारण, बहुत से अधिकारियो और सैनिको को प्रशिक्षण के लिए यू० के० भेजना होता था। नियमित अधिकारियो के प्रसग मे इसके लिए आभार प्रदर्शन किया जाना चाहिये कि दिसम्बर, १९४७ मे यू० के० एडमिरलटी ने अगले तीन साल तक के लिए हर साल ४६ भारतीय सेनाछात्रों को प्रशिक्षण के लिए लेना मंजूर कर लिया, जबकि पहले हर साल केवल १६ ही लिए जाते थे।

विभाजन के कारण स्कूल चले जाने से भारत को विवश होकर अपने नये स्कूल खोलने पडे और ये विशाखपटनम् और कोचीन में खोले गये। नौचालन, पूर्ति और सचिवालय, गनरी, सिगनल्स तथा टारपीडो और एंटी-सबमेरीन (टास) स्कूल, कोचीन, (भा० नौ० पो० वेंदुरथी) में, अस्थायी भवनों में, १९४८ में काम करने लगे। नौचालन, गनरी और टास स्कूलो के स्थायी भवनो को आधारशिला रक्षा-मन्त्री ने फरवरी, १९५० में रखी और वे सभी पूरे बन चुके है। अब कोचीन, भारतीय नौसेना का, सबसे बडा प्रशिक्षण केन्द्र है और नौसेना के प्रमुख विशेषज्ञ स्कूल वहीं पर हैं। इसी तरह १९४८ में व्यापक प्रशिक्षण-स्थापना (भा० नौ० पो० सरकार), विशाखपटनम् में शुरू की गयी। अधिकाश नाविक भा० नौ० पो० सरकार में १९५३

और १६½ साल की आयु के बीच प्रवेश लेते हैं, जहाँ उनको नौसेना की सभी शाखाओं में ४४ हफ्ते का एक समान पाठ्यक्रम पूरा कराया जाता है और इस तरह नये बच्चे प्रशिक्षित नाविक बना दिये जाते हैं और उनको आरम्भिक नौवाहकता, नौ-सिगनल्स और गनरी का ज्ञान हो जाता है और कुछ सामान्य शिक्षा भी मिल जाती है। फिर उनको 'कार्मिक-चयन' परीक्षण में बैठाया जाता है, और इसके प्रतिफल, तथा बच्चों की बुनियादी शिक्षा के आधार पर, उनको विभिन्न शाखाओं में भेज दिया जाता है—नौवाहक, सञ्चार, विद्युत, इंजीनियरी, यान्त्रिक और नौ-उड्डयन। फिर उनको ब्यौरेवार प्रशिक्षण मिलता है। नौसेना के बिजली इंजीनियर, आर्टिफिसर और बिजली-कर्मचारियों को जामनगर में भा० नौ० पो० वालसुरा में प्रशिक्षण दिया जाता है। समुद्री इंजीनियरी पाठ्यक्रम लोनावला में भा० नौ० पो० शिवाजी में चलाये जाते हैं।

भारत में नौसेना प्रशिक्षण सुविधाओं में विस्तार की दिशा में एक बड़ा काम सौराष्ट्र के राजप्रमुख द्वारा २७ अप्रैल, १९५५ को जामनगर में नौसेना के नये विद्युत स्कूल भा० नौ० पो० वालसुरा का उद्घाटन था। इस नये स्कूल की आधारशिला नवम्बर, १९५२ में रखी गयी थी। वास्तव में बिजली स्कूल का जन्म तो १९४२ में ही हो गया था। पिछले विश्वयुद्ध के आरम्भ में भारत नौसेना ने ऐसे पोत अवाप्त किये थे, जिनमें आधुनिक जटिल बिजली और टारपीडो उपकरण लगाये गए थे। इसलिए यह जरूरी समझा गया कि भारतीय व्यक्तियों को ये उपकरण चलाने के लिए भारत में ही प्रशिक्षित कर लिया जाय। पिछले विश्वयुद्ध के अन्त की ओर नौसेना इलेक्ट्रॉनिक और रडार में तेजी से हुई प्रगति के कारण अब इसमें और देर न की जा सकती थी। इसके साथ ही टारपीडो और एंटी-सबमेरीन तथा गोता शाखायें मिला दी गयी। इसके तुरन्त बाद ही टारपीडो प्रशिक्षण का काम जामनगर से कोचीन भेज दिया गया। अब से नौसेना का भा० नौ० पो० वालसुरा एकमात्र विद्युत स्कूल रह गया है।

अब भा० नौ० पो० वालसुरा बिजली में पूरा-पूरा प्रशिक्षण अधिकारियों और जवानों दोनों को देता है—उच्च, सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। उसने प्रशिक्षण के इस क्षेत्र में भारतीय-नौसेना को पूर्णतः आत्मनिर्भर बनने में मदद दी है।

इन प्रमुख भा० नौप्रशिक्षण-स्थापनाओं (भा० नौ० पो० सरकार, वेन्दुरुथी, शिवाजी और वालसुरा) और भा० नौ० पो० हामला तथा पूर्ति और सचिवालय स्कूल के अलावा कुछ और छोटे-मोटे भा० नौस्कूल बम्बई में या उसके आस-पास हैं। गोदी अप्रेंटिस स्कूल नौसेना गोदी, बम्बई में है और नौसेना के गोदी के भरती असैनिक शिल्पियों को प्रशिक्षण देता है।

नौसेना में प्रशिक्षण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम कोचीन में नौसेना वायुस्टेशन का उद्घाटन था। पहला नौ-विमान यू० के० से फरवरी, १९५३ के शुरू में प्राप्त किया गया था और कोचीन में नौ-उड़ान कार्य मार्च में शुरू हुआ। रक्षा-संगठन-मन्त्री ने भा० नौ० पो० गरुड़ का औपचारिक अवतरण समारोह ११ मई, १९५३ को सम्पन्न कराया।

कोलाबा, बम्बई, का सैन्य अस्पताल नौसेना ने १ सितम्बर, १९५१ को अपने हाथ

में ले लिया और १८ सितम्बर को उसका नाम भा० नौ० अस्पताल पोत-अश्विनी रखा गया। अस्पताल १ अप्रैल, १९५३ में नौसेना को स्थायी रूप से हस्तान्तरित कर दिया गया।

नौसेना में १५ अगस्त, १९४७ के बाद स्थापित प्रशिक्षण-संस्थाओं के नाम और प्रत्येक में दिये जाने वाले प्रशिक्षण का स्वरूप नीचे बताया जा रहा है —

स्थापना का नाम	स्कूल का नाम	पढ़ाये जाने वाले विषय
भा० नौ० पो, वेंदुरुथि (कोचीन)	गनरी स्कूल सिगनल्स स्कूल नौ-चालन और निदेशन स्कूल टारपीडो और एंटी सबमेरीन और गोता स्कूल बुनियादी और प्रभागीय स्कूल (बी० एंड डी०)	तोपखाना और रडार-नियन्त्रण (अस्त्र) दृश्य सिगनल-क्रिया और बेतार-तार-प्रेषण नौ-चालन और निदेशन (रडार से स्वताङ्कन) टारपीडो और एंटी सबमेरीन, सुरंग साफ करना और लगाना, गोता लगाना। बुनियादी, सेवा का सामान्य प्रशिक्षण, विद्यालय-विषय और सामान्य शिक्षा, नाविकता और नौका-कार्य।
भा० नौ० पो० अग्रणी (कोयम्बटूर)	पेटी अफसर स्कूल	नेतृत्व और मनोबल प्रशिक्षण
भा० नौ० पो० गरुड़ (कोचीन)	नौसेना हवाई स्टेशन	नौसेना-विमान चालन और नौसेना वायु तक्नीकी प्रशिक्षण।
भा० नौ० पो० सरकार (विशाखपटनम्)	व्यावज का प्रशिक्षण	शिक्षागत प्रशिक्षण, नाविकता में प्रारम्भिक प्रशिक्षण, गनरी, सञ्चार, इंजीनियरी, विद्युत, रेडियो और रडार।
भा० नौ० पो० कुंजलि (बम्बई)	विनियामक स्कूल	विनियमन और सुरक्षा सम्बन्धी प्रशिक्षण
भा० नौ० पो० आंग्रे (बम्बई)	पोत शिल्पी स्कूल शारीरिक शिक्षा स्कूल	पोत शिल्प प्रशिक्षण शारीरिक शिक्षा
गोदी अप्रेंटिस स्कूल (बम्बई)	गोदी अप्रेंटिस स्कूल	गोदी अप्रेंटिसों प्रशिक्षण
भा० नौ० पो० हमला (बम्बई)	पूर्ति और सचिवालय स्कूल	स्टोवार्ड, रसोइया, लिपिक और भण्डार-सहायकों का प्रशिक्षण
भा० नौ० पो० वालसुरा (जामनगर)	विद्युत स्कूल	बिजली और रडार-प्रशिक्षण
भा० नौ० अस्पताल-पोत अश्विनी (बम्बई)	आयुर्विज्ञान प्रशिक्षण-केन्द्र	रुग्ण-शय्या-परिचरों के लिए आयुर्विज्ञान के विषय।

इन सस्थाओ स्थापना के बाद एग्जीक्यूटिव और पूर्ति और सचिवालय शाखाओ के सेनाछात्रो का प्रशिक्षण भारत में अगस्त, १९५२ से शुरू हो गया। अगस्त, १९५२ के बाद तब तक इञ्जीनियरी और बिजली शाखाओ के सेनाछात्रो को प्रशिक्षण के लिए यू० के० भेजा जाता रहा, जब तक कि भारत में आवश्यक सुविधायें उपलब्ध न हो जायें। बिजली प्रशिक्षण के लिए सेनाछात्रो की आखिरी टुकड़ी यू० के० को सितम्बर, १९५३ में भेजी गयी और इजीनियरी सेनाछात्रो की आखिरी टुकड़ी जनवरी, १९५५ में।

इतिहास में पहली बार भारतीय नौसेना ने श्रीलका की नौसेना के छ मिडशिपमैनो को जनवरी, १९५४ मे आठ महीने के समुद्री प्रशिक्षण के लिए स्वीकार किया। यह भारत नौ-शिक्षण में हुई प्रगति का प्रतीक था। बाद में भारतीय नौसेना ने रॉयल ईथोपियन नौसेना, रॉयल मलयेशियाई नौसेना, इंडोनेशिया और नाइजीरिया की नौसेना के नौसैनिक अधिकारियो और नाविको को भी प्रशिक्षण दिया। इराकी सरकार के कुछ असैनिको को भी भारतीय नौसेना ने प्रशिक्षित किया।

कुछ विशेषीकृत और उच्च क्षेत्रो को छोड़कर अब नौसेना के लिए अपेक्षित प्राय सभी प्रकार का प्रशिक्षण भारत में ही देना सम्भव हो गया है।

वायुसेना मे प्रशिक्षण

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्थित वायुसेना प्रशिक्षण-स्थापनायें ये थी प्रारम्भिक उडान प्रशिक्षण स्कूल, जोधपुर और उच्च उडान प्रशिक्षण स्कूल, अम्बाला, आरम्भिक प्रशिक्षण-स्कन्ध, कोयम्बटूर, सख्या १ धरातल प्रशिक्षण केन्द्र जलाहल्ली, बगलौर, और सख्या २ धरातल प्रशिक्षण स्कूल, ताम्बरम्। उड़ान प्रशिक्षण स्कूल अम्बाला में फरवरी, १९४८ में स्थापित किया गया।

उस समय चल रही पद्धति के अधीन पाइलटो को तीन विभिन्न सस्थाओं में तीन प्रकमों में प्रशिक्षण दिया जाता था। इसी तरह धरातल-कर्तव्य वाले अधिकारियो का प्रशिक्षण भी बिखरा हुआ था। तकनीकी और गैर-तकनीकी अधिकारियो को आरम्भिक प्रशिक्षण कोयम्बटूर में दिया जाता था। तकनीकी अधिकारियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण सख्या २, धरातल प्रशिक्षण स्कूल में चलता रहा।

एयरमैनो को आरम्भिक प्रशिक्षण वायुसेना रॅगरूट डिपो, जलाहल्ली में दिया जाता था, जहाँ केवल सामान्य-सेवा-प्रशिक्षण ही दिया जाता था। फिर तकनीकी ट्रेडो वाले एयरमैनो को २ धरा० प्र० स्कूल, ताम्बरम् को भेज दिया जाता था और गैर-तकनीकी ट्रेडों वालो को १ धरा० प्र० स्कूल, जलाहल्ली।

अधिकारियो को पूर्वोक्त बिखरी प्रशिक्षण पद्धति का पुनर्गठन अगस्त, १९४९ में सर्वगामी-प्रशिक्षण योजना के अनुसार किया गया। पाइलटों का प्रशिक्षण केन्द्रीकृत कर दिया गया। अब वह प्रशिक्षण काल में अपने शिष्यो के साथ रह सकता था और उनकी प्रगति का निर्धारण कर सकता था। फलत उच्च उड़ान प्रशिक्षण स्कूल, अम्बाला का नया नाम संख्या १ वायुसेना-अकादेमी कर दिया गया। प्रशिक्षण स्कूल का नाम संख्या २ वायुसेना-अकादेमी

रखा गया। आरम्भिक प्रशिक्षण-स्कन्ध, कोयम्बटूर, का नाम संख्या ३ वायुसेना-अकादेमी रखा गया। बुनियादी प्रक्रम और उच्च प्रक्रम का प्रशिक्षण पाइलटों को संख्या १ वायुसेना-अकादेमी, अम्बाला, और संख्या २ वायुसेना-अकादेमी, जोधपुर, दोनों ही जगह दिया जाता था। कमीशनों का और विंग का प्रदान, प्रशिक्षण के उच्च प्रक्रम को सफलतापूर्वक पूरा करने के बाद ही किया जाता था। धरातल-कर्तव्य (गैर-तकनीकी) अधिकारियों को प्रशिक्षण (अर्थात् प्रशासनिक, उपकरण, लेखा और शिक्षा शाखाओं वालों का) संख्या ३ वायुसेना-अकादेमी, कोयम्बटूर, में दिया जाता था। तकनीकी अधिकारियों का प्रशिक्षण जलाहल्ली में जुलाई, १९४९ में शुरू किये गये नये तकनीकी प्रशिक्षण कालेज में स्थानान्तरित कर दिया गया।

पहले भारतीय वायुसेना के अधिकारियों के तकनीकी प्रशिक्षण के लिए भारत में कोई उपयुक्त संस्था न थी। अस्थायी तौर पर अन्य पदधारियों में से कमीशन पाने वाले अधिकारियों को प्रशिक्षण संख्या २, धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, ताम्बरम् में दिया जाता था; जबकि नये प्रवेश पाये हुए लोग तकनीकी प्रशिक्षण के लिए यू० के० को भेज दिये जाते थे। वायुसेना में तकनीकी अधिकारियों की भारी कमी भी थी। इसलिए भारत में एक तकनीकी प्रशिक्षण कॉलेज की स्थापना अविलम्बनीय रूप से जरूरी हो गयी थी।

भारत सरकार ने वायुसेवा प्रशिक्षण लिमिटेड, हाम्बले से एक करार किया कि जलाहल्ली में एक तकनीकी प्रशिक्षण कॉलेज स्थापित और सञ्चालित करे, जो आरम्भ में ४ जुलाई, १९४९ से पांच सालों के लिए चलाया जाय। इस कॉलेज में सीधे प्रवेश पाने वाले तकनीकी अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता था, और एयरोनॉटिकल, विद्युत्, सिगनल्स और शस्त्रास्त्र शाखाओं में कमीशन पाने वाले अन्य पदधारियों को।

इस कॉलेज के ब्रिटिश शिक्षक कर्मचारियों के स्थान पर, धीरे-धीरे भारतीय अधिकारी लगाये गये। ४ जुलाई, १९५६ को एक भारतीय ने कॉलेज के कमाडेंट का पद संभाल लिया। कॉलेज को १०० अधिकारी सेनाछात्रों और १०० अप्रेंटिसों को प्रशिक्षण देने के लिए बनाया गया है।

तीनों धरातल-प्रशिक्षण स्कूलों में सर्वगामी प्रशिक्षण के आधार पर, एयरमैनों के धरातल-प्रशिक्षण को भी पुनर्गठित किया गया। इस योजना के अधीन रंगरूटों को सामान्य-सेवा-प्रशिक्षण और ट्रेड-प्रशिक्षण उसी स्कूल में दिया जाता था। संख्या २ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, ताम्बरम्, एयरमैनों के एयरफ्रेम, इंजिन, सम्बद्ध इंजीनियरी और फोटो-ट्रेडों में ही प्रशिक्षण के लिए जिम्मेवार रहा। एयरमैनों के सिगनल्स, रडार, विद्युत-यन्त्र और शस्त्रास्त्र तथा वायुक्षेत्र-सुरक्षा संक्रिया में प्रशिक्षण कार्य को संख्या २ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल से नवस्थापित संख्या ३ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, जलाहल्ली, में ३१ अक्टूबर, १९४९ से ले जाया गया। संख्या १ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, जलाहल्ली, ने नयी सर्वगामी योजना जून, १९४९ में अपना ली और वह गैर-तकनीकी ट्रेडों के एयरमैनों को ही प्रशिक्षण देने लगा।

अविभाजित भारत का पैराट्रूपरों का प्रशिक्षण स्कूल चकलाला (अब पाकिस्तान में) में स्थित था। भारत में आजादी के बाद पैराट्रूपरों का प्रशिक्षण शुरू में आगरा में चालू किया गया, जहां १ फरवरी, १९५० से पैराट्रूपर प्रशिक्षण स्कूल स्थापित किया गया। जामनगर में

शस्त्रास्त्र प्रशिक्षण शाखा अप्रैल, १९५१ में बमसार हवाबाजों को नियमित सक्रियागत प्रशिक्षण देने लिए शुरू किया गया। अगस्त, १९५१ में सख्या १ वायुसेना-अकादेमी और विपरिवर्तन-प्रशिक्षण यूनिट अम्बाला से बेगमपेट ले जायी गयी। अम्बाला का उडान प्रशिक्षक स्कूल नवम्बर, १९५३ में ताम्बरम् में ले जाया गया।

तीनो वायुसेना अकादेमियो के नाम १ अगस्त, १९५५ मे वायुसेना कॉलेज कर दिये गये। जेट विमान सम्बन्धी प्रशिक्षण की बढती हुई माँग को देखते हुए, सर्वगामी प्रशिक्षण योजना आगे न चल सकी। १९५७ में योजना मे सशोधन किया गया, ताकि जेट-प्रशिक्षण काफी आरम्भिक प्रक्रम मे शुरू किया जा सके। पाइलट और नैविगेटर के लिए अब बुनियादी और मध्यम वायुसेना उडान कॉलेज जोधपुर में, उच्च स्तरीय प्रक्रम में वायुसेना स्टेशन, हैदराबाद में, उच्च और अनुप्रयुक्त जेट प्रशिक्षण, जेट-प्रशिक्षण-शाखा, हाकिमपेट मे, और परिवहन विमानो के पाइलटों और नैविगेटरो का उच्चस्तरीय प्रशिक्षण, परिवहन-प्रशिक्षण स्कन्ध, बेगमपेट में दिया जाने लगा। मई १९५७ मे इस सशोधित उड़ान-प्रशिक्षण नीति के अनुसार कोयम्बटूर के वायुसेना कॉलेज का नाम वायुसेना-प्रशासनिक-कॉलेज कर दिया गया।

अप्रैल, १९६२ मे एक सम्भारिकी-समर्थन-प्रशिक्षण कालेज, इलाहाबाद मे हेलिकॉप्टरो मे उच्चस्तरीय प्रशिक्षण देने के लिए खोला गया और वही पर एक पाइलट-प्रशिक्षण-स्थापना अगस्त, १९६२ मे पाइलटो के प्रशिक्षण के बुनियादी और मध्यम प्रक्रमो के प्रशिक्षण के लिए बनायी गयी। ताम्बरम् का उडान शिक्षक स्कूल, उडान शिक्षको को प्रशिक्षण देता रहा।

१९६० में धरातल-प्रशिक्षण के क्रियाकलाप में और विस्तार किया गया। कानपुर में सख्या ४ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल बनाया गया, ताकि नयी बनने वाली यूनिटो के लिए एयरमैनो की बढी हुई जरूरतें पूरी की जा सकें। जून, १९६२ में धरातल-प्रशिक्षण स्कूल ट्रेड के आधार पर पुनर्गठित किये गये। बिजली और यन्त्रो के ट्रेड वालों का जो प्रशिक्षण अब तक सख्या २ ध० प्र० स्कू० ताम्बरम् में चल रहा था, उसे सख्या ५ ध० प्र० स्कू० जलाहल्ली में ले जाया गया, जिसकी स्थापना १ जुलाई, १९६२ को की गयी। इसी तरह रडार ट्रेड वालों का प्रशिक्षण, सख्या ३—ध० प्र० स्कूल, जलाहल्ली के जनवरी, १९६३ मे बनने पर, वहाँ ले जाया गया। मोटर परिवहन (एम टी) चालकों, भारतीय वायुसेना पुलिस और सगीतविदो का प्रशिक्षण भी १९६३ में इस स्कूल को सौंप दिया गया, जब सख्या १ ध० प्र० स्कू० जलाहल्ली से साम्बरे (बेलगाम) में ले जाया गया।

अक्टूबर, १९६२ के बाद वायु-कर्मी का प्रशिक्षण, बढती हुई माँग की पूर्ति के लिए, बढा दिया गया। पाइलटो को अधिकतम सख्या में बढाने के लिए किये गये पूरे-पूरे प्रयास के फलस्वरूप मद्रास, दिल्ली, कानपुर, नागपुर और पटियाला के उड़ान-क्लबो को पाइलटों के प्रशिक्षण का काम सौंपा गया। आपात प्रशिक्षण आयोजना के अधीन, जो जनवरी १९६३ में शुरू की गयी, पाइलटो का सामान्य-सेवा-प्रशिक्षण कोयम्बटूर के वायुसेना प्रशासनिक कॉलेज में बनाये गये आरम्भिक प्रशिक्षण-स्कन्ध में केन्द्रित कर दिया गया। बीदर में एक अतिरिक्त जेट-प्रशिक्षण-स्कन्ध बनाया गया और येल्लहंका में परिवहन विमानो में उच्च प्रशिक्षण के लिए बनाये गये अतिरिक्त परिवहन-प्रशिक्षण-स्कन्ध को सौंप दिया।

आपात प्रशिक्षण योजना के अधीन उड़ान-प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम की अवधि घटाकर एक साल कर दी गयी और प्रवेश और बारंबारिता बढ़ा दी गयी। प्रशिक्षण तीन की जगह पाँच प्रक्रमों में दिया जाने लगा, नामत आरम्भिक प्रशिक्षण, प्रारम्भिक उड़ान-प्रशिक्षण, बुनियादी, मध्यम और उच्च। अनुपयुक्त प्रक्रम वाला प्रशिक्षण बन्द कर दिया गया।

वायुसेना तकनीकी कॉलेज में प्रशिक्षण अधिकारियों के पाठ्यक्रम की अवधि कम कर दी गयी ताकि ज्यादा लोग प्रशिक्षित किये जा सकें। अप्रेंटिसों का प्रशिक्षण बन्द कर दिया गया, ताकि ज्यादा अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जा सके। वायुसेना प्रशासनिक कॉलेज, कोयम्बटूर में गैर-तकनीकी शाखाओं में प्रशिक्षित होने वाले अधिकारियों की संख्या, प्रशिक्षण-अवधि एक साल से घटाकर छ महीने करते हुए, दूनी कर दी गयी।

अधिकांश एयरमैन ट्रेडों की प्रशिक्षण अवधि कम कर दी गयी, ताकि धराउल-प्रशिक्षण स्कूल से निकलने वालों की संख्या बढ़ जाय।

आपात प्रशिक्षण कार्यक्रम प्राय २७ महीनों तक चलता रहा। जनवरी, १९६४ से आपात उड़ान-प्रशिक्षण में संशोधन किया गया और उसे एक साल से बढ़ाकर ६८ हफ्ते कर दिया गया।

१९६७ के मध्य तक मंजूर सवर्गों के प्रत्याशित प्रशिक्षण की दृष्टि में, आपात प्रशिक्षण आयोजना में, फिर सुधार किया गया, ताकि सामान्य सवर्ग व्यर्थताओं की ही प्रशिक्षण-जरूरतों के लिए व्यवस्था की जा सके। अब उड़ान-प्रशिक्षण के तीन प्रक्रम-छ छ महीनों के होंगे। बुनियादी, मध्यम और उच्च। कमीशन और विंग, उच्च प्रक्रम के प्रशिक्षण के बाद दिये जायेंगे। जेट-प्रशिक्षण- स्कन्ध के पाइलटों को कमीशनोत्तर प्रशिक्षण छ महीने और पूरा करना होगा। परिवहन पाइलट स्क्वेड्रनों में परिवहन विमान सम्बन्धी विहित अनुभव पूरा करने के बाद चार महीनों का कमान-विपरिवर्तन-पाठ्यक्रम पूरा करेंगे।

एयरमैनों के लिए, कुछ अपवादों को छोड़कर, १९६५ में प्रशिक्षण आपात-पूर्व के संरूप में ले आया गया। कुछ ट्रेडों के सम्बन्ध में वायुसेना की बढ़ी हुई अधिकृत संख्या की प्रशिक्षण-जरूरतों की पूर्ति की जा चुकी है। अधिकांश गैर-तकनीकी ट्रेडों के बारे में प्रशिक्षण कार्यक्रम के १९६७ के अन्त तक पूरे हो जाने की आशा है और तकनीकी ट्रेडों के १९६८ के अन्त तक।

बढ़े हुए प्रशिक्षण कार्यक्रम के क्रमश: पूरे हो जाने से कुछ नयी बनी हुई यूनिटें धीरे-धीरे समेट ली जायेंगी।

अब वायुसेना में प्रमुख प्रशिक्षण स्थापनायें ये हैं—

(१) इलाहाबाद की पाइलट-प्रशिक्षण-स्थापना (जो अक्तूबर, १९६६ में बीदर ले जायी है)

(२) वायुसेना उड़ान कॉलेज, जोधपुर (जो मार्च, १९६७ में बेगमपेट जाना है)।

(३) जेट-प्रशिक्षण-स्कन्ध, हाकिमपेट, जेट विमानों के बारे में अनुपयुक्त और उच्च प्रशिक्षण देने के लिए।

(४) येलहंका का परिवहन प्रशिक्षण स्कन्ध, परिवहन विमानों में उच्च प्रशिक्षण देने के लिए।

(५) सम्भारिकी-समर्थन-यूनिट, इलाहाबाद।
(६) उड़ान शिक्षक स्कूल, ताम्बरम्।
(७) वायुसेना तकनीकी कॉलेज, जलाहल्ली।
(८) वायुसेना प्रशासनिक कॉलेज, कोयम्बटूर।
(९) संख्या १ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, साम्बरे।
संख्या २ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, ताम्बरम्
संख्या ३ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, जलाहल्ली
संख्या ४ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, कानपुर
संख्या ५ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, } जलाहल्ली
संख्या ६ धरातल-प्रशिक्षण स्कूल, }
(१०) जंगल और बर्फ में सुरक्षित रहने सम्बन्धी स्कूल, श्रीनगर (जिसमें अधिकारियों और जवानों को जंगल और बर्फ में सुरक्षित रहने की तकनीकें सिखायी जाती हैं)

प्रशिक्षण-योजना, १९६६ के मध्य में हैदराबाद में प्रस्तावित वायुसेना अकादेमी के काम शुरू कर देने पर, और भी पुनर्गठित हो जायेगी। आयोजना यह है कि यह अकादेमी एक बार में ३५० सेना छात्रों को प्रशिक्षण दे। उसकी लागत का अनुमान लगभग १२ करोड़ रुपये है। अकादमी इनका प्रशिक्षण अपने हाथ में ले लेगी (क) पाइलट-प्रशिक्षण-स्थापना, इलाहाबाद में, और वायुसेना उड़ान कॉलेज जोधपुर में चलने वाला प्रशिक्षण (ख) नैविगेटरों और सिगनेलरों (वायु) का इस समय जोधपुर में चलने वाला प्रशिक्षण, और (ग) इस समय वायुसेना प्रशासनिक कॉलेज, कोयम्बटूर, में चलने वाला धरातल-कर्तव्य अधिकारियों का प्रशिक्षण।

सरकार यह आश्वस्त करना चाहती थी कि वायुसेना में कोई भी निवार्य दुर्घटना न होने पाये। मन्त्रिमण्डल-सचिव के सभापतित्व में एक उच्चस्तरीय समिति मई, १९६४ में बनायी गयी जिसके सदस्य थे थे वायु स्टाफ उपप्रमुख और महानिदेशक, नागर-विमानन और मन्त्रिमण्डल-सचिवालय का एक अधिकारी सदस्य-सचिव था। समिति ने अपना प्रतिवेदन नवम्बर, १९६४ में दे दिया। समिति ने यह माना कि वायुसेना जैसी सेवा में उड़ान दुर्घटनायें पूरी तरह तो समाप्त नहीं की जा सकती। उसका निष्कर्ष था कि आगत काल से उड़ान-घण्टों में हुई वृद्धि के बावजूद बड़ी दुर्घटनाओं की दर स्थिर रही है और १९५४-६३ की अवधि के दौरान घातक दुर्घटनाओं और विमान को आर्थिक मरम्मत से परे क्षति पहुँचे, ऐसी दुर्घटनाओं की दर कम हुई है। समिति का विचार था कि पाइलट की त्रुटि के क्षेत्र में अवतरण के समय दुर्घटनायें ज्यादा होती थी। तकनीकी तौर पर काम बन्द हो जाने या गलत काम होने लगने के कारण लगभग २५ प्रतिशत दुर्घटनायें हुई हैं, जबकि विविध आकस्मिक कारणों में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण 'पक्षी-टकराहट' है। मौसम की खराबी के कारण १९६१ में दुर्घटनायें ५·१ प्रतिशत से बढ़कर १९६३ में १२ २ प्रतिशत हो गया है। समिति ने ऋतुविमान सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठे करने, भारत-सर्वेक्षण के नक्शों को संशोधित करने, वायु-क्षेत्रों में बिजली के प्रकाश की व्यवस्था करने और सभी वायु-क्षेत्रों में धरातल-नियन्त्रण-पद्धति अपना लेने आदि में सुधार

करने के लिए सिफारिशें की। इन सभी को अमल में लाने के लिए स्वीकार किया गया।

खण्ड ५ स्टाफ कॉलेज और राष्ट्रीय रक्षा-कॉलेज

अविभाजित भारत में सेना के अधिकारियों को स्टाफ प्रशिक्षण देने वाला स्टाफ कालेज क्वेटा में स्थित था। विभाजन के बाद वैसी ही संस्था भारत में स्थापित की जानी थी। जब राष्ट्रीय रक्षा-अकादमी बन रही थी, यह समझा गया कि तीनों सेनाओं के अधिकारियों का एक समान प्रशिक्षण, दृष्टिकोण में एकरूपता और ज्यादा अच्छे अन्त सेना सहयोग के विकास को प्रोत्साहित करेगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए, यह तय किया गया कि स्टाफ कॉलेज का रूप भी अन्त -सेना वाला होना चाहिये और उसमें तीनों सेनाओं के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये। तदनुसार रक्षा-सेवा-स्टाफ कॉलेज की स्थापना नीलगिरि पहाड़ियों में वेलिंगटन नगर में की गयी। नया कॉलेज ५ अप्रैल, १९४८ को शुरू किया गया, जब इसमें थलसेना, नौसेना और वायुसेना से आये हुए अधिकारियों ने प्रवेश लिया और उनको एक ही पाठ्यक्रम से प्रशिक्षित किया गया।

कॉलेज का उद्देश्य तीनों सेना के अधिकारियों को द्वितीय श्रेणी की स्टाफ-नियुक्तियों के लिए अपेक्षित स्तर का प्रशिक्षण देना है और, ऐसा करते हुए उनको और अधिक अनुभव प्राप्त करने के बाद, कमान और उच्चतर स्टाफ-नियुक्तियों के लिए उपयुक्त बनाना है। जब कालेज शुरू किया गया, तो स्वयं कमांडेंट और अधिकांश शिक्षक ब्रिटिश अधिकारी थे, जिन सब की जगह पर धीरे-धीरे भारतीय अधिकारी रखे गये। मई, १९५५ तक सभी शिक्षक भारतीय हो गये और एक भारतीय मेजर जनरल, पी० एस० ज्ञानी, ने कॉलेज के पहले कमांडेंट का पदभार संभाल लिया।

थलसेना, नौसेना और वायुसेना के अधिकारियों के साथ-साथ भारतीय प्रशासन-सेवा, भारतीय विदेश-सेवा, रक्षा-लेखा-सेवा और रक्षा-विज्ञान-सेवा के असैनिक अधिकारियों को भी स्टाफ कॉलेज में प्रशिक्षण दिया जाता है। अन्य देशों के प्रशिक्षार्थी भी आते है। ऐसे प्रशिक्षार्थी सामान्यतः पारस्परिकता के आधार पर लिये जाते हैं।

वेलिंगटन को कॉलेज के लिए अस्थायी स्थल के रूप में चुना गया था, क्योंकि वहाँ पर उपयुक्त आवास उपलब्ध था। दूसरे स्थानों की उपयुक्तता की जाँच करने के बाद, अन्त में मार्च १९४९ में यह तय किया गया कि स्टाफ कॉलेज स्थायी रूप से वेलिंगटन में ही बनाया जाय।

१ जून, १९६३ से प्रशिक्षित स्टाफ-अधिकारियों की बढती हुई माँग को देखते हुए, एक साल में एक की जगह दो-दो पाठ्यक्रम चलाये गये और इस प्रयोजन से पाठ्यक्रम की अवधि ४५ हफ्ते से कम करके २७ हफ्ते कर दी गयी। १९६५ में यह अवधि बढाकर ३० हफ्ते कर दी गयी।

वेलिंगटन का स्टाफ कॉलेज कैप्टेन मेजर के ओहदे वाले या समकक्ष अधिकारियों के

लिए बनाया गया है। जरूरत यह समझी गयी थी कि लन्दन के इम्पीरियल डिफेंस कॉलेज जैसी संस्था बनायी जाय, जहाँ मध्य स्तर के वरिष्ठ सैनिक और असैनिक अधिकारी, जिनके नीति-निर्माण वाले स्तर पर उच्चतर जिम्मेवारियों के सँभालने की सम्भावना है, विभिन्न कोणों से, रक्षा के विभिन्न व्यापक पहलुओं पर, मिलकर विश्लेषण करते हुए, विमर्श करें। १९४७ से दो सेना अधिकारी (और १९५५ तक एक असैनिक अधिकारी भी) हर साल लन्दन में इम्पी० डि० कालेज के पाठ्यक्रम में शामिल होने के लिए भेजे जा रहे हैं। सीमित संख्या में ऐसे अधिकारियों के प्रशिक्षण का अपना उपयोग है, पर हमारी अपनी संस्था भी होनी चाहिये, जहाँ भारत की परिस्थितियों के अनुसार समस्याओं पर विचार किया जा सके। तदनुसार राष्ट्रीय रक्षा-कालेज की स्थापना दिल्ली में की गयी और पहला पाठ्यक्रम २७ अप्रैल, १९६० को शुरू किया गया। कॉलेज का अध्ययन लगभग १० महीने चलता है और उसका सम्बन्ध राष्ट्रीय रक्षा के स्त्रातेजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और औद्योगिक पहलुओं से रहता है। एक पाठ्यक्रम की सामान्य संख्या लगभग चालीस अधिकारी रहती है, जो तीनों सशस्त्र सेनाओं से (कर्नल, ब्रिगेडियर या उनके समकक्ष), भारतीय प्रशासन-सेवा, भारतीय, विदेश-सेवा, भारतीय सीमान्त-प्रशासन-सेवा, रक्षा-विज्ञान-सेवा, रक्षा-लेखा-सेवा, रेलवे और भारतीय डाक-सेवा (और कभी-कभी केन्द्रीय सचिवालय-सेवा से भी) लिये जाते हैं। कमांडेंट, लेफ्टी० जनरल या समकक्ष पद का होता है। वरिष्ठ निदेशक स्टाफ में तीन अधिकारी रहते हैं (जो मेजर जनरल या समकक्ष या भारत सरकार के संयुक्त-सचिव के ओहदे के होते हैं)। इनमें से दो सैन्य अधिकारी रहते हैं (जो कमांडेंट जिस सेना का होता है, उसे छोड़ अन्य दोनों सेनाओं में से लिए जाते हैं) और तीसरा एक सिविलियन अधिकारी होता है।

आपात के आरम्भ में, वरिष्ठ अधिकारियों के ज्यादा महत्वपूर्ण कामों में लग जाने से, तीसरा पाठ्यक्रम समाप्त होने पर अप्रैल, १९६३ में इस कॉलेज का काम बन्द कर दिया गया था। पर कॉलेज १५ जनवरी, १९६४ को फिर खोल दिया गया। १९६४ और १९६५ में निदेशक स्टाफ और छात्र-अधिकारी दो टुकड़ियों में विदेश-यात्रा पर भी गये।

दिसम्बर, १९६५ में राष्ट्रीय रक्षा-कालेज ने, विभिन्न समाचार-पत्रों और एजेंसियों से चुने गये पत्रकारों के लिए, एक हफ्ते का अनुस्थापन पाठ्यक्रम भी चलाया।

खण्ड ६ शैक्षिक सम्थायें

(क) लारेंस स्कूल—भारत में नौकरी करने वाले ब्रिटिश सैनिकों के बच्चों के लिए पहले तीन स्कूल थे, जिनको 'लारेंस स्मारक सैन्य-स्कूल' कहा जाता था, एक शिमला पहाड़ियों में सनावर में था, दूसरा नीलगिरि पहाड़ियों में लवडेल में था और तीसरा माउंट आबू में। इन स्कूलों के लिए जनता ने चन्दा करके पैसा इकट्ठा किया गया था। आजादी के बाद अब ये स्कूल उस सीमित प्रयोजन से काम न कर सकते थे, जिसके लिए इनकी स्थापना की गयी थी।

१९४८ के आरम्भ में रक्षा-मन्त्रालय ने एक समिति की स्थापना की, जिसने उनके जारी रहने और भावी विकास के बारे में जाँच करके, सिफारिश देने के लिए कहा गया। समिति की सिफारिश के अनुसार सरकार ने निर्णय किया कि सनावर और लवडेल स्थित स्कूलों को पब्लिक स्कूलों के रूप में विकसित किया जाय। तदनुसार ये स्कूल प्रबन्ध के लिए शिक्षा-मन्त्रालय को सौंप दिये गये। अब उनका प्रबन्ध सोसायटी रजिस्ट्रेशन अधिनियम के अधीन बनी दो स्वायत्त सोसायटियाँ चलाती हैं। इन स्कूलों में चालीस प्रतिशत स्थान भारतीय सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के बच्चों के लिए आरक्षित रखे जाते हैं। सुपात्र छात्रों के लिए अनेक छात्रवृत्तियाँ भी चालू की गयी।

(ख) किंग जार्ज स्कूल (अब सैनिक स्कूल)—जालन्धर, अजमेर, बेलगांव और बंगलौर में चार किंग जार्ज रॉयल इंडियन मिलिट्री कॉलेज थे। ये संस्थायें भारतीय सैनिकों के बच्चों को इस तरह से शिक्षा देने के लिए बनायी गयी थी कि उनको किसी भी सैन्य जीवन-कार्य (कैरीयर) के लिए योग्य बनाया जा सके। इन कॉलेजों में प्रवेश कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारियों और अन्य पद-धारियों और नौसेना के वारंट अधिकारियों और नाविकों तथा वायुसेना के वारंट अधिकारियों और एयरमैनों के बच्चों को ही मिलता था, जो सेवा में थे या नियमित भारतीय सेना से निवृत्त हो चुके थे। इन स्कूलों की कार्यप्रणाली का अध्ययन करने के लिए बनायी गयी समिति की सिफारिश पर, इन कॉलेजों को आवासीय पब्लिक स्कूलों के रूप में १ सितम्बर, १९५२ से पुनर्गठित किया गया और प्रवेश असैनिक और सैनिक अधिकारियों के बच्चों के लिए खोल दिया गया। तब इनको किंग जार्ज कॉलेज कहा जाने लगा। पहले ये स्कूल बच्चों को सीनियर कैम्ब्रिज परीक्षा के लिए तैयार करते थे, पर हाल में ये उच्चतर माध्यमिक परीक्षा दिलाने लगे हैं। स्कूलों से उत्तीर्ण होने के बाद बच्चों को अपना जीवनकार्य स्वयम् चुनने दिया जाता है और सशस्त्र सेनाओं में भरती के लिए उनका कोई दायित्व नहीं होता। १९५५ में यह फैसला किया गया कि हर स्कूल की अधिकृत ३०० की संख्या के १० प्रतिशत तक ही अधिकतम दिवस-छात्रों को प्रवेश दिया जाय। इन स्कूलों का प्रबन्ध सुधारने के लिय सभी स्कूलों के लिए रक्षा-मन्त्री की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय शासी-परिषद् और प्रत्येक के लिए एक स्थानीय प्रशासन-बोर्ड १९६१ में बनाया गया। जालन्धर वाले स्कूल को १९५२ में नौगांव (म० प्र०) ले आया गया और फिर १९६० में चैल (शिमला पहाड़ियों) में धौलपुर (राजस्थान) में १६ जुलाई १९६२ से एक नया स्कूल चालू कर दिया गया। जनवरी, १९६३ से कनिष्ठ कमिशन अधिकारियों, अन्य पद-धारियों और उनके समकक्ष लोगों के बच्चों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ६० प्रतिशत कर दी गयी। १९६५ में इन स्कूलों का नाम मिलिटरी स्कूल (सैनिक स्कूल) कर दिया गया।

आज कल ३५ सशस्त्र सेनाओं के व्यक्तियों के, जिनकी आय ४०० रुपये मासिक से कम है, बच्चों का सारा खर्च (जिसमें ट्यूशन, आवास, भोजन, पुस्तकें और वस्त्र शामिल हैं) सरकार देती है। अधिकारियों के बच्चों से लिये जाने वाला शुल्क क्रमशः बढ़ती दर पर है, नामतः लेफ्टिनेंटों और कैप्टनों के बच्चों के लिए १००० रुपये प्रति वर्ष, मेजरों के लिए १२०० रुपये, लेफ्टिनेंट कर्नलों के लिए १५०० रुपये और कर्नलों या उनसे ऊपर के लिए १६०० रुपये प्रति

वर्ष (और सभी मामलों में अन्य दोनों सेनाओं के समकक्ष ओहदे वाले अधिकारी भी)। अमेनिरों के बच्चों से प्रतिवर्ष १६०० रुपये लिये जाते है।

इन स्कूलों मे सीमित सख्या में बच्चों को छात्रवृत्ति भी मिलती है। इस योजना में उन बच्चों की फीस वापस कर दी जाती थी, जिनके जनकों की आय ५०० रुपये प्रतिमास या कम होती थी और उनकी आधी फीस, जिनके जनकों की आय ५०० से १००० रुपये प्रतिमास थी। अक्टूबर, १९५६ में ये सीमायें बढ़ाकर क्रमश: ६०० और १२०० रुपये कर दी गयी, और इस तरह यह योजना शिक्षा मन्त्रालय द्वारा पब्लिक स्कूलों में चलायी गयी योग्यता छात्रवृत्ति वाली योजना जैसी ही हो गयी।

(ग) राष्ट्रीय भारतीय सैन्य कॉलिज—प्रिंस आफ वेल्स रॉयल इंडियन मिलिटरी कॉलेज, देहरादून की स्थापना १९२२ में भारतीय सैन्य-अकादेमी को छात्र देने वाली सस्था के रूप में की गयी थी। इसे दिसम्बर १९५५ में सैनिक स्कूल का नाम दिया गया और बाद में राष्ट्रीय भारतीय सैन्य कॉलेज का। फिर भी इस संस्था मे दी जाने वाली शिक्षा के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं आया और न राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी, खड़कवासला को छात्र देने वाली सस्था के रूप में इसके उद्देश्य में ही। प्रवेश एक प्रवेश-परीक्षा के परिणाम के अनुसार दिया जाता है, जो अ० भा० आधार पर हर छ महीने में ली जाती है। पहले इस कॉलेज में जगहें विभिन्न प्रान्तों (राज्यों) के रँगरूटों की सख्या के अनुपात में बाँट दी जाती थी पर अब अनुपात, जिन राज्यों के उम्मीदवार प्रवेश परीक्षा मे बैठते है, उनकी जनसख्या के अनुसार बाँट दिया जाता है। साक्षात्कार-बोर्ड में राज्य-सरकारों के भी प्रतिनिधि रहते हैं, जो प्रवेश-परीक्षा का ही एक अंग है। जो छात्र राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी में प्रवेश के लिए चुने जाने की स्थिति में भारतीय सशस्त्र सेनाओं में सेवा करने का वचन देते है, उनसे १५०० रुपये वार्षिक शुल्क लिया जाता है। १९५५ में यह तय किया गया कि अनुसूचित जातियों, जनजातियों के बच्चों से रियायती दर पर ७५० रुपये वार्षिक (१५०० रुपये वार्षिक की जगह) शुल्क लिया जाना चाहिये। प्राय सभी राज्य कॉलेज मे छात्रवृत्तियाँ देते हैं।

(घ) सैनिक स्कूल—अनुभव ने बताया है कि सशस्त्र सेनाओं के कमीशन वाले पदों पर आने वाले युवकों के गुण और सख्या में सुधार की जरूरत है। मिडिल और सेकेंडरी के शिक्षा प्रक्रमों में ऐसी उपयुक्त शिक्षा देने के लिए, जिससे उनमें सशस्त्र सेनाओं मे जीवन कार्य (कैरियर) के रूप में नौकरी करने की अभिरुचि पैदा हो, एक नये प्रकार के स्कूल, जिनको सैनिक स्कूल कहा जाता है, १९६१ में शुरू किये गये, जो राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी के स्रोत-स्रोतस्र के रूप में है।*

---

* पहले स्कूल ने सतारा (महाराष्ट्र) में २३ जून, १९६१ मे काम करना शुरू कर दिया। और सैनिक स्कूल कुंजपुरा (पंजाब), बालाछेड़ी (जामनगर, गुजरात) और कपूरथला (पंजाब) में जुलाई, १९६१ में खुले, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) में अगस्त, १९६१ में, कोरुकोंडा (आन्ध्रप्रदेश), कझकूटम (त्रिवेन्द्रम्, केरल) और पुरुलिया (प० बंगाल)

ये स्कूल आवासी पब्लिक स्कूल की तरह चलाये जाते है और उनका पाठ्यविवरण, चयन और परीक्षा अखिल भारतीय होती है। बच्चे इन स्कूलो में प्रान्तीयता, जातिवाद आदि से मुक्त वातावरण में बडे हो, इस उद्देश्य से केवल ६७ प्रतिशत जगहें उस राज्य के लिए रक्षित रखी जाती हैं, जहां स्कूल स्थित हैं और शेष जगहे अन्य राज्यों के लडको के लिए रहती हैं। जगहें सैन्यजनो के बच्चो के लिए भी आरक्षित रहती है,—अधिकारियो के और अन्य पदधारियो के। स्कूलो की व्यवस्था एक पंजीबद्ध सोसायटी चलाती है और शासी-परिषद् के अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री रहते हैं। उन राज्यों के मुख्य मन्त्री या शिक्षा-मन्त्री भी, जहाँ स्कूल स्थित हैं, शासी-परिषद् के सदस्य होते हैं। स्कूलो का वित्तपोषण छात्रो से प्राप्त शुल्क और राज्य सरकारो और केन्द्रीय सरकार से प्राप्त छात्रवृत्तियो से किया जाता है।

सैनिक स्कूलो के उम्मीदवारो की पहली टुकडी राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी के लिए, प्रवेश-परीक्षा में, जुलाई, १९६३ में बैठी। उस समय से १९९ उम्मीदवार रा० र० अकादेमी में, प्रवेश के लिए, जनवरी, १९६६ तक चुने गये। सैनिक स्कूलो की पढाई के पूरे प्रभाव का अनुभव करने में अभी कुछ समय और लगेगा।

में जनवरी, १९६२ में, भुवनेश्वर (उडीसा) मे फरवरी, १९६२ मे, अमरवतीनगर (मद्रास) और रीवॉ (म० प्र०) में जुलाई, १९६२ में और तिलैया (बिहार) और बीजापुर (मैसूर) में सितम्बर, १९६३ में, ग्वालपाडा (असम) में नवम्बर, १९६४ में और घोरखाल (नैनीताल—उ० प्र०) में मार्च, १९६६ में खोले गये।

नवाँ अध्याय

नये संविधान से सम्बद्ध परिवर्तन

खण्ड—१ नामो, ओहदो के बिल्लो और रङ्गध्वज आदि मे परिवर्तन

२६ जनवरी, १९५० को भारत के नये संविधान के प्रारम्भ के साथ भारत एक सर्व-प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य हो गया और तब रक्षा सेवाओ में कुछ परिवर्तन जरूरी हो गये, खासकर सशस्त्र सेनाओ की यूनिटो और सेवाओ के नामो में और उनके ध्वजों और बिल्लो आदि में। सशस्त्र सेनाओ के लिए नये वीरता-पुरस्कार और पदक भी रखने पड़े। अनुच्छेद ५३ (२) के अधीन रक्षा-सेनाओ की सर्वोपरि कमान राष्ट्रपति में निहित है।

सेना के व्यक्तियो द्वारा शपथ लिया जाना

१५ अगस्त, १९४७ के बाद भी भारत की सशस्त्र सेनाओ की निष्ठा महामहिम सम्राट के प्रति बनी रही। जिन अधिकारियो के पास किंग कमीशन या भारतीय कमीशन थे तथा नौसेना के नाविको को इसके पहले महामहिम सम्राट के प्रति निष्ठा की शपथ न लेनी होती थी, पर यह शपथ थलसेना के अन्य पदधारियो और वायुसेना के समकक्ष पदधारियों को लेनी पड़ती थी। २६ जनवरी, १९५० को सशस्त्र सेनाओ के प्रत्येक सदस्य से नीचे लिखे रूप में शपथ लेने की अपेक्षा की गयी :

"मै परमात्मा के नाम पर शपथ लेता हूँ। सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति सच्ची भक्ति और निष्ठा बनाये रखूंगा और मै कर्तव्य में बद्ध रूप में, ईमानदारी और सत्य भक्तिपूर्वक भारत सघ की नौसेना/नियमित थलसेना/वायुसेना में सेवा करूंगा और आदेश मिलने पर कही भी समुद्र, धरती और वायु म जाऊँगा और भारत-सघ के राष्ट्रपति के सभी कमानो का, और मेरे ऊपर रखे गये किसी भी अधिकारी के कमान का, अपने प्राण भी सकट में डालकर पालन और आज्ञापालन करूँगा।"
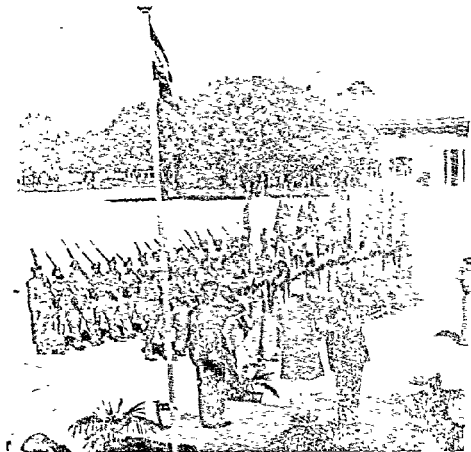
किप के रग वजो के साथ देहरादून मे मार्च पास्ट   रक्षामंत्री सलामी ले रहे हैं

भारतीय सैन्य अकादमी के कमाडेंट किप का रगध्वज सुरक्षित रखने के लिए प्राप्त करते हुए
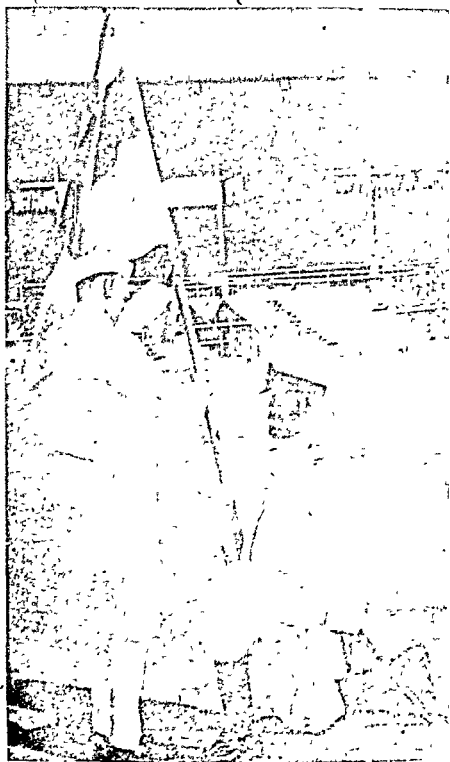
डॉ० राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति का रणध्वज भारतीय नौसेना को प्रस्तुत करते हुए

भारत में सेवा कर रहे विभिन्न कमीशन प्राप्त या गैर-कमीशन प्राप्त जनों से शपथ लेने की अपेक्षा नही की गयी।

नये रूप का आरम्भ करने के लिए भारतीय सेना अधिनियम के नियमो और भारतीय वायुसेना अधिनियम के नियमो में उपयुक्त परिवर्तन कर दिये गये। इसे नौसेना में प्रशासनिक अनुदेश द्वारा शुरू कर दिया गया और बाद में नौसेना अधिनियम, १९५७ में शामिल कर लिया गया। उस समय से यह शपथ सशस्त्र सेनाओ में कमीशन पाने या भरती होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को दिलायी जा रही है।

१४ अगस्त, १९४७ के बाद के प्रथम कार्यालय-दिन सभी असैनिक अधिकारियो को भारत के प्रति, और विधि द्वारा स्थापित भारत के सविधान के प्रति, निष्ठा की शपथ दिलायी गयी थी। इसलिए उनको सविधान के शुरू होने पर नयी शपथ दिलाना जरूरी नही समझा गया। पर नये प्रविष्ट होने वालो को विहित प्रपत्र में शपथ लेनी होती है।

रॉयल नाम का हटाया जाना

ब्रिटिश युग में 'रॉयल' नाम ब्रिटिश सम्राट द्वारा किसी सेवा, यूनिट, या कोर के साथ लगाने के लिए उसकी सुविशिष्ट सेवा को मान्यता प्रदान करते हुए दिया जाता था और इसे बडे सम्मान की वस्तु समझा जाता था। १८९२ में भारतीय मेरीन को यह नाम दिया गया और १९३४ तक इसका नाम रॉयल इंडियन मेरीन बना रहा। इस तिथि के बाद इसे रॉयल इंडियन नेवी कहा जाने लगा। भारतीय वायुसेना को भी १२ मार्च, १९४५ को द्वितीय विश्वयुद्ध में, उसकी सेवा को मान्यता देते हुए, रॉयल इंडियन एयरफोर्स नाम दिया गया। सेना की तरह वायुसेना या नौसेना में कोई पृथक कोर या सेवा नही होती। इसलिए रॉयल नाम पूरी सेना का ही रख दिया गया। थलसेना की कई सेवाओ और कोरो में रॉयल नाम, उसकी सुविशिष्ट सेवाओ को मान्यता देने के लिए, जोड़ा गया। इस तरह भारतीय थलसेना में रॉयल इंडियन आर्मी सर्विस कोर, रॉयल इंडियन इंजीनियर्स, रॉयल इंडियन आर्टिलरी आदि हैं।

भारत के गणराज्य बनने के बाद 'रॉयल' नाम अनुपयुक्त हो गया। इसलिए उसे सभी सेवाओं, कोरो आदि से हटा दिया गया। इस तरह २६ जनवरी, १९५० से रॉयल इंडियन नेवी का नाम इंडियन नेवी (भारतीय वायुसेना) और रॉयल इंडियन एयरफोर्स का नाम इंडियन एयरफोर्स (भारतीय वायुसेना) हो गया। नौसेना के जो पोत पहले हिज मैजेस्टीज इंडियन (एच. एम. आई) पोत कहलाते थे, अब भा० नौ० (भारतीय नौसेना) पोत कहे जाने लगे। थलसेना की कोरों और यूनिटो में भारतीय शब्द भी आवश्यक समझा गया। इस रॉयल इंडियन आर्मी सर्विस कोर का नाम आर्मी सर्विस कोर, इंडियन इलेक्ट्रिकल एंड मैके-निकल इंजीनियर्स का इलेक्ट्रिकल एंड मैकेनिकल इंजीनियर्स और रॉयल इंडियन आर्टिलरी का नाम आर्टिलरी रेजीमेंट आदि रख दिये गये।

कमीशन के प्रपत्रों में संशोधन

भारत की नयी प्रास्थिति ने सशस्त्र सेनाओं के अधिकारियों को दिये गये कमीशनों के प्रपत्र में भी कुछ संशोधन जरूरी कर दिये।

१९३४ तक भारतीय सेना के अधिकारियों को किंग कमीशन दिये गये थे और फिर १९३५ से आगे गवर्नर जनरल ने सम्राट् की ओर से कमीशन प्रदान किये। २५ जनवरी, १९५० को १२३ भारतीय अधिकारियों के पास किंग कमीशन था। ये अधिकारी भारतीय सेना अधिनियम के अधीन न आते थे, बल्कि ब्रिटिश सेना अधिनियम से शासित होते थे। भारत सरकार के अनुरोध पर यू० के० के राष्ट्रमण्डल सम्पर्क कार्यालय ने एक सर्वग्राही अधिसूचना लन्दन गजट में प्रकाशित करके, इन अधिकारियों द्वारा किंग कमीशन के परित्याग का अनुमोदन, महामहिम सम्राट् ने २६ जनवरी, १९५० से कर दिया। उसी तारीख से राष्ट्रपति ने इस परित्याग से पूर्व वाले उनके ओहदे में, उसी वरिष्ठता और सेवाकाल के साथ, कमीशन प्रदान कर दिये।

महामहिम सम्राट् द्वारा उनको प्रतिनिहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए गवर्नर जनरल नौसेना और वायुसेना में कमीशन प्रदान करते थे। इसलिए इन दोनों सेनाओं में से ऐसा कोई किंग कमीशन धारण कर रहा अधिकारी न था, जिसका परित्याग जरूरी हो गया हो।

सेवालीन अधिकारियों को और मानद पद रखने वालों को दिये गये कमीशन महामहिम सम्राट् के नाम पर थे और भारत के गवर्नर जनरल की मुहर से तथा भारत सरकार के युद्ध (या रक्षा-)विभाग के सचिव के हस्ताक्षर से जारी किये जाते थे। वायसराय कमीशनधारियों के लिए भी ऐसा ही प्रपत्र काम में आ रहा था। उनकी सेवा-निवृत्ति होने पर सेकिंड लेफ्टीनेंट का मानद ओहदा प्रदान किया जाता था। ये सभी प्रपत्र २६ जनवरी, १९५० के बाद बदल दिये गये। कमीशन के प्रपत्र के अंग्रेजी में होने के साथ-साथ उनके बगल में हिन्दी रूपान्तर भी रहता है और कमीशन पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में रहते हैं। उन पर रक्षा-सचिव भी हस्ताक्षर करते हैं। स्थायी कमीशन और अल्पमेवा कमीशन दोनों के लिए एक ही प्रपत्र काम में लाया जाता है।

ध्वज

१५ अगस्त, १९४७ से भारतीय नौसेना के पोतों में ध्वजदण्ड पर सामने की ओर भारतीय राष्ट्रध्वज फहरायी गयी और पताकादण्ड पर एक श्वेत पताका पीछे की ओर। सभी राष्ट्रमण्डलीय देशों द्वारा फहरायी जाने वाली श्वेत पताका एक बड़ी श्वेत पताका होती है, जिस पर रेडक्रास बना रहता है और दण्ड के पास ऊपरी चतुर्थांश पर यूनियनजैक रहता है। २६ जनवरी १९५० से रेडक्रास वाली सफेद पताका तो बनी रही पर यूनियन जैक की जगह भारतीय राष्ट्रध्वज ने ले ली।

ओहदे के बिल्ले और बटन

नये संविधान के आरम्भ होने तक नौसेना, वायुसेना और थलसेना के बिल्ले बिल्कुल

ब्रिटिश सशस्त्र सेनाओं जैसे ही थे। थलसेना में मेजर से ऊपर के ओहदों वाले अफसरों के बिल्ले में ब्रिटिश ताज रहता था। २६ जनवरी, १९५० से ताज जहाँ कहीं भी ओहदे वालों के बिल्ले, रेजीमेंट के बिल्ले, बटनों, टोपियों के बिल्लों आदि में था, उसकी जगह पर अशोक त्रिसिंह को लगा दिया गया। मेजर से नीचे के ओहदे के बिल्लों में 'आर्डर ऑफ दि बाथ' का सितारा रहता था। इसकी जगह भारत का पचकोन सितारा लगा दिया गया। जमादारों (अब नाइब सूबेदारों) और सूबेदारों के ओहदे के बिल्लों में एक ओर चार नोकों वाले दो सितारे रहते थे। इनकी जगह पर क्रमश एक पचकोन सितारा और दो पंचकोन सितारे लगा दिये गये। पहले प्रशासनिक कारणों से सूबेदार मेजरों और रिसालदार मेजरों (घुड़सेना में) के ओहदों के बिल्लों में से ताज की जगह तीन पचकोन सितारे लगा दिये गये थे। २६ जनवरी १९५० से इन तीन पचकोन सितारों की जगह पर फिर अशोक त्रिसिंह का एक बिल्ला लगा दिया गया, जो अब सब बिल्लों में ताज की जगह पर आ गया था। नौसेना और वायुसेना मे ओहदा पट्टियों से बताया जाता था, जो वस्तुत अपने स्वरूप में अन्तर्राष्ट्रीय है और इसका राजघराने से कोई खास नाता नहीं है। इसलिए कोई भी परिवर्तन जरूरी नहीं समझा गया और नौसेना और वायुसेना में ओहदा अब भी पट्टियों से ही बताया जाता है। तीनों सेनाओं की वरदी में और कोई परिवर्तन नहीं किये गये।

रेजीमेंटो के बिल्ले

सत्ता-हस्तान्तरण से पहले बिल्लों के विद्यमान चिह्नों या भारतीय सेना की यूनिटों द्वारा नये बिल्ले अपनाये जाने के बारे में, सम्राट् से पहले अनुमोदन लेना होता था। यह अनुमोदन इंडिया आफिस के जरिये प्राप्त किया जाता था। १५ अगस्त, १९४७ के बाद यह अनुभव किया गया कि बिल्लों आदि के लिए अधिक आकर्षक भारतीय प्रारूप, जो अन्य राष्ट्र-मण्डलीय देशों से सम्बन्ध न हो, शुरू किये जाने चाहिये और किसी प्रकार के परिवर्तन का प्रस्ताव अन्तत भारत में निपटाया जाना चाहिये। डोमीनियनों और यू० के० में रेजीमेंट के लिए प्रस्तावित डिजाइनों की उपयुक्तता के बारे में कॉलेज आफ हेरल्ड्स सलाह देता है। पहले यह प्रस्ताव किया गया कि एक विशेषज्ञ अन्त सेवा-समिति भारत में भारतीय रेजीमेंटों और यूनिटों से आने वाले प्रस्तावों की छानबीन करने के लिए गठित की जानी चाहिये, ताकि वे सभी दृष्टि से उपयुक्त रखे जा सकें। पर चूँकि केवल थलसेना में ही रेजीमेंटों के बिल्लों की पद्धति थी और सेना की यूनिटों आदि से ऐसा कोई प्रस्ताव आने की सम्भावना नहीं थी, जिसका नौसेना और वायुसेना के किसी चलन से सघर्ष होता, इसलिए अन्त सेना-समिति गठित करना अनावश्यक समझा गया।

जिन रेजीमेंटों को रॉयल नाम मिल जाता था उनको महामहिम सम्राट् के अनुमोदन से अपने बिल्लों और बटनों में रॉयल ग्रुप्य या ताज इस्तेमाल करने की अनुमति प्रदान कर दी जाती थी। बिल्लों में अन्य ब्रिटिश चिह्न भी थे। कुछ रेजीमेंटों के बिल्लों में आदर्शवाक्य अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लैटिन आदि में थे। अत रेजीमेंटों के बिल्लों में परिवर्तन करने की जरूरत थी। यह निर्णय लिया गया कि ताज की जगह अशोक त्रिसिंह रखे जायें और अन्य ब्रिटिश

चिह्न हटा दिये जायें या उनकी जगह कुछ और चीज रखी जाय। जहाँ केवल ताज की जगह अशोक त्रिसिंह रखने का प्रश्न था, वह तो अपने आप कर दिया गया। पर कुछ मामलो में डिजायनें ऐसी थी कि ताज की जगह त्रिसिंह रखने से सौंदर्य में, शास्त्रीय या अन्य कारणों से, कुछ और भी परिवर्तन करना जरूरी हो जाता था। आदर्शवाक्यो की जगह भी उपयुक्त हिन्दी आदर्शवाक्य रखने थे। पर यदि किसी बिल्ले की डिजायन बदलनी होती थी, तो यह जरूरी होता था कि प्रस्तावित परिवर्तन या अन्य चीजो को ध्यान से देखा जाय और तभी राष्ट्रपति का अनुमोदन माँगा जाय। अब यह सब काम पूरा हो चुका है।

जैसा कि बताया जा चुका है, रॉयल का सुविशिष्ट नाम पाने वाली यूनिटो या कोरो को सम्राट् के अनुमोदन से रायल शून्य या ताज अपने बिल्लो और बटनो पर इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी जाती थी। नये सविधान तन्त्र के अधीन वैसी ही सुविशिष्टता प्रदान करने के प्रश्न पर १९५० के आरम्भ में यह निर्णय किया गया कि जिन यूनिटो और कोरो ने राज्य की सुविशिष्ट और असाधारण सेवा की हो, उनको राष्ट्रपति के अनुमोदन से अपने बिल्लो और बटनो मे राज्य चिह्न का इस्तेमाल करने की अनुमति देकर सम्मान दिया जाय। यह सुविशिष्टता देने से पहले स्वभावत यूनिट के इतिहास, सग्रामो और युद्ध क्षेत्रो में उसकी उपलब्धियो, प्राप्त सम्मान और पुरस्कार और राष्ट्र-जीवन के क्षेत्रो में किये गये सामान्य कार्य आदि पर विचार करना होता था।

सम्राट् के रगध्वज और रेजीमेंटो के रगध्वज

सत्ता हस्तान्तरण से पहले यूनिटो, रेजीमेंटो की विशेषत सुविशिष्ट और सुयोग्य सेवाओ के लिए सम्राट् रगध्वज प्रदान किये जाते थे। सम्राट् के रगध्वज रेजीमेंट के लिए गर्व के स्रोत होते थे और परेडो में रेजीमेंट के रगध्वजो साथ ले जाये जाते थे। भारतीय थल-सेना की ३५ यूनिटो और नौसेना को सम्राट् के रगध्वज प्रदान किये गये थे। २६ जनवरी, १९५० से सम्राट् के रगध्वज परेड में ले जाने का चलन खत्म कर दिया गया। बाद में यह निर्णय लिया गया कि सम्राट् के रगध्वज राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी (उस समय देहरादून स्थित) में सुरक्षित रख दिये जायें। २३ नवम्बर, १९५० को देहरादून में एक समारोह-परेड हुई और परेड के बाद सम्राट् के रगध्वज अकादेमी (अब भारतीय सैन्य-अकादेमी) के चेटवुड हाल में रख दिये गये।

युद्धरत सेनाओ के पास सुविशिष्ट ध्वज होने का चलन काफी पुराना है और भारतीय पुराणेतिहास में इसके उल्लेख मिलते है। महाभारत में अपने-अपने सेनानियो के साथ लड़ने वाले सैनिको द्वारा ले जाये जाने वाले ध्वजो का उल्लेख आया है। व्यक्तिगत सैनिको के ध्वजो से सेना में रेजीमेंट के ध्वज विकसित हुए। यह ध्वज पहले युद्ध में सैनिको को एकसूत्र में बाँधते थे और सैनिक रेजीमेंट का ध्वज शत्रु के हाथ में न जा सके, इसके लिए जम कर लड़ाई करते हुए अपने जीवन की बलि भी चढ़ा देते थे। पर अब रेजीमेंटो के ध्वज युद्ध-क्षेत्र में ले जाने का रिवाज नहीं रहा है। अब रेजीमेंटें अपने ध्वज केवल परेड मे ले जाती है। सेना में प्रत्येक रेजीमेंट के विभेदक ध्वज को रेजीमेंट का रंग (रगध्वज) कहा जाता है। भारतीय सेना में

रगध्वज के सामान्य आयाम होते है . ३' ९"×३' ०", हालांकि कुछ रेजीमेंटो के रंगध्वज दूसरे आयाम के भी होते हैं।

सेना सेवा-कोर, या सेना आर्डनेंस-कोर मान्य सेवायें है और उनके रेजीमेंट रगध्वज पूरी कोर के ही होते है। ये कोर के चुने हुए केन्द्रो मे रहते है। अब आर्टिलरी रेजीमेंटो के पास रेजीमेंट के रगध्वज नहीं होते, पहले भी न थे। आर्मर्ड-कोर-रेजीमेंटो के पास २' ५½" ×२" २' के आकार के मानध्वज (स्टैंडर्ड) होते हैं। दूसरो के पास दो नोको वाली मार्गदर्शक पताका होती है, जिसे 'गिडन' कहते हैं। इन रेजीमेंटो के पास पहले की तरह पताका या मानध्वज बने रहे। लेकिन किसी रेजीमेंट की सुयोग्य सेवा के लिए मान्यता देते हुए राष्ट्रपति के अनुमोदन से, उसकी पताका का दरजा बढ़ाकर मानध्वज का कर दिया जाता था।

रेजीमेंटो के रगध्वज सामान्यत रेजीमेंटो की पूरी वरदी के किनारो के रग के होते थे, इस तरह कुछ लाल और कुछ हरे होते थे। लेकिन जिन रेजीमेंटो को सम्राट् के रगध्वज मिलते थे, उनकी पूरी वरदी के किनारो का रग नीला होता था और यही रेजीमेंट के रंगध्वजो का भी होता था। रेजीमेंट के रगध्वज पर रेजीमेंट का नाम और सक्रिया-सूची का वह अनुमोदित नाम होता है, जहां उसने अपनी सुविशिष्टता दिखायी। युद्धों को सक्रियाओं को वर्गीकृत करके रण (बैटिल), संक्रिया (एक्शन) और रणलीनता (एंगेजमेंट) नाम दिये जाते हैं। जिस रेजीमेंट ने किन्ही रण (बैटिलों) में भाग लिया हो, उन सभी का नाम वह अपने रगध्वज पर लिखाने का अधिकार रखती थी, लेकिन यह तभी होता था, जब एक उच्च-अधिकार-समिति, इस अधिकार के लिए विहित योग्यताओ के अनुसार, उसकी छानबीन कर लेती थी। इस प्रकार लिखे गये नाम रण-सम्मान कहे जाते है और वीरता के द्योतक के रूप में प्रत्येक रेजीमेंट उनको बडा मूल्यवान समझती है।

रेजीमेंटो के रंगध्वजो में ब्रिटिश प्रतीक और उपरिलेख रहते थे, जैसे ताज, ब्रिटिश सिंह आदि। पर इन रेजीमेंट-रगध्वजों का उपयोग तब तक बन्द नही किया जा सकता था, जब तक उनके स्थान पर दूसरे न दे दिये जायें। पुराने के स्थान पर नये रगध्वज बदलने के लिए हर मामले मे काफी जांच अपेक्षित होती हैं। यूनिटो मे, बडे लम्बे समय में विकसित रगध्वजो के लिए कुछ भावात्मक मोह भी होता है। इसलिए नयी डिजायनो मे यथासम्भव काफी सातत्य पुरानी परम्पराओ के साथ रहना चाहिये, पर साथ ही बदली परिस्थितियो के साथ सुसगति भी रहनी चाहिये। इसलिए यह फैसला किया गया कि वे सभी रेजीमेंटें, जिनके पास रेजीमेंटी रंगध्वज, मानध्वज या पताका है, सशोधित डिजायन के नये ध्वज पाने के अधिकारी होंगे। जब नये रगध्वज दिये जाते हैं, तो विद्यमान रंगध्वज उठाकर रख दिये जाते है।

नये रगध्वज यथासम्भव हाथ से कते और हाथ से बुने रेशम के होंगे। सग्राम के सभी सम्मान, जिनमे १५ अगस्त, १९४७ के पहले अर्जित किये गये सम्मान भी आते है, (केवल उनको छोड कर जो भारतीय भावना को ठेस पहुँचा सकते हैं,) नये रेजीमेंट रगध्वजो पर अंकित किये जायेंगे। पिछले विश्वयुद्ध मे भाग लेने वाली भारतीय सेना को यूनिटो को रण-सम्मानों के लिए यू० के० की रण-सम्मान समिति के पास आवेदन भेजना होता था, जो राष्ट्रमण्डल के सभी देशो की सेना-यूनिटो के ऐसे दावो पर विचार करती थी। लेकिन केवल वही

संग्राम-सम्मान, जो राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित कर दिये जाते थे, नये रंगध्वजो पर अंकित किये जा सकते थे।

आजादी के बाद की सक्रियाओ, जैसे काश्मीर के बारे में रण-सम्मान के लिए भारतीय यूनिटो के दावो पर विचार करने के लिए भारत में भी एक वैसी ही समिति बनायी गयी।

सुयोग्य सेवा के लिए राष्ट्रपति की मान्यता

सम्राट् के रंगध्वजो के स्थान पर कोई और रगध्वज रखने का प्रस्ताव नहीं है, क्योंकि वे किसी भी गणराज्य मे नही मिलते। फिर भी १९४७ के बाद की गयी सुयोग्य सेवा को मान्यता देते हुए, राष्ट्रपति एक विशेष प्रतीक प्रदान कर सकते है, जिसे नये रेजीमेंट रगध्वजो पर अंकित कराया जा सकेगा। यह प्रतीक एक बिल्ले के रूप मे है, जिसमें राष्ट्रपति के मान-ध्वज पर सिन्दूरी पृष्ठभूमि में एक हाथी की प्रतिमूर्ति सुनहली कसीदाकारी से बनी रहती है और हाथी भी सुनहले कसीदे से बने दसकोनो सितारे से घिरा रहता है। यह बिल्ला रेजीमेंट के रगध्वज पर बायी ओर ऊपर के कोने में कसीदे से आरोपित किया जाता है।

नौसेना और वायुसेना की यूनिटो में, थलसेना के रेजीमेंट-रगध्वजो जैसी, कोई चीज नही होती। वे सेना-पताका फहराते है। इसलिए नौसेना या वायुसेना के मामले में पूरी सेना को ही सुविशिष्टता प्रदान करनी होती है। नौसेना राष्ट्रपति का रगध्वज २६ मई, १९५१ को दिया गया था। इसी तरह वायुसेना को भी राष्ट्रपति के रगध्वज का यही सम्मान उसकी २१वीं साल गिरह पर १ अप्रैल, १९५४ को दिया गया। प्रत्येक रगध्वज में, अभिप्राय के रूप में, सम्बन्धित सेना की पताका ही में राष्ट्रपति के मानध्वज के कुछ लक्षण शामिल कर लिये गये है।

सेनाओ मे प्राथमिकता का क्रम

सविधान की सातवी अनुसूची की प्रविष्टि-२ नौसेना, थलसेना और वायुसेना का उल्लेख करती है। यह सविधान का प्रारूप बनाने और उसे मजूर करते समय सेनाओ के बीच प्राथमिकता के क्रम पर आधारित था। नौसेना का यू० के० में हमेशा रक्षा में प्रमुख स्थान रहा है और उसे तीनो सेनाओ में सबसे वरिष्ठ स्थान दिया गया है। इस तरह यू० के० और उपनिवशो में तीनो सेनाओ का उल्लेख इसी क्रम में किया जाता है नौसेना, थलसेना और वायुसेना। १९३४ में भारतीय नौसेना (अनुशासन) अधिनियम पास होने तक भारत में थल-सेना सबसे वरिष्ठ सेना थी और प्राथमिकता के हिसाब से रॉयल इडियन मेरीन, थलसेना और वायुसेना के बाद आती थी। लेकिन जब रॉयल इडियन मेरीन का नाम रॉयल इडियन नेवी रखा गया, तो ब्रिटिश चलन का अनुसरण करते हुए, उसे भारत में भी सब से वरिष्ठ स्थान दे दिया गया। हालाँकि आधुनिक युद्धकार्य में तीनो ही सेनाओं को, किसी भी सक्रिया को सफलतापूर्वक चलाने के लिए, बराबर का भागीदार बनना होता है, पर भारत म वस्तुत थलसेना ही प्रमुख लड़ाकू सेना थी। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि फरवरी १९५० से सभी समारोहिक और औपचारिक प्रयोजनो से तीनो सेनाओं की आन्तरिक वरिष्ठता का क्रम

होना चाहिये : थलसेना, नौसेना और वायुसेना। इसलिए किसी भी सैन्य परेड में जब तीनों सेनायें भाग लेती हैं, तो पहले थलसेना की टुकड़ी आती है, फिर नौसेना की और फिर वायु-सेना की।

प्राथमिकता क्रम परिवर्तन का अर्थ यह बिलकुल न था कि नौसेना और वायुसेना के महत्व में कुछ कमी आ गयी है। सरकार तीनों सेनाओं को समान रूप से महत्वपूर्ण मानती है। वास्तव में दोनों तरुण सेनाओं की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है और तीनों सेनाओं का सन्तुलित विकास आरम्भ करने के लिए उनमें से प्रत्येक को एक प्रमुख के अधीन रखा गया है। प्राथमिकता-क्रम में अन्तर करने का अर्थ इस नीति से हटना नहीं है, इसलिए यह बिना दिखावा किये ही, किया गया।

खण्ड २ सशस्त्र सेनाओं के लिए नये पुरस्कार

वीरता के लिए पुरस्कार

१५ अगस्त, १९४७ तक भारतीय सशस्त्र सेनाओं के सदस्य वीरता के लिए ब्रिटिश अलंकरण प्राप्त कर सकते थे। फिर कुछ ऐसे अलंकरण भी थे जो सशस्त्र सेना के भारतीय सदस्यों के लिए खास तौर पर आरम्भ किये गये थे।*

* सबसे बड़ा ब्रिटिश अलंकरण विक्टोरिया क्रास था, जो तीनों सेनाओं के किसी भी ओहदे वाले व्यक्ति को मिल सकता था। तीनों सेनाओं के अधिकारियों और अन्य जनों को, वीरता कार्य के लिए प्राप्तव्य विभिन्न अलंकरण, इस तरह थे :

	अधिकारी	वायसराय कमीशन प्राप्त अधिकारी या समकक्ष	भारतीय गैर-कमीशन प्राप्त अधिकारी और अन्य पदधारी
थलसेना	सुविशिष्ट सेवा क्रम (डी० एस० ओ०)	भारतीय योग्यता क्रम (आई० ओ० एम०)	भारतीय योग्यता क्रम
	(मिलिटरी क्रॉस (एम० सी०)	मिलिटरी क्रॉस	मिलिटरी क्रास
नौसेना	सुविशिष्ट सेवा क्रॉस (डी० एस० सी०)	सुस्पष्ट वीरतापदक (सी० जी० एम०)	सुविशिष्ट सेवा पदक (डी० एस० एम०)
			भारतीय सुविशिष्ट सेवा पदक (डी० एस० एम०)
वायुसेना	सुविशिष्ट उड़ान क्रास (डी० एफ० सी०)	सुविशिष्ट उड़ान पदक (डी० एफ० एम०)	सुविशिष्ट उड़ान पदक
	वायुसेना क्रॉस (ए० एफ० सी०)	वायुसेना पदक (ए० एफ० एम०)	वायुसेना पदक

१९४८ आरम्भ में राष्ट्रमण्डल-सम्पर्क कार्यालय से पूछा गया कि क्या ब्रिटिश वीरता-अलंकरण कश्मीर-संक्रिया में भाग लेने वाले भारतीय सशस्त्र सेना के व्यक्तियों को दिये जा सकते है। इस बीच तीनों सेनाओं और रक्षा-मन्त्रालय और वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के प्रतिनिधियों की एक समिति नये भारतीय वीरता पुरस्कारों को शुरू करने के प्रश्न की जाँच करने के लिए बनायी जा चुकी थी। समिति के प्रतिवेदन पर, बाद में, भारत में सम्मान और पुरस्कार की पद्धति के आरम्भ करने सम्बन्धी प्रधान मन्त्री की समिति ने भी विचार किया। मई, १९४८ के आरम्भ में, प्रस्तावित नये पुरस्कारों की शर्तों और निबन्धों को अन्तिम रूप दिया गया और विभिन्न क्षेत्रों से सुझाव प्राप्त करने के बाद, जून, १९४८ में, इन पुरस्कारों के नाम अन्तिम रूप मे इस प्रकार तय किये गये परमवीर चक्र, महावीर चक्र और वीर चक्र। इन अलंकरणों के प्रदान के लिए तीनों सेनाओं के प्रमुख अपनी सिफारिशें आरम्भ में रक्षा मन्त्रालय को भेजेंगे और रक्षा-मन्त्रालय प्रधान मन्त्री के पास, जो उनको अपनी सिफारिशों के साथ महाराज्यपाल या राष्ट्रपति के पास अनुमोदन के लिए भिजवा देंगे।

ये नये पुरस्कार मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर महाराज्यपाल ही भारत में चालू कर सकते थे। उनको केवल भारत मे ही प्राथमिकता मिलती। पर यदि रॉयल वारंट मिल जाता, तो उनको पूरे राष्ट्रमंडल में प्राथमिकता मिलती। भारतीय सशस्त्र सेनाओं के अनेक सदस्य ऐसे थे, जो सत्ता-हस्तान्तरण से पहले राष्ट्रमण्डल पुरस्कार पा चुके थे। इसलिए यह वाञ्छनीय समझा गया कि इन वीरता-पुरस्कारों का आरम्भ रॉयल वारंट के साथ किया जाय। नये पुरस्कारों की डिजायन को अक्तूबर, १९४८ में अन्तिम रूप दिये जाने के बाद, इन नये अलंकरणों का आरम्भ करने वाले रॉयल वारंट का प्रारूप, विहित प्रक्रिया के अनुसार, महाराज्यपाल के सचिव द्वारा महामहिम सम्राट् के निजी सचिव के पास सम्राट् का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए भेज दिया गया। हालाँकि यू० के० स्थित भारत के उच्चायुक्त ने इस मामले को आगे बढ़वाने के लिए सक्रिय काम किया, तथापि १९४९ के मध्य में यह स्पष्ट हो गया कि कुछ सांविधानिक दिक्कतों के कारण सम्राट् का अनुमोदन न मिल सकेगा।

प्रस्तावित पदकों के डिजायन की धारणा भारतीय थी। उनमें सम्राट् से किसी भी प्रकार का नाता न दिखाया गया था, जैसे कि रॉयल मूर्ति रखा जाना। किसी अन्य डोमीनियनों ने भी, सम्राट् से स्वतन्त्र रहते हुए, अपने अलग पुरस्कार नहीं शुरू किये थे। फिर यह भी रूढ़ि चली आ रही थी कि व्यक्तियों को वीरता-अलङ्करण के पुरस्कार सम्राट् के अनुमोदन से ही दिये जा सकते थे, पर अब प्रस्तावित कार्यविधि में इसकी व्यवस्था न थी। इसलिए यह लगा कि महामहिम सम्राट् की स्थिति ठीक न रहेगी, यदि उनसे कोई सीधा सम्बन्ध न रखने वाले पुरस्कारों की सृष्टि उनके अनुमोदन से की जाय। यदि वीरता-पुरस्कार का कुछ मनोवैज्ञानिक प्रभाव है, तो यह वीर-कार्य के पश्चात् यथाशीघ्र ही दिया जाना चाहिये। कश्मीर-संक्रिया में, युद्धबन्दी के १ जनवरी, १९४९ से शुरू हो जाने पर, पुरस्कार देने की सांविधानिक अड़चनें इतनी सूक्ष्म थी कि सैनिकों को नहीं समझायी जा सकती थी। पर चूँकि कुछ महीनों बाद ही नया संविधान प्रभावी होने जा रहा था, यह निर्णय लिया गया कि इन नये वीरता-पुरस्कारों के १५ अगस्त, १९४७ से आरम्भ की घोषणा राष्ट्रपति द्वारा पहले गणराज्य दिवस

(२६ जनवरी, १६५०) को की जायेगी। इससे भारत इन नये अलंकरणों को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान कर सकेगा। प्रारूप रॉयल वारंट में यह प्रस्ताव किया गया था कि परमवीर चक्र, महावीर चक्र और वीर चक्र क्रमशः विक्टोरिया क्रास, सुविशिष्ट सेवा क्रम और मिलिट्री क्रॉस के तुरन्त बाद आयेंगे। अब वे १५ अगस्त, १६४७ के पूर्व दिये गये किसी भी अलंकरण से पहले आते हैं। २६ जनवरी, १६५२ को, इन वीरता पुरस्कारों के प्रारम्भ की घोषणा के साथ-साथ ही, सशस्त्र सेनाओं के उन सदस्यों के नामों की पहली किस्त भी प्रकाशित कर दी गयी, जिनको कश्मीर-सक्रिया में वीरता के लिए ये अलंकरण प्रदान किये गये थे :

परमवीर चक्र शौर्य के सर्वाधिक सुस्पष्ट कार्य या शत्रु के सामने धरती, समुद्र या वायु में कुछ दुःसाहसपूर्ण या वीरता या आत्मबलिदान के पूर्णतः प्रकट कार्य के लिए प्रदान किया जाता है। महावीर चक्र सुस्पष्ट वीरता के लिए और वीर चक्र भी वैसी ही स्थितियों में वीरता दिखाने के लिए दिया जाता है सशस्त्र सेनाओं के, आरक्षित सेनाओं के, प्रादेशिक सेना के अथवा किसी भी विधिपूर्वक गठित सशस्त्र सेना के सभी सदस्य, नर्स-सेवा के सदस्य और किसी भी लिंग के असैनिक व्यक्ति जो किसी भी पूर्वोक्त सेना में काम कर रहे हों, इन अलंकरणों के पात्र हैं।

इन अलंकरणों को प्राप्त करने वाले अपने नाम के साथ ये संक्षेप प्रयुक्त कर सकते हैं :

परमवीर चक्र के लिए	पी. वी. सी. (प. वी. च.)
महावीर चक्र के लिए	एम. वी. सी. (म. वी. च.)
वीर चक्र के लिए	वीआर सी. (वी. च.)

सेकिंड लेफ्टीनेंट या पाइलट अफसर के ओहदे के नीचे के (अर्थात् कमीशन वाले ओहदों से नीचे के) जो व्यक्ति ये अलंकरण प्राप्त करेंगे, वे भारत सरकार द्वारा मंजूर किये गये नीचे लिखे मासिक भत्ते प्राप्त कर सकेंगे :—

परमवीर चक्र : रु० ५० (उन कनिष्ठ कमीशनधारी अधिकारियों को रु० ७०, जिनको पहले वीरता के द्वितीय क्रम का पुरस्कार जैसे भारतीय योग्यता क्रम—आई. ओ. एम प्राप्त हो चुका है)। परमवीर चक्र के प्रत्येक रोध के लिए रु० २० का अतिरिक्त भत्ता।

महावीर चक्र : रु० ३० (उन कनिष्ठ कमीशनधारी अधिकारियों को रु० ५०, जिनको पहले वीरता के तृतीय क्रम का पुरस्कार जैसे मिलिट्री क्रास मिल चुका है)। महावीर चक्र के प्रत्येक रोध के लिए रु० १० का अतिरिक्त भत्ता।

वीर चक्र : रु० २० और वीर चक्र के प्रत्येक रोध के लिए रु० ८ का अतिरिक्त भत्ता।

यह स्पष्ट कर दिया जाय कि जब कोई व्यक्ति उसी अलंकरण के लिए दुबारा अधिकारी हो जाता है, तो उसे रोध प्रदान किया जाता है (दुबारा पदक नहीं)। भत्ते उस कार्य की तारीख से मिलते हैं, जिसके लिए अलंकरण दिया जा रहा है और प्राप्तिकर्ता के जीवन काल में और उसकी विधवा को मृत्युपर्यन्त या दूसरे विवाह पर्यन्त मिलते रहते हैं। इन भत्तों को पाने वाले कनिष्ठ कमीशनधारी अधिकारी बाद में कमीशन पाने पर भी इनको प्राप्त करते

रहेंगे। साथ ही राज्य सरकारों ने अपने-अपने राज्य के ये वीरता-अलंकरण प्राप्त करने वालों को पुरस्कार देने की योजनायें भी चलायी हैं।

सम्प्रेषणों में उल्लेख

सक्रिया-क्षेत्रों में सुविशिष्ट और सुयोग्य सेवा का और ऐसे वीरतापूर्ण कार्यों का, जो इतने ज्यादा उच्च प्रकार के नहीं हैं कि उनके लिए वीरता पुरस्कार दिये जा सकें, मान्यता देने के लिए, १५ अगस्त, १९४७ से २१ नवम्बर, १९५० की अधिसूचना द्वारा, सम्प्रेषणों में उल्लेख की पद्धति शुरू की गयी। सम्प्रेषणों में उल्लेख सामान्य अर्थ में न तो अलंकरण है, न पुरस्कार, बल्कि एक सैन्य-सक्रिया में अच्छे कार्य को मान्यता देने के एक तरीके की तरह ही है. स्टाफ प्रमुख रक्षा-मन्त्री के पास ऐसे लोगों की एक सूची भेज देते हैं, जो किसी संक्रिया के दौरान ऐसी मान्यता के पात्र होते हैं। राष्ट्रपति का अनुमोदन लेकर ये नाम भारत के राजपत्र में प्रकाशित कर दिये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को रक्षा-मन्त्रालय के सचिव द्वारा हस्ताक्षरित एक प्रमाणपत्र भी विहित प्रपत्र में दे दिया जाता है। सम्प्रेषण में उल्लेख का प्राप्तिकर्त्ता कांस्य का कमलदल प्रतीक उस युद्ध के, जिसमें यह उल्लेख किया गया, पदक के फीते पर पहनने का अधिकारी होता है। (भले ही किसी व्यक्ति का नाम सम्प्रेषणों में एकाधिक बार आ गया हो, फीते पर केवल एक ही प्रतीक पहना जायेगा।) उदाहरण के लिए कश्मीर-सक्रिया के दौरान जिन व्यक्तियों का उल्लेख सम्प्रेषणों में किया गया था, वे कश्मीर-सक्रिया सम्बन्धी युद्ध-पदक के फीते पर प्रतीक को पहनेंगे। इस पदक का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

सामान्य सेवा पदक

यह एक मान्य बात है कि सशस्त्र सेनाओं में एक युद्ध-पदक होता है, जिसे सामान्य सेवा पदक कहते हैं, और जो सामान्य सक्रियागत सेवा को मान्यता देने के लिए होता है। यह उन सभी सैनिकों को प्रदान किया जाता है, जो सक्रिया-क्षेत्र में विहित अवधि तक सक्रिय रूप से सेवालीन रहे हों। चूँकि पदक सामान्यतः सक्रिय सेवा का द्योतक होता है, यह अपने आप उन युद्धों का संकेत नहीं दे सकता, जिनमें कि पहनने वाले ने भाग लिया। इसलिए यह पदक अकेले-अकेले नहीं पहना जा सकता। सक्रिया-विशेष को बताने के लिए एक फन्दा लगाने का चलन है, जो छेद वाली छड़ के रूप में होता है। और यह युद्ध-पदक के फीते के ऊपर पहना जाता है। जिस युद्ध-विशेष के लिए वह दिया गया है, उसका नाम उस पर उत्कीर्ण रहता है।

१५ अगस्त, १९४७ से पहले युद्ध पदक या फन्दा—सभी अन्य सम्मानों या पुरस्कारों की तरह केवल सम्राट् के अनुमोदन के बाद ही चालू किया जा सकता था। सत्ता-हस्तान्तरण के बाद यह निर्णय लिया गया कि एक 'सामान्य सेवा पदक, १९४७' १५ अगस्त, १९४७ के बाद की गयी सक्रिया-सेवा को मान्यता देने के लिए शुरू किया जाय और एक जम्मू और कश्मीर फंदा भी कश्मीर-सक्रिया में की गयी सेवा को मान्यता देने के लिए। प्रस्तावित पदक की डिजायन और उसे प्रदान करने की शर्तों और नियमों को नवम्बर, १९४८ में अन्तिम रूप दिया गया और नये वीरता-पुरस्कारों के बारे में सम्राट् के अनुमोदन के लिए

एक प्राप्य रॉयल वारंट जनवरी, १९४९ के शुरू में भेजा गया। नये वीरता-पुरस्कारों के सिलसिले में बताये गये कारणों से ही सितम्बर, १९४९ में यह तय किया गया कि 'सामान्य सेवा पदक, १९४७' और जम्मू और कश्मीर फन्दा शुरू करने की घोषणा राष्ट्रपति द्वारा २६ जनवरी, १९५० को की जानी चाहिये। बाद में यह वाञ्छनीय समझा गया कि पदक और फीते की डिजायन कुछ बदल दी जानी चाहिये। नयी डिजायनों को अन्तिम रूप दिया गया और राष्ट्रपति के अनुमोदन के बाद १५ अगस्त, १९४७ से 'सामान्य सेवा पदक, १९४७' और जम्मू और कश्मीर फन्दा शुरू करने की अधिसूचना जून, १९५० में प्रकाशित की गयी। किसी ऐसे व्यक्ति को जिसको पदक पहले ही मिल चुका हो, एक अन्य फन्दा दुबारा-तिबारा प्राप्त करने का अधिकार रहेगा। वह उसे या उन्हें पहले से अपने पास वाले पदक के फीते पर पहनेगा।

सामान्य सेवा पदक और पहली बार मे फन्दा और बाद में केवल फन्दा विहित शर्तें पूरे करने वाले लोगों को स्वत मिल जायेगा। ऐसे सैनिकों की संख्या ज्यादा हो सकती है। इसलिये यह जरूरी नहीं समझा गया कि उनके नाम राष्ट्रपति के पास अनुमोदन के लिए भेजे जायँ, न यही कि उनको राजपत्र में प्रकाशित किया जाय।

सामान्य सेवा पदक के अन्य फन्दे—सामान्य सेवा पदक के साथ पहने जाने वाले नीचे लिखे अन्य फन्दे चालू किये गये :—

क) समुद्रपार-कोरिया १९५०-५३; जुलाई, १९५३ में उन सैन्य जनों द्वारा की गयी सक्रिया सेवा को मान्यता देने के लिए, जिन्होंने २२ नवम्बर, १९५० से ८ जुलाई, १९५३ की अवधि में पैरा फील्ड एम्बुलेंस यूनिट के साथ कोरिया में काम किया।

(ख) नागा पहाड़ी फन्दा—नागा पहाड़ियों में की गयी सैन्य-सक्रिया में की गयी सेवा को मान्यता देने के लिए २६ जनवरी, १९६० को शुरू किया गया।

(ग) गोआ फन्दा, १९६१—इसे उन सैन्य जनों की सेवा को मान्यता देने के लिए १९६२ में शुरू किया गया, जिन्होंने गोवा, दमन और ड्यू को आजाद कराने के लिए चलायी गयी सक्रिया में दिसम्बर, १९६१ में भाग लिया।

(घ) लद्दाख फन्दा, १९६२ और 'उत्तरी' फन्दा ११६२—उत्तरी सीमान्त पर १९६२ में चीनी सेनाओं के विरुद्ध चलायी गयी सक्रिया में की गयी सेवा के लिए जून, १९६५ में शुरू किया गया।

अशोक चक्र, कीर्ति चक्र और शौर्य चक्र

परमवीर चक्र, महावीर चक्र और वीर चक्र ऐसे वीरतापूर्ण कार्यों के लिए प्रदान नहीं किये जा सकते, जो शत्रु के मुकाबिले में न किये गये हों, जैसे आन्तरिक रक्षा कार्यों में या अन्यथा दिखायी गयी वीरता के लिये। इसलिए यह तय किया गया कि शत्रु के सामने युद्ध के अलावा अन्यत्र दिखायी वीरता के लिए तीन वर्गों में अशोक चक्र नामक एक नया अलंकरण चालू किया जाय। सशस्त्र सेनाओं के सदस्य और दोनों ही लिंगों के असैनिक नागरिक, चाहे वे

किसी भी जीवन-क्षेत्र में काम कर रहे हों, (पुलिस दल और मान्य अग्नि-शमन-सेवा के सदस्यों को छोड़, जो अपनी वीरता के लिये राष्ट्रपति के पुलिस और अग्नि-सेवा-पदक पा सकते हैं), इस पुरस्कार के पात्र है। इस नये अलंकरण के चालू करने से, अन्य वीरता-अलंकरणों के साथ उनकी प्राथमिकता के बारे में भी निर्णय लेना जरूरी हो गया। अन्त में यह निर्णय लिया गया कि अशोक चक्र प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग और तृतीय वर्ग क्रमश परमवीर चक्र, महावीर चक्र और वीर चक्र के बाद प्राथमिकता प्राप्त करेंगे। १५ अगस्त, १९४७ से तीन वर्गों में अशोक चक्र चालू करने वाली अधिसूचना ४ जनवरी, १९५२ को प्रकाशित की गयी।

अन्य वीरता अलंकरणों की तरह अशोक चक्र के साथ कोई भत्ता नहीं मिलेगा। फिर भी यह तय किया गया कि अशोक चक्र पाने वालों के विशिष्ट मामलों, पर जो विपन्न स्थिति में हों, सरकार धन-सहायता देने के लिए विचार कर सकती है। हाल में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एक प्राप्तिकर्ता (या मरणोत्तर पुरस्कार की स्थिति में उसके उत्तराधिकारी) की वार्षिक आय ३००० रुपये से कम होने पर उसे असन्तोषप्रद वित्तीय स्थिति में माना जायेगा। ऐसी स्थिति में रु० ४० प्रति मास प्रथम वर्ग के लिए, रु० २५ प्रति मास द्वितीय वर्ग के लिए और रु० १५ तृतीय वर्ग के लिए भत्ते के रूप में दिया जायेगा। यह भत्ता प्राप्तिकर्त्ता (अथवा मरणोत्तर पुरस्कार की स्थिति में उत्तराधिकारी) को आजीवन मिलेगा।

अशोक चक्र प्रथम वर्ग बड़े ही सुस्पष्ट शौर्य कार्य, कुछ साहसिक कार्य, सुप्रकट बहादुरी या आत्म-त्याग के लिए दिया जाता है, द्वितीय वर्ग सुस्पष्ट वीरता के लिए और तृतीय वर्ग वीरता के लिए जो धरती, समुद्र या वायु में शत्रु के सामने दिखायी गयी वीरता से भिन्न हो।

२६ जनवरी, १९६७ को यह घोषणा की गयी कि अशोक चक्र प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्गों को आगे से क्रमशः अशोक चक्र, कीर्ति चक्र और शौर्य चक्र कहा जायेगा। पुरस्कार देने की शर्तें फिर भी पूर्ववत् बनी रहेंगी।

प्रादेशिक सेना अलंकरण और प्रादेशिक सेना पदक

राष्ट्रपति ने १५ अगस्त, १९५१ से (अधिसूचना संख्या १६ प्रेस।५२, तारीख १ फरवरी, १९५२ द्वारा) प्रादेशिक सेना-अलंकरण और प्रादेशिक सेना पदक भी चालू किये हैं। जैसा उनके नामों से ही स्पष्ट है, ये केवल प्रादेशिक सेना के सदस्यों के लिए हैं। प्रादेशिक सेना-अलंकरण केवल प्रादेशिक सेना के कमीशन प्राप्त अधिकारियों को, प्रमाणित क्षमता में, २० साल की सुयोग्य सेवा के लिए प्रदान किया जाता है। प्रादेशिक सेना-पदक प्रादेशिक सेना के कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारियों, गैर-कमीशन अधिकारियों और जवानों के लिए १२ साल की सक्षम सेवा और कम से कम बारह प्रशिक्षण प्राप्त करने वालों के लिए है, कि जिन के नाम की सिफारिश की गयी हो। इसके अलावा प्रादेशिक सेना के सदस्य ऐसे अलंकरण और पदक भी प्राप्त कर सकते हैं, जो सशस्त्र सेनाओं के नियमित सदस्यों को मिलते हैं।

दीर्घ सेवा और सदाचरण पदक और सुयोग्य सेवा-पदक

अगस्त, १९४७ से पहले थलसेना और नौसेना के चुने हुए गैर कमीशन-प्राप्त अधि-

कारियों को सुयोग्य सेवा-पदक और दीर्घ सेवा और सदाचरण पदक नाम के वीरता-इतर पदक (उपदान सहित या बिना) दिये जाते थे। पहला पदक हवलदारों को और नौसेना में समकक्ष पदधारियों को दिया जाता था, बशर्ते कि उनका सेवा-काल १८ साल हो, जो सदाचरण और प्रवीणता-वेतन आदि के लिए जोड़ा जाय। इसके साथ रु० २५ की वार्षिकी भी रहती थी। पुरस्कार का प्रमाप था, प्रत्येक ६०० व्यक्तियों के लिए एक। दीर्घ सेवा और सदाचरण-पदक उपदान के साथ नायकों और नीचे के ओहदों वालों को या नौसेना के समकक्ष पदधारियों को १८ साल की सेवा के लिए उन्हीं योग्यताओं के होने पर दिया जाता था, जिन पर सुयोग्य सेवा-पदक मिलता था। इस पुरस्कार के साथ २५ रुपये की वार्षिकी रहती थी और पुरस्कार का प्रमाप था, प्रत्येक ६०० व्यक्तियों के लिए दो। पिछला पदक उपदान के बिना उन लोगों को मिलता था, जो उपदान के सहित पदक पाने के पात्र थे, पर जिनको पुरस्कार दिये जा सकने से पहले ही पेन्शन वाली स्थापना में स्थानान्तरित कर दिया गया था। इस मामले में प्रमाप ६०० व्यक्तियों में से एक था। (ये पुरस्कार वायुसेना में चालू करने का कोई अवसर नहीं आया क्योंकि अपेक्षित सेवाकाल वाला अभी तक कोई भी व्यक्ति न था)। इस तरह इन दोनों सेनाओं में उपलब्ध इनमें से प्रत्येक पदक की कुल संख्या सीमित थी और केवल सेवानिवृत्ति या मृत्यु के पश्चात् ही स्थान रिक्त होते थे। सत्ता-हस्तान्तरण के बाद ये पदक बन्द कर दिये गये, क्योंकि ये संविधान द्वारा खिताबों आदि पर लगायी गयी रोक के अधीन आ जाते थे। पर ये पदक सुविशिष्ट सेवा के लिए थे, सशस्त्र सेना के सदस्यों द्वारा बहुत ही बहुमूल्य माने जाते थे और उनके मनोबल पर इनका काफी प्रभाव पड़ता था। इसलिए सरकार ने यह तय किया कि थलसेना और नौसेना में इन दोनों पदकों को (धन-पुरस्कार सहित) फिर से चालू किया जाय और उनको वायुसेना में भी शुरू किया जाय। पिछले पदकों की डिजायन में ताज और ब्रिटिश दिनों का संकेत देने वाले अन्य प्रतीक रहते थे। इसलिए उनको बिलकुल बदल दिया गया और नये पदक बनवाये गये। पुरस्कार की शर्तें मोटे तौर पर वही बनी रहीं। पर मई, १९६४ में आदेश निकाल कर उपदान और वार्षिकी दोनों को ही बढ़ाकर १०० रुपये कर दिया गया।

दूसरे नये पदक

उपर्युक्त पुरस्कार समय-समय पर पैदा होने वाली सभी प्रकार की जरूरतें पूरी करने के लिए काफी नहीं समझे गये। इसलिए २६ जनवरी, १९६० से नीचे लिखे नये पुरस्कार (अधिसूचना संख्या १४-प्रेस/६० द्वारा) जारी किये गये।

सैन्य सेवा-पदक—कठिन परिस्थितियों और उग्र जलवायु में सक्रिया-इतर सेवा को मान्यता देने के लिए। यह पदक सशस्त्र सेना के सदस्यों को ऐसी परिस्थितियों में और ऐसी अवधि के लिए प्रदान किया जाता है, जो सरकार समय-समय पर तय करे। यह पदक जम्मू और कश्मीर, 'उत्तरी', हिमालय, और अन्दमान तथा नीकोबर-द्वीपसमूह के क्षेत्रों में सेवा के लिए मान्य ठहराया गया है। इन चारों में से प्रत्येक क्षेत्र के लिए अलग-अलग फन्दा रखा गया है। इन फन्दों को प्रदान करने के लिए अर्हकारी शर्तें और सेवा-अवधि सरकार द्वारा विहित की गयी है। जो लोग जम्मू और कश्मीर फन्दा सामान्य सेवा-पदक, १९४७ के साथ पहले प्राप्त

कर चुके है, उनको पुनरावृत्ति से बचाने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि उस क्षेत्र में १ जनवरी १६४६ से पहले की उनकी सेवा को नहीं जोड़ा जायेगा। यथावश्यक सरकार समय-समय पर और फन्दे भी रख सकती है।

विशेष सेवा पदक भारत-संघ के बाहर सशस्त्र सेनाओ द्वारा की गयी सेवाओ को मान्यता देने के लिए। यह पदक एक फन्दे के साथ पहना जाता है, जिसमें सेवा का स्थान बताया गया है। कागो, संयुक्त अरब गणराज्य, भूटान, नाइजीरिया, इथियोपिया, घाना, इण्डोचीन, लेबनान, नेपाल और कोरिया के फन्दे दिये गये। (पिछला फन्दा सशस्त्र सेना के उन व्यक्तियो को दिया गया था, जो २२ नवम्बर, १६५० से १७ मार्च, १६५४ तक तटस्थ-राष्ट्र-प्रत्यावर्तन-आयोग और भारत की अभिरक्षा सेना के कर्मचारियो के रूप मे रहे थे)। अर्हकारी सेवा की न्यूनतम अवधि और दूसरी शर्तें सरकार द्वारा विहित की गयी थी।

सेना-पदक, नौसेना-पदक और वायुसेना-पदक साहस और कर्तव्य के प्रति लगन के ऐसे व्यक्तिगत कार्यों के लिए, जिनका सेना, नौसेना और वायुसेना के लिए विशेष महत्व है। पदक के प्रत्येक परवर्ती प्रदान के लिए एक रोध दिया जाता है।

विशिष्ट-सेवा-पदक तीनो वर्गो में प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग और तृतीय वर्ग। प्रथम वर्ग का पदक बडी ही आपवादिक प्रकार की सुविशिष्ट सेवा के लिए दिया जाता है, दूसरा आपवादिक प्रकार की विशिष्ट सेवा के लिए और तीसरा उच्च कोटि की विशिष्ट सेवा के लिए। यह पदक राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर और मुहर के साथ, एक सनद देते हुए, प्रदान किया जाता है उसी वर्ग के पदक के प्रत्येक परवर्ती प्रदान के समय प्राप्तिकर्ता को एक रोध दिया जाता है।

२६ जनवरी, १६६७ को की गयी घोषणा के अनुसार अब इन तीन वर्गों के पदको के क्रमश ये नाम होंगे परम-विशिष्ट-सेवा-पदक, अतिविशिष्ट सेवा-पदक और विशिष्ट-सेवा-पदक। प्रदान की शर्तें पूर्ववत् बनी रहेंगी।

समर-सेवा-तारक १६६५ और रक्षा-पदक, १६६५ सशस्त्र सेना के व्यक्तियो और असैनिकों द्वारा सितम्बर, १६६५ में हुए भारत-पाक युद्ध के दौरान की गयी सेवा को मान्यता देने के लिए इन दो नये अलंकरणो के प्रदान की घोषणा २६ जनवरी, १६६७ को की गयी पंचकोना समर-सेवा-तारक सशस्त्र सेना के उन व्यक्तियो को दिया जायेगा, जिन्होंने वस्तुत युद्धों में भाग लिया या जिनको सक्रिया के लिए युद्ध क्षेत्र में भेजा गया था। यह उन असैनिको को भी मिलेगा जिन्होने वास्तविक युद्धो में भाग लिया अथवा सक्रिया के दौरान सीधी मदद दी। तारक कुप्रो निकल का बनेगा और फीता तीन रगो में होगा अर्थात् लाल, गहरा नीला और हलका नीला, जो क्रमश सेना, नौसेना और वायुसेना के द्योतक रग है।

रक्षा-पदक, १६६५ सशस्त्र सेनाओं के उन सभी व्यक्तियों को दिया जायेगा, जो ५ अगस्त, १६६५ को १८० दिनो की सेवा कर चुके थे (यह वह तारीख थी, जब पाकिस्तान ने कश्मीर में दूसरा हमला और घुसपैठ शुरू की थी)। रक्षा-पदक आकार में गोल होगा और कुप्रो-निकल का बनाया जायेगा और उसके साथ नारंगी रग का फीता होगा जो लाल, गहरी

नीली और इनको नीली दोन उदग्र धारियों द्वारा चार हिस्सों में बँट जायेगा।

केन्द्रीय सम्मान और पुरस्कार-समिति : वीरता अलकरण प्रदान करने की सभी सिफारिशें पहले प्रधान मन्त्री के अनुमोदन के लिए उनके पास भेजी जायेंगी और उसके बाद अन्तिम अनुमोदन के लिए राष्ट्रपति के पास। प्राप्त सिफारिशों की छानबीन करने के लिए और यह देखने के लिए कि एकरूप मानक स्वीकार किये जायें, एक केन्द्रीय सम्मान और पुरस्कार-समिति बनाना तय किया गया, जिसमें ये लोग रखे गये : रक्षा मन्त्री (अध्यक्ष), रक्षा-सचिव और तीनों सेनाओं के प्रमुख। जब असैनिकों को अशोक चक्र प्रदान करने की सिफारिश पर विचार होता है, तो गृहसचिव को भी इस समिति में सहयोजित कर लिया जाता है। वीरता-पुरस्कारों के अलावा अब यह समिति विशिष्ट सेवा पदक और सेना, नौसेना, वायुसेना पदकों के दिये जाने पर भी विचार करती है। समिति की सिफारिशें प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति के पास अनुमोदन के लिए भेज दी जाती हैं।

परमवीर चक्र और अशोक चक्र, वर्ग-प्रथम पदक, राष्ट्रपति द्वारा दिल्ली मे गणराज्य दिवस पर समारोह-परेड के अवसर पर भेंट दिये जाते हैं। शेष वीरता अलकरण राष्ट्रपति द्वारा दिल्ली में, इस काम के लिए हर साल होने वाले एक विशेष समारोह मे, दिये जाते हैं, लेकिन १९६३ में यह तय किया गया था कि सेना, नौसेना और वायुसेना-पदक और विशिष्ट सेना-पदक तृतीय वर्ग प्राप्तिकर्ताओं को सम्बन्धित सेना प्रमुखों द्वारा ही भेंट दिये जायेंगे।

विभिन्न पुरस्कारों का, असैनिक अलंकरणों सहित, प्राथमिकता-क्रम यह है :

भारत रत्न
परमवीर चक्र
अशोक चक्र
पद्मविभूषण
पद्मभूषण
परम विशिष्ट सेवा-पदक
महावीर चक्र
कीर्ति चक्र
पद्मश्री
अति विशिष्ट-सेवा-पदक
वीर चक्र
शौर्य चक्र
वीरता के लिए राष्ट्रपति के पुलिस और अग्नि-शमन-सेवा-पदक
सेना, नौसेना, वायुसेना-पदक
विशिष्ट-सेवा-पदक
वीरता के लिए पुलिस-पदक
सामान्य सेवा-पदक, १९४७

सैन्य सेवा-पदक
विदेश सेवा-पदक
विशिष्ट सेवा के लिए राष्ट्रपति के पुलिस और अग्नि-शमन-सेवा-पदक
सुयोग्यता सेवा-पदक
दीर्घसेवा और सदाचरण-पदक
योग्य सेवा के लिए पुलिस-पदक
प्रादेशिक सेना-अलंकरण
भारतीय स्वाधीनता-पदक, १९४७
स्वाधीनता-पदक, १९५०
राष्ट्रमण्डल-पुरस्कार
अन्य पुरस्कार

(भारतीय स्वाधीनता पदक, १९४७, सशस्त्र सेनाओं के ऐसे प्रत्येक सत्येक सदस्य को दिया गया था जो १५ अगस्त, १९४७ को सेवा में था और स्वाधीनता-पदक, १९५०, पुलिस दल के उन सभी सदस्यों को, जो २६ जनवरी, १९५० को सेवा कर रहे थे। इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि भारतीय सशस्त्र सेना के व्यक्ति सत्ता-हस्तान्तरण से पहले उनको दिये गये वीरता अलङ्करण और अन्य पदक पहनें)। पूरी लम्बाई वाले फीतों सहित पदक समारोह के अवसरों पर धारण किये जाते हैं। सामान्यत कम चौड़े फीते (जो मानक आकार के होते हैं) वर्दी पर पहने जाते हैं।

खण्ड ३ सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों द्वारा मताधिकार का प्रयोग

नये संविधान के साथ नागरिकों को प्रदान किया गया एक उल्लेखनीय अधिकार प्रौढ़ मताधिकार है। इस विशेषाधिकार ने अन्य नागरिकों की तरह सशस्त्र सेनाओं के व्यक्तियों के मन में भी यह भावना पैदा की कि वे देश के शासन में भाग ले रहे हैं। सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों को मतदान के लिए कुछ विशेष सुविधायें दी जाती हैं, जो उनको पहले प्राप्त न थी।

संविधान के स्वीकार किये जाने से पहले ही आरम्भिक मतदाता-सूचियाँ, प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर, संघ और राज्य-विधान-मण्डलों में चुनावों के लिए तैयार करने का काम पूरे देश में शुरू हो चुका था, ताकि संविधान के लागू होने के बाद चुनाव यथासम्भव शीघ्र कराये जा सकें। सूचियाँ इस आधार पर बन रही थी कि अर्हकारी तारीख को (१ जनवरी, १९४९ को, जिसे बदलकर बाद में १ मार्च १९५० कर दिया गया) २१ वर्ष की आयु वाला प्रत्येक नागरिक उस मतदान-क्षेत्र की मतदाता-सूची में अपना नाम दर्ज कराने का हकदार है, जिसमें वह अर्हकारी समय में (अर्थात् ३१ मार्च, १९४८ को खत्म होने वाले वर्ष में—जिसे बाद में बढ़ाकर ३१ दिसम्बर, १९४९ कर दिया गया) १८० दिनों से अन्यून काल तक सामान्यत रहा हो। इस निवासीय योग्यता ने सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के मामले में बड़ी कठिनाई पैदा कर दी। सैनिक किसी खास जगह स्थायी रूप से नहीं रहते, क्योंकि उनका स्थन

स्ट्रातेजिक बातें ध्यान में रखकर तय किया जाता है। सशस्त्र सेनाओं के अधिकांश सदस्य अपने घरों से दूर सैन्य-बैरकों में रहते हैं और अपनी सेवा के स्वरूप और जरूरतों के कारण असैनिक व्यक्तियों और अन्य नागरिकों की तुलना में उनका निवास-स्थान कहीं ज्यादा बदलता रहता है। उनमें से बहुत से निश्चय ही १८० दिन उक्त अर्हकारी अवधि में एक जगह पर नहीं रहेंगे और यदि उनके मामले में निवासीय योग्यता का आग्रह किया गया तो किसी भी मतदान-क्षेत्र की मतदाता-सूची में उनके नाम दर्ज न हो पायेंगे। यदि उनमें से कुछ लोग अर्हकारी अवधि में छः महीने से ज्यादा एक जगह पर रहें भी और उनके नाम उस मतदान-क्षेत्र की सूची में आ भी जायें, तब भी सम्भव है कि चुनाव होते समय वे कहीं और काम कर रहे हों। इस तरह उनको अन्य नागरिकों की तरह स्वयं जाकर मतदान करने का अवसर न मिल सकेगा। इसलिए निवासीय-योग्यता का अर्थ होगा कि सशस्त्र सेनाओं के अधिकांश सदस्यों को उनके मताधिकार से वञ्चित कर दिया जाय। किसी निर्वाचन-क्षेत्र की मतदाता-सूची के प्रकाशित होने पर, उसमें उस क्षेत्र में काम कर रहे सशस्त्र सेना के सदस्यों के भी नाम रहेंगे और इससे देश में सेना के विन्यास की बात प्रकट हो जायेगी, जो सुरक्षा की दृष्टि से स्पष्ट ही आपत्तिजनक होगा। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय किया गया कि सशस्त्र सेनाओं के सदस्य सामान्यतः उस मतदान-क्षेत्र के निवासी मान लिये जायेंगे, जहाँ पर सशस्त्र सेनाओं में नौकरी न करने पर वे सामान्यतः निवास करते। यह उपबन्ध उनकी पत्नियों पर भी लागू कर दिया गया। विहित प्रपत्र पर सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों द्वारा दिया गया वक्तव्य (जिसमें मतदान-क्षेत्र-विशेष बताया जायेगा), जो उसके कमान अधिकारी द्वारा यथाविधि सत्यापित किया जायेगा, सामान्य निवास के तथ्यरूप में निश्चायक साक्ष्य माना जायेगा। यह भी व्यवस्था की गयी कि सशस्त्र सेनाओं के जो सदस्य विस्थापित व्यक्ति हैं और जो भारत में अपने घर नहीं बसा पाये हैं, उस मतदान-क्षेत्र में अंकित कर लिए जायेंगे, जहाँ वे स्थायी रूप से बसना चाहते हैं। इसके लिए उनको कमान-अधिकारी के सामने एक घोषणा-मात्र करनी होगी। ये प्रपत्र सशस्त्र सेनाओं के प्रत्येक सदस्य के पास व्यक्तिशः नहीं भेजे गये, बल्कि तीनों सेनाओं के विभिन्न अभिलेख-कार्यालयों द्वारा सम्बन्धित राज्य-सरकार के पास भेज दिये गये। इससे यह आश्वस्त हो गया कि सशस्त्र सेनाओं के २१ वर्ष की आयु वाले प्रत्येक व्यक्ति का नाम उसके घर या प्रस्तावित घर के मतदान-क्षेत्र में दर्ज कर लिया जायेगा। ये विशेष उपबन्ध शुरू में कार्यपालक आदेश से कर लिए गये थे, पर फिर उनको जन प्रतिनिधान अधिनियम, १९५० (१९५० का ४३ वाँ) की धारा २० और उसके अधीन बने जन प्रतिनिधान (मतदाता-सूची तैयार करना) नियम, १९५० में साविधिक रूप दे दिया गया।

अगला कदम था मताधिकार का प्रयोग करने के लिए अपेक्षित सुविधाओं की व्यवस्था करना। यह प्रकट था कि सशस्त्र सेनाओं के निर्वाचक अपने मतदान-क्षेत्र में जाकर स्वयं मतदान न कर सकेंगे। इसलिए यह तय किया गया कि उन सभी को अपने मत डाक-शलाका द्वारा ही भेजने की अनुमति दी जायेगी, किसी अन्य रीति से नहीं, और साथ ही डाक द्वारा मतदान की प्रणाली सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों और उनकी पत्नियों के लिए सरल और एकरूप होनी चाहिये। तदनुसार जन प्रतिनिधान अधिनियम, १९५१ (१९५१ का ४३ वाँ) की धारा ६०

में आवश्यक साविधिक व्यवस्था कर दी गयी।

मतदान के लिए वास्तविक तन्त्र यह है कि निर्वाचन (रिटर्निङ्ग) अधिकारी से यह अपेक्षा की गयी है कि वह सशस्त्र सेनाओं के प्रत्येक सदस्य के पास, उस अभिलेख-कार्यालय के पते पर जिसने उस व्यक्ति द्वारा चाहे गये मतदान-क्षेत्र में उसका नाम दर्ज करने के लिए उसकी घोषणा भेजी थी, डाक से मतदान-पत्र भेजेगा। मतदानपत्र के साथ ये चीजें भी भेजी जाती हैं (१) साथ में एक पत्र जिसमें बताया जाता है कि अपनी इच्छा के उम्मीदवार के नाम के आगे मतदान-पत्र पर चिह्न लगाकर किस प्रकार मत अभिलिखित किया जाता है और खासकर इस जरूरी बात की ओर ध्यान दिलाया जाता है कि उसने किस तरह मत दिया है, यह कोई न देख पाये, (२) एक लिफाफा जिसमें आरम्भ में मतदान-पत्र रखकर उस पर मुहर लगायी जायेगी (३) एक घोषणा-पत्र, जिस पर मतदानपत्र लिफाफे में रखने के बाद, एक अधिकारी के सामने हस्ताक्षर करने पड़ते हैं और (४) एक बड़ा लिफाफा जिसपर निर्वाचन अधिकारी का पता लिखा रहता है, जिसमें छोटा लिफाफा और घोषणापत्र रखे जाते हैं। इस तरह मतपत्र को परम गुप्त रखा जाता है। मतदान किये गये मतपत्र वाला लिफाफा अभिलेख-कार्यालय, रजिस्ट्री डाक से, निर्वाचन अधिकारी के पास भेज देता है। डाकखर्च भारत सरकार देती है। इस तरह जहाँ जनसाधारण,-असैनिक अधिकारियों को शामिल करते हुए,—अपना मतदान करने के लिये मतदान केन्द्र पर जाते हैं,–और वे इस कर्त्तव्य से विमुख भी रह सकते हैं,—सशस्त्र सेनाओं का प्रत्येक सदस्य जहाँ कहीं भी हो, वहीं से अपना मत डाल सकता है और उसे स्वयं मतदान-केन्द्र नहीं जाना पड़ता। जो लोग छुट्टी पर होते हैं या चुनाव के समय नौकरी छोड़ चुके होते हैं, उनके डाक-मतपत्र वाले लिफाफे अभिलेख-कार्यालय उनके घर के पतों पर भेज देता है। इसलिए सामान्यतः ऐसा कोई कारण नहीं कि सशस्त्र सेनाओं का कोई सदस्य अपना मत न डाल पाये।

पूर्वोक्त कार्यविधि १९५१-५२ के साधारण चुनाव के समय अपनायी गयी थी। सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों को उम्मीदवारों के दलों से परिचित कराने के लिए लोक-सभा और राज्य-विधान-सभाओं के डाक-मतपत्र को इस पत्र में संशोधित कर दिया गया था कि प्रत्येक उम्मीदवार के नाम के आगे उसे वटित किया गया प्रतीक भी रहे।

निर्वाचन विधि में मतदाता-सूची के वार्षिक संशोधन की व्यवस्था है। यह समझा गया कि सशस्त्र सेनाओं के लोगों के बारे में हर साल यह घोषणा करना अनावश्यक होगा कि किस मतदान क्षेत्र में उनका नाम रखा जाय। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि १९५२ में तैयार की गयी मतदाता-सूची को स्थायी माना जाय और उसके बाद जो लोग बाद में सेना में आते हैं, और इस कारण जिनके नाम स्थायी सूची पर न होंगे, अथवा जो मान्य कारणों से अपना सामान्य निवास-स्थान बदलना चाहते हैं, उनसे विहित प्रपत्र में घोषणा देने को कहा जाय। यह भी व्यवस्था कर दी गयी है कि पदोन्नति, भरती, मृत्यु आदि द्वारा मतदाता-सूची में जो भी जरूरी संशोधन हों, वे सशस्त्र सेनाओं सम्बन्धित अभिलेख-कार्यालयों द्वारा हर साल निर्वाचन-पंजीयन-अधिकारियों के पास भिजवा दिये जायें।

इस तरह अपने मताधिकार का प्रयोग करने में सशस्त्र सेवाओं के लिए विशेष व्यवस्था

की गयी है। १५ अगस्त, १९४७ मे पहले उनके लिए डाक द्वारा मतदान करने की कोई व्यवस्था न थी और सीमित मताधिकार के और उस समय प्रवृत्त नियमो के अनुसार जिन सशस्त्र सेनाओ के जिन लोगों के नाम मतदाता-सूची में आ भी जाते थे, तो भी उनमें से थोडे से ही अपना वोट डाल पाते थे, (यदि वे चुनाव के समय सौभाग्य से विशेष मतदान-क्षेत्र में उपस्थित हो)। भारत सरकार अधिनियम, १९३५ में मतदाता-सूची तैयार करने के मामले में सशस्त्र सेनाओ के सदस्यों का कुछ ध्यान रखा गया था, पर यह अतीत में सैन्य-सेवा कर चुके लोगों के बारे में था, काम कर रहे सैन्यजनो के बारे में नहीं। जो लोग सशस्त्र सेनाओ में काम कर चुके थे और सेवानिवृत्त हो गये थे या वहाँ से सेवामुक्त किये गये थे, वे सभी किसी मतदान-क्षेत्र विशेष में, मतदाता-सूची में, अपने नाम इकट्ठे ही लिखा सकते थे, लेकिन तभी जब वे उस निर्वाचन-क्षेत्र में विहित अवधि तक एक मकान में निवासवाली प्राथमिक योग्यता की पूर्ति करते हो। ये ही विशेषाधिकार और शर्तें उनकी पत्नियो पर भी लागू थी, और पेन्शन पाने वाली विधवाओ और माताओं पर भी। सशस्त्र सेनाओ के कार्यरत सदस्यो के मामले में निवास सम्बन्धी नियम में कोई ढील न दी गयी थी, न उनको कोई विशेष सुविधायें ही अपने मताधिकार का प्रयोग करने के लिए दी गयी थी। इस तरह चुनाव के बारे में, नये सविधान के लागू होने के बाद बने नये विनियमो के अधीन, सशस्त्र सेनाओ के सदस्यो के लिए और उनकी पत्नियो के लिए वोट डालने के बारे में एक विशेष व्यवस्था की गयी है और सशस्त्र सेनाओ के प्रत्येक सदस्य के निकट यह बात अब स्पष्ट कर दी गयी है कि वे भी किसी अन्य नागरिक की तरह तत्कालीन सरकार का चुनाव करने में योगदान दे सकते हैं।

दसवाँ अध्याय

सेवा की शर्तें

खण्ड १—वेतन-संहिता का संशोधन

युद्ध से पूर्व वेतन का ढांचा—किंग कमीशनधारी सभी अधिकारी (के० सी० ओ० और के० सी० आई० ओ०), उन पदों के धारकों को छोड़, जिनके लिए विशिष्ट परिलब्धियाँ विहित की गयी हैं, भारत में कर्त्तव्यस्थ होने समय ओहदे का भारतीय वेतन पाते थे, जिनमें कुछ भत्ते अलग पदों के रूप में जोड़ दिये गये थे, जैसे विवाह-भत्ता (३० साल की आयु के बाद ही प्राप्तव्य), आवास-भत्ता (अकेले और विवाहित), भारतीय सेना-भत्ता (सभी मान पर), की वेतन और समुद्रपार वेतन (अन्तिम-भत्ता गैर एशियाई अधिवास वाले आई० एम० एस० अधिकारियों को ही मिलता था)।

आर्डनेंस-कोर, पशुचिकित्सा-कोर और आई० एम० एस० आदि के अधिकारियों के लिए विभिन्न वेतन दरें निर्धारित की गयी थीं।

कुछ वरिष्ठ नियुक्तियों के लिए समेकित वेतन विहित किया गया था।*

साथ ही, अनेक नियुक्तियों के लिए अतिरिक्त वेतन और भारसाधन वेतन-दरें भी विहित की गयी थीं, जो बताए गये कर्तव्य विशेष का निर्वहन करते समय या अपेक्षित योग्यता में होने पर दी जाती थीं।

भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों के लिए भिन्न वेतन-दरें विहित की गयी थीं, ये

---

*उदाहरण के लिए जनरल अफसर कमांडिंग-इन-चीफ, कमान और सामान्य स्टाफ प्रमुख (लेफ्टी० जनरल) का वेतन रु० ४५०० (समेकित) था। एडजूटेंट जनरल, क्वार्टर मास्टर जनरल आफ आर्डिनेन्स (लेफ्टी० जनरल) का रु० ४००० था। एक डिस्ट्रिक्ट के कमानधारी मेजर जनरल का रु० ३१६५ (अकेले) और रु० ३२०० (विवाहित) था। सैन्य-सचिव और इंजीनियर-इन चीफ (मेजर जनरल) का रु० २७०५ (अकेले) और रु० २७८५ (विवाहित) था।

किंग कमीशन-धारी अधिकारियों को प्राप्तव्य से बहुत कम थी। साथ ही विहित दरों पर मोर-वेतन और अतिरिक्त या भारसाधन वेतन देने की भी पद्धति थी। ये १६३४ में तय की गयी थीं और इनको तय करते समय १६३१ में असैनिक कर्मचारियों के लिए जारी किये गये वेतनमानों, के० सी० आई० ओ० के वेतन-मानों और भारतीय स्थितियों के लिए उपयुक्त सामान्य वेतन-स्तर को ध्यान में रखा गया था। वायसराय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों और भारतीय अन्य पदधारियों के वेतन-भत्तों की दरें सेना की शाखा विशेष के साथ भिन्न-भिन्न रहती थीं। अनेक प्रकार के विशेष वेतन जैसे सदाचरण-वेतन, प्रवीणता-वेतन, इंजीनियर-वेतन, सिगनल-वेतन आदि भी उनको मिलते थे।

अन्य दोनों सेनाओं के अधिकारियों और अन्य पदधारियों के लिए भी ऐसी ही जटिल वेतन-भत्ता पद्धति चल रही थी। अन्तर केवल यही था कि नौसेना और वायुसेना में के० सी० आई० ओ० के संवादी अधिकारी न थे।

युद्ध काल में वेतन ढांचा—इस तरह पिछले विश्वयुद्ध के पूर्व अधिकारियों की परिलब्धियों में वेतन की बुनियादी दरें होती थीं और साथ ही विशिष्ट कर्तव्यों, दायित्वों के लिए विशेष वेतन और भत्तों की विशद व्यवस्था थी। युद्ध के कारण और भी अनेक नये भत्ते मंजूर करना जरूरी हो गया, जिनमें से कुछ अप्रकट रूप में मँहगाई-भत्ते थे (सरकार के अधीन असैनिक कर्मचारियों को मिलने वाले मँहगाई-भत्ते जैसी चीज सैन्यजनों को इसी रूप में न मिलती थी) और कुछ युद्ध-जोखिम के कारण दिये गये थे। १६४२ में भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारियों की वेतन दरें ब्रिटेन के सैन्य-जनों को यू० के० में मिलने वाली दरों जितनी कर दी गयीं और १६४४ में उनका स्तर वही कर दिया गया जो भारत की सशस्त्र सेनाओं में काम करने वाले ब्रिटिश सैन्यजनों का था। यह समानीकरण राजनीतिक आधार पर किया गया था और विशुद्धत: एक युद्धकालीन कार्य था। पर किंग कमीशन अधिकारियों के साथ वेतन मानों की समानता मंजूर करते समय भारतीय कमीशन अधिकारियों के निकट यह स्पष्ट कर दिया था कि ये वृद्धियाँ केवल युद्धकाल के लिए दी जा रही हैं और इनके अनन्तकाल तक चालू रहने का वे दावा न कर सकेंगे। उस समय निकाले गये आदेश के अनुसार युद्ध की समाप्ति पर ये अधिकारी अपने युद्ध पूर्व के वेतन-मानों में आ जायेंगे। फिर भी यह सोचा गया कि ऐसा करने से पूर्व तीनों सेवाओं में काफी समय से विचारणीय चले आ रहे वेतन-मानों का युक्तिसंगतीकरण हाथ में लिया जाना चाहिये।

नया वेतन ढांचा—१६४६ के आरम्भ में युद्ध-विभाग में युद्धोत्तर-वेतन समिति नामक एक विभागीय समिति बनायी गयी, जिसके अध्यक्ष विभाग के तत्कालीन अतिरिक्त सचिव थे और इसमें नौसेना-मुख्यालय, सामान्य-मुख्यालय (अब सेना-मुख्यालय) वायुसेना-मुख्यालय और सैन्य वित्त-विभाग (अब वित्त-मन्त्रालय रक्षा) के प्रतिनिधि थे। समिति के समक्ष ये कार्य थे: (१) पूर्णत: भारतीय स्थिति के अनुकूल वेतन-मानों की सिफारिश करना, (२) वेतन-पद्धति को सरल बनाना, और (३) हर सेना में और तीनों सेनाओं के बीच भी यथासम्भव अधिकतम समरूपता लाना। इस बीच भारत सरकार ने सरकार के अधीन काम करने वाले

असैनिक-कर्मचारियों के वेतन-मानों के युक्तिसंगतीकरण के लिए एक केन्द्रीय वेतन-आयोग भी नियुक्त कर दिया था।

सशस्त्र सेनाओं के वेतन मानों को भारतीय स्थिति के अनुरूप बनाने के लिए मोटे तौर पर न्यूनतम और अधिकतम वेतन दरों के बारे में वेतन-आयोग की सिफारिशों पर सरकार के निर्णय को मान लिया गया। युद्धोत्तर वेतन-समिति की सिफारिशें मई, १९४७ में प्राप्त हुईं और अन्तरिम सरकार ने उनको जून, १९४७ में मंजूर कर लिया। सशस्त्र सेनाओं के नये वेतन ढाँचे में अब विभिन्न ओहदों की वेतन-दरें और मंहगाई तथा प्रतिकर-(नगर) भत्ता आता है। पहले चल रहे अनेक विशेष भत्ते खत्म कर दिये गये। अधिकारियों को अब मंहगाई भत्ता और प्रतिकर भत्ता असैनिक अधिकारियों वाली दरों पर ही मिलता था, पर सरकारी खर्च पर आवास, भोजन और वस्त्र पाने वाले अन्य पदधारियों को मंहगाई और प्रतिकर भत्ते आधी दरों पर दिये गये।

सशस्त्र सेनाओं के वेतन-मान असैनिक सेवाओं से तुलनीय बनाने के लिए दोनों श्रेणियों की नियुक्तियों को मोटे तौर पर समकक्ष किया जाना था। इस प्रयोजन से पूर्ण-प्रशिक्षित पैदल सैनिक, जो तीन साल सेवा कर चुका था, मोटे तौर पर उन कर्मचारियों से तुलनीय माना गया, जिनको केन्द्रीय वेतन आयोग ने अर्द्ध कुशल माना था। सशस्त्र सेनाओं की सेवा की विशेष बातों को ध्यान में रखते हुए पूर्ण-शिक्षित तीन साल सेवा वाले पैदल सैनिक का मूल वेतन ३० रुपये रखा गया। नौसेना और वायुसेना के तुलनीय ओहदों के लिए भी थोड़ी सी ही भिन्न-दरें रखी गयीं।

सशस्त्र सेनाओं के अधिकारियों के लिए मूल वेतन-मान रखे गये, जो सामान्यतः प्रथम श्रेणी की असैनिक सेवा और भारतीय पुलिस-सेवा के लिए निश्चित वेतन मानों पर आधारित थे, पर उनमें कुछ ऐसे तत्वों का ध्यान रखा गया, जो इन तीनों सेवाओं की परस्पर विशिष्टता स्पष्ट कर देते थे। विवाह-भत्ता जैसी नयी चीज जो यू० के० से ली गयी थी और केवल अधिकारियों को ही मिलती थी, खत्म कर दी गयी। इस निर्णय ने सशस्त्र सेनाओं को असैनिक चलन के अनुसार ही कर दिया और अधिकारियों के ओहदे के नीचे के उन लोगों के असन्तोष का एक सम्भव कारण खत्म कर दिया, जिनको यह भत्ता न मिलता था। तीनों सेनाओं की नयी वेतन-संहिता, अतिरिक्त कर्त्तव्य के लिए पारिश्रमिक के स्वरूप वाले सभी भत्ते हटाकर, अपेक्षाकृत सरल बना दी गयी। यह भी असैनिक प्रक्रिया पर आधारित था। पर यह माना गया है कि पैराशूट से उतरने या गोता मारने के जोखिम वाले कामों के लिए विशेष भत्ता उचित है और उसी तरह वायुसेना की सामान्य कर्त्तव्य शाखा के व्यक्तियों (अर्थात् वायु-सायानिक) को धरातल कर्त्तव्य वाले लोगों की तुलना में ज्यादा पारिश्रमिक मिलना चाहिये। समरसता और सरलता की दृष्टि से अन्य विभिन्न परिवर्तन भी किये गये।

नयी संहिता का प्रभाव यह पड़ा कि अफसरों के ओहदों से नीचे वालों को युद्ध-पूर्व-वेतन की अपेक्षा ज्यादा मिला और अधिकांश मामलों में उनकी युद्धकालीन परिलब्धियों से भी ज्यादा मिला। पर अनेक मामलों में १९४४ में मंजूर किये गये रकरे वेतन-भत्तों की तुलना में अधिकारियों के लिए काफी कटौती की गयी।

ऐसे वायसराय कमीशन प्राप्त अधिकारियों और अन्य पदधारियों तथा नौसेना और वायुसेना के तत्संबादी पदधारियों के लिए जो १ जुलाई, १९४७ को सेवा में थे, नयी वेतन-संहिता भूत लक्षी प्रभाव से १ जनवरी, १९४७ से लागू की गयी, ताकि बढ़े हुए वेतन का लाभ उनको पहले की तारीख से मिल जाय। भारतीय कमीशनधारी अधिकारियों के मामले में (अर्थात् के० सी० आई० ओ० को छोड़कर जो अपनी पुरानी दरें लेते रहे) नयी दरें १ जुलाई, १९४७ से लागू की गयी। पर यह व्यवस्था की गई कि उनकी परिलब्धियों में सहसा कमी न हो जाय। हालाँकि नयी दरें उनकी युद्धकालीन परिलब्धियों से कहीं कम थीं, पर वे सामान्यतः १९३४ में तय किये गये वेतन-मानों से अच्छी थीं, फिर भी, युद्धकालीन परिलब्धियों से कटौती को कम सख्त करने की दृष्टि से सरकार ने यह तय किया कि १ अप्रैल, १९४८ से पहले किसी ऐसे व्यक्ति के वेतन में कटौती न की जाय, जो १ जुलाई, १९४७ वाले ओहदों में बना रहे। इसके बाद नये वेतन की अपेक्षा पुराना वेतन जितना ज्यादा था, वह भी छमाही किस्तों में कम किया जाय। एक महत्वपूर्ण बात यह भी थी कि अधिकारी-सवर्गों में तेजी से दी गयी पदोन्नतियों के कारण बहुत से अधिकारियों को पहले के वेतनों की अपेक्षा अपने नये ओहदों के लिए ज्यादा वेतन मिलने लगे थे।

नयी वेतन संहिता ने आयु के अनुसार सैनिक और असैनिक वेतन-दरों में समानीकरण करके सैन्य अधिकारियों को एक और लाभ प्रदान किया क्योंकि वरिष्ठ असैनिक सेवाओं की प्रवेश-आयु की तुलना में ३.४ साल कम है। पर इस बीच सेवाकालीन भारतीय कमीशन प्राप्त अधिकारियों की वेतन-संहिता के अनुसार, वेतन-कटौती की पहली किस्त सामने आ गयी थी और यह अनुभव किया गया कि युद्धकालीन स्थितियाँ पूर्णतः समाप्त नहीं हुई थीं और इस कारण परिलब्धियों में कोई भारी कटौती करने से दिक्कतें पैदा हो जायेंगी, खासकर कनिष्ठ विवाहित अधिकारियों के लिए। इसलिए सरकार ने यह फैसला किया कि अधिकारियों के वेतन में जहाँ भी कटौती होनी है, किस्तें पूर्व-प्रस्तावित छ की जगह नौ कर दी जायें। यह भी जरूरी समझा गया कि सशस्त्र सेनाओं की कुछ विशेष स्थितियों को मान्यता देना जरूरी है, हालाँकि अनेक भत्तों वाली पद्धति फिर से अपनाना ठीक न होगा, क्योंकि इससे लेखा रखने में जटिलतायें पैदा हो गयी थीं और अधिकारियों को तैनात या स्थानान्तरित करने में कुछ प्रशासनिक दिक्कतें भी सामने आ गयी थीं और जिनको, इसी कारण, नयी वेतन-संहिता में नहीं रखा गया था। पुराने नियमों के अनुसार एक अधिकारी को सज्जा-भत्ता एक बार ही अपनी सेवा के शुरू में मिलता था और बाद में उसकी जगह चीजें उसे स्वयं खरीदनी होती थीं। सैन्य अधिकारियों को कपड़ों पर ही कहीं ज्यादा खर्च करना होता है, इसलिए यह तय किया गया कि कमीशन प्राप्त अधिकारियों को (जो नयी वेतन संहिता के अन्तर्गत आते हैं) सज्जा-नवीनीकरण का नया भत्ता सेवाकाल के सात सात वर्ष बाद दिया जाय। अधिकारियों के अलावा अन्य सैन्यजनों के वस्त्रों का खर्च सरकार देती है। अप्रैल, १९६१ में आरम्भिक सज्जा-भत्ते की दर ४०० रु० बढ़ा दी गयी।

कुछ विशेष प्रकार की नियुक्तियों वाले वरिष्ठ अधिकारियों को, सेना की रिवाज और अपनी अधिकारिक स्थिति के कारण, सत्कार पर खर्च करना पड़ता है। इसलिए सरकार ने

निर्दिष्ट यूनिटों और विरचनाओं की कमान स्वतन्त्र रूप से धारण करने वाले और नयी वेतन-संहिता के अधीन आने वाले अधिकारियों के लिए सत्कार-भत्ता मंजूर किया (अक्तूबर, १९५७ में यह भत्ता एक सत्कार-अनुदान में बदल दिया गया, जिस पर आयकर नहीं लगता)। अंगीकृत सैन्य-मैसों के लिए सरकार द्वारा दिए गये अंशदान की रकम में भी उदारतापूर्वक वृद्धि की गयी, क्योंकि कुछ ओहदों से नीचे के अधिकारियों के लिए इनमें सम्मिलित होना बाध्यकर है। सरकारी हैसियत से अधिकारियों के ऊपर बाध्यकर होने वाला अधिकांश सत्कार-कार्यक्रम चूंकि इन मैसों में ही किया जाता है, इसलिए मैस-सन्धारण-अनुदान में की गयी वृद्धि ने बहुत से अधिकारियों को मदद पहुँचायी।

१९४८ में नयी वेतन-संहिता के अधीन आने वाले अधिकारियों के लिए स्थायी आधार पर नीचे लिखी और कुछ रियायतें भी दी गयी

(क) जहाँ पर अधिकारियों को फरनीचर अधिकृत मान के अनुसार नहीं दिया जा सकता, अधिकारी अपने वेतन के ५ प्रतिशत तक का फरनीचर भाड़े पर ले सकते हैं और सरकार उनके वेतन के २½ प्रतिशत तक की प्रतिपूर्ति करेगी।

(ख) जहाँ अधिकारियों को उनके कर्तव्य-स्थान पर उपयुक्त विवाहित आवास नहीं प्रदान किया जा सकता, वे एकल आवास और सम्बद्ध सेवायें जैसे जल, बिजली आदि अपने लिए निःशुल्क प्राप्त कर सकते हैं।

(ग) लेफ्टी० कर्नल को शामिल करके इस ओहदे तक के अधिकारियों को (और दोनों *अन्य सेनाओं में उनके समकक्ष को*) कुछ विशेष योग्यतायें रखने पर, योग्यताओं के उच्च या निम्न होने के अनुसार, ७५ रु० और ५० रु० के योग्यता-वेतन प्राप्त किये गये। १९६२ में योग्यता अनुदान एकमुश्त १८०० रुपये और १२०० रु० देने के लिए व्यवस्था की गयी।

(घ) मेजर और नीचे के ओहदे वाले अधिकारियों (और उनके समकक्ष) को वायु-प्रेक्षण केन्द्र-पाइलट के रूप में नियुक्त होने पर ५० रु० मासिक का विशेष वेतन दिया गया।

(ङ) भारतीय वायुसेना की सामान्य कर्तव्य-शाखा के अधिकारियों और सेना और नौसेना में उड़ान-कर्तव्य सँभालने वाले अधिकारियों को उड़ान-परिदान (बाउटी) दी गयी जो ओहदे के अनुसार १२०० रुपये से १८०० रुपये तक वार्षिक थी। हाल में ये दरें बढ़ा दी गई हैं।

(च) सैन्यजनों का डाक-जीवन-बीमा पहले की विशेष दरों के स्थान पर सामान्य दरों के अनुसार किया जाने लगा और दोनों के बीच के अन्तर की पूर्ति रक्षा-सेना अनुमानों में की गयी।

ब्रिगेडियर तक के ओहदे के अधिकारियों (और उनके समकक्ष) को नीचे लिखी और रियायतें १९५० में दी गयी, लेकिन ये रियायतें अस्थायी तौर पर ही मंजूर की गयी थीं और ये परिस्थितियों की माँग के अनुसार समीक्षा और पुनरीक्षण के अधीन थीं —

(क) सरकारी आवास का किराया विवाहित अधिकारियों के लिए वेतन के १० प्रतिशत की जगह ५ प्रतिशत तक ही और अविवाहित अधिकारियों के लिए वेतन के ५ प्रतिशत की जगह २½ प्रतिशत तक ही सीमित रखा गया।

(ख) अधिकारियों को जल और बिजली के प्रभार की सैन्य इंजीनियरी सेवा की दरों का आधा ही देना होगा।

(ग) एक किट सम्भारण-भत्ता और एक विदेश-उपस्कर-भत्ता प्रत्येक ३०-३० रुपये मासिक का।

इस प्रकार उक्त सेनाओं के वेतन और लेखा-पद्धति को नयी वेतन-संहिता ने काफी सरल बना दिया।

अधिकारियों के नये वेतन-मान किंग्स कमीशन-प्राप्त भारतीय अधिकारियों पर लागू नहीं किये गये, जिनको सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की अन्य सेवाओं की तरह, अपनी पहले की वेतन-दरें लेते रहने की अनुमति दे दी गयी। फिर भी ऐसे अधिकारियों की संख्या बहुत कम थी। १९६६ के अन्त तक भारतीय सेना में केवल एक ही ऐसा अधिकारी शेष रह जायेगा।

दूसरे वेतन-आयोग (१९५७) की सिफारिशों के सैन्य वर्गों पर लागू किये जाने पर विचार करने के लिए, नवम्बर, १९५९ में एक विभागीय समिति बनायी गयी, जिसके अध्यक्ष उप-रक्षा-मन्त्री थे और रक्षा और वित्त (रक्षा) मन्त्रालयों और सेना-मुख्यालयों के वरिष्ठ प्रतिनिधि उसके सदस्य थे। समिति की सिफारिशों पर सरकार के निर्णयों को लागू करने के लिए आदेश सितम्बर, १९६० में (अधिकारियों के नीचे के सैन्य वर्गों के लिए) और जुलाई, १९६१ में (अधिकारियों के लिए) जारी किये गये और उनको क्रमशः १ जुलाई १९५९ और १ अप्रैल, १९६० से प्रभावी बनाया गया। अन्य पदधारियों के लिए संशोधित दरें, पहले के मूल वेतन में उस समय असैनिकों पर लागू महंगाई-भत्ते का दो-तिहाई जोड़ कर, निर्धारित की गयीं। महंगाई भत्ते की दरें भी असैनिक दरों के आधे से बढ़ाकर दो तिहाई कर दी गयी।

बाद में, देश की मुख्य सेवा में अधिकारी के रूप में जीवन-वृत्ति के विभिन्न पहलुओं का परीक्षण करने के बाद, फरवरी १९६२ में ब्रिगेडियर और दूसरी सेनाओं में समकक्ष तक के ओहदे को शामिल करते हुए, सरकार ने अधिकारियों के वेतन में और सुधार करने का निर्णय किया। नया आदेश १ अप्रैल, १९६० से प्रभावी हुआ और अब ये वेतन मान ये हैं: सेकिंड लेफ्टीनेंट ४०० रुपये, लेफ्टीनेंट रु० ४५०-३०-५४०, कैप्टेन ७५०-५०-९५०, मेजर १०५०-५०/२-१३००, लेफ्टी० कर्नल (प्रवरित) १३५०-५०/२-१५००, कर्नल १५५०-६०-१७५० और ब्रिगेडियर रु० १७५०-१००-१९५० प्रति मास। उन असैनिक अधिकारियों के जो संयुक्त-सचिव और अतिरिक्त-सचिव के पद पर थे, वेतन बढ़ जाने के फलस्वरूप, मेजर जनरल और लेफ्टीनेंट जनरल (और दोनों अन्य सेनाओं में उनके समकक्ष पदधारियों के स्थान प्रमुख को छोड़ कर) के वेतन १ दिसम्बर, १९६१ से बढ़ाकर क्रमशः यों कर दिये गये: रु० २५००-१२५/२-२७५० और रु० ३०००। सबसे ऊपर के २ प्रतिशत तक को विशेष रियायत जो जनवरी, १९६१ में मेजर जनरल तक के अधिकारियों को दी गयी थी, वापस ले ली गयी। भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारी सेना कमांडर (लेफ्टी० जनरल) को २५० रुपये प्रतिमास का विशेष वेतन दिया जाता है।

खण्ड २ सशस्त्र सेनाओं के लिए नयी पेन्शन-संहिता

पेन्शन-समिति

युद्धोत्तर वेतन-समिति, पेन्शन-संहिता के संशोधन का काम, खासकर इसलिए अपने हाथ में न ले सकी थी कि असैनिक कर्मचारियों के सेवा-निवृत्ति सम्बन्धी लाभ अभी भी सरकार के विचाराधीन थे और यह वांछनीय समझा गया कि सशस्त्र सेना के सदस्यों की पेन्शन किस सीमा तक संशोधित असैनिक पेन्शन से सम्बद्ध रखी जा सकती है। १९४७ में सशस्त्र सेना के मुलाजिमों के लिए नयी वेतन-संहिता आरम्भ होने पर यह भी जरूरी हो गया कि पेन्शन-लाभ की दरों में संशोधन किया जाय। तदनुसार जुलाई, १९४९ में सरकार ने एक विभागीय समिति स्थापित की, जिसका नाम था सशस्त्र सेना पेन्शन-संशोधन-समिति और इसके अध्यक्ष न्यायिक-अनुभव वाले एक वरिष्ठ आई० सी० एस० अधिकारी थे और तीनों सेनाओं और वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के वरिष्ठ अधिकारी उसके सदस्य थे। समिति के सामने विकट काम था। उनको तीनों सेनाओं पर लागू, बड़े ही भिन्न-भिन्न प्रकार की पेन्शन सम्बन्धी रियायतों को, युक्तिसंगत और समन्वित करना था और सशस्त्र सेनाओं की सुविशिष्ट सेवा-दशाओं को ध्यान में रखते हुए, एक सरल और एकरूप पेन्शन-संहिता बनानी थी। समिति ने अपनी रिपोर्ट अगस्त, १९५० में पेश की, लेकिन सिफारिशें एकमत न थीं। इसलिए सरकार को विभिन्न दूरगामी अन्तर्ग्रस्त मामलों पर निर्णय लेने में कुछ समय लगा। नये पेन्शन-मान १ जून, १९५३ से प्रभावी किये गये।

संशोधित पेन्शन-लाभों को निश्चित करने में असैनिक और सैन्यजनों की सेवा-शर्तों के कुछ महत्वपूर्ण अन्तरों को ध्यान में रखना जरूरी था। असैनिकों को सामान्यतः लगभग ३० साल की लगातार सेवा के बाद पेन्शन मिलती है और वे ५५ वर्ष तक (अब ५८) या कुछ मामलों में ६० साल की आयु तक नौकरी कर सकते हैं।

सशस्त्र सेनाओं के मामले में स्थिति भिन्न है। उच्चतर ओहदों में स्थायी बने अधिकारी एक ओहदे में सामान्यतः चार साल से ज्यादा नौकरी नहीं कर पाते, जब तक कि उनको अगले उच्चतर ओहदे में पदोन्नति न दे दी जाय। अधिकारियों के ओहदों के नीचे के सैन्यजनों में यह असमानता और भी सुस्पष्ट है। इनमें से अधिकांश सैन्यजन १५-वर्ष की सेवा पूरी हो जाने पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं, और यह सेवा भी पूरी सक्रिय-सूची में नहीं होती (अर्थात् सामान्यतः ७ वर्ष रंग-सेवा रहती है और ८ वर्ष आरक्षिति में) इस तरह जहाँ असैनिक सरकारी नौकर अपने जीवन के सन्ध्याकाल में अपनी पेन्शन लेना शुरू करता है, अधिकांश सैन्यजन काफी युवा होते ही अपनी पेन्शन पाने लग जाते हैं और इस तरह अभी उनमें अर्जन-क्षमता और जीवित रहने की दीर्घतर प्रत्याशा बनी रहती है। इसलिए असैनिक व्यक्ति उतने ही वेतन वाले किसी सैन्यजन की अपेक्षा ज्यादा निवृत्ति-वेतन भी प्राप्त करे, तब भी वह अधिकांश मामलों में थोड़े ही समय तक पेन्शन प्राप्त करेगा। साथ ही अधिकारी ओहदे के नीचे के सैन्यजन भोजन, वस्त्र और आवास सरकारी खर्च पर प्राप्त करते हैं और वेतन-भत्ते नकद पाते हैं। असैनिक सरकारी कर्मचारियों के मामले में ऐसी व्यवस्था नहीं है।

सेना-पेन्शन

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए यह तय किया गया कि सशस्त्र सैन्यजनों का सेवा-निवृत्ति-वेतन *तदर्थ आधार पर निश्चित करने की पद्धति* चालू बनी रहनी चाहिये। तदर्थ दरों की यह पद्धति भारतीय सेना में शुरू से ही चली आ रही है और यू० के० जैसे दूसरे देशों में भी चलती है। यह लागू करने में आसान भी है। पर साथ ही पुरानी तदर्थ दरों में कुछ प्रत्यक्ष त्रुटियाँ भी हैं। पहले तो वे बहुत कम हैं और सैन्यजनों के लिए १९४७ में शुरू की गयी नयी वेतन-दरों के साथ उनका कोई गठजोड़ नहीं है। दूसरे तीन-तीन सालों के सेवा के समुच्चय के लिए दरें वही हैं (३० साल से ज्यादा की अहंकारी सेवा वाले वायसराय कमीशन धारी अधिकारियों को छोड़कर), और तीसरे प्रत्येक ओहदे में समान सेवाकाल वालों के लिए कोई अन्तर नहीं हैं, हालांकि व्यक्ति विशेष के ट्रेड-समूहों के अनुसार उसकी वेतन-दरों में काफी अन्तर रहता है। इसलिए तदर्थ दरें निर्धारित करने के लिए एक नया सूत्र स्वीकार किया गया। इस सूत्र की प्रमुख बातें ये थीं —

(क) रंग सहित १५ साल की न्यूनतम अहंकारी सेवा के लिए प्रत्येक ओहदे और उसी ओहदे में प्रत्येक वेतन-समूह के लिए तदर्थ पेन्शन दरें विहित की गयी।

(ख) १५ साल से ज्यादा अहंकारी सेवा के प्रत्येक अतिरिक्त वर्ष के लिए सेवा के वर्ष-समुच्चय के लिए पहले दी जाने वाली पेन्शन की स्थूल दरों की जगह पेन्शन दर में एक वार्षिक वृद्धि विहित की गयी। वार्षिक वृद्धि की दर में ओहदे के अनुसार अन्तर रहता था।

(ग) यथासम्भव तीनों सेनाओं में तुलनीय वेतन-दरों के आधार पर पेन्शन-दरों में एकरूपता रखी गयी।

संशोधित दरों के अधीन एक सिपाही १५ रु० से ३२ रु० तक ही मासिक पेन्शन पा सकता था, नायक १७ रु० से ३९ रु०, हवलदार २३ रु० से ४८ रु०, जमादार (अब नायब सूबेदार) ३५ रु० से ७३ रु० तक, सूबेदार ५० रु० से १०५.५० रु० तक और सूबेदार मेजर १०१ रु० से १५३ रु० तक। ये दरें अप्रैल १९६१ से फिर संशोधित की गयी और अब इस तरह हो गयी सिपाही १७ रु० से ४० रु०, नायक २१ से ४५.५० रु०, हवलदार २४ रु० से ५३.५० रु०, नायब सूबेदार ३८ रु० से ८०.५० रु०, सूबेदार ५२ रु० से १२१.५० रु० और सूबेदार मेजर १०१ रु० से १६८ रु०। १ जनवरी, १९६४ से लागू हुए नये आदेश के अनुसार उस तारीख को या उसके बाद सेवा-निवृत्त होने वालों को २५ रु० की न्यूनतम पेन्शन दी जाने लगी है।

सेवा-निवृत्ति-पेन्शन

नयी पेन्शन-संहिता ने स्थायी कमीशनधारी अधिकारियों की सेवानिवृत्ति-पेन्शन जोड़ने के लिए मानक दर योजना वाली एक बिलकुल नयी पद्धति चालू की। इसमें प्रत्येक ओहदे के लिए विहित सेवाकाल के बाद मानक दर से पेन्शन की व्यवस्था की गयी। सेवा-निवृत्ति-पेन्शन पाने के लिए एक अधिकारी को (देर से भरती होने वालों को छोड़ कर) २० साल की न्यूनतम

अर्हकारी सेवा करनी होती है। पेन्शन की अधिकतम मासिक दरें ये थी : कैप्टेन ३५० रु०, मेजर ४७५ रु०, लेफ्टी० कर्नल ६२५ रु०, कर्नल ६७५ रु०, ब्रिगेडियर ७२५ रु०, मेजर जनरल ८०० रु०, लेफ्टी० जनरल ६०० रु० और जनरल १००० रु०। नयी वेतन-संहिता में यह भी व्यवस्था की गयी कि जिन अधिकारियों को जीवन में देर से कमीशन मिला और जो २० साल से कम के सेवाकाल के बाद निवृत्त हो रहे हैं, पर उनका अर्हकारी (कमीशन प्राप्त) सेवाकाल १५ साल या ज्यादा है, उनको आनुपातिक पेन्शन दी जायेगी। अन्य मामलों में कम से कम १० साल की अर्हकारी सेवा होने पर अधिकारी सेवा-उपदान प्राप्त कर सकते हैं।

सेवा-निवृत्ति-पेन्शन की दरें १ अक्तूबर, १६६१ से बढ़ा दी गयी। आजकल दरें ये हैं. सेकिंड लेफ्टीनेंट और लेफ्टीनेंट ३०० रु०, कैप्टेन ४२५ रु, मेजर ५५० रु०, लेफ्टीनेंट कर्नल ६७५ रु०, ब्रिगेडियर ८२५ रु०, मेजर जनरल ८७५ रु०। लेफ्टीनेंट जनरल और जनरल की दरें क्रमशः वही ६०० रु० और १००० रु० बनी रही (ये सभी दरें अन्य दोनों सेनाओं के समकक्ष पदों पर भी लागू होती हैं)।

निर्योग्यता-पेन्शन

इस प्रकार की पेन्शन सशस्त्र सेना के एक सदस्य को इस शर्त पर मिल सकती है कि निर्योग्यता सैन्य-सेवा के कारण है। उसका निर्धारण २० प्रतिशत या ज्यादा किया जाता है। इसमें दो तत्व रहते हैं सेवा का तत्व और निर्योग्यता का तत्व। जो कमीशनधारी अधिकारी २० साल की अर्हकारी सेवा कर चुके हैं, उनके अपंग होकर अलग किये जाने पर सेवा-तत्व सेवाकाल और ओहदे के लिए उपयुक्त सेवा-निवृत्ति-वेतन माना जाता है। इसी तरह कनिष्ठ कमीशनधारी अधिकारियों और अन्य पदधारियों के १५ साल की अर्हकारी सेवा पूरी कर चुकने की स्थिति में सेवा-तत्व ओहदे की सेवा-पेन्शन के उपयुक्त रहता है।

अन्य पेन्शनें

विशेष परिवार-पेन्शन, उपदान और सामान्य परिवार-पेन्शन की दरों में भी वृद्धि की गयी है।

खण्ड ३ तीनों सेनाओं की अनुशासन-संहिता में संशोधन

१५ अगस्त, १६४७ से पहले सम्राट् की थलसेना में किंग कमीशन-धारी सभी भारतीयों और ब्रिटिशजनों के ऊपर ब्रिटिश सेना-अधिनियम लागू होता था। भारतीय सेना के अन्य भारतीयजन (भारतीय कमीशन प्राप्त अधिकारियों समेत) १६११ के भारतीय सेना-अधिनियम द्वारा शासित होते थे। यह अधिनियम पर्याप्त रूप से विशद न था। जहाँ कहीं यह मौन था, तत्संवादी ब्रिटिश-अधिनियम की व्यवस्था मान ली जाती थी। १५ अगस्त, १६४७ से ब्रिटिश सेना-अधिनियम लागू न रहा और किंग कमीशनधारी भारतीय अधिकारी २६ जनवरी १६४८ को जारी किये गये, पर १५ अगस्त, १६४७ से प्रभावी, एक अध्यादेश (१६४८ का अध्यादेश, संख्या दो)

द्वारा भारतीय सेना अधिनियम के अधीन कर दिये गये और इसने भारतीय सेना-अधिनियम में यह व्यवस्था करने के लिए संशोधन कर दिया कि भारतीय कमीशन-प्राप्त अधिकारी शब्द में भारतीय नागरिकता वाला और सम्राट् की थलसेना में किंग्स कमीशनधारी व्यक्ति भी शामिल माना जायेगा। यह संशोधन बाद में भारतीय सेना (संशोधन)-अधिनियम, १९४८, (१९४८ का अधिनियम, संख्या ४३) में शामिल कर लिया गया और इस तरह के० सी० आई० ओ० तब तक भारतीय सेना अधिनियम, १९११ के अधीन बने रहे जब तक कि इस अधिनियम को ही सेना के सभी कमीशन-प्राप्त अधिकारियों को समेटने के लिए संशोधित नहीं कर दिया गया।

संगठन और अनुशासन के मामले में नौसेना और वायुसेना क्रमशः भारतीय नौसेना (अनुशासन) अधिनियम, १९३४ और भारतीय वायुसेना अधिनियम १९३२ और उनके अधीन बनाये गये नियमों-विनियमों से अनुशासित होती थीं। भारतीय वायुसेना-अधिनियम भारतीय सेना-अधिनियम के नमूने पर बनाया गया था, पर भारतीय नौसेना (अनुशासन)-अधिनियम केवल यू० के० नौसेना अनुशासन-अधिनियम को कुछ रूपभेद के साथ रॉयल इंडियन नेवी पर लागू कर देता था।

तीनों सेनाओं के इन अधिनियमों का पुनरीक्षण करने की जरूरत कुछ समय से अनुभव की जा रही थी। उनके कुछ उपबन्ध पहले ही पुराने पड़ चुके थे और बदली जरूरतों की पूर्ति के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुए थे। १५ अगस्त, १९४७ के बाद प्रत्यक्ष कारणों से पुनरीक्षण की जरूरत और भी प्रबल हो गयी। इसलिए यह तय किया गया कि तीनों ही अधिनियमों को पुनरीक्षित किया जाय, (क) ताकि कुछ अन्य सम्बद्ध अधिनियमों के जरूरी उपबन्ध शामिल करते हुए उनको सर्वांगपूर्ण संहिता बना दिया जाय, (ख) उनको नये सांविधानिक ढाँचे और बाद की जरूरतों के अनुसार अनुकूलित किया जाय और (ग) एक ओर तो सेना-अधिनियमों और नागर-कानूनों के बीच का अन्तर अपराधों के दण्डों के मामले में यथासम्भव कम किया जाय और दूसरी ओर सेना-अधिनियमों के वैसे ही उपबन्धों के बीच असमानता खत्म की जाय। उद्देश्य यह था कि प्रत्येक सेना की विशेष जरूरत के अनुसार ही उसका रूप और व्यवस्था रखी जाय। पुनरीक्षण का कार्य करने के लिए जनवरी, १९४८ में मद्रास हाईकोर्ट का एक प्रसिद्ध वकील रक्षा-मन्त्रालय में नियुक्त किया गया। आरम्भ में तीनों सेनाओं की अनुशासन-संहिताओं को एक ही अधिनियम के रूप में सम्मिलित करने की सम्भावना पर विचार किया गया। पर परीक्षा करने से पता चला कि जरूरतों और परम्पराओं में, एक सीमा से ज्यादा अन्तर रहने के कारण, ऐसा करना सम्भव नहीं है। इसलिए यह फैसला किया गया कि अधिनियम अलग-अलग बनाये जायँ, पर उनके उपबन्ध, जरूरी अन्तर और अनुकूलनों के बावजूद, एक जैसे ही रहें।

थलसेना और वायुसेना-अधिनियमों का पुनरीक्षण १९५८ में पूरा हो गया, पर भारतीय नौसेना (अनुशासन)-अधिनियम के बारे में यह पूरा होना सम्भव न था, क्योंकि वह तो, यू० के० नौसेना (अनुशासन)-अधिनियम को उपयुक्त हेरफेर के बाद, भारतीय नौसेना पर लागू मात्र कर देता था। साथ ही इस बीच यू० के० में भी एक विशेष समिति विविध

नौसेना-अधिनियम के पुनरीक्षण के प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त की जा चुकी थी। यह समझा गया कि उक्त समिति के प्रतिवेदन की प्रतीक्षा कर लेना लाभकर होगा और उसके बाद ही भारतीय अधिनियम का पुनरीक्षण किया जाय। पर यह देखा गया कि पुनरीक्षित थलसेना और वायुसेना-विधेयकों का सूत्रपात करने के लिए, जिनका प्रारूप बन चुका था, पुनरीक्षित नौसेना विधेयक के पूरे होने की प्रतीक्षा करना अनावश्यक था।

दोनों अधिनियमों के पुनरीक्षित संस्करण में दण्ड के उपबन्धों को युक्तिसंगत बनाया गया। भारतीय सेना-अधिनियम, १९११ कुछ दण्डों के बारे में कठोर था और अपराधों की संख्या गिनाने में अपर्याप्त था। पुनरीक्षित विधेयकों में, अधिकतम दण्ड में, भारतीय दण्ड-संहिताओं या देश की अन्य दण्डिक विधियों की तरह, प्रत्येक अपराध या अपराधों के समूह के अनुसार अन्तर रहता था और यह अपराध या अपराधों की गुरुता के अनुसार था। विभिन्न स्थितियों में अपराध की गुरुता के अनुसार दण्डों का श्रेणीकरण करने का भी प्रयास किया गया और अपराध जानबूझकर या सक्रिय सेवा के समय किये जाने पर दण्ड ज्यादा उग्र बना दिया गया। दोनों विधेयकों के बीच पूर्ण एकरूपता रखना न तो सम्भव ही समझा गया और न वाछनीय ही, पर यथासम्भव स्पष्ट असमानतायें हटा दी गयी। कोर्ट मार्शल में, अन्याय के अवसर न्यूनतम करने के लिए भी, व्यवस्था की गयी और साथ ही इन कोर्टों की प्रास्थिति और उत्तरदायित्व भी बढ़ा दिये गये। यह भी व्यवस्था की गयी कि नया सेना-अधिनियम उन देशी रियासतों की सेनाओं पर भी लागू होगा, जो भारत-संघ में सम्मिलित हो चुकी हैं। दोनों विधेयकों के बीच एकमात्र महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि थलसेना के लिए संक्षिप्त कोर्ट मार्शल की व्यवस्था थी, पर वायुसेना के लिए नहीं। यह थलसेना और वायुसेना के रंगरूटों के प्रकार में अन्तर के कारण था, सामान्यतः वायुसेना के रंगरूट ज्यादा शिक्षित थे।

दोनों विधेयकों के तैयार होने तक संविधान-सभा ने नया संविधान स्वीकार कर लिया था। संविधान के अनुच्छेद ३३ में व्यवस्था है कि सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों पर लागू होने के मामले में मूल अधिकार प्रतिबन्धित या निराकृत किये जा सकेंगे। इस बारे में उपयुक्त उपबन्ध थलसेना और वायुसेना-विधेयकों में शामिल कर लिये गये। इस प्रश्न को इस खण्ड में आगे चलकर लिया गया है।

थलसेना और वायुसेना-अधिनियम भारत की संविधान सभा (विधायी) में दिसम्बर, १९४९ में पेश किये गये और वे अप्रैल, १९५० में पास हो गये। अधिनियम ने केन्द्रीय सरकार को यह शक्ति दी कि वह अधिनियम के उपबन्धों को प्रभावी बनाने के लिए नियम बना सकेगी। थलसेना-अधिनियम-नियम, १९५० और वायुसेना-अधिनियम-नियम, १९५० को २२ जुलाई, १९५० को प्रख्यापित किया गया और अधिनियम उसी तारीख से प्रभावी हो गये। सेना-अधिनियम नियम, १९५० की जगह पर बाद में सेना नियम, १९५४ बनाये गये।

संशोधित नौसेना विधेयक संसद् में मई, १९५७ में पेश करके दिसम्बर, १९५७ में पास किया गया। विधेयक बनाते समय प्रथम उद्देश्य यह था कि नौसेना सम्बन्धी कानून स्वतः पूर्ण हो जाय। साथ ही यू०के० में ब्रिटिश नौसेना-संहिता के पुनरीक्षण के प्रश्न की जांच करने के लिए बनायी गयी समिति की रिपोर्ट पर भी विचार किया गया।

नौसेना-अधिनियम, १९५७ एक स्वत. पूर्ण संहिता है और इसमें साथ-साथ दो व्यवस्थायें भी है : (क) नौसेना के सदस्यो पर, मूल नियमो के लागू होने पर, प्रतिबन्ध लगाना, जैसा कि थलसेना-अधिनियम और वायुसेना-अधिनियम में किया गया था, (ख) मृत अधिकारियो और नाविको की सम्पदाओ का समेटा जाना—जिसके बारे में थलसेना और वायुसेना पर लागू होने के लिए एक अलग अधिनियम है, और (ग) नौसेना के जज एडवोकेट जनरल द्वारा कोर्ट मार्शल की कार्यवाही की न्यायिक समीक्षा का प्रावधान भी।

पोत का कमान-अधिकारी सभी अपराधो की सक्षिप्त जांच कर सकता है, पर यह बन्धन है कि वह ३ मास से ज्यादा का बन्दीकरण या निरोध का दण्ड नही दे सकता। सक्षिप्त कार्यविधि अधिनियम के अधीन बनाये गये साविधिक विनियमो में विहित की गयी है। कमान-अधिकारी को दण्ड की शक्ति पोत के अन्य अधिकारियो को प्रत्यायोजित करने की, शक्ति है और वह जिस सीमा तक प्रत्यायोजन कर सकता है, वह विनियमो में दे दी गयी है।

यहाँ पर कोर्ट मार्शल-पद्धति का सक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है, (जिसका शब्दश. अर्थ सैनिक न्यायालय है) जो सेनाओ के सदस्यों द्वारा किये गये अपराधों के लिए, सशस्त्र सेनाओ में ही, विशिष्टत चलती है। लडाकू सेनाओ की कार्यकुशलता के लिए अनुशासन का बड़ा ही महत्व है और अपराधो के लिए दण्ड, न्याय के लक्ष्य का पूरा ध्यान रखते हुए, तेजी से और प्रभावी रूप में दिया जाना चाहिये। सशस्त्र सेना के व्यक्तियो को सेवाकाल मे किये गये अपराधो का दण्ड देने के लिए या अनुशासन प्रदर्शित करने के लिए, कानून की सामान्य प्रक्रिया के अधीन रखना स्पष्ट ही असम्भव है। इसलिए सारी दुनिया की सशस्त्र सेनाओ में कोर्ट मार्शल पद्धति प्रचलित रही है। थलसेना और वायुसेना में साधारणत. कोर्ट मार्शलें तीन प्रकार की होती है, नामत. साधारण कोर्ट मार्शल, जिला कोर्ट मार्शल और सक्षिप्त साधारण कोर्ट मार्शल। कोर्ट मार्शल का संयोजन केन्द्रीय सरकार या स्टाफ-प्रमुख या केन्द्रीय सरकार या स्टाफ-प्रमुख द्वारा, इस प्रयोजन से सशक्त बनाये गये किसी अधिकारी द्वारा, किया जा सकता है। थलसेना में एक चौथे प्रकार की भी कोर्ट मार्शल होती है, जिसे सक्षिप्त कोर्ट मार्शल कहते है और जो गैर कमीशन-प्राप्त अधिकारियो और अन्य पदधारियो के लिए होती है और केवल सम्बन्धित कमान-अधिकारी ही इस कोर्ट का गठन करता है। लेकिन सक्षिप्त कोर्ट मार्शल की कार्यवाही में हमेशा दो अन्य अधिकारी/कनिष्ठ कमी० अधि० रहते है, जिनको इस रूप में शपथ/प्रतिज्ञान नही दिलाया जाता। सक्षिप्त कोर्ट मार्शल भारतीय थलसेना में ही होती है। इसे बंगाल सेना में १८५७ में गदर के समय चालू किया गया था, ताकि सैन्य अपराधियो का निपटान तुरन्त और प्रभावी रूप में करने के लिए रेजीमेंट-कमान-अधिकारियो के हाथ मजबूत किये जा सकें। यह पद्धति अनुशासन बनाये रखने में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर चुकी है और अब वह एक ऐसे न्यायाधिकरण के रूप में है, जो अन्य पदधारियो की जांच के लिए ज्यादातर प्रयोग में आती है।

विविध प्रकार की कोर्ट मार्शलों की रचना सम्बन्धित अधिनियम में दे दी गयी है। प्रत्येक साधारण कोर्ट मार्शल में, और कभी-कभी जिला कोर्ट मार्शल में भी, एक जज एडवोकेट रहता है, जिसका काम कार्यवाही के विधिक पहलुओ के बारे में कोर्ट को सलाह देना है।

लेकिन अभियोजक और अभियुक्त दोनों को, आरोप या जांच से सम्बन्धित कानून के किसी प्रश्न के बारे में, अपना मत रखने का हक है। नौसेना में भी जज एडवोकेट कोर्ट मार्शल की मदद करते हैं। किसी कोर्ट मार्शल के निष्कर्ष और दण्ड की पुष्टि अधिनियम में विहित वरिष्ठ प्राधिकारी द्वारा करनी जरूरी होती है। तभी वह प्रभावी हो सकता है। नौसेना में स्थिति भिन्न है, जहाँ कुछ परिस्थितियों में केवल मृत्यु-दण्ड की ही पुष्टि अपेक्षित होती है। फिर अधिनियम के अन्तर्गत आने वाला कोई व्यक्ति, जो अपने को किसी कोर्ट मार्शल के किसी आदेश द्वारा पीड़ित मानता है, निष्कर्ष या दण्ड की पुष्टि करने के लिए सक्षम माने गये किसी अधिकारी या प्राधिकारी के पास, एक याचिका भेज सकता है और पुष्टिकर्ता प्राधिकारी पास किये गये आदेश के सही, वैध या उचित होने के बारे में, अपने समाधान के लिए, उपयुक्त कदम उठा सकता है। किसी निष्कर्ष या दण्ड की पुष्टि के बाद भी याचिका, विहित किये गये पुष्टिकर्ता प्राधिकारी से कमान में, वरिष्ठ अधिकारी के पास या स्टाफ प्रमुख या केन्द्रीय सरकार के पास, भेजी जा सकती है, और ये अधिकारी जो आदेश ठीक समझें, दे सकते हैं। वे किसी कोर्ट मार्शल की कार्यवाही को इस आधार पर निरस्त कर सकते हैं कि वह अवैध या अन्यायोचित है। मृत्यु-दण्ड के प्रत्येक मामले में (नौसेना में पूर्वोल्लिखित सीमा तक छोड़कर) केन्द्रीय सरकार की पुष्टि जरूरी होती है और फाँसी तब तक नहीं दी जा सकती, जब तक कि सिद्धदोष व्यक्ति को राष्ट्रपति के पास याचिका भेजने का अवसर न दे दिया जाय। किसी कोर्ट मार्शल के निष्कर्ष या दण्ड के विरुद्ध किसी विधि-न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। सेनाओं में कोर्ट मार्शल की बड़ी जिम्मेवारी, प्राधिकार और प्रतिष्ठा होती है। साथ ही पूरी सुरक्षा इस दृष्टि से बरती गयी है कि न्याय का दुर्वहन न हो पाये। किसी कोर्ट मार्शल द्वारा दिया गया दण्ड वरिष्ठ प्राधिकारी द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता और उसका हस्तक्षेप दण्ड कम करने के ही रूप में हो सकता है।

सैन्य कानून के अन्तर्गत आने वाला कोई व्यक्ति यदि ऐसा नागरिक अपराध करता है, जो एक सैन्य अपराध भी है, तो उस पर सामान्य फौजदारी न्यायालय या कोर्टमार्शल द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है। सम्बन्धित विरचना का कमान-अधिकारी यह फैसला करने के लिए सक्षम है कि कार्यवाही किस न्यायालय में चलायी जाय, पर फौजदारी न्यायालय ऐसे अपराधी को जाँच के लिए नागर अभिरक्षा में सौंपने की माँग कर सकती है। ऐसी स्थिति में सैन्य-प्राधिकारी या तो यह माँग स्वीकार कर सकता है या वह मामला केन्द्रीय सरकार के पास आदेशार्थ भेज सकता है। सैन्य-प्राधिकारियों के पास इस दावे के पूरे कारण हो सकते हैं कि अपराधी की जाँच सामान्य फौजदारी न्यायालय में न करके कोर्ट मार्शल द्वारा की जाय। कभी-कभी दण्ड शीघ्र दिया जाना जरूरी हो सकता है या सैन्य-अनुशासन की दृष्टि से उससे ज्यादा कठोर दण्ड दिया जाना आवश्यक हो सकता है, जितना कि साधारणतः फौजदारी न्यायालय देते हैं। इसलिए सैन्य-प्राधिकारी केन्द्रीय सरकार को लिख सकते हैं कि किसी अपराधी की जाँच कोर्ट मार्शल करे, सामान्य असैनिक न्यायालय नहीं।

कुछ मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध

संविधान सभी नागरिकों को मूल अधिकार प्रत्याभूत करता है, लेकिन अनुच्छेद ३३ में व्यवस्था है कि सशस्त्र सेना के सदस्यों पर लागू होने के मामले में ये मूल अधिकार संसद द्वारा प्रतिबन्धित या निराकृत किये जा सकते हैं, ताकि उनके कर्तव्यों का सम्यक् निर्वहन और उनमें अनुशासन बनाये रखना आश्वस्त किया जा सके। ऐसी बात नहीं है कि सशस्त्र सेना के सदस्यों के ऊपर कोई नया प्रतिबन्ध लगाया जा रहा हो। नया संविधान लागू होने से पहले भारतीय नागरिकों को कोई भी प्रत्याभूत अधिकार मिले हुए न थे। ये सर्वप्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के लिए पूर्णत एक नयी वस्तु थे।

यह सहज ही स्वीकार किया जायेगा कि असैनिक कर्मचारियों पर लागू सामान्य अनुशासन-नियम सशस्त्र सेनाओं के लिए काफी नहीं हैं। संविधान के आरम्भ से काफी पहले सशस्त्र सेनाओं के जो विनियम विद्यमान थे, वे मजदूर-संघ बनाने, प्रेस से सम्पर्क रखने आदि के बारे में सेनाओं के सदस्यों के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगाते थे। ऐसे प्रतिबन्ध नये संविधान के अनुकूल न रहते। साविधिक व्यवस्था करने से पूर्व, सशस्त्र सेना (प्रकीर्ण उपबन्ध) अध्यादेश, १९५० (१९५० का आठवाँ) २३ जनवरी, १९५० को लागू किया गया, जिसने सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों पर विनिर्दिष्ट प्रतिबन्ध लगाने के बारे में नियम बनाने की शक्ति सरकार को प्रदान की।

जैसा पहले बताया जा चुका है, सेना-अधिनियम, १९५० और वायुसेना-अधिनियम, १९५०, जिनमें इन प्रतिबन्धों की व्यवस्था है, २२ जुलाई, १९५० से प्रभावी किये गये, जबकि अध्यादेश समाप्त हो गया। नौसेना में ये प्रतिबन्ध नौसेना (प्रकीर्ण उपबन्ध) अध्यादेश, १९५० (१९५० का २१वाँ) द्वारा चालू रखे गये और बाद में शीघ्र ही उसकी जगह पर नौसेना (प्रकीर्ण उपबन्ध) अधिनियम, १९५० (१९५० का ५७) लागू कर दिया गया। बाद में नौसेना अधिनियम १९५७ में जरूरी उपबन्ध शामिल कर लिये गये।

इन साविधिक उपबन्धों के अधीन नियमित सशस्त्र सेनाओं में स्त्रियाँ नियोजन या भरती नहीं पा सकतीं, ऐसी कोर, विभाग, शाखा या इन सेनाओं के किसी हिस्से के अंगभूत या उससे संलग्न किसी अन्य निकाय को छोड़कर, जैसा कि केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा विनिर्दिष्ट कर दे, पर यह प्रतिबन्ध नियमित सशस्त्र सेनाओं या उसकी किसी शाखा की किसी सहायक सेवा के सन्धारण और खड़े करने सम्बन्धी किसी विद्यमान व्यवस्था पर रोक नहीं लगाता, जिनमें स्त्रियाँ नामांकित होने या नियोजन की पात्र हैं।

ये प्रतिबन्ध सेनाओं के नियमों, विनियमों में ब्यौरेवार बताये गये हैं।

सशस्त्र सेनाओं का कोई सदस्य किसी ट्रेड यूनियन या मजदूर-सङ्घ का सदस्य, या किसी रूप में उससे सम्बद्ध, नहीं हो सकता। साथ ही वह केन्द्रीय सरकार से स्पष्ट मंजूरी लिए बिना किसी ऐसी सभा, संस्था या सङ्गठन में भाग में नहीं ले सकता, जो सशस्त्र सेनाओं का एक माना हुआ अंग नहीं है। फिर भी वह अपने वरिष्ठ अधिकारी से पूर्वानुमति लेकर मनोरंजन या धार्मिक स्वरूप की किसी सभा आदि में शामिल हो सकता है।

सशस्त्र सेनाओ का कोई सदस्य किसी दल, या राजनीतिक प्रयोजन से आयोजित किसी बैठक, या प्रदर्शन में उपस्थित नही हो सकता, न भाषण दे सकता है और न किसी अन्य रूप में भाग ले सकता है। न वह किसी राजनीतिक सङ्घ या आन्दोलन में ही शामिल हो सकता है और न उसके लिए चन्दा ही दे सकता है। यह प्रतिबन्ध असैनिक सरकारी कर्मचारियो पर भी लागू है।

सशस्त्र सेनाओ का कोई सदस्य ससद या राज्य-विधान-मण्डल या किसी स्थानीय प्राधिकार या किसी अन्य सामाजिक निकाय के चुनाव के लिए उम्मीदवार नही बन सकता। उसे किसी उम्मीदवार के चुनाव का काम सक्रिय रूप से चलाने या आगे बढाने की भी अनुमति नही है।

किसी लोकतन्त्र सरकार में सैनिक और असैनिक दोनो ही सेवाओ को राजनीतिक कार्य-कलाप में भाग लेने की अनुमति नही दी जाती। सैन्य-बैरको में राजनीतिक दलो द्वारा चुनाव आन्दोलन चलाने की भी अनुमति नही दी जाती।

दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि सशस्त्र सेना का कोई भी सदस्य राजनीतिक प्रश्न से सम्बद्ध किसी मामले पर या सेना के किसी विषय पर या सेना सम्बन्धी कोई जानकारी देने वाली कोई भी वस्तु (पुस्तक, पत्र या लेख समेत) प्रकाशित नही कर सकता, न वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रेस से कोई सम्पर्क रख सकता है, न भाषण या रेडियो भाषण ही दे सकता है।

खण्ड ४ मूल पदोन्नति, नियुक्ति पदावधि और अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु

जैसा कि राष्ट्रीयकरण वाले अध्याय में पहले ही बताया जा चुका है, नये पदोन्नति नियम बनने तक, १९४८ के आरम्भ में कार्यवाहक पदोन्नतियो के लिए न्यूनीकृत अर्हकारी सेवाकाल तय कर दिया गया था। ये सीमायें राष्ट्रीयकरण में सुविधा देने के लिये रखी गयी थी और ऐसा करने में विभिन्न ओहदो में अधिकारियो की उपलब्धता को ध्यान में रखा गया था।

तीनों सेनाओं के अधिकारियो के लिये, विभिन्न ओहदों में मूल पदोन्नति के लिये, अपेक्षित न्यूनतम सेवाकाल, अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु और उच्चतर ओहदों पर नियुक्ति की पदावधि निश्चित करने के प्रश्न पर, १९४९ के अन्त की ओर विचार किया गया। तीनों सेनाओं की भिन्न-भिन्न स्थितियों और जरूरतों के कारण उनके नियमों में बिलकुल एकरूपता नहीं लायी जा सकती थी। उदाहरण के लिए थलसेना में, नौ सेना और वायुसेना की तुलना में, कही ज्यादा वरिष्ठ अधिकार उपलब्ध थे। फिर भी यथासम्भव समानता प्रदान करने का प्रयास किया गया। (जब तक कि तीनों सेनाओ की सामान्य शान्तिकालीन स्थापना निश्चित न हो जाय और पदोन्नतियो और सेवानिवृत्तियों के प्रवाह समरूप न बनने लगें, कार्यवाहक ओहदों की पद्धति की जरूरत बनी ही रहेगी।) स्थायी नियमित कमीशनधारी सैन्य अधिकारियों के (चिकित्सा और पशुचिकित्सा अधिकारियों को छोड़ कर) बारे में आदेश मार्च,

१९५० में जारी कर दिये गये। इन आदेशों में विहित सेवा-सीमा १९५० में विद्यमान परिस्थितियों के अनुकूल तय की गयी थी।

यदि मूल पदोन्नतियों के लिए ज्यादा सेवा-सीमा रखी जाती, तो मंजूर किये गये संवर्ग को मूल पदोन्नतियों द्वारा भरना सम्भव न होता। १९५५ तक अधिकारी पाँच अतिरिक्त वर्षों तक सेवा कर चुके थे। फिर १९४१ में, और युद्ध के वर्षों में कमीशन पाने वाले लोगों की संख्या के कारण, बहुत से अधिकारी ऐसे थे, जो लेफ्टी० कर्नल के ओहदे में मूल पदोन्नति के पात्र बन चुके थे। इतनी बड़ी संख्या में लोगों के उपलब्ध होने और सीमित रिक्त-स्थानों की दृष्टि में यह जरूरी था कि चयन कठोरता से और योग्यता के आधार पर किया जाय। इस लिये पूरे प्रश्न पर पुनर्विचार किया गया और जनवरी, १९५० में नये आदेश निकाले गये।

थल-सेना

स्थायी कमीशनधारी सेना अधिकारियों (चिकित्सा, दन्तचिकित्सा, घुड़सवार, पशु-चिकित्सा, फार्म और विशेष सूची अधिकारियों को छोड़ कर) पर लागू, बुनियादी उपबन्ध इस प्रकार हैं

लेफ्टी० कर्नल के मूल ओहदे या उच्चतर ओहदों की पदोन्नति चयन द्वारा की जाती है। यह निम्न ओहदों में काल-मान से होता है, नामतः लेफ्टीनेंट के ओहदे के लिये दो वर्ष, कैप्टेन के ओहदे के लिए छः वर्ष, और मेजर के ओहदे के लिये १३ साल, बशर्ते कि अधिकारी विहित व्यावसायिक परीक्षा पास कर लें और सब तरह से योग्य पाये जायें। जो चयन द्वारा लेफ्टी० कर्नल के मूल ओहदे में पदोन्नति नहीं पा सकते, उनको उस पद पर, काल-मान द्वारा २४ वर्ष की सेवा पूरी करने पर, पदोन्नति दी जाती है। लेफ्टीनेंट कर्नल और आगे के पदों पर मूल संवर्ग में रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिये, चयन द्वारा पदोन्नति का पात्र होने के लिए, कमीशन प्राप्त सेवा का न्यूनतम अपेक्षित काल लेफ्टी० कर्नल के लिये १६ साल, कर्नल के लिये २० साल, ब्रिगेडियर के लिये २३ साल, मेजर जनरल के लिये २५ साल और लेफ्टी० जनरल के लिये २८ साल है (जनरल के लिए कोई सेवा-सीमा विहित नहीं की गयी है।)

उच्चतर पदों में नियुक्तियाँ पदावधि के आधार पर होती हैं। लेफ्टी० कर्नल और आगे के मूल पदों में नियुक्ति की पदावधि ४ साल है और आगे की पदावधि, यदि कोई हो, तो चार साल से अनधिक होती है। विभिन्न ओहदों के लिए अनिवार्य सेवानिवृत्ति की भी आयु सीमायें हैं। इनको नीचे बताया जा रहा है :

ओहदा	पदावधियों की संख्या	अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु
जनरल	एक	५८ वर्ष
लेफ्टीनेंट जनरल	एक	५६ वर्ष
मेजर जनरल	दो	५४ वर्ष
ब्रिगेडियर	दो	५० वर्ष
कर्नल	दो	५० वर्ष
लेफ्टीनेंट कर्नल और नीचे	—	४८ वर्ष

चीफ आफ आर्मी स्टाफ की पदावधि तीन साल है।

विहित पदावधि पूरी करने या अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु प्राप्त करने पर, जो भी पहले हो, एक अधिकारी को सेवा निवृत्त होना पड़ता है। निम्नतर ओहदों के लिए, अधिकारियों की कमी की पूर्ति करने के उद्देश्य से, अनिवार्य सेवानिवृत्ति की ये आयुसीमायें, समय-समय पर, मेजर या नीचे के पदों के लिए, ५० साल तक की जाती रही हैं, ५२ साल इंजीनियर अधिकारियों के लिए और लेफ्टीनेंट कर्नल के पद के अन्य लोगों के लिये ५० साल, कर्नल आदि पदों के इंजीनियर के लिए ५२ साल।

सेना-चिकित्सा कोर में लेफ्टीनेंट कर्नल के ओहदे पर मूल पदोन्नति काल-मान द्वारा दी जाती है। कर्नल या आगे के ओहदे में मूल पदोन्नति चयन द्वारा दी जाती है। न्यूनतम अपेक्षित सेवाकाल कर्नल के लिये २० साल, ब्रिगेडियर के लिए २२ साल, मेजर जनरल के लिए २४ साल होना है और लेफ्टी० जनरल के लिये कोई सीमा नहीं होती। अनिवार्य सेवानिवृत्ति के लिये आयु-सीमा लेफ्टी० कर्नल और नीचे के पदों के लिए ५५ वर्ष है, कर्नल और ब्रिगेडियर के लिए ५७ वर्ष, मेजर जनरल के लिए ५६ वर्ष और लेफ्टी० जनरल के लिए ६० वर्ष। प्रत्येक ओहदे में सामान्य पदावधि ४ वर्ष या अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु तक, जो भी पहले पड़े, होती है। ऐसे ही विनियम सेना-दन्तचिकित्सा-कोर के लिए हैं (अनिवार्य सेवा-निवृत्ति की आयु लेफ्टी० कर्नल और नीचे के लिए ५५ साल और ब्रिगेडियर के लिये ५७ साल है।) घुड़सवार और पशुचिकित्सा कोरों के लिए (अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयुसीमा लेफ्टी०कर्नल और नीचे के लिए ५५ साल और कर्नल और उपर के लिए ५७ साल हैं) सैन्य नर्सिंग-सेवा और विशेष सूची के अधिकारियों के लिये भी ऐसे ही विनियम हैं।

नौ सेना

लेफ्टी० कमांडर समेत तक की मूल पदोन्नतियाँ काल-मान के अनुसार चलती हैं, कमांडर और ऊपर के पदों के लिए मूल पदोन्नति चयन द्वारा की जाती है। (कमांडर के मूल पद पर पदोन्नति न पाने वाले अधिकारी, सेना के लेफ्टी० कर्नल पद के अधिकारियों की तरह, २४ वर्ष का सेवा-काल पूरा करने के बाद उस पद पर पदोन्नति पा सकते हैं।) एग्जीक्यूटिव, इंजीनियरी, बिजली और पूर्ति तथा सचिवालय-शाखाओं के अधिकारी, लेफ्टीनेंट के पद पर आठ साल की वरिष्ठता प्राप्त करने के बाद, लेफ्टीनेंट कमांडर के रूप में पदोन्नति पा सकते हैं। लेफ्टीनेंट कमांडर से कमांडर के रूप में पदोन्नति उन अधिकारियों में से चयन करके दी जाती है, जिनकी एग्जीक्यूटिव शाखा में लेफ्टीनेंट कमांडर के रूप में वरिष्ठता २ से ८ साल तक की होती है, इंजीनियरी और बिजली शाखा में २ से १० साल और पूर्ति तथा सचिवालय शाखा में ६ से १० साल। कमांडर से कैप्टन की पदोन्नति उन अधिकारियों में से चयन करके होती है, जो कमांडर के पद पर ४ साल की वरिष्ठता प्राप्त कर चुके हैं, कैप्टेन से रीयर एडमिरल की पदोन्नति कैप्टेन पद के अधिकारियों में से चयन द्वारा दी जाती है (नौ-सेना में कमाडोर ओहदे को अपेक्षा एक नियुक्ति मानी जाती है।)

कैप्टेन और नीचे के अधिकारियों के लिये निश्चित सेवा-पदावधि नहीं होती। रीयर

एडमिरल के मूल पद में सेवा-पदावधि तीन साल होती है, जिसे तीन साल से अनधिक दूसरी पदावधि तक बढ़ाया जा सकता है। चीफ आफ नेवल स्टाफ की पदावधि तीन साल है।

सभी शाखाओं के अधिकारियों (शाखा-सूची-अधिकारियों, शिक्षण-शाखा और चिकित्सा-शाखा के अधिकारियों को छोड़ कर) की अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु इस तरह है. वाइस एडमिरल ६० साल। रीयर एडमिरल ५७ साल, कैप्टेन ५५ साल, कमाडर ५० साल, लेफ्टीनेंट कमाडर और नीचे ४८ साल। इन उपबन्धों के बावजूद किसी भी शाखा के अधिकारी ४० साल की आयु के बाद, औचित्य के आधार पर सरकार द्वारा सेवानिवृत्त किये जा सकते हैं। अधिकारियों को अपने ओहदे की अधिकतम पेन्शन प्राप्त कर चुकने पर, सामान्यत: सेवानिवृत्त-सूची पर रख दिया जाता है, अगर अनिवार्य सेवानिवृत्ति की आयु से यह पहले हो जाय तथापि ४८ साल की आयु से पहले नहीं।

वायु-सेना

वायुसेना में, विंग कमाडर के मूल ओहदे में पदोन्नति के लिए, एक अधिकारी को स्क्वेड्रन लीडर के रूप में न्यूनतम तीन साल की सेवा-वरिष्ठता प्राप्त करनी होती है, ग्रुप कैप्टेन के लिए मूल पदधारी विंग कमाडर के रूप में ४ साल, एयर कमोडोर के लिए मूल पदधारी ग्रुप कैप्टेन के रूप में ३ साल, और एयर वाइस मार्शल के लिए मूल पदधारी एयर कमोडोर के रूप में ३ साल।

एयर कमोडोर और ऊपर नियुक्ति-पदावधि चार साल होगी। प्राप्य पदावधियाँ एयर कमोडोर के लिए दो साल, एयर वाइस मार्शल के लिए एक और एयर मार्शल के लिए एक साल हैं। अनिवार्य सेवानिवृत्ति आयु इस तरह है :

मूल ओहदा	सामान्य कर्त्तव्य	धरातल कर्त्तव्य
स्क्वेड्रन लीडर और नीचे	४८	५२
विंग कमाडर	४८	५२
ग्रुप कैप्टेन	५०	५५
एयर कमोडोर	५२	५५
एयर वाइस मार्शल	५५	५५

चीफ आफ एयर स्टाफ (एयर चीफ मार्शल) की पदावधि तीन साल है।

खण्ड ५ : रक्षा-सेवाओं में असैनिक जन

रक्षा सेवाओं के असैनिक-जनों की सेवा शर्तें सुधारी और युक्तिसंगत की गयीं। ज्यादा महत्वपूर्ण कार्रवाइयों का संक्षिप्त उल्लेख ही यहाँ पर किया जा रहा है।

१९४७ में वेतन-मानों का पुनरीक्षण

१९४७ के पहले रक्षा-स्थापनाओं में काम करने वाले असैनिक कर्मचारी साधारणत:

सरकार द्वारा विहित प्रगामी वेतन-मानो पर काम करते थे, या स्थानीय अधिकारियो द्वारा तय की गयी दैनिक दरो पर, जिनको 'नैरिक' दर कहा जाता था। आडनेन्स कारखानो के कामकर दैनिक वेतन दरो पर थे, पर उसी व्यवसाय के कामकरो के लिए भी ये दरें सभी कारखानो में एकरूप न थी। फलस्वरूप कुल मिलाकर सभी कारखानो में ३०८ व्यवसाय थे और उनके लिए २४६ वेतन-मान थे। कामकरो की कुशलता की मात्रा के अनुसार कोई वर्गीकरण न था और न वेतन में एकरूपता थी।

रक्षा-सेवा अनुमान से वेतन पाने वाले असैनिक-जनो की सेवा-दशाओ की जाँच, भारत सरकार द्वारा १९४६ में नियुक्त किये गये केन्द्रीय वेतन-आयोग के विचारणीय विषयो में रखी गई और बाद में यथोचित संशोधन किया गया। अपने प्रतिवेदन में आयोग ने कहा कि कर्मचारियो की इन श्रेणियो की सेवा-शर्तो-निबन्धनो की जाँच, स्पष्ट कारणों से, उतनी व्यापक और पूर्ण नही हो सकती, जैसी अन्य असैनिक कर्मचारियो की। फिर भी आयोग ने रक्षा-स्थापनाओ के असैनिक कर्मचारियो के वेतन-मानो के बारे में कुछ स्थूल सिफारिशें की।

आयोग की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार के रक्षा-मन्त्रालय ने रक्षा-सेवाओ में असैनिक जन (वेतन पुनरीक्षण) नियम, १९४७ प्रख्यापित किये, जिसमें रक्षा-सेवाओं के असैनिक जनो के वेतन-मान विहित किये गये थे।

(फिर भी इन नियमो में आर्डनेंस कारखानो के कामकरो के कुछ अस्थायी वेतन-मान ही विहित किये गये थे, क्योकि विभिन्न श्रेणियो के कामकरों को उनकी कुशलता के अनुसार उपयुक्त वेतन मान मे रखने में दिक्कत थी। बाद में इन कामकरो के मामलों की ब्योरेवार जाँच की गयी)।

इस पुनरीक्षण की एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि नियमित प्रकार के काम तक के लिए असैनिक-जनो को दैनिक वेतन-दरो पर लगाने का चलन खत्म कर दिया गया। उनको विहित वेतन-मानो में मासिक वेतन-दरो पर कर दिया गया।

अतिरिक्त अस्थायी स्थापना की समाप्ति

दूसरा महत्वपूर्ण सुधार अतिरिक्त अस्थायी स्थापना को समाप्त करना था। रक्षा-सेवाओं के अस्थायी असैनिक कर्मचारियो की कई श्रेणियाँ थी, नामत अतिरिक्त अस्थायी स्थापना (सेना आर्डनेंस-कोर में), अस्थायी स्थापना (आर्डनेंस कारखानो में) अतिरिक्त अस्थायी कारीगर और आकस्मिक स्थापना (सेना इंजीनियरी सेवा में)। ये सभी तदर्थ सेवा-दशां के अधीन आते थे और साधारणत स्थानीय आधार पर रक्षा संस्थापनो द्वारा, उनको प्रदत्त शक्तियो के अधीन, दैनिक या मासिक वेतन दर पर रखे जाते थे। इन अतिरिक्त अस्थायी स्थापनाओ में मासिक वेतन दर पर रखे गये व्यक्तियो के लिए भी सेवा की एक शर्त यह थी 'काम नहीं तो वेतन नही'। कुछ स्थापनाओ में यह चलन था कि अस्थायी कर्मचारियो को एकदम ३१ मार्च को (वित्तीय साल के आखीरी दिन) सेवामुक्त कर दिया जाय और उनको हर साल १ अप्रैल को पुन काम पर लगा लिया जाय। पदों को मासानुमास आधार इस पर मञ्जूर किया जाता था। कर्मचारियो का स्थानान्तरण जहाँ भरती हुए थे वहां से कहीं अन्य

रक्षा-सम्पादन में नहीं लिया जा सकता था। अन-औद्योगिक श्रेणियों तक में अतिरिक्त अस्थायी स्थापना में पद श्रमिक अनुदान से मंजूर किये जाते थे। दूसरे अर्थों में उन्हें कोई सेवासुरक्षा प्राप्त न थी और उनकी नौकरी केवल काम के भार और पैसा उपलब्ध रहने पर निर्भर थी। साथ ही, चूंकि स्थानीय अधिकारियों को किसी भी वेतन-दर पर पद खड़े करने की शक्ति थी—जो केवल विनिर्दिष्ट ऊपरी सीमा के ही अधीन रहती थी—इसलिए विभिन्न रक्षा स्थापनाओं में वेतन-दरें तय करने का कोई एक मानक न था। साथ ही चूंकि कर्मचारी 'काम नहीं तो वेतन नहीं' आधार पर रखे जाते थे, इसलिए यह स्वाभाविक प्रवृत्ति थी कि मजूरी कुछ बढ़ी-चढ़ी रहे। फलतः ऐसे उदाहरण थे कि नियमित स्थापना के अस्थायी सदस्य, तत्काल कुछ ज्यादा अर्जित करने के लिए अतिरिक्त अस्थायी स्थापना पर चले जाते थे और नियमित स्थापना में स्थायी नियुक्ति की सम्भावना का भी ध्यान न रखते थे। ऐसे भी मामले थे कि अ० अ० स्था० के सदस्य अपने अस्थायी वित्तीय लाभों को छोड़कर नियमित स्थापना में चले जाते थे। भले ही कम वेतन-दर हो, लेकिन आगे चलकर अच्छे भविष्य की आशा में वे ऐसा करते थे।

इस तरह अ० अ० स्था० की सेवा-शर्तें स्थानीय हालतों के अनुसार भिन्न-भिन्न थीं। अधिकांश मामलों में सेवानिवृत्ति के लाभों की कोई व्यवस्था न थी। फिर भी अनुग्रह के रूप में उपदान या पेन्शन देने की पद्धति थी, पर इसके लिए जो शर्तें पूरी करनी होती थीं, वे इतनी कठोर थीं कि केवल नगण्य संख्या में ही लोग इससे लाभ उठा पाते थे। कारखानों में ३० से ४० साल तक की सेवा के लिए छः महीने के वेतन से अनधिक का उपदान साधारणतः दिया जाता था। कुछ संस्थापनों में अंशदायी भविष्य निधि की योजना चलती थी, जिसके अधीन सरकार किसी कर्मचारी द्वारा दी गयी राशि का ७५ प्रतिशत सरकार देती थी और कर्मचारी अपने वेतन का ८⅓ प्रतिशत तक दे सकता था। वे कोई भी आकस्मिक छुट्टी या पूरे वेतन पर चिकित्सा-छुट्टी न पा सकते थे।

अधिकारियों को दैनिक वेतन-दर पर लगाने का चलन समाप्त हो जाने पर अ० अ० स्था० आदि के कर्मचारियों की सेवा शर्तों को उदार बना दिया गया। १ अगस्त, १९४९ से इन सारे कर्मचारियों को औद्योगिक और अनौद्योगिक इन दो श्रेणियों में बांटा गया। अनौद्योगिक वर्ग में क्लर्क-स्थापना थी और ड्राफ्ट्समैन, टेलीफोन आपरेटर, स्टोरकीपर, स्टोरमैन, वैज्ञानिक और प्रयोगशाला-सहायक, अस्पताल स्थापना आदि आते थे। औद्योगिक श्रेणी को नियमित स्थापना पर रखा गया और तब से पेन्शन, भविष्य निधि, छुट्टी, चिकित्सा-सुविधा आदि के मामले में रक्षा-सेवाओं के नियमित असैनिक कर्मचारियों पर लागू विनियमों के अधीन सभी सामान्य लाभ पा सकते हैं।

औद्योगिक स्थापना में कारीगर और कामकर तथा अनुदान श्रमिक भी आते हैं। औद्योगिक कर्मचारियों को भी १ अगस्त, १९४९ से अंशदायी भविष्य निधि का लाभ प्रदान किया गया। उस तारीख से पहले की गयी सेवा के लिए हर साल की सेवा के बदले आधे मास के वेतन के हिसाब से उपदान भी मंजूर किया गया। यह उपदान आयु वार्धक्य अशक्तता

या छंटनी के कारण सामान्य सेवामुक्ति के समय दिया जाता था। सेवाकाल में औद्योगिक कर्मचारी की मृत्यु की स्थिति में उपदान उसके आश्रितों को भी प्रदेय था।

समय-समय पर कुछ और रियायतें भी मंजूर की गयीं, जैसे स्थानान्तरण पर यात्रा-भत्ता (पहले कामगर को अपने खर्च पर ही नयी जगह जाना होता था) और प्रत्यावर्तन भत्ता, जब पूरी स्थापना किसी अन्य जगह भेजी जाय।

अतिरिक्त अस्थायी स्थापना को समाप्त करने और इसके कर्मचारियों को नियमित स्थापना में मिला लेने का निर्णय लेते समय यह तय किया गया कि अ० अ० स्था० के व्यक्तियों द्वारा १ अगस्त, १९४९ से पहले की गयी सेवा, नियमित स्थापना में उनकी वरिष्ठता स्थिर करने के प्रयोजन से न जोड़ी जायेगी। फिर भी एक ही श्रेणी के कर्मचारियों के बीच चले आते हुए भेद को दूर करने और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अ० अ० स्था० की सेवा नियमित स्थापना की सेवा के समतुल्य नहीं मानी जा सकती, यह भी तय किया गया कि जनवरी, १९५५ में अ० अ० स्था० में समकक्ष क्लर्क ग्रेडों की आधी सेवा वरिष्ठता के लिए जोड़ ली जाय। अ० अ० स्था० के कुछ क्लर्क १९२१ से भरती हुए चले आ रहे थे। लेकिन यह निर्णय न लेने पर वे सभी क्लर्कों को नियमित स्थापना से कनिष्ठ हो जाते। १९४८ से भूतपूर्व अ० अ० स्था० की चौथाई सेवा, जो ज्यादा से ज्यादा पाँच साल तक सीमित रखी गयी, पेन्शन के लिए भी जोड़ी जाने लगी। १ नवम्बर, १९५६ से इसे १ अगस्त, १९४९ से पहले की गयी सेवा के आधे तक कर दिया गया और कोई ऊपरी अधिकतम सीमा नहीं रखी गयी।

१ अगस्त, १९४९ से पहले सेवा-समाप्ति की पूर्व सूचना का काल उस पद्धति पर निर्भर था, जिसके अनुसार असैनिक कर्मचारी को वेतन मिलता था। यदि वे मासिक रूप से वेतन पाते थे, तो उनको एक मास की पूर्व सूचना दी जाती थी। यदि वे दैनिक वेतन पर थे, किन्तु वेतन पखवारे या मासान्त में मिलता था, तो उनको दो हफ्ते की पूर्व सूचना दी जाती थी और यदि सप्ताहान्त में वेतन मिलता था तो एक सप्ताह की। इसके स्थान पर दस साल या ज्यादा के सेवाकाल वाले औद्योगिक कर्मचारी अब सेवा मुक्ति के लिए तीन मास की पूर्व सूचना या उसके बदले तीन मास का वेतन पाने के अधिकारी हैं और १० साल से कम सेवाकाल वाले सेवामुक्ति के लिए १ महीने की पूर्व सूचना या बदले में एक महीने का वेतन पाने के अधिकारी हैं।

अर्थ स्थायी और स्थायी अनौद्योगिक कर्मचारी अब तीन महीने की पूर्व सूचना या बदले में तीन महीने का वेतन पाने के अधिकारी हैं, जबकि अस्थायी कर्मचारी एक महीने की पूर्व सूचना या बदले में एक महीने का वेतन पाने के अधिकारी हैं। औद्योगिक और अनौद्योगिक दोनों ही प्रकार के कर्मचारियों के लिए चिकित्सा-सुविधाओं में भी सुधार हुआ है।

कल्याणशाला-समिति की नियुक्ति

रक्षा-स्थापनाओं में रक्षा-सेवाओं में असैनिक (वेतन पुनरीक्षण) नियम, १९४७ के अधीन विहित वेतन-मान सामान्यतः सन्तोषजनक माने गये, पर आर्डनेंस और वस्त्र-कारखानों की

विशिष्ट स्थिति को देखते हुए यह जरूरी समझा गया कि उसके कामकरों के वेतन-मानों की कोर-वार जांच की जाय। इन कामकरों पर मासिक वेतनमान की पद्धति लागू करने में देर न करने के लिए उनके हेतु १६४७ के वेतन नियमों में कुछ अनन्तिम वेतन मान तब तक के लिए मंजूर किये गये, जब तक अन्तिम वेतन-मान तय न कर दिये जायें। आर्डनेंस कारखाना-सेवा के एक अधिकारी को, आर्डनेंस-कारखानों के सभी वर्गों के कर्मचारियों के लिए, यथासंभव श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श करते हुए, जाँच करके उपयुक्त वेतन मानों की सिफारिश करने के लिए नियुक्त किया गया। उनसे विभिन्न व्यवसायों के लिए अपेक्षित भिन्न मात्रा की कुशलता का भी ध्यान रखने को कहा गया। उनके प्रतिवेदन पर विचार करने के बाद सरकार ने सितम्बर, १६४६ में आदेश निकाले और कारखानों के कामकरों के लिए अन्तिम प्रगामी वेतन-मान निर्धारित कर दिये।

रक्षा-स्थापना के कर्मचारियों का महासंघ वेतन-ढाँचे समेत अन्य सेवा-शर्तों के विभिन्न पहलुओं से सन्तुष्ट नहीं था, इसलिए सरकार ने सितम्बर, १६५० में उनकी शिकायतों की जाँच करके, प्रतिवेदन देने के लिए एक समिति नियुक्त की।*

समिति जरूरी आधार-सामग्री इकट्ठी कर चुकी थी कि दुर्भाग्य से दिसम्बर, १६५१ में अध्यक्ष की मृत्यु हो गयी। और समिति का काम अन्य दो सदस्य चलाते रहे। समिति का प्रतिवेदन सितम्बर, १६५२ में सरकार को सौंपा गया, लेकिन दोनों सदस्यों की सिफारिशों में अनेक बातों पर मतभेद था।

समिति की सिफारिशों के आधार पर और भारत सरकार की सचिव-समिति की जाँच के बाद, सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि आर्डनेंस और वस्त्र-कारखानों के लिए विहित वेतन-मान केन्द्रीय वेतन-आयोग की सिफारिशों को अमल में लाने के लिए एक सन्तोषजनक आधार है और कारखानों के विद्यमान वेतन ढाँचे को बदलने का कोई कारण नहीं है। पर रक्षा-स्थापना की कुछ श्रेणी के पदों के वेतन मानों में कुछ विसंगतियाँ थीं। उनको ठीक करने के लिए आदेश जारी कर दिये गये।

सरकार ने ये रियायतें और मंजूर कीं :

(१) रक्षा असैनिक-जनों के लिए कुछ संस्थापनों में सस्ते परिवहन की व्यवस्था, जहां वे काम की जगह से काफी दूरी पर रहते हों।

(२) रक्षा-स्थापनाओं में काम कर रहे कर्मचारियों की भविष्य निधि में सरकारी अंश-

---

*समिति में ये लोग थे। एफ एन. कल्याणवाला (अध्यक्ष) और बी. बी० घोष, संयुक्त-सचिव, रक्षा मन्त्रालय, और के० एन० सुब्रह्मण्यम, आई० सी० एस०, संयुक्त सचिव, श्रम-मन्त्रालय, सदस्य।

उस समय विद्यमान-रक्षा-कर्मचारियों के तीन महासंघों अर्थात् अ० भा० आर्डनेन्स कर्मचारी संघ, कलकत्ता, उत्तर और मध्य प्रदेश आर्डनेन्स कर्मचारी संघ कानपुर, और अ० भा० रक्षा-सेवा असैनिक कर्मचारी संघ पूना को सलाहकार की हैसियत से समिति के साथ संलग्न किया गया।

दान १ अप्रैल, १९५३ से वेतन के ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत से बढ़ाकर ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत किया गया। यह भी निर्णय किया गया कि अनौद्योगिक कर्मचारियों द्वारा १ मार्च, १९४९ से पहले अतिरिक्त अस्थायी स्थापना में (उनके नियमित संवर्गों में विलीन होने से पूर्व) की गयी सेवा के काल के लिए उनको औद्योगिक कर्मचारियों की ही तरह उपदान दिया जाय।

(३) औद्योगिक कर्मचारियों के मामलों में समिति ने वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर, स्थायी पदों का एक केन्द्रित-समुच्चय (नाभिक) बनाने की सिफारिश की थी। सरकार ने यह सिफारिश मानते हुए निर्णय किया कि १ सितम्बर, १९५३ को विद्यमान ४० से ५० प्रतिशत औद्योगिक कर्मचारियों को स्थायी बना दिया जाय। इससे पहले रक्षा-उपक्रमों के सभी औद्योगिक कर्मचारी अस्थायी आधार पर थे, हालांकि वे वस्तुतः तब तक अनिश्चित काल के लिए सेवा में रहते, जब तक कि काम का बोझ ऐसा करना उचित ठहराता।

(४) अकुशल और अर्द्धकुशल कामकरों को एक न्यूनतम वेतन, क्रमशः ३० रु० और ३५ रु० की, गारंटी दी गयी। (यह भी तय किया गया कि कामकरों के पुनरीक्षित मासिक वेतन मानों के आधार पर उजरती दरों में भी संशोधन किया जाय)।

(५) रक्षा-स्थापनाओं के औद्योगिक कर्मचारियों को ३० दिन तक की छुट्टी अर्जित करने की अनुमति दी गयी, प्रतिमास अर्जन की दर उनके सेवाकाल की दीर्घता पर निर्भर थी। पहले एक साल में अर्जित छुट्टी अगले साल में नहीं जोड़ी जा सकती थी और चालू साल में न लेने पर व्यपगत हो जाती थी। ऐसे कर्मचारियों को पूरे वेतन पर पत्रीय वर्ष में पांच दिन का आकस्मिक अवकाश और चिकित्सा-प्रमाण-पत्र पर पूरे वेतन के साथ दस दिन का रोगावकाश, एक पत्रीय वर्ष में आधे वेतन के रोगावकाश संगरोध और टीका-अवकाश तथा अर्जित छुट्टी (पूरे वेतन पर) के अलावा दिया जा सकता था। अवकाशों और छुट्टियों के मामले में रक्षा-स्थापनाओं के कर्मचारियों की सेवा-शर्तें अनेक निजी औद्योगिक स्थापनों की तुलना में ज्यादा अच्छी हैं।

अब औद्योगिक और अनौद्योगिक कर्मचारी समयोपरि-भत्ता कारखाना-अधिनियम, १९४८ की ही दर पर पा सकते हैं और साल में उतनी ही छुट्टियां भी।

पूर्वोक्त निर्णयों ने रक्षा-सेवाओं के असैनिक कर्मचारियों की सेवा शर्तों में निश्चित रूप से सुधार किया।

अब रक्षा-संगठन के कामकरों को भी सेवा की कहीं ज्यादा सुरक्षा प्राप्त है। पहले फालतू कर्मचारी स्थानीय आधार पर ही सेवामुक्त किये जा सकते थे, पर अब एक जगह फालतू हुए कर्मचारियों को दूसरी जगह की कमी के आगे समर्पित कर दिया जाता है। इस तरह अब रक्षा-सेवाओं की समग्र जरूरतों से फालतू हुए कामकरों को अन्ततः सेवामुक्त किया जा सकता है। सरकार इसके लिए भी हर कोशिश करती है कि सेवामुक्त करने के लिए

प्रस्तावित कर्मचारियों के लिए उपयुक्त वैकल्पिक रोजगार खोजा जाय। किसी भी मामले में कुशल कामकरों की रक्षा-सेवाओं से छँटनी नहीं की जाती।

दूसरे वेतन-आयोग की सिफारिशों के आधार पर रक्षा-सेवाओं के असैनिक-जनों के वेतन-मान पुनरीक्षित किये गये और रक्षा-सेवाओं में असैनिकजन (पुनरीक्षित वेतन) नियम, १९६० के रूप में १५ सितम्बर, १९६० को प्रकाशित करके प्रस्थापित किये गये।

सरकार के अधीन अस्थायी या स्थानापन्न सेवा, जिस के बाद उसी या किसी अन्य पद में स्थायीकरण हो जाय, अब पेन्शन के लिए पूरी-पूरी गिनी जाती है। २१ जुलाई, १९६० से अन्य केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों पर लागू छुट्टी यात्रा-रियायतें अब औद्योगिक और कार्यभरित कर्मचारियों पर भी लागू कर दी गयी। वे इससे पहले इसके पात्र न थे।

१९६२ में पेन्शन सम्बन्धी लाभ औद्योगिक कर्मचारियों को भी उपलब्ध कर दिये गये, जो उनको, अनौद्योगिक कर्मचारियों की भाँति, सेवा में स्थायी होने पर मिलने लगे। इन आदेशों के निकाले जाते समय जो पहले से ही स्थायी थे उनको यह विकल्प दिया गया कि वे पेन्शन वाली शर्तें अपना सकते हैं अथवा भविष्यनिधि में अंशदान देना जारी रख सकते हैं।

जनवरी, १९६४ में नयी परिवार-पेन्शन-योजना चालू की गयी—जिसके अधीन दो महीने का उपदान छोड़ देने पर सेवाकाल में कर्मचारी के निधन की स्थिति में उसके परिवार को आजीवन पेन्शन मिलेगी—वह रक्षा-असैनिकजनों पर भी—औद्योगिक और अनौद्योगिक दोनों पर लागू कर दी गयी।

रक्षा-सेवाओं में मजदूर-संघ

सक्रिय सेवा अध्यादेश, १९४१ के अनुसार सेवा-संस्थापनों में काम कर रहे असैनिक कर्मचारी युद्धकाल में सेना-अधिनियम के अधीन ला दिये गये। सेना-अधिनियम के अधीन रहने वाले व्यक्ति किसी भी मजदूर-संघ में शामिल नहीं हो सकते। इस लिए रक्षा-संस्थापनों में काम करने वाले असैनिक जनों के बीच, मजदूर-संघ कार्यकलाप, युद्धकाल में, व्यवहारतः बन्द कर दिये गये। अगस्त, १९४७ से पहले रक्षा-संस्थापनों में काम कर रहे इन असैनिक कर्मचारियों के थोड़े से ही मजदूर-संघ और कर्मचारी संघ थे।

आजादी के बाद रक्षा-सेवाओं में मजदूर-संघ आन्दोलन में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। १ जनवरी, १९६५ को रक्षा-संस्थापनों में १८१ पञ्जीबद्ध मजदूर-संघ काम कर रहे थे जिनमें से ९९ मान्यता-प्राप्त थे। (१ जनवरी, १९५१ को तत्संवादी आँकड़े क्रमशः ९६ और ६२ थे)। उक्त तारीख को ही रक्षा-संस्थापनों में काम कर रहे अनौद्योगिक कर्मचारियों के २२ मान्यता-प्राप्त कर्मचारी-संघ थे। औद्योगिक कर्मचारियों के मजदूर-संघों और क्लर्कों, पर्यवेक्षकों और कामकरों के मिले जुले संघों को मान्यता श्रम-मन्त्रालय द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार दी जाती है, जब कि अनौद्योगिक कर्मचारियों के संघों को गृह-मन्त्रालय के अनुदेशों के आधार पर मान्यता दी जाती है।

पहले रक्षा-संस्थापनों के कामकरों के अधिकांश संघ तीन महासङ्घों नामतः अ० भा०

आर्डनेंस कर्मचारी-महासंघ, कलकत्ता, अ० भा० रक्षा-सेवा असैनिक कर्मचारी-संघ पूना और उत्तर और मध्यप्रदेश आर्डनेंस कर्मचारी-संघ, कानपुर मे से किसी एक के साथ सम्बद्ध थे। १९५३ में ये तीनो संघ भी एक अ० भा० रक्षा कर्मचारी महासंघ में विलीन हो गये, जिसका मुख्यालय खिड़की, पूना में रहा। इससे कामकरो के प्रतिनिधि और सरकार के बीच बातचीत में सुविधा हो गयी। इस महासंघ को अधिकांश रक्षा-असैनिकजनो का प्रतिनिधि मान लिया गया। १९५९ में रक्षा-असैनिक-जनो के अनेक मजदूर संघो ने मिल कर एक अलग भारतीय राष्ट्रीय-रक्षा-कर्मचारी-महासंघ बना लिया। १९६१ में इसकी सदस्यता की जाँच करके, सरकार से बातचीत चलाने की सुविधायें इस महासंघ को भी प्रदान कर दी गयी।

बातचीत का तन्त्र

रक्षा-संस्थापनों में लगे असैनिक-कर्मचारियो की शिकायतो को सगठित रूप से पहुँचाने और बातचीत चलाकर विवादो का समाधान करने के लिए, एक मञ्च स्थापित करने की दृष्टि से, दिसम्बर, १९५४ में बातचीत का एक तन्त्र बना दिया। यह तन्त्र स्वरूप में द्विपक्षीय था और कामकरो के साथ बातचीत तीन स्तरो पर चलायी जाती थी, नामत (क) यूनिट या कारखाना, (ख) कमान-मुख्यालय, नौसेना मुख्यालय या वायुसेना मुख्यालय और (ग) सरकार (रक्षा-मन्त्रालय में)। यह तन्त्र सन्तोषजनक रूप से काम कर रहा था, पर यह १९६० में समाप्त हो गया, जबकि जुलाई, १९६० में हुई केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों की आम हड़ताल में अ० भा० रक्षा-कर्मचारी-महासंघ ने भी भाग लिया। फिर भी महासंघ के सदस्यों पर प्रभाव डालने वाली समस्याओ पर चर्चा करने के लिए आये हुए इस महासंघ प्रतिनिधियो के साथ मन्त्री और मन्त्रालय के सम्बन्धित अधिकारी मिलते रहे।

ग्यारहवां अध्याय

रक्षा-भण्डार, वैज्ञानिक अनुसन्धान और रक्षा-उद्योग

खण्ड १ रक्षा-भण्डार-प्राप्ति और उपबन्धन

भारत सरकार के सभी विभागो द्वारा अपेक्षित भण्डारो को प्राप्त करने की जिम्मेवारी पूर्ति और तकनीकी विकास-मन्त्रालय (पहले निर्माण,आवास और पूर्ति-मन्त्रालय) की है। इस मन्त्रालय के कुछ क्रय करने वाले सगठन देश भर में है (महानिदेशक, पूर्ति और निपटान), एक यू के. में है (निदेशक, भारत पूर्ति मिशन, जिसे पहले महानिदेशक, भारत भण्डार विभाग, लन्दन कहा जाता था) और एक स० रा० अमेरिका में (निदेशक, भारत पूर्ति मिशन, वाशिंगटन)।

स्थानीय भण्डार प्राप्त करने के लिए इडेंट, सामान्यत महानिदेशक, पूर्ति और निपटान को भेजे जाते है। आपात भण्डार के लिए इडेट, पूर्ति निपटान महानिदेशालय के केन्द्रीय इडेंट अनुभाग के जरिए, विदेशस्थ क्रय-मिशनो के पास भेजे जाते है। फिर भी रक्षा के इडेंट करने वालो को अधिकार दिया गया है कि कम मूल्य भण्डार की खरीद के लिए इडेंट सीधे निदेशस्थ क्रय-मिशनो के पास भेज दें (अर्थात् विमानो के फालतू पुर्जों, कदाचित लडाकू गाडियो और अग्निशमन यन्त्रो के बारे मे एक लाख रुपयो से अनधिक के इडेंट और दूसरे इडेंटो के बारे में रु० २५००० से अनधिक के)। युद्धपोत, टैंक, विमान, आदि जैसी सैन्य वस्तुयें खुले रूप से खरीद के लिए उपलब्ध नही हैं। केवल एक सरकार से दूसरी सरकार के आधार पर बातचीत चलाकर प्राप्त की जा सकती है। विदेश मे भण्डार मंगाने के लिए सभी इडेंट, तकनीकी अधिकारियो से उनके स्थानीय सूत्रो से प्राप्तव्य न हो सकने के बारे में प्रमाणपत्र पा लेने के बाद ही, विदेश भेजे जा सकते है।

आजादी के तुरन्त बाद ही विदेश से मंगाये जाने वाले भण्डार की समुचित छानबीन करने की जरूरत समझी गयी। इस प्रयोजन से जनवरी, १९४९ में एक आपात भण्डार छानबीन-समिति बनायी गयी, ताकि (क) रक्षा-भण्डार के मदो की लगातार जांच के लिए एक तन्त्र हो, जिससे सरकार को समय-समय पर यह सलाह दी जा सके कि कौन-कौन चीजें स्थानीय उत्पादन द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं और कौन-सी विवश होकर आयात करनी होगी और (ख) इस समय बाहर से प्राप्त किये जाने वाले भण्डारो के यथासम्भव देश में उत्पादन के लिए शीघ्र कदम उठाना। इस समिति में रक्षा-मन्त्रालय, तीनो सेना-मुख्यालयो, महानिदेशक,

आडनेंस कारखाना, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा), निर्माण आवास और पूर्ति-मन्त्रालय, महानिदेशक, पूर्ति और निपटान और वाणिज्य और उद्योग-मन्त्रालय (विकास स्कन्ध) के प्रतिनिधि थे। इस समिति की मदद, विभिन्न प्रकार के रक्षा-भण्डारों की सूचियों की ब्यौरेवार जाँच करने और आयात किये जाने वाले भण्डार और स्थानीय सूत्रों से प्राप्तव्य भण्डार की श्रेणियों में बाँटने के लिए, विभिन्न उपसमितियों द्वारा की गयी। उपसमितियों ने आयात और स्थानीय वाले भण्डारों की सूचियाँ बनायीं और पहले वालों को तीन प्रकारों में बाँटा, नामत वे जिनका निर्माण विद्यमान औद्योगिक क्षमता के द्वारा सम्भव है, वे जिनका निर्माण निकट भविष्य में किया जा सकता है और वे जिनका निर्माण कुछ साल तक सम्भव नहीं है।

मुख्य समिति जैसी कि शुरू में बनायी गयी थी, काफी भारी भरकम समझी गयी, इसलिए उसे अप्रैल, १९५४ में पुनर्गठित किया गया और इसमें अब सेना-मुख्यालयों के निदेशक पदवाले वरिष्ठ अधिकारी रहे, पूर्ति के उपमहानिदेशक रहे और रक्षा-मन्त्रालय और वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के प्रतिनिधि रहे। जनवरी,१९५६ में इसका नया नाम रखा गया, आयातित भण्डार और कच्चा माल छानबीन-समिति। यह केवल सामान्य नीति के प्रश्नों पर विचार करती थी आयातित भण्डार के लिए स्थानीय क्षमता को खोजने का, वास्तविक ब्योरे का और दैनन्दिन काम उपसमितियाँ करती थीं। जैसा कि नये नाम से पता चलता है, समिति ऐसे कच्चे माल को आयात करने की जरूरत पर भी विचार करती थी, जो स्थानीय रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। समिति ने आयातित माल की एक वृहत् सूची बनायी, जिसमें वे भण्डार भी शामिल थे, जो स्थानीय रूप से प्राप्त नहीं हो सकते थे और जिन्हें निश्चय ही विदेश से आयात करना होता था। उनके नाम सभी सम्बन्धित लोगों के पास सूचना और मार्गदर्शन के लिए भेज दिये गये। आयातित भण्डार और कच्चा माल समिति और उसकी विभिन्न उपसमितियाँ आयातित भण्डार की सूची की सदा जाँच करती रहती थीं, ताकि उसमें शामिल मदों के स्थानीय उत्पादन की सम्भावनाओं पर विचार चलता रहे। जैसे ही किसी मद का स्थानीय उत्पादन सन्तोषजनक रूप से होने लग जाता था, उसे सूची से अलग कर दिया जाता था और उस मद के लिए आगे से अवाप्ति स्थानीय रूप से की जाती थी। समिति के कार्यारम्भ के बाद ऐसी अनेक मदों का स्थानीय उत्पादन होने लगा, जो पहले आयात की जाती थीं। १९५७ में रक्षा-उत्पादन और पूर्ति-समिति और रक्षा-अनुसन्धान और विकास समिति की स्थापना के बाद, आयातित भण्डार और कच्चा माल छानबीन समिति और उससे सलग्न उपसमितियाँ विघटित कर दी गयीं।

पहले सेना मुख्यालय अपना इडेंट, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) की सहमति प्राप्त करने के बाद, पूर्ति निपटान महानिदेशालय के पास या विदेश में भेज सकते थे। १९५४ के आरम्भ में यह निश्चय किया गया कि ५ लाख रुपये से ज्यादा मूल्य के सभी इंडेंट, किसी एक श्रेणी की वस्तु के लिए, एक बार में अवाप्ति-अभिकरणों के पास आदेश भेजने से पहले, रक्षा मन्त्रालय के पास भेजे जाने चाहिए। मई, १९५८ में ५ लाख रुपयों की सीमा बढ़ाकर, पहले से सेवा में आ रहे भण्डारों के लिए, ५० लाख रुपए कर दी गयी। नवम्बर, १९६२ में (आपात शुरू होने के बाद), पहले से सेवा में आ रहे स्थानीय भण्डार की सीमा और अधिक बढ़ाकर दो करोड़

रुपये कर दी गयी। नयी मदो के मामले में, दिसम्बर, १९६२ में, सेना-मुख्यालयों को प्राधिकृत किया गया कि वित्तीय सहमति प्राप्त करने के बाद १० लाख रुपये तक की माँग भेज सकते हैं। इस तरह इस समय, पहले से ही सेवा मे आ रहे भण्डारो के बारे में दो करोड रुपयों से ज्यादा, और नयी मदो के मामले में १० लाख रुपयो से ज्यादा के इंडेंट, पूर्वानुमोदन के लिए रक्षा मन्त्रालय को भेजने होते है। इससे यह आश्वस्त हो जाता है कि बडे-बडे आदेश सरकार की सामान्य नीति के अनुसार पूरी-पूरी जाँच कर लेने के बाद ही भेजे जायें।

व्यवसाय-पदो (या अ-घातक भण्डारो) के मामले में पहले महानिदेशक, आर्डनेंस कारखाना से पूछा जाता है कि क्या वह अपेक्षित भण्डार का निर्माण करा सकने की स्थिति में हैं। यदि आर्डनेंस कारखानो में क्षमता होती है, तो ७५ प्रतिशत माँग इन कारखानो के लिए रख ली जाती है और शेष व्यवसायियो के लिए छोड दी जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि व्यवसायियों के पास उत्पादन क्षमता कायम रखी जाय, ताकि आपात काल में, जब आर्डनेंस कारखाने घातक चीजों के उत्पादन मे अत्यत व्यस्त हो जायेंगे, तब उस मद की पूरी माँग व्यवसायियो के ही सूत्र मे पूरी कर ली जाय। यदि आर्डनेंस कारखाना के महानिदेशक यह बता देते है कि किसी मद-विशेष की उत्पादन-क्षमता उनके पास नही है, तो सारी माँग, महानिदेशक, पूर्ति निपटान के जरिये, व्यवसायियो के ही ऊपर छोड दी जाती है। घातक भण्डारों के इंडेंट सामान्यत महानिदेशक, आडर्नेंस कारखाना को भेजी जाती है, पर यदि वे उनका निर्माण आर्डनेंस कारखानो मे करा सकने की स्थिति में नही है और, सेनायें इसके उत्पादन के आर्डनेंस कारखानों में स्थापित हो जाने तक इन्तजार नही कर सकती, तो इन घातक अस्त्रो के विदेश से मँगाने के लिए कदम उठाये जाते हैं।

रक्षा-प्राधिकारियो को, विहित सीमा तक, स्थानीय खरीद, महानिदेशक पूर्ति-निपटान के सगठन के जरिये इंडेंट बिना भेजे हुए, सीधे खरीदने की शक्ति प्रतिनियोजित की गयी है। साथ ही जब कभी आपातिक या सक्रियागत जरूरत के लिए भण्डार अपेक्षित हो, या जब कभी सम्बन्धित भण्डार के उपलब्ध होने से महत्त्वपूर्ण काम रुक जाने का भय हो, तो किसी भी मूल्य का सामान आपातिक रूप से खरीदने का सहारा लेने का प्राधिकार भी रक्षा-अधिकारियो को दिया गया है। ऐसी आपातिक खरीद का सहारा लेने से पहले रक्षा-मन्त्रालय और रक्षा-मन्त्रालय (वित्त) का अनुमोदन प्राप्त करना होता है।

पूर्ति-निपटान महानिदेशालय मे रक्षा सेना सम्पर्क-कोष्ठ

अक्टूबर, १९५१ मे यह फैसला किया गया है कि महानिदेशक पूर्ति-निपटान के कार्यालय मे एक रक्षा-सेना अवाप्ति सम्पर्क-कोष्ठ स्थापित किया जाय, ताकि तीनो सेनाओ के लिए समुचित रूप से इंडेंट-व्यवस्था और भण्डार अवाप्त करने में सुविधा हो सके। यह कोष्ठ रक्षा-मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में है।

आयात-भण्डार का संग्रहालय

स्थानीय उत्पादन और अवाप्ति को बढाने के लिए एक नमूना समिति बनायी गयी, जिसमें रक्षा-सेनाओं की तकनीकी विकास शाखाओ के, वाणिज्य-उद्योग-मन्त्रालय के विकास-

स्कन्ध के, तथा पूर्ति निपटान महानिदेशालय के प्रतिनिधि थे। समिति का काम विभिन्न सेना आर्डनेंस डिपो में जाकर, ऐसे रक्षा-भण्डार की उपयुक्त मदो का चयन करना था, जिनका निमाण भारत में काफी आसानी से किया जा सकता है। ऐसे भण्डार के नमूने नयी दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई में स्थापित नमूना-कक्षो में रखे गए, जहाँ सम्भावी निर्माता उनको देख सकते थे।

सामान्य उपयोग के सामानो का, गृहोद्योगो द्वारा उत्पादन प्रोत्साहित करने के लिए, विहित विनिर्दिष्टियों से थोड़ा विचलन भी अनुमत कर दिया गया। मूल्य में भी आयातित मदो के मूल्य पर १५ से २० प्रतिशत की वरीयता दी गयी।

भण्डार के नमूने फर्मों को उधार भी दे दिये जाते हैं, ताकि वे उनका स्थानीय उत्पादन विकसित कर सकें। स्थानीय रूप से निर्मित भण्डार, केवल इसी कारण, तब तक अस्वीकृत नही कर दिये जाते जब तक कि वे विहित विनिर्दिष्टियो का कठोरता से पालन नहीं करते, या जब तक कि स्थानीय माल की घटिया किस्म उस मद की उपयोज्यता पर गम्भीर असर नही डालती। लेकिन इस ढील को देश की वास्तविक औद्योगिक प्रगति का बाधक बनने की अनुमति नही दी जाती। जहाँ सम्भव हो, व्यवसाय द्वारा उत्पादित चीज़ों के निकट के ही मानक या विनिर्दिष्टियाँ विहित की जाती है और सुधार को प्रोत्साहित करने के लिए मानक सामान्य व्यवसाय की चीजों से थोड़े ऊँचे रखे जाते हैं। रक्षा-सेनाओ के प्राधिकारी सामान्यत भारतीय मानक संस्था द्वारा विहित मानको को स्वीकार कर लेते है, जब तक कि उनमें ऐसी बात न हो, जो रक्षा की जरूरतो से मेल न खाती हो।

रक्षा-पूर्ति विभाग

सितम्बर, १९६५ में अनेक विदेशी सरकारों ने सैन्य सहायता के अधीन पूर्तियाँ भेजना बिलकुल बन्द कर दिया, जो वे अक्तूबर, १९६२ में चीनी आक्रमण के समय से भेजते आ रहे थे। उनमें से कई ने तो वाणिज्यिक संविदाओं के आगे भी सैन्य युद्ध-सामग्री के भेजे जाने पर रोक या प्रतिबन्ध लगा दिये। इससे स्पष्ट हो गया कि आपात काल मे रक्षा सम्बन्धी जरूरतो की पूर्ति के लिए विदेशी स्रोतों पर निर्भर रहना सुरक्षापूर्ण न होगा। नवम्बर, १९६५ में बनाये गये रक्षापूर्ति विभाग ने, निजी और सरकारी दोनो उद्योग-क्षेत्रों की क्षमता का लाभ उठाकर, आयातित मदो के स्थानीय उत्पादन के लिए तेजी से और सघन प्रयास शुरू कर दिये है।

इस विभाग ने शस्त्रास्त्र भण्डार, नौ भण्डार, बिजली और इलेक्ट्रानिकी भण्डार, इंजीनियरी भण्डार, मोटरगाड़ी भण्डार और चिकित्सा भण्डार का निपटान करने के लिए अलग-अलग तकनीकी समितियाँ बना दी है। इन समितियों में निरीक्षण महानिदेशालय (रक्षा-उत्पादन विभाग के), अनुसन्धान और विकास संगठन, उपभोक्ता विभाग, वित्त-मन्त्रालय और तकनीकी विकास महानिदेशालय (पूर्ति विभाग के) के प्रतिनिधि हैं। नयी दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई में बनाये गये नमूना-कक्षो (और एक जो मद्रास में बन रहा है) से उद्योगपतियो को पता चल जाता है कि किस प्रकार के भण्डार के लिए स्थानीय उत्पादन स्थापित किया जाना है और

कितनी मात्रा में जरूरत पड़ेगी।

भण्डार का उपबन्धन

सशस्त्र सेनाओ द्वारा अपेक्षित शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद और अन्य प्रकार के भण्डारो की जरूरत का निर्माण आरम्भिक उपकरण के लिए जरूरी संख्या के आधार पर (नयी शुरू की गयी किसी मद के लिए अथवा नयी सेना खडी करने के लिए), और फिर सामान्य प्रशिक्षण और युद्ध के आरम्भिक काल में अनुमानित खपत को ध्यान में रखते हुए, किया जाता है। युद्धकाल में खपत की दर हर मद के लिए अलग-अलग होती है। भण्डार की किसी मदविशेष को रक्षिति बनाने की मात्रा, जिसे युद्ध बरबादी रक्षिति कहते हैं, अवधि विशेष की, जो महीनो से सालो तक चलती है, वह खपत होती है जो विभिन्न तत्त्वो को ध्यान मे रखते हुए तय की जाती है, नामत स्थानीय उत्पादन की विद्यमानता और उसकी दर, या निर्माण-संसाधनो को बदलते हुए इस उत्पादन को स्थापित करने की कितनी सम्भावना है, और इस प्रकार के परिवर्तन में कितना समय लगेगा, उत्पादन या भण्डार केन्द्रो से अग्रवर्ती चौकियों तक भण्डार और उपकरण पहुँचने में कितना समय लगता है आदि। जो भण्डार सामान्यत आयात किये जाते है, उनकी युद्ध-बरबादी रक्षिति ज्यादा लम्बी अवधि के लिए बनानी होगी, क्योकि युद्धकाल मे उनकी पूर्ति बन्द हो जायेगी। इन सब बातो को ध्यान में रखते हुए, विभिन्न श्रेणियो के उपकरणो के लिए, सेना द्वारा बनायी और रखी जाने वाली भण्डार रक्षितियो के स्तर की समीक्षा की गयी और १९६३ के अन्त मे उनका निर्धारण किया गया। उपबन्धन के विहित स्तरो की समीक्षा समय-समय पर जरूरी होती है। रक्षिति भण्डार बनाये रखने और उद्योग पर निर्भर रहने के बीच सन्तुलन की समस्या हरेक देश में है।

फिर, विज्ञान और शिल्पविज्ञान में तेजी से प्रगति के कारण, शस्त्रास्त्र और उपकरण कुछ वर्षों में ही पुराने पड जाते है। नये शस्त्रास्त्र के आकल्पन विकास और निर्माण में पांच-से दस साल तक लग सकते है। उपभोक्ता (अर्थात् सशस्त्र सेनाओं) द्वारा सक्रियाकालीन जरूरतो के अनुसार बनाये गये शस्त्रास्त्र विज्ञान और शिल्पविज्ञान सम्बन्धी सम्भाव्यताओ को ध्यान में रखते हुए, आकल्पित किये जाते है। जब तक वह शस्त्र बनकर तैयार होता है, वह पुराना पड सकता है या उपभोक्ताओं की वर्तमान सक्रिया-कालीन आवश्यकताओ के अनुकूल नही भी रह सकता। यदि आवश्यकतायें सदैव बदलती रहें तो कोई भी प्रयोजना कभी साकार रूप नही ग्रहण कर सकती। इसलिए इस बारे में एक समझौते का रास्ता निकालना ही पडता है और यह मानकीकरण द्वारा किया जाता है। वैज्ञानिक सलाहकार की अध्यक्षता में एक मानकीकरण-समिति बनायी गयी है, जिसमें तीनो सेवाओं के प्रतिनिधि और अन्य लोग है। इसने १९६३ में काम शुरू कर दिया और इस समिति की सिफारिशो के आधार पर यह निर्णय लिये गये हैं कि अगले साल से दस सालों तक सेना को किन मानक शस्त्रास्त्रो से सज्जित किया जायेगा। उत्पादन और उपबन्धन का समग्र कार्यक्रम इन मानकीकृत शस्त्रास्त्रो और उपकरणो पर आधारित होगा। उपकरण और भण्डार के दूसरे समूहो के बारे में समीक्षा चल रही है।

जब कोई शस्त्रास्त्र किसी विदेश से मँगाना होता है, तब प्रकारो की बहुलता कभी-कभी

अनिवार्य हो जाती है। सैन्य-युद्ध सामग्री का विक्रय उत्पादक देश की सरकार की अनुमति से ही किया जा सकता है, जो राजनीतिक आधार पर शासित रहता है। इसलिए जिस चीज की जरूरत है, वह केवल पैसे से ही नहीं प्राप्त की जा सकती। विमानों के मामले में, विभिन्न प्रकारों के विमान होने का यह मतलब जरूरी नहीं कि प्रकारों की बहुलता है। विभिन्न प्रकार के विमानों की जरूरत विभिन्न कामों के लिए होती है, क्योंकि किसी एक प्रकार का विमान सभी चीजों के काम नहीं आ सकता।

अतिरिक्त रक्षा-भण्डार का निपटान

यहाँ पर पिछले युद्ध काल में इकट्ठे हुए अतिरिक्त भण्डार के निपटान का भी संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। युद्धकाल में भारत के आर्डनेंस डिपो बहुत से ऐसे पैकेज प्राप्त करते रहे थे, जो विदेश से, मुख्यतः ब्रिटेन से आते थे। उस समय भारत के कारखानों और व्यवसायियों से भी काफी माल आया था। यह पूरे युद्धकाल तक चलता रहा। जब युद्ध सहसा बन्द हो गया, तो बन्द की गयी और समाप्त हुई यूनिटें भी भण्डार, आर्डनेंस डिपो को लौटाने लगीं। फलस्वरूप रक्षा-सेनाओं की शान्तिकालीन जरूरतों के लिए काफी मात्रा में अतिरिक्त भण्डार इकट्ठे हो गये। डिपो में इतना ज्यादा माल प्राप्त हो रहा था कि इन चीजों की शत-प्रतिशत जांच तक करना सम्भव न था। केवल प्रति-शतता जांच करके, उनके वाउचरों और पैकेजों के ऊपर के अंकन के आधार पर ही, रजिस्टरों में दर्ज कर लिया जाता था। जब ये पैकेज बाद में आवधिक निरीक्षण या स्टाक की जांच या भेजने के लिए खोले गये तो पता चला कि पैकेजों के भीतर का माल हर मामले में ऊपर के अंकनों के अनुसार न था। अक्सर ये कमियां पकड़ी गयीं। कुछ मामलों में ज्यादा माल भी था। इस बीच मुख्यतः भण्डार रखने की असन्तोषजनक हालत के कारण भण्डार की चीजें बिगड़ भी गयी थीं।

१५ अगस्त, १९४७ के तुरन्त बाद रक्षा-सेनाओं के सामने जरूरतों से अतिरिक्त हुए इस माल के निपटान की समस्या थी। छादित जगह की कमी के कारण, भावी उपयोग की दृष्टि से भारी मात्रा में बाहर रखे गये माल की जांच सबसे पहले की जानी थी। यह बहुत बड़ा काम था, क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में पैकेजों को खोलना था, पहचानना था और फिर बन्द करना था। पहचान का काम भी महत्वपूर्ण हो गया था, क्योंकि अनेक मामलों में ऊपर का वर्णन भीतर के वास्तविक माल से मेल न खाता था। अन्तर्ग्रस्त काम के भारी आकार का भान इसी बात से हो सकता है कि विभिन्न केन्द्रीय आर्डनेंस डिपो में ५२,५०,००० ऐसे पैकेजों को खोलना-बन्द करना पड़ा। जून, १९५० में पुनः एक बन्द करने की योजना चलायी गयी, ताकि पैकेजों के माल की ठीक से पहचान की जा सके और कमी-बेशी की वस्तुतः जांच की जा सके। यह योजना अक्तूबर, १९५३ में पूरी हुई।

पिछले युद्ध से पहले, अतिरिक्त आर्डनेंस भण्डार के निपटान की जिम्मेवारी, सेना-मुख्यालय की आर्डनेंस शाखा के मास्टर जनरल के अधीन सविदा-निदेशक के ऊपर थी। युद्ध शुरू होने के बाद यह काम भूतपूर्व उद्योग और पूर्ति विभाग के अधीन निपटान-निदेशक को सौंपा गया। एक श्रेणी के १०० रु० तक की कीमत के अतिरिक्त भण्डार के स्थानीय निपटान की

जिम्मेवारी रक्षा-सेनाओं की थी और इस मूल्य तक के भण्डार को सीधे ही निपटाने की जिम्मेवारी डिपों को सौंप दी गयी। १०० रु० से ऊपर और ५००० रुपयों से कम के सभी भण्डार प्रादेशिक निपटान-आयुक्त को बता दिये जाते थे और ५००० रु० से ज्यादा कीमत के माल के बारे में निपटान महानिदेशक को सूचित किया जाता था। जनवरी, १६५० में यह फैसला किया गया कि किसी एक श्रेणी के भण्डार की १०० रु० की सीमा बढ़ाकर १००० रु० कर दी जाय। पर मूल्य में इतनी वृद्धि के बावजूद रक्षा-सेनाओं के पास के अतिरिक्त भण्डार का निपटान तेजी से नहीं हो पा रहा था। इसलिए नवम्बर, १६५० में रक्षा-सेनाओं को और शक्ति दी गयी कि एक श्रेणी के ५००० रुपयों तक के पुस्तक-अंकित मूल्य के भण्डार का स्थानीय रूप से निपटान और मूल्य-सीमा के बिना उद्धरण और रद्दी घोषित कर सकें। ५००० रु० से ज्यादा मूल्य के अतिरिक्त भण्डार निपटाने के लिए पूर्ति और निपटान महानिदेशक को सौंपे जाते थे।

भण्डार के निपटान से पहले अन्य सरकारी उपभोक्ताओं की, जिनको रक्षा और पूर्वता इंडेंटर कहा जाता है, जरूरतों का भी पता लगा लिया जाता है और केवल बाकी बचे भण्डारों का ही, राज्य को अधिकाधिक लाभ पहुँचाते हुए, निपटान कर दिया जाता है। अन्य केन्द्रीय सरकारी विभाग, राज्य सरकारों और शैक्षिक और वैज्ञानिक संस्थाओं, नदी-घाटी-परियोजनाओं और अन्य अर्द्ध सरकारी निकायों को पूर्वता इंडेंटर माना जाता है। पहले इस बात का, पूर्वता इंडेंटरों से पता चलाने में, बहुत समय लग जाता था कि निपटान के लिए प्रस्तावित भण्डार के बारे में उनकी कोई जरूरत तो नहीं है, क्योंकि वे परिचालन की विहित अवधि में अपनी पुष्ट जरूरतों का अन्तिम निर्णय न कर पाते थे। अनुभव से यह भी पता चला कि उपलब्ध अतिरिक्त भण्डार के एक छोटे से अंश से ज्यादा का उपयोग इंडेंटर न कर पाते थे। अधिकांश भण्डार फलस्वरूप रक्षा-डिपो के पास निपटान के लिए बच जाते थे। समय की इस बरबादी को बचाने के लिए जून, १६५५ में यह फैसला किया गया कि पूर्वता इंडेंटरों के पास अतिरिक्त सामान की पूरी मात्रा के ब्यौरे भेजना अनावश्यक है और यही काफी होगा कि किसी सामान के लगभग ५ प्रतिशत के ब्यौरे ही चुने हुए पूर्वता इंडेंटरों के पास उनकी जरूरतें बताने के लिए परिचालित कर दिये जायें और साथ-साथ ही शेष माल को निपटाने के लिए सामान्य रीति से कार्रवाई की जाय। इन पूर्वता इंडेंटरों को स्पष्ट बता दिया जाता था कि परिचालित भण्डार उपलब्ध भण्डार का एक छोटा अंश ही निरूपित कर रहे हैं और अगर किसी चीज की भारी मात्रा में जरूरत है, तो वह तत्काल निपटान-प्राधिकारियों को बता दी जाय। पूर्वता इंडेंटरों के लिए जरूरी अतिरिक्त भण्डार को रियायती दरों पर उनको दिया जाता था, जो निर्धारित थोकभाव के ४० प्रतिशत पर तय किया जाता था या जहाँ पर थोकभाव तय नहीं किया जा सकता था, वहाँ पुस्तक-मूल्य के दस प्रतिशत की दर पर तय किया जाता था। बाद में रियायती दर हटा दी गयी।

पूर्ति और निपटान महानिदेशक के संगठन में एक निपटान सम्पर्क-कोष्ठ मई, १६५४ में बनाया गया, ताकि अतिरिक्त भण्डार का तेजी से निपटान किया जा सके। यह कोष्ठ निरन्तर सभी प्रक्रमों में भण्डार के निपटान में होने वाली प्रगति का ध्यान रखता था और विक्रीत माल के डिपो से यथाशीघ्र हटा लिये जाने पर भी दृष्टि रखता था, ताकि वहाँ पर

भीड़-भाड़ न होने पाये। यह कोष्ठ निपटान की दर में शीघ्रता लाने के लिए आवश्यक समझे गये उपायों को भी रक्षा-मन्त्रालय के ध्यान में लाता था। जब १९५८ में अतिरिक्त भण्डार का निपटान मन्द पड़ गया, तो यह कोष्ठ समाप्त कर दिया गया।

जैसा बताया जा चुका है, रक्षा-सेनाओं को यह शक्ति थी कि प्रत्येक श्रेणी के ५००० रु० तक के मूल्य के अतिरिक्त भण्डार का निपटान कर सकें और किसी मूल्य-सीमा के बिना कितने भी सामान का उद्धरण और उसे रद्दी घोषित कर सकें। लेकिन इस भण्डार के निपटान से पहले रक्षा-इंडेंटरों या आर्डनेंस कारखाना महानिदेशक की जरूरतों का पहले पता लगा लिया जाता था और भण्डार का वैकल्पिक प्रयोजन से उपयोग करने की सम्भावनाओं का सन्धान भी, तकनीकी विकास-अधिकारियों से परामर्श करते हुए किया जाता था। यदि किसी अन्य रक्षा-सेना-उपभोक्ता को उसकी जरूरत न होती थी या उसका कुछ भी वैकल्पिक उपयोग न होता था, तो उनको पूर्वतर इंडेंटरों के बीच परिचलित कर दिया जाता था। केवल परिणामी अतिरेक का ही रक्षा-सेना-प्राधिकारियों द्वारा निपटान किया जाता था। निपटान सरकार द्वारा नियुक्त अनुमोदित नीलामकर्ताओं के जरिये किया जाता था।

पिछले महायुद्ध से बचे हुए कई करोड़ रुपयों की कीमत वाले और हजारों टन अतिरिक्त भण्डार का निपटान रक्षा-सेनाओं के लिए एक बड़ा भारी काम था, जबकि आजादी के बाद उनको अनेक दूसरी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था।

१ अप्रैल, १९४८ से ३१ जनवरी, १९५५ के काल में निपटान-पूर्ति महानिदेशालय ने ११३.२८ करोड़ रुपयों के पुस्तक-मूल्य वाले भण्डार का निपटान किया, जिसका बिक्री-मूल्य ४०.४२ करोड़ रुपये रहा। इसमें न केवल युद्धकालीन अतिरिक्त भण्डार शामिल थे, बल्कि समय-समय पर अतिरिक्त घोषित किये गये चालू भण्डार भी थे। १ अप्रैल, १९५८ को अभी ८.२५ करोड़ रुपयों के भण्डार का निपटान होना था।

जून, १९५८ में निपटान के लिए भण्डार के अतिरिक्त होने की घोषणा बन्द कर दी गयी, केवल नश्वर भण्डार और आर्थिक मरम्मत से परे हो गयी गाड़ियों को ही ऐसा घोषित किया जाता था। सभी अतिरिक्त भण्डार की (पूर्ति निपटान महानिदेशालय को अतिरिक्त घोषित किये गये को ही नहीं, बल्कि अतिरिक्त भण्डार की सभी ताजी प्राप्तियों को भी) जाँच करने के लिए एक अन्तःसेवा तकनीकी-टुकड़ी नियुक्त की गयी, ताकि किसी भी रूप में उसके सम्भावी पुन: उपयोग की जाँच की जा सके। समिति ने कुछ भण्डार के उपयोग की सिफारिश की और उसकी सिफारिशें कार्यान्वित की गयीं।

अतिरिक्त रक्षा-भण्डार के निपटान के प्रश्न की जाँच १९६३ के आरम्भ में की गयी। स्टाफधारियों के प्रतिनिधियों, निरीक्षण-महानिदेशक, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) और तकनीकी विकास महानिदेशालय (पूर्ति-विभाग) का एक समीक्षा बोर्ड उन मदों का पुनर्विलोकन करने के लिए बनाया गया, जिनकी जाँच पहले अन्तःसेना तकनीकी टुकड़ी कर चुकी थी। उद्देश्य यह देखना था कि आयात की दृष्टि से क्या किसी मद का उपयोग सेनाओं द्वारा या रक्षा-सेनाओं के लिए सामान के उत्पादन में किसी उद्योग द्वारा किया जा सकता था। तीन तकनीकी टुकड़ियाँ भी उस पुराने पड़ गये अतिरिक्त भण्डार को देखने और उसका निपटान

सुझाने के लिए बनायी गयी, जिनकी जाँच पहले अन्त-सेना तकनीकी-टुकड़ी द्वारा न की गयी थी। समीक्षा बोर्ड और तीनों तकनीकी समितियों ने १८७८ ८५ लाख रुपयों की कीमत के भण्डार के निपटान की सिफारिश की। अगस्त-सितम्बर १९६५ के हालात की दृष्टि में जरूरतों का फिर से निर्धारण करते हुए यह फैसला किया गया कि निपटान के लिए सिफारिश किये जा सके भण्डार में से लगभग १६५ करोड़ रुपयों के भण्डार का दुबारा उपयोग किया जाय। एक और तकनीकी-टुकड़ी चालू और पुराने पड़ गये भण्डार की जाँच करने के लिए बनायी गयी। फलस्वरूप ऐसे भण्डार की कुछ चीजें आगे फिर काम में लायी जा रही हैं।

इस तरह लगातार यह प्रयास किया जा रहा है कि अतिरिक्त भण्डार का अधिकतम सम्भव उपयोग किया जाय। साथ ही अनावश्यक भण्डार का निपटान भी शीघ्र ही होना चाहिये, ताकि भण्डार की जगह चालू उपयोग वाले सामान के लिए खाली हो सके। इस प्रयोजन से पूर्ति-निपटान महानिदेशालय में सम्पर्क अधिकारी का पद फिर से बना दिया गया।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि गैर-जरूरी भण्डार की समस्या हमेशा रहेगी, क्योंकि कुछ भण्डार तो पुराने पड़ जाते हैं और कुछ उपलब्ध-नीति आदि में परिवर्तन होते रहते हैं। दूसरे प्रकार के उदाहरण के रूप में १९६३ के अन्त में सरकार द्वारा दिये गये इस निर्णय का उदाहरण दिया जा सकता है कि सामान्य सेवा-गाड़ियाँ (३ टन, १ टन, जीप और मोटर साइकिलें) विहित वर्ष पूरे करने पर या विहित मील-संख्या तक चल चुकने पर, जो भी पहले हो, हटा दी जायँ (और उनकी जगह नयी रखी जायँ)। यह निर्णय यह आश्वस्त करने के लिए लिया गया कि सशस्त्र सेनाओं के पास केवल निर्भर-योग्य गाड़ियाँ ही रहें और उनको उनके सन्धारण और ओवरहाल के लिए अनुचित समय और पैसा न खर्च करना पड़े। साथ ही, अपेक्षतया अच्छी हालत में गाड़ियों के निकाल दिये जाने में, असैनिक बाजार में भी काफी सख्या में गाडियाँ प्राप्त हो जायेंगी, जहाँ पर कि गाडियों की कमी है। आपात काल में रक्षा के प्रयोजन के लिए गाडियों का अधिग्रहण किया जा सकता है।

खण्ड २—अनुसन्धान और विकास-सगठन

रक्षा की किसी भी योजना में वैज्ञानिक अनुसन्धान क्या योगदान दे सकता है, यह बात द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उग्ररूप से प्रकट हो गयी थी। अब यह सर्वत्र माना जाने लगा है कि एक सुपर्याप्त वैज्ञानिक अनुसन्धान-सगठन देश के रक्षा-ढाँचे में एक अनिवार्य तत्त्व है। सभी आधुनिक देश, ज्यादा से ज्यादा विध्वंसात्मक शक्ति वाले शस्त्रास्त्र के उत्पादन के लिए, विज्ञान का उपयोग कर रहे है। वैज्ञानिक अनुसन्धान न केवल आक्रमण में बल्कि रक्षा में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उदाहरण के लिए पिछले विश्वयुद्ध में १९४० में ब्रिटेन युद्ध में हार गया होता, यदि वैज्ञानिकों ने रडार का उपयोग खोज कर जर्मनी द्वारा रात में टारगेटों पर उनके ठीक-ठीक आक्रमण विफल न कर दिये होते। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हालांकि लड़ाई तो सैनिकों द्वारा युद्ध-क्षेत्र लड़ी जाती है, पर संचालन में वैज्ञानिकों की भूमिका का भी बहुत महत्त्व है।

फिर भी उच्च वैज्ञानिक अनुसन्धान अलग-थलग रक्षा-सेनाओं में ही नहीं पनप सकता,

बल्कि यह देश की सामान्य वैज्ञानिक और औद्योगिक सम्भावनाओं का ही एक अंग होता है। इसलिए रक्षा-वैज्ञानिक-अनुसन्धान उद्योगों के बीच निकटतम परस्पर सहयोग जरूरी है।

डॉ० वैन्सवौरो जोन्स का प्रतिवेदन

१९४७ से पहले रक्षा सम्बन्धी वैज्ञानिक अनुसन्धान भारत में व्यवहारत अविदित वस्तु थी। भारत की रक्षा-सेनाओं के लिए एक वैज्ञानिक संगठन बनाने की जरूरत दूसरे विश्व-युद्ध के तुरन्त बाद समझी गयी। १९४६ के मध्य में ब्रिटेन में सेनापरिषद् के वैज्ञानिक सलाहकार डॉ० ओ० एच० वैन्सवौरो को, जिनको युद्धकाल में सक्रिया अनुसन्धान का काफी अनुभव प्राप्त हो गया था, ऐसा एक संगठन भारत में बनाने के बारे में रक्षा-विभाग को सलाह देने के लिए, बुलाया गया। उन्होंने नवम्बर, १९४६ में कमांडर-इन-चीफ को जो प्रतिवेदन दिया, वह एक बहुमूल्य दस्तावेज है, जिसमें रक्षा विज्ञान और ब्रिटेन की रक्षा-सेनाओं में वैज्ञानिकों के उपयोग का लगभग ३० साल का अनुभव संचित है। मुख्यत, इस प्रतिवेदन के आधार पर, बाद में भारत में रक्षा मन्त्रालय के अधीन रक्षा-विज्ञान-संगठन स्थापित किया गया। डॉ० वैन्सवौरो ने इसे लाभकर समझा कि भारत में तीनों रक्षा-सेनाओं को प्रशासित करने वाला एक एकीकृत विभाग विद्यमान था। इसलिए आरम्भ से ही प्रस्तावित वैज्ञानिक सलाहकार रक्षा-विभाग और तीनों ही सेनाओं का काम कर सकता है।

वैज्ञानिक सलाहकार की नियुक्ति

फरवरी, १९४७ में एक संगठन खडे करने की दिशा में, पहले कदम के रूप में, एक वैज्ञानिक सलाहकार नियुक्त करने का काम हाथ में लिया गया। यह अनिवार्य था कि उसे उच्चतम प्रतिमा वाला वैज्ञानिक होना चाहिए और अच्छा हो कि उसका अनुभव रक्षा से सम्बन्धित हो, ताकि वह नये संगठन का समुचित रूप से सूत्रपात करा सके और उसे सुदृढ़ आधार पर स्थापित कर सके। उस समय भारत में जो थोड़े से प्रतिष्ठित भारतीय वैज्ञानिक थे, वे पहले से ही व्यस्त थे और इस नये पद के लिए उपलब्ध न थे। इसलिए यह जरूरी हो गया कि एक उपयुक्त वैज्ञानिक की सेवायें उस थोड़े से समय तक के लिए ब्रिटेन से प्राप्त की जायें, जब तक कि इस नियुक्ति के योग्य भारतीय न मिल जाये। ब्रिटेन के दो प्रसिद्ध वैज्ञानिकों से बात चलायी गयी, पर उनमें से एक भी, पहले से ही शैक्षिक या अन्य दृष्टियों से व्यस्त होने के कारण उपलब्ध न था। लेकिन इस बीच भारत की राजनीतिक स्थिति भी तेजी से बदल रही थी। अतएव यह निश्चय किया गया कि इस प्रश्न पर १५ अगस्त, १९४७ के बाद अलग-अलग डोमीनियन सरकारें विचार करेंगी।

आजादी के बाद वैज्ञानिक सलाहकार की नियुक्ति के प्रस्ताव पर तेजी से काम किया गया। प्रस्तावित रक्षा-विज्ञान संगठन का काम दुहरा था, नामत राष्ट्रीय वैज्ञानिक प्रयास को रक्षा की जरूरतों के साथ तालमेल रखना और रक्षा-सेनाओं में भी वैज्ञानिक कार्य को बढ़ाना। इस पद का वेतन-मान २०००-१००-२५०० रुपये तय किया गया, जो देश की राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के निदेशक का स्वीकृत वेतन-मान था। सारणाओं से पुनर्विचार के बाद मई,

१९४८ में यह निश्चय किया गया कि दिल्ली विश्वविद्यालय में विज्ञान-संकाय के अध्यक्ष डॉ० दौलतसिंह कोठारी से रक्षा-मन्त्रालय में पहला वैज्ञानिक सलाहकार बनने के लिए अनुरोध किया जाय। दिल्ली विश्वविद्यालय डॉ० कोठारी की सेवायें भारत सरकार को अर्पित करने के लिए तैयार हो गयी।

यहाँ पर रक्षा-विज्ञान-संगठन और तीनों सेनाओं की भूतपूर्व तकनीकी-विकास स्थापनाओं की भूमिका के अन्तर का उल्लेख कर देना भी उपयोगी होगा। तकनीकी-विकास भंडार और उपस्कर के मामले में दैनन्दिन विकास और उससे सम्बन्धित अनुसन्धान के लिए जिम्मेदार था। रक्षा-विज्ञान-संगठन का काम प्रथमतः विज्ञान के बुनियादी पक्ष और उसकी रक्षा की जरूरतों से सम्बद्ध था। मौलिक समस्याओं से सम्बन्धित व्यावसायिक वैज्ञानिकों के मार्गदर्शन के बिना, सामान्यतः, कोई भी मौलिक विकास सम्भव नहीं है। एक ओर रक्षा-वैज्ञानिकों और तकनीकी-विकास-स्थापनाओं के बीच निकट सम्पर्क जरूरी है और दूसरी ओर रक्षा-वैज्ञानिकों और असैनिक-वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्थाओं, जैसे विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं आदि के बीच भी।

डॉ० कोठारी ने वैज्ञानिक सलाहकार का कार्यभार १२ जुलाई, १९४८ से सँभाला। वे १२ जुलाई, १९५२ को विश्वविद्यालय वापस चले गये, पर अवैतनिक रूप से वैज्ञानिक सलाहकार के रूप में वे रक्षा विज्ञान-संगठन से सम्बद्ध बने रहे और १९६१ तक उस पद से सम्बद्ध सभी शक्तियाँ और विशेषाधिकार उनको मिले रहे, जब कि डॉ० एस० भगवन्तम्, निदेशक, भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर को रक्षा मन्त्री का अवैतनिक-वैज्ञानिक-सलाहकार नियुक्त किया गया। अक्टूबर, १९६२ में डॉ० भगवन्तम् को रक्षा मन्त्री का पूर्णकालिक वैज्ञानिक सलाहकार और अनुसन्धान और विकास के महानिदेशक के रूप में ३५०० रुपये मासिक के निश्चित वेतन पर पाँच साल की संविदा पर नियुक्त किया गया।

रक्षा-विज्ञान-नीति-बोर्ड और रक्षा-विज्ञान-सलाहकार-समिति

वैज्ञानिक सलाहकार की नियुक्ति करते समय यह भी तय किया गया कि उनको परामर्श देने के लिए एक सलाहकार बोर्ड भी बनाया जाय, जिसमें डॉ० एच० जे० भाभा, एफ० आर० एस०, डॉ० के० एस० कृष्णन, एफ० आर० एस० और डॉ० एस० एस० भटनागर, एफ० आर० एस० रखे गये। प्रो० पी० एम० एस० ब्लैकेट भारत में तीन चार बार रक्षा-विज्ञान सम्बन्धी साधारण सलाह देने के लिए आये। बोर्ड की पहली बैठक वैज्ञानिक-सलाहकार-समिति के रूप में १६ जुलाई, १९४८ को हुई। १८ अगस्त, १९४८ को, उसकी दूसरी बैठक में, इसे वैज्ञानिक-सलाहकार-बोर्ड कहा गया और इसकी सदस्यता बढ़ा दी गयी तथा उसमें और लोगों के साथ-साथ तीनों सेना-प्रमुख और वित्तीय-सलाहकार (रक्षा) को भी रखा गया। यह बोर्ड ही प्रथमतः रक्षा-विज्ञान-नीति के लिए उत्तरदायी था। इसलिए बाद में सितम्बर, १९४८ में इसका नया उपयुक्त नाम रक्षा-विज्ञान-नीति-बोर्ड रखा गया। बोर्ड का सम्बन्ध रक्षा-विज्ञान और नीति के व्यापक पहलुओं और सैन्य और वैज्ञानिक विचारधारा के एकीकरण से था।

साथ ही उसका काम समग्र रूप से रक्षा-अनुसन्धान और विकास की आयोजना बनाना था, जिसके लिए देश के औद्योगिक स्साधनों को ध्यान में रखा जाता था। नवम्बर, १९५५ में, रक्षा-उत्पादन-बोर्ड के जन्म के बाद, रक्षा-सचिव के स्थान पर रक्षा-संगठन-मन्त्री रक्षा-विज्ञान-नीति-बोर्ड के अध्यक्ष बनाये गये और सचिव भी उसके सदस्य बने रहे। सरकार ने वैज्ञानिक-सलाहकार-बोर्ड के अलावा, १३ अगस्त, १९४८ से, एक रक्षा-विज्ञान-सलाहकार-समिति भी बनाने का निर्णय किया, जिसके अध्यक्ष वैज्ञानिक-सलाहकार थे और इसमें परामर्शदाताओं की एक नामिका थी, सेना के सहयोजित सदस्य थे और यथावश्यक असैनिक वैज्ञानिकों को भी सहयोजित कर लिया जाता था। इस समिति का कार्य था कि सैन्य आवश्यकताओं के तकनीकी और वैज्ञानिक पहलुओं पर विचार करे, सेनाओं की तकनीकी स्थापनाओं में अनुसन्धान और विकास के मामले में निकट सम्पर्क रखे, सेवा की प्रयोगशालाओं और विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान संस्थानों में रक्षा-विज्ञान के सिलसिले में बुनियादी अनुसन्धान का सूत्रपात कराये और, अन्तत उनके साथ सहकार करते हुए, पूरे देश के समग्र वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के साथ निकट सम्पर्क रखे। विशेषीकृत विषयों के लिए रक्षा विज्ञान सलाहकार समिति के अधीन नामिकायें अन्य उपसमितियाँ भी थी, जैसे प्राक्षेपिकी, इलेक्ट्रानिकी, विस्फोटक, आदि।

प्रो० ब्लैकेट सितम्बर, १९४८ में भारत पधारे और उन्होंने भारतीय सशस्त्र सेनाओं की जरूरतों से सम्बन्धित, वैज्ञानिक-अनुसन्धान के योगदान के सम्बन्ध में, एक बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रस्तावित रक्षा-विज्ञान-संगठन की भूमिका का रूपविन्यास उसी समय रक्षा-विज्ञान नीति-बोर्ड की एक बैठक में किया गया। यह माना गया कि देश में वैज्ञानिक अनुसन्धान के निम्नस्तर और अनुभवी वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओं के बहुत कम सख्या में उपलब्ध होने के कारण, रक्षा-सेनाओं के सामान्य ढाँचे में रक्षा-विज्ञान-संगठन का, आरम्भ में, केवल सलाहकार का ही रूप हो सकता है।

संगठन की औपचारिक मंजूरी

जून, १९४९ में रक्षा-मन्त्रालय के अधीन, रक्षा-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में क्रमबद्ध अध्ययन, पड़ताल और अनुसन्धान करने के लिए और सेनाओं को उनकी तकनीकी और वैज्ञानिक समस्याओं के बारे में सलाह और मदद देने के लिए, एक रक्षा-विज्ञान-संगठन के निर्माण की औपचारिक मंजूरी प्रदान कर दी गयी। वैज्ञानिक-सलाहकार के अलावा ४० वरिष्ठ वैज्ञानिकों और १०० कनिष्ठ वैज्ञानिकों के पद इस संगठन के लिए मंजूर किये गये और वैज्ञानिकों की भरती के लिए शीघ्र ही कार्यारम्भ किया गया। बाद में, दिसम्बर, १९४९ में, १० वरिष्ठ वैज्ञानिक-सहायकों के पदों की मंजूरी दी गयी। इन सभी वैज्ञानिक नियुक्तियों पर लोगों को तभी रखा जाता था, जब उनकी वस्तुत जरूरत हो। साथ ही रक्षा-विज्ञान संगठन की प्रयोग-शाला कर्मशाला के लिए उपयुक्त कर्मचारियों की भी मंजूरी दी गयी। १९५० के आरम्भ में राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला, दिल्ली के भवन में रक्षा-विज्ञान प्रयोगशाला के लिए आवास दे दिया गया। एक कर्मशाला और एक अच्छा-सा सन्दर्भ और अनुसन्धान पुस्तकालय भी स्थापित किया

गया और प्रयोगशाला के उपस्कर के लिए तीन साल की अवधि में १५ लाख रुपयों का एक एकमुश्त अनुदान उपलब्ध कर दिया गया।

संगठन में १५ वैज्ञानिकों की पहली टुकडी अक्तूबर, १९४९ में नियुक्त की गयी। उसके बाद से संगठन में वैज्ञानिकों की संख्या में तेजी से वृद्धि होती रही है।

रक्षा-विज्ञान-सेवा का गठन

यह जरूरी समझा गया कि विभिन्न स्थापनाओं में वैज्ञानिक कार्य का नजदीकी एकीकरण किया जाय और उपलब्ध वैज्ञानिक कर्मठता का ज्यादा प्रभावी रूप से उपयोग किया जाय और इस संगठन में आने वालों के बीच सहयोग से काम करने की भावना पैदा की जाय। तदनुसार, रक्षा-मन्त्रालय और सेनाओं में काम कर रहे असैनिक वैज्ञानिकों को एक रक्षा-विज्ञान-सेवा बनायी गयी। रक्षा-विज्ञान-सेवा के सृजन, सन्धारण और प्रशासन सम्बन्धी नियम अप्रैल, १९५३ में प्रकाशित कर दिये गये। यह सेवा निर्मित होने तक उप-मुख्य-वैज्ञानिक-अधिकारी के तीन पद (१३०० से १८०० रुपये के वेतनमान में) रक्षा-विज्ञान-संगठन में जून, १९५० में बनाये गये। इन तीन में से एक-एक को थल सेना, वायुसेना और नौसेना सम्बन्धी वैज्ञानिक और तकनीकी काम सौंपा गया। थलसेना सम्बन्धी पद, सेना-मुख्यालय के आर्डनेंस मास्टर जनरल के वैज्ञानिक सलाहकार के विद्यमान पद का रक्षा-विज्ञान-संगठन को स्थानान्तरण करके, और उसका नाम उपमुख्य-वैज्ञानिक-अधिकारी, थलसेना देकर, बना दिया गया। इस पद से सम्बद्ध कर्त्तव्यों में, उस समय तक आर्डनेंस के मास्टर जनरल के वैज्ञानिक सलाहकार द्वारा निर्वहन किये जाने वाले कर्त्तव्य भी, शामिल कर लिये गये।

नौसेना और वायुसेना सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य शुरू करने के लिए, अप्रैल, १९५४ में, उप मुख्य-वैज्ञानिक-अधिकारियों के रिक्त स्थानों पर दो प्रधान वैज्ञानिक-अधिकारियों (नौसेना और वायुसेना) की नियुक्ति की गयी।

शस्त्रास्त्र-अध्ययन-संस्थान

आजादी के बाद भारत में प्रशिक्षण और अनुसन्धान के एक मिले-जुले केन्द्र की जरूरत समझी गयी, जिसमें शास्त्रास्त्र-सिद्धान्तों और शस्त्रों और उपस्करों के कृत्य-निष्पादन का विशुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन और शिक्षण की सुविधा हो। रक्षा-मन्त्रालय के आमन्त्रण पर कर्नल एच० एम० पैटरसन, जो एक समय यू० के० के सेना के विज्ञान कालेज के उप-कमाडेंट थे, जनवरी, १९५० में, विज्ञान और शिल्प-विज्ञान में तीनों सेनाओं के अधिकारियों की शिक्षा के लिये एक स्थापना के निर्माण के बारे में सलाह देने के लिए भारत आये। उनके प्रतिवेदन के आधार पर खिड़की में, सैन्य इंजीनियरी कालेज के अहाते में, मई, १९५२ में, शास्त्रास्त्र-अध्ययन-संस्थान की स्थापना की गयी। संस्थान के प्रमुख संकाय-अध्यक्ष हैं और कर्मचारियों में सेनाओं के तकनीकी अधिकारी और असैनिक वैज्ञानिक दोनों ही हैं। संस्थान शस्त्रों और उपस्करों के कृत्यनिष्पादन में अध्ययन और अनुसन्धान करता है और सेनाओं के अधिकारियों को तकनीकी स्टाफ की नियुक्तियों के लिए प्रशिक्षण भी देता है।

रक्षा-विज्ञान-सम्मेलन

रक्षा-विज्ञान को बढ़ावा देने के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों और अन्य असैनिक-अनुसन्धान-संस्थाओं में रक्षा-विज्ञान और अनुसन्धान के लिए सक्रिय अभिरुचि जागृत और पल्लवित की जाय। विचारों के विमर्श और विनिमय के लिए अवसर पैदा करने के लिए, समय-समय पर रक्षा-विज्ञान-सम्मेलन आयोजित किये जाते रहे हैं। इनमें भारत के विश्वविद्यालयों और विज्ञान-संस्थानों के, आर्डनेंस कारखानों के, तकनीकी-विकास-स्थापनाओं के और थल, वायु और नौसेनाओं के प्रतिनिधि भाग लेते रहे हैं।

नौसेना-अनुसन्धान

यू० के० की रायल नौसेना-वैज्ञानिक-सेवा के डॉ० कीस्टन को सितम्बर, १९४९ में नौसेना वैज्ञानिक अनुसन्धान के बारे में भारतीय नौसेना की जरूरतों के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए भारत बुलाया गया। उनके प्रतिवेदन के अनुसरण में बम्बई में एक नौसेना-गोदी-प्रयोगशाला (जिसका नाम अब नौसेना रासायनिक और धातुकार्मिक प्रयोगशाला है) और कोचीन में एक नौसेना भौतिकी प्रयोगशाला १९५३ में स्थापित की गयी।

अग्नि-सलाहकार

रक्षा-संस्थापनों में भारी संख्या में ज्वलनशील और विस्फोटक भण्डारों का काम किया जाता है। पहले इन संस्थापनों में अग्नि-संरक्षण की जिम्मेवारी स्थानीय निकायों की थी, जो इस काम के लिये अंशकालिक अधिकारी नियुक्त किया करते थे। तीनों सेनामुख्यालय अपनी-अपनी विरचनाओं को अलग-अलग अनुदेश दिया करते थे और उनके बीच कोई समुचित तालमेल न था।

युद्धकाल में सेना-मुख्यालय में एक अग्नि-शमन-सेवा निदेशालय स्थापित किया गया और यू० के० से लाये गये अग्नि-शमन-अधिकारी, ज्यादा महत्वपूर्ण आर्डनेंस कारखानों में पूर्णकालिक आधार पर नियुक्त किये गये। युद्धकाल में नियुक्त केवल एक अग्नि-शमन-अधिकारी भारतीय था। युद्ध-समाप्ति के बाद अग्नि शमन-अधिकारियों की संख्या घटा दी गयी। १९४७ के आरम्भ में सभी ब्रिटिश अधिकारी वापस चले गये। उस समय योग्यता-प्राप्त एकमात्र भारतीय अधिकारी बगार के आडनेंस कारखानों के समूह में काम कर रहा था। यह नियुक्ति भी ३१ मार्च, १९४७ को समाप्त कर दी गयी। सितम्बर, १९४७ में यही अफसर असैनिक अग्निशमन अधिकारी के नये पद पर नियुक्त किया गया। वह सभी आर्डनेंस कारखानों में अग्निशमन-व्यवस्था के उत्तरदायी था। वह सामान्य स्टाफ शाखा (सेनामुख्यालय) के आर्डनेंस कारखाने के निदेशालय में काम करता था। सितम्बर, १९४८ में उसे आर्डनेंस डिपो में भी वैसी ही व्यवस्था के लिए जिम्मेदार बना दिया गया। उस समय तक आर्डनेंस कारखाने तो रक्षा-मन्त्रालय के सीधे प्रशासनिक नियन्त्रण में आ गये थे, जबकि आर्डनेंस डिपो सेना-मुख्यालय की क्वाटर मास्टर जनरल की शाखा द्वारा नियन्त्रित किये जाते थे (आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा जनवरी, १९४९ में ही पुनर्गठित की गयी थी)। नियन्त्रण की क्रिया की

दूर करने के लिए अग्निशमन अधिकारी का पद सीधे रक्षा-मन्त्रालय के अधीन कर दिया गया और ११ सितम्बर, १९४८ से पद का नाम अग्नि-सलाहकार, रक्षा-मन्त्रालय, रख दिया गया। हालाँकि यह नियुक्ति प्रथमत आर्डनेंस कारखानो और आर्डनेंस डिपो के लिए थी, जहाँ आग का खतरा बहुत अधिक था, तथापि वह निर्णय किया गया कि अग्नि-सलाहकार, नौसेना और वायुसेना के सस्थापनों में अग्निशमन के पूर्वोपाय और व्यवस्था के बारे मे, नौसेना और वायुसेना की भी मदद करेंगे। इस तरह अग्नि-सलाहकार के उत्तरदायित्व का क्षेत्र सभी रक्षा-सस्थापनो तक व्याप्त हो गया। अग्नि-सलाहकार समय-समय पर रक्षा-सस्थापनो का निरीक्षण करते रहते है, जिसका उद्देश्य उनकी अग्नि-निरोध और अग्निशमन व्यवस्थाओ का पता चलाना और उनमें सुधार करना होता है। वे रक्षा-सस्थापनो में अग्नि के कारणो की पड़ताल से भी सम्बद्ध रहते है और उपचारात्मक उपाय सुझाते रहते है।

रक्षा-सेनाओ के अग्निशमन-अधिकारियो के लिये, पर्याप्त प्रशिक्षण-सुविधा की व्यवस्था करने के लिये, दिल्ली में, अग्नि सलाहकार के पर्यवेक्षण और नियन्त्रण के अधीन, सितम्बर, १९५० में, एक अग्निशमन-प्रशिक्षण-केन्द्र चालू किया गया। यह केन्द्र व्यावहारिक अग्निशमन के सभी पक्षो, उपस्करो के उपयोग और सन्धारण तथा अग्नि-निरोध के बारे मे शिक्षण देता है और दो महीने की अवधि के पाठ्यक्रम चलाता है।

अग्नि-सलाहकार का कार्यालय, जो रक्षा-मन्त्रालय के अधीन एक अन्त-सेना-संगठन था, रक्षा-अनुसन्धान और विकास-संगठन का एक हिस्सा बन गया।

मनोविज्ञान अनुसन्धान-स्कन्ध

तीनो सेनाओ मे अधिकारी सेनाछात्रों की चयन-योजना की जाँच करने के लिये, नवम्बर १९४८ मे बनायी गयी समिति की सिफारिश के अनुसार, एक मुख्य मनोवैज्ञानिक के अधीन, एक मनोवैज्ञानिक-अनुसन्धान-स्कन्ध, अगस्त, १९४९ में, रक्षा-विज्ञान-संगठन मे खोला गया। इस स्कन्ध में कई मनोवैज्ञानिक, मनोरोग-विज्ञानी, साख्यकी-विद् और सेनाओ के अधिकारी काम करते है, जिनको चयन-रीतियो में प्रशिक्षण दिया जाता है। यह स्कन्ध चयन के लिये नये परीक्षणो का निर्माण करता है, इन परीक्षणो के आधार पर व्यक्तियो को चयन-रीतियो का प्रशिक्षण देता है, चुने गये उम्मीदवारो का अनुगामी अध्ययन करता है और चयन-रीतियो में अनुसधान भी करता है।

स्कन्ध, आसूचना, अभियोग्यता और व्यक्तित्व के ऐसे परीक्षणो का निर्माण करता है, जो भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल हो। इसने सेवा-चयन बोर्डो को कार्यकरण-रीतियो का भी सर्वेक्षण करके, उनकी कई सुधरी हुई प्रविधियाँ सुझायी है, ताकि चयन-बोर्डो के सदस्य उम्मीदवारो के व्यक्तित्व का सही-सही निर्धारण कर सकें।

सेनाछात्रो के प्रशिक्षण-काल के दौरान और कमीशन-प्राप्त सेवा के पहले पाँच सालो में चलाये गये अनुगामी अध्ययनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनोवैज्ञानिक-अनुसन्धान-स्कन्ध द्वारा निर्मित और सशस्त्र सेनाओ द्वारा अपनायी गयी चयन-रीतियाँ ठीक से काम रही हैं।

लगातार चलने वाली अनुगामी जाँच से काम में लायी गयी रीतियों की कार्यक्षमता को निरन्तर जाँच करते रहने में भी मदद मिलती है।

मनोवैज्ञानिक-अनुसन्धान-स्कन्ध तीनों सेनाओं के अन्य पदधारियों के चयन और व्यवसाय आवण्टन की भी देखभाल करता है। वह व्यक्तियों के चयन के सम्बन्ध में भारत सरकार के विभागों, जैसे आयोजना आयोग, शिक्षा मन्त्रालय और संघीय लोक सेवा आयोग का भी सहायक सिद्ध हुआ है।

अनुसन्धान-विकास सङ्गठन की रचना

रक्षा-वैज्ञानिक-अनुसन्धान और विकास का स्तर और कार्यक्षेत्र बढ़ाने की दृष्टि से, सरकार ने जनवरी, १९५८ में वैज्ञानिक-सलाहकार के अधीन एक अलग अनुसन्धान और विकास संगठन बनाने का निर्णय किया। वैज्ञानिक सलाहकार अब रक्षा-अनुसन्धान और विकास के महानिदेशक हो गये। नया संगठन, आरम्भतः, रक्षा-विज्ञान-संगठन, तकनीकी-विकास-स्थापनाओं (जो उस समय रक्षा-उत्पादन महानिदेशक के महानिदेशक के अधीन थी) और तकनीकी विकास और उत्पादन-निदेशालय (वायु) को मिलाकर बनाया गया। अग्नि-सलाहकार और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान स्कन्ध भी अनुसन्धान विकास-संगठन के अंग हो गये।

वैज्ञानिक-सलाहकार की सहायता अनुसन्धान और विकास के मुख्य नियन्त्रक (मेजर जनरल के ओहदे का वरिष्ठ सेनाधिकारी) द्वारा की जाती है। यह अफसर सशस्त्र सेनाओं के साथ अनुसन्धान और विकास के समन्वय के काम के लिए और उपस्कर प्रवण-स्थापनाओं के कार्यक्षम रूप से कार्य करते रहने के लिए उत्तरदायी होता है। सहायता के लिये एक मुख्य वैज्ञानिक भी होता है, जो अनुसन्धान और विकास की प्रयोगशालाओं में, वैज्ञानिक अनुसन्धान का समन्वय रखने के लिए, और विश्वविद्यालयों से तथा राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं और अनुसन्धान-संस्थाओं से सम्पर्क रखने के लिए, उत्तरदायी होता है। रक्षा-अनुसन्धान और विकास संगठन के प्रमुख कृत्य ये हैं। (क) सेना-मुख्यालयों को वैज्ञानिक सलाह देना, (ख) सेनाओं की समस्याओं के समाधान के लिए अनुप्रयुक्त अनुसन्धान-कार्य चलाना, (ग) सेनाओं द्वारा परिभाषित सक्रियागत जरूरतों के आधार पर शस्त्रों और उपस्करों का अभिकल्पन और विकास करना, (घ) नये अथवा देश में बने शस्त्रों और उपस्करों का मूल्यन और उनका तकनीकी परीक्षण करना और (ङ) नये उपस्करों के विकास के लिए असैनिक व्यवसाय को तकनीकी मार्गदर्शन देना।

सरकार ने इस बार नये संगठन से सम्बन्धित नीति के प्रश्नों पर विचार करने के लिए रक्षा-मन्त्री की (अनुसन्धान और विकास) समिति की भी स्थापना की। समिति में वैज्ञानिक-सलाहकार के अलावा तीनों सेनाओं के प्रमुख और वित्तीय सलाहकार भी हैं। वैज्ञानिक सलाहकार की अध्यक्षता में एक अनुसन्धान विकास सलाहकार समिति भी बनायी गयी, जिसमें प्रतिष्ठित असैनिक वैज्ञानिक वरिष्ठ सेना अधिकारी और रक्षा वैधानिक सदस्य थे। इन समितियों ने पूर्वोल्लिखित रक्षा विज्ञान-नीति बोर्ड और रक्षा-विज्ञान-सलाहकार समिति की जगह ले ली।

यह माना गया कि सरकार के एक मन्त्रालय का सामान्य तन्त्र रक्षा अनुसन्धान और विकास के प्रशासन के लिए पूरी तरह उपयुक्त न था। तदनुसार अप्रैल, १९६२ में एक रक्षा-

अनुसन्धान-विकास परिषद् बनायी गयी, जिसके अध्यक्ष रक्षा मन्त्री थे। परिषद् के सदस्य ये हैं . रक्षा-उत्पादन मन्त्री, रक्षा सचिव, रक्षा-उत्पादन सचिव, वैज्ञानिक सलाहकार, तीनो सेना प्रमुख, वित्तीय सलाहकार (रक्षा), वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् के महानिदेशक, सशस्त्र सेना-चिकित्सा-सेवाओ के महानिदेशक, अनुसन्धान और विकास के मुख्य नियन्त्रक, और निरीक्षण महानिदेशक। परिषद् के उद्देश्य ये है (क) अनुसन्धान और विकास, व्यक्तियों के प्रशिक्षण और मिलते-जुलते मामलो के बारे में कार्यक्रम तैयार करना (ख) प्रत्येक वित्तीय साल में अनुसन्धान और विकास के बजट प्रस्तावो पर विचार करना, ग) वैज्ञानिक सलाहकार के संगठन के अनुसन्धान विकास स्कन्ध में किये गये काम की समीक्षा करना और (घ) वैज्ञानिक-अनुसन्धान और विकास का काम करने वाले संगठनो के साथ सम्पर्क रखना। उपभोक्ता सेवाओ, निरीक्षण और उत्पादन प्राधिकारियो और देश के रक्षेतर अनुसन्धान-संगठनो के प्रतिष्ठित वैज्ञानिको से निकट सम्पर्क रखने के लिए, विभिन्न तकनीकी विषयो को सलाहकार समितियाँ और अनुसन्धान-विकास-नमिकायें भी बनायी गयी। अनुसन्धान विकास-परिषद् की एक कार्यपालक समिति है, जिसके अध्यक्ष वैज्ञानिक-सलाहकार है। यह समिति परिषद् को ओर से अनुसन्धान-विकास-सगठन के कार्यपालक निदेशन के लिए उत्तरदायी है।

इस समय अनुसन्धान और विकास-सगठन में लगभग ३० स्थापनायें, प्रयोगशालायें, क्षेत्रीय स्टेशन और प्रशिक्षण-संस्थान हैं, जो पूरे देश मे फैले हुए हैं। ये निम्नलिखित हैं .

शस्त्रास्त्र-अनुसन्धान और विकास-स्थापना, खिडकी (पूना)—यह तीनों सेनाओ के सभी प्रकार के शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद, और सम्बन्धित भंडारो के बारे में अनुसन्धान, अभिकल्पन और विकास काम से सम्बन्धित है।

रक्षा-धातुकर्म-अनुसन्धान-प्रयोगशाला, हैदराबाद—रक्षा-उपस्करो में उपयोग के लिए धातुओ और मिश्रधातुओ के बारे मे अनुसन्धान और विकास के लिए उत्तरदायी है।

विस्फोटक-अनुसन्धान और विकास-प्रयोगशाला खिडकी, पूना—सभी प्रकार के नोदकों और विस्फोटको के अनुसन्धान और विकास के लिए।

यन्त्र-अनुसन्धान और विकास-स्थापना, देहरादून—सभी प्रकार के प्रकाशिकीय (आप्टिकल), अग्नि-नियन्त्रक, सर्वेक्षण, आरेक्षण और फोटोग्राफी यन्त्रो के अनुसन्धान, अभिकल्पन और विकास के लिए।

प्रमाणन और प्रयोगिक-स्थापना, बालासोर (उडोसा)—हर प्रकार की नौसेना और थलसेना की बन्दूको और गोलाबारूद के बारे में प्रमाणन सम्बन्धी परीक्षण करने के लिए।

रक्षा-अनुसन्धान-विकास-प्रयोगशाला, हैदराबाद—रॉकेटो और विशेष शस्त्रो के स्थानीय उत्पादन के प्रयोजन से अनुसन्धान, अभिकल्पन और विकास का काम हाथ में लेना।

छोर-प्राक्षेपिकी-अनुसन्धान-प्रयोगशाला, चण्डीगढ—विस्फोटको के उत्पादन और छोर प्राक्षेपिकी को समस्याओ का अध्ययन और निपटान करने के लिए।

इलेक्ट्रानिकी और रडार-विकास-स्थापना, बगलौर—सशस्त्र सेनाओ की जरूरतों को पूरा करने के लिए इलेक्ट्रानिकी उपस्कर का अभिकल्पन और विकास करना।

घन-अवस्था-भौतिकी-प्रयोगशाला, दिल्ली—घन अवस्था गोचर सम्बन्धी बुनियादी अध्ययन करती है और घन-अवस्था युक्तियों के सम्बन्ध में विकासकार्य और सामग्री और प्रविधि की पड़ताल करती है।

रक्षा-इलेक्ट्रानिकी-अनुसन्धान-प्रयोगशाला, हैदराबाद—इलेक्ट्रानिकी के क्षेत्र में अनुसन्धान पल्लवित करना ताकि उसके परिणाम रक्षा-उपस्करों के अभिकल्पन और भावी-परास के विकास में अनुप्रयुक्त किया जाय।

अनुसन्धान और विकास-स्थापना (इजीनियर्स), दीघी-पूना—सशस्त्र सेनाओं के लिए विशेष महत्त्व की अनेक इंजीनियरी अनुसन्धान और विकास समस्याओं से सम्बन्ध रखती है।

वैमानिकी-विकास स्थापना बगलौर—विमानों के विभिन्न पक्षों, जैसे वायुगतिकी, विमान ढांचा, उड्डयनिकी, नियन्त्रण-पद्धति, यन्त्रों आदि से सम्बन्ध रखती है।

गैस-टरबाइन-अनुसन्धान-स्थापना, बगलौर—विमान नोदन-पद्धति के अभिकल्पन और विकास से सम्बन्ध रखती है।

वैमानिकी-परीक्षण प्रयोगशाला, कानपुर—वायुसेना और विमान निर्माण डिपो के लिए परीक्षण सुविधायें उपलब्ध करती है।

वैज्ञानिक-मूल्यन-समूह, दिल्ली—शस्त्रास्त्रों और उनसे सम्बद्ध उपस्करों के मूल्यन और अध्ययन से सम्बन्ध रखता है।

रक्षा-अनुसन्धान-प्रयोगशाला (सामग्री) कानपुर—ईंधन, तेल, स्नेहक, सन्नद्ध परत चढ़ान, औषध और भेषज द्रव्य, अकार्बनिक और कार्बनिक रसायन, प्रकृत और संश्लिष्ट रेशे जैसे सभी असग्रामिक भण्डारों और अन्य सामान्य भण्डारों के सम्बन्ध में अनुसन्धान और विकास में संलग्न है।

रक्षा-विज्ञान-प्रयोगशाला, दिल्ली—भौतिकी, रसायन, गणित, संक्रिया-अनुसन्धान, सांख्यकी और सम्बद्ध विज्ञानों में बुनियादी और अनुप्रयुक्त अनुसन्धान में सलग्न है।

रक्षा-प्रयोगशाला, जोधपुर—रक्षा के सम्बन्ध में शुष्क क्षेत्र की समस्याओं के अनुसन्धान और शस्त्रास्त्र और उपस्करों के क्षेत्रीय परीक्षण के लिए।

रक्षा-खाद्य-अनुसन्धान-प्रयोगशाला, मैसूर—सैनिकों की तैनाती वाले क्षेत्रों में मिलने वाली हालतों की विशिष्ट खाद्य समस्याओं पर अनुसन्धान और विकास कार्य से सम्बन्धित है।

नाभिकीय-आयुर्विज्ञान और सम्बद्ध-विज्ञान-संस्थान, दिल्ली—रक्षा के लिए विशेष अभिरुचि वाले क्षेत्रों में रेडियो-समस्थानिक और विकिरण प्रविधियों का अध्ययन, खासकर रेडियो समस्थानिकों और अयनीकरण-विकिरणों का उपयोग विज्ञान और चिकित्सा के प्रयोजनों से करने के लिए।

रक्षा-शरीरक्रिया-विज्ञान और सम्बद्ध-विज्ञान संस्थान, मद्रास—रक्षा की जरूरतों के सम्बन्ध में शरीर-क्रिया-विज्ञान और जीव रसायन में बुनियादी और अनुप्रयुक्त अनुसन्धान कार्य करता है और क्षेत्र अनुसन्धान-केन्द्रों और अन्य रक्षा अनुसन्धान प्रयोगशालाओं द्वारा किये गये शरीर-क्रिया विज्ञान अनुसन्धान का निदेशन और समन्वय करता है।

भारतीय नौसेना-भौतिकी-प्रयोगशाला, कोचीन—पनडुब्बी-रोधी युद्ध के सम्बन्ध में समुद्र-विज्ञान, ध्वानिकी, इलेक्ट्रानिकी आदि के क्षेत्र में अनुसन्धान और विकास का काम करती है।

नौसेना रासायनिक और धातुकार्मिक-प्रयोगशाला, बम्बई—नौसेना के पोतों और उपस्करों को कार्यक्षम और समुद्र गमनयोग्य रूप में सन्धारण करने के लिए वैज्ञानिक मदद देती है।

शस्त्रास्त्र-शिल्पविज्ञान-संस्थान, पूना—सशस्त्र सेनाओं के अधिकारियों और रक्षा-असैनिक-वैज्ञानिकों को शस्त्रास्त्र के विज्ञान और शिल्पविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित करने के लिए।

कार्य-अध्ययन-संस्थान, लण्ढौर, मसूरी—रक्षा मन्त्रालय के अधीन अन्त सेना-संगठनों और रक्षा-सेनाओं के सभी स्तरों के व्यक्तियों को कार्य अध्ययन को रीतियाँ और सम्बद्ध विषयों में प्रशिक्षण देने के पाठ्यक्रम चलाना है।

अग्नि-सेवा-अनुसन्धान,विकास और प्रशिक्षण-स्थापना, दिल्ली छावनी—रक्षा के व्यक्तियों को अग्नि निरोध और अग्नि-शमन रीतियों में प्रशिक्षित करने के लिए।

मनोविज्ञान-अनुसन्धान-निदेशालय, नयी दिल्ली—व्यक्ति चयन रीतियों, प्रशिक्षण-रीतियों के मूल्यन और प्रशिक्षण-सहायक वस्तुओं के विकास कार्य में अनुसन्धान करता है।

मोटर गाड़ी-अनुसन्धान और विकास-स्थापना, अहमदनगर—(इसके कृत्य नाम से ही स्पष्ट है)।

क्षेत्र-अनुसन्धान-प्रयोगशालाएँ और फार्म—विभिन्न जलवायु की स्थितियों में उपस्करों का परीक्षण करने के लिए।

अनुसन्धान विकास संगठन में असैनिक और तीनों सेनाओं के चुने हुए सेना-अधिकारी होते हैं। पिछले, अधिकारियों की संख्या का लगभग २० प्रतिशत होते हैं। इस संगठन को असैनिक वैज्ञानिकों सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने के लिए और उनको समुचित रूप से रक्षा प्रवण बनाने के लिए एक अप्रेंटिसी योजना चल रही है, जिसके अधीन विज्ञान और इंजीनियरी में मान्य योग्यता रखने वाले तरुण विज्ञानविदों और शिल्पविज्ञान विदों को रक्षा अभिनति के साथ बुनियादी और अनुप्रयुक्त विज्ञानों में अवधि विशेष के लिए शिशु (अप्रेंटिस) रखा जाता है, जिसके बाद उनको *रक्षा-विज्ञान-सेवा में लिया जाता है।*

तकनीकी विकास और उत्पादन (वायु)-निदेशालय

किसी वायुसेना की प्रभावी लड़ाकू सामर्थ्य उपलब्ध विमानों की संख्या पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि सन्धारण और मरम्मत की सुविधाओं तथा विमानों और उपस्करों के चालू उत्पादन पर भी निर्भर है। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि देश में यथासम्भव शीघ्र विमानों, वायु-शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद और अन्य सैन्य-भण्डारों का स्थानीय रूप से निर्माण प्रशस्त किया जाय। इस दिशा में, पहले अत्यावश्यक कदम के रूप में, रक्षा मन्त्रालय के सीधे अधीन एक तकनीकी विकास और उत्पादन-निदेशालय (वायु) १ अप्रैल, १९५४ से खोला गया।

निदेशालय का काम वैमानिकी के क्षेत्र में अनुसन्धान और विकास-कार्यकलाप का आयोजन, समन्वयन और कार्यान्विति करना था और साथ ही विमान और सम्बद्ध उपस्करों के स्थानीय निर्माण के ऊपर तकनीकी नियन्त्रण रखना भी था।

वायुसेना-मुख्यालय के तकनीकी-सेवा-निदेशक ने इस नये संगठन के पहले निदेशक का कार्यभार सँभाला। तकनीकी-सेवा-निदेशालय के कुछ पद नये तकनीकी विकास और उत्पादन (वायु)-निदेशालय में भी शामिल कर लिये गये थे।

निदेशालय में वायुसेना के तकनीकी-अधिकारी और असैनिक वैज्ञानिक दोनों ही हैं। पिछले, रक्षा-विज्ञान सेवा से सम्बद्ध हैं।

एक ही केन्द्रीय सङ्गठन में सभी विकास और अनुसन्धान-कार्य को एकीकृत करने की नीति के अनुसार, यह निदेशालय १ जनवरी, १९५७ मे रक्षा-उत्पादन-महानियन्त्रक के अधीन स्थानान्तरित कर दिया गया। जनवरी, १९५८ में यह अनुसन्धान और विकास-सङ्गठन का भाग बन गया, पर दिसम्बर, १९६५ में इसे फिर वहाँ से अलग करके रक्षा-उत्पादन-मन्त्रालय के सीधे अधीन कर दिया गया।

खण्ड ३ रक्षा-उद्योग

(क) आर्डनेंस कारखाने—विज्ञान और शिल्पविज्ञान के क्षेत्र में इतनी ज्यादा प्रगति हो चुकी है कि आजकल किसी सैनिक की कार्य दक्षता उसके अस्त्रों की अग्नि-शक्ति पर ज्यादा निर्भर रहती है। इसलिए एक कार्यदक्ष सेना को न केवल कवायद कराना और भोजन-वस्त्र देना जरूरी है, बल्कि उसे अद्यतन शस्त्रास्त्र से लैस करना होता है और उनमें प्रशिक्षण भी देना होता है। इसलिए किसी देश की रक्षा-योजना में जरूरी अस्त्र-गोलाबारूद का देश ही में उत्पादन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। ऐसा तब और भी जरूरी हो जाता है, जब कोई देश स्वतन्त्र विदेश-नीति अपनाता है और आत्म-निर्भर बनना चाहता है। ३० अप्रेल, १९५० के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद और रक्षा-उपस्करों की सम्बन्धित मदों और विमानों को उन उद्योगों में रखा गया है, जिनका भावी विकास एकमात्र राज्य की जिम्मेवारी होगा।

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले आर्डनेंस कारखाने

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले भारत में छः ऐसे आर्डनेंस कारखाने थे, जो शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद और सम्बन्धित भण्डारों का उत्पादन करते थे और दो आनुषंगिक कारखाने (नामत हारनेस-सैडिलरी कारखाना और वस्त्र कारखाना) थे। आज के रूप में चालू होने वाले आर्डनेंस कारखानों में पहला १८७२ में शुरू हुआ गोलाबारूद का कारखाना था। अगला कारखाना १८८० में शुरू होने वाला हारनेस-सैडिलरी कारखाना था (उन दिनों अश्व-सेना एक महत्वपूर्ण सेनाङ्ग थी)। धातु इस्पात कारखाने ने १९०० में काम शुरू किया। १९०४ में राइफल कारखाना, बार्डाइट कारखाना और तोपगाड़ी कारखाना चालू हुए और अगले साल बन्दूक और गोला कारखाने ने काम शुरू किया। वस्त्र कारखाना इनमें आखीरी था जो १९३० में खुला।

फिर भी ये कारखाने सैन्य-उपकरणों के मामले में भारत को आत्मनिर्भर बनाने के लिए नहीं खड़े किये गये थे। वे ब्रिटेन के रॉयल आर्डनेंस कारखानों के सहायकों के रूप में काम करते थे। फिर भी भारत में उत्पादन छोटे शस्त्रास्त्र और गोले बनाने तक ही सीमित था।

ये कारखाने सेना-मुख्यालय की आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा के आर्डनेंस-कारखाना-निदेशक के प्रशासनिक नियन्त्रण में थे। आ० का० निदेशक मोटे तौर पर घातक शस्त्रास्त्र, भण्डार और वस्त्रों के निर्माण के लिए उत्तरदायी थे। उनको भारत के स्थानीय निर्माताओं से भी सम्पर्क रखना होता था, जिससे स्थानीय उत्पादन का पूरा उपयोग किया जा सके।

युद्ध से थोड़े ही पहले लार्ड चैटफील्ड भारत आये और उन्होंने विद्यमान आर्डनेंस कारखानों का विस्तार करने और आधुनिक शस्त्रास्त्र और गोलाबारूद के निर्माण के लिए नये प्रकार की जरूरी मशीनों-औजारों को संस्थापित करने की सिफारिशें कीं। चैटफील्ड-योजना के फलस्वरूप विभिन्न आर्डनेंस कारखानों के कार्यकलाप में विस्तार हुआ।

युद्धकाल में कारखानों का नियन्त्रण

१९३९ में विश्वयुद्ध शुरू होने से थोड़े ही पहले, भारत सरकार में एक पूर्ति-विभाग युद्ध चलाने के लिए सब प्रकार का जरूरी समान प्राप्त करने के लिए बनाया गया था। आर्डनेंस कारखाने १९४० में, एक युद्धकालीन उपाय के रूप में, उत्पादन के ऊपर निकट का समन्वय और नियन्त्रण रखने की दृष्टि से, पूर्ति-विभाग को स्थानान्तरित कर दिये गये। उस वर्ष जुलाई में ये कारखाने शस्त्रास्त्र-उत्पादन के उप-महानिदेशक के सीधे नियन्त्रण के अधीन रख दिये गये, जो पूर्ति-विभाग में इंजीनियरी-उत्पादन-निदेशक के अधीन थे और जिनका पदनाम शीघ्र ही बदलकर शस्त्रसामग्री (म्यूनिशन) उत्पादन-महानिदेशक कर दिया गया। यह दफ्तर कलकत्ता ले जाया गया, ताकि असैनिक उद्योगों के निकट सम्पर्क में रह सके। आर्डनेंस के मास्टर जनरल, गवर्नर जनरल की परिषद् के पूर्ति-सदस्य के सैन्य सलाहकार बन गये। फिर भी युद्धकाल में वस्त्र कारखाना और हारनेस-सैडिलरी कारखाना पूर्ति-विभाग के वस्त्र-निदेशालय द्वारा नियन्त्रित रहे। आर्डनेंस कारखानों के लेन-देन रक्षा-सेनाओं के हिसाब में आते रहे और सैन्य-वित्त के वित्तीय सलाहकार को वित्तीय-सलाहकार (युद्ध और पूर्ति) बना दिया गया।

१९४० के शरद् में ब्रिटेन के पूर्ति-मन्त्रालय ने एक तकनीकी मिशन भारत भेजा (जिसे उसके अध्यक्ष सर अलेग्जेंडर रोजर के नाम पर रोजर-मिशन कहा गया)। इस मिशन का काम भारत में सशस्त्र सेनाओं के लिए शस्त्रसामग्री और दूसरे भण्डार के उत्पादन का विस्तार करने के लिए उठाये जा सकने योग्य सबसे प्रभावी कदमों के बारे में प्रतिवेदन देना था। इस की सिफारिशों के अनुसार कई विस्तार-प्रायोजनायें, जिनको पूर्वी-समूह-प्रायोजना कहा गया, विद्यमान आर्डनेंस कारखानों में आयोजित की गयी या अमल में लायी गयी। साथ ही आठ नये कारखाने कटनी, अम्बरनाथ, देहरादून, अमृतसर, सिकन्दराबाद, दोहद, लखनऊ और खमरिया में स्थापित किये गये। जापान के युद्ध में शामिल हो जाने के बाद बंगाल में कोई नया कारखाना न स्थापित करने का निश्चय किया और यह भी कि बंगाल के कारखानों में

संस्थापन के लिए आयोजित पूर्वा-समूह प्रायोजना, यदि कोई हो तो, अन्यत्र संस्थापित की जाय। इनको पुन संस्थापित प्रायोजना कहा गया और इसमें तीन और नये कारखाने बनाये गये (नामत आर्डनेंस कारखाना और छोटे-अस्त्र कारखाना कानपुर और आर्डनेंस कारखाना, मुराद नगर)। युद्ध के बाद दो कारखाने (एक लखनऊ का और एक दोहद का) फिर रेलवे को सौंप दिये गये, एक अमृतसर में पंजाब सरकार को, और कलकत्ते का गणित-यन्त्र कारखाना उद्योग और पूर्ति-मन्त्रालय को। कुछ कारखानों को देखभाल और सन्धारण-आधार पर चलाया गया। इस बात पर फिर जोर देना जरूरी है कि युद्धकाल में कारखानों का विस्तार भारत की जरूरतों पर आधारित न होकर साम्राज्य के समग्र युद्ध-प्रयास के पुर्जे के रूप में हो था। युद्धकाल में आर्डनेंस कारखाने तीन पारी के आधार पर और प्राय लगातार काम करते रहे। फलस्वरूप संयन्त्र और यन्त्र काफी घिस-पिट गये और फलत उनका शीघ्र ही बदलाव जरूरी हो गया।

१ अप्रैल, १९४७ से आर्डनेंस कारखानों का नियन्त्रण फिर रक्षा-विभाग को सौंप दिया गया, पर चूंकि उस तारीख से आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा बन्द कर दी गयी थी, उनको सेना-मुख्यालय की सामान्य स्टाफ शाखा के अधीन कर दिया गया। युद्धकाल में पूर्ति-विभाग के वस्त्र-निदेशालय के अधीन चलने वाले वस्त्र कारखाना, हारनेस-सैडिलरी कारखाना और पैराशूट कारखाना भी आर्डनेंस कारखाना-निदेशक के अधीन आ गये।

कारखाने और विभाजन

सत्ता-हस्तान्तरण के समय भारत में अर्डनेंस कारखाना-निदेशक के अधीन १६ आर्डनेंस और वस्त्र कारखाने थे और कलकत्ते का गणित-यन्त्र कारखाना भी। कारखानों में ब्रिटिश और भारतीय असैनिक-जन कर्मचारी थे। मजदूर पूर्णत भारत के ही थे और ज्यादातर स्थानीय रूप से भरती किये जाते थे।

आर्डनेंस कारखानों में उत्पादित सभी सामान का निरीक्षण तकनीकी विकास-निदेशालय के कर्मचारी कर सकते थे, जो कारखानों के सङ्गठन से अलग स्वतन्त्र रूप से काम करते थे। ये कर्मचारी अशत सैनिक और अशत असैनिक थे।

सारे ही आर्डनेंस कारखाने भारत डोमीनियन में स्थित थे। विभाजन सम्बन्धी अध्याय में पहले ही बताया जा चुका है कि पाकिस्तान को आर्डनेंस कारखानों समेत, सभी (अभाज्य) विशिष्ट संस्थाओं के सम्बन्ध में, ५ करोड़ रुपये दिये थे।

जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, तत्कालीन विद्यमान कारखाने भी शस्त्रास्त्र और उपस्करों के बारे में भारत को आत्मनिर्भर बनाने के लिए आयोजित नहीं किये गये थे। भारत में सैन्य-वस्तुओं के सम्बन्ध में कोई भी अनुसन्धान-कार्य नहीं चल रहा था। यह काम क्रमबद्ध रूप में ब्रिटेन में ही चलता था और भारत के कारखानों को तो आकल्प और ड्राइंग मिल जाती थी, जिनके अनुसार उनको अपने निर्माण को आयोजित करना होता था। इसलिए सत्ता-हस्तान्तरण के समय भारत में ऐसा कोई सङ्गठन न था, जो क्रमबद्ध अनुसन्धान का बड़ा ही जटिल कार्य हाथ में लेने के लिए सक्षम हो।

रक्षा-मन्त्रालय के अधीन कारखाने

पहले आर्डनेंस कारखाने केवल सेना की ही जरूरतों को पूरा करते थे। इसलिए यह उचित ही था कि आर्डनेंस कारखाने सेना-मुख्यालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में काम करें। १५ अगस्त, १९४७ के बाद आर्डनेंस कारखानों को तीनों ही सेनाओं की बढ़ती हुई जरूरतें पूरी करनी पड़ीं। इसलिए आगे अब यह उपयुक्त न रहा कि इन कारखानों को तीनों में से किसी एक सेना-मुख्यालय के अधीन रखा जाय। इसलिए आर्डनेंस-कारखाना-निदेशालय को सेना-मुख्यालय की सामान्य स्टाफशाखा से अलग करके १ अप्रैल, १९४८ से रक्षा-मन्त्रालय के सीधे नियन्त्रण में कर दिया गया। उसी तारीख से आर्डनेंस कारखानें के निदेशक के पद की जगह आर्डनेंस के कारखानों के महानिदेशक का पद बनाया गया। रक्षा-मन्त्रालय के निदेशन में, आर्डनेंस कारखानों के महा निदेशक को, आर्डनेंस और वस्त्र कारखानों के उनमें नियोजित व्यक्तियों समेत, सगठन और प्रशासन के लिए और तीनों सेनाओं द्वारा माँगे गये सामान के उत्पादन के लिए और अधिकारियों और कामकरों के प्रशिक्षण के लिए, जिम्मेवार बना दिया गया।

अगस्त, १९४७ के बाद कुछ कारखानों का उत्पादन-कार्यकलाप बिलकुल बदल गया था। उदाहरण के लिए, सेना के यन्त्रीकरण के कारण हारनेस-सैडिलरी की चीजों की माँग बहुत कम हो गयी थी, इसलिए हारनेस-सैडिलरी कारखाना सेना के लिए तरह-तरह की चीजें बनाने लगा और डाक-तार विभाग, पुलिस, रेलवे आदि की जरूरतें पूरा करने के लिए व्यापक मात्रा में असैनिक व्यवसाय-कार्य में लग गया। दूसरे कारखानों में भी अनेक नयी मदों का निर्माण स्थापित कर दिया गया, जिनमें असैनिक व्यवसाय की मदें और पहले विदेश से आयात होने वाली चीजें शामिल थीं। पुरानी, बरबादी वाली व्यर्थ हो गयी कार्यप्रणाली बदल कर, उत्पादन की प्रविधि भी बदल दी गयी। इस परिवर्तन-कार्य में आरम्भ में अनुभवी वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों के चले जाने और अनुभवी मुसलमान कामकरों के पाकिस्तान चले जाने से कुछ कठिनाइयाँ भी हुईं।

आर्डनेंस कारखाना महानिदेशक का कार्यालय कलकत्ते में है। उनकी सहायता के लिए अतिरिक्त, उप और सहायक महानिदेशक है। हर कारखाना एक अधीक्षक के सीधे अधीन है, जिनको अब महाप्रबन्धक कहा जाता है।

राष्ट्रीयकरण

सत्ता-हस्तान्तरण से पहले आर्डनेंस कारखानों सम्बन्धी काम बड़ा गोपनीय माना जाता था और प्रशासनिक और पर्यवेक्षक स्टाफ में प्राय यूरोपीय ही थे। १९३९ में राजपत्रित पदों पर ४४ यूरोपीयों के अतिरिक्त केवल एक ही भारतीय अधिकारी था। १९४७ तक ३४ भारतीय अधिकारी और ८४ यूरोपीय अधिकारी हो गये, लेकिन विभाजन के बाद ८ भारतीय अधिकारी और ५ यूरोपीय पाकिस्तान का चुनाव करके चले गये। सुयोग्य भारतीय पर्यवेक्षक और तकनीकी स्टाफ की भारी कमी के कारण, इन कारखानों को कार्यदक्ष रूप से चलाने की जरूरत को देखते हुए, ब्रिटिश अधिकारियों को मजबूर होकर रोकना पड़ा। लेकिन भारतीयों को ब्रिटिश-अधिकारियों के साथ अध्येता के रूप में लगा दिया गया और उनमें से कई प्रशि-

क्षण के लिए विदेश भी भेजे गये। १९४८-४९ से १९५३-५४ के वर्षों में कारखानों के ७५ भारतीय अधिकारी प्रशिक्षण के लिए ब्रिटेन, अमेरिका, स्विजरलैंड, फ्रान्स, जर्मनी, बेलजियम और इटली भेजे गये। यूरोपीय अधिकारियों की संख्या १९४८ में ७४ से घटाकर १९५६ में ३० कर दी गयी। जो रह गये थे, वे स्थायी थे, जिनमें आखीरी सामान्य क्रम में, १९७४ में सेवानिवृत्त होगा।

आजादी के बाद शस्त्रास्त्र-उत्पादन में कई बातें आत्मनिर्भरता के आड़े आ गयीं। पहले तो ब्रिटेन से जो निर्माण-विशिष्टियाँ प्राप्त होती रहती थीं, अब नये उपस्करों के निर्माण के लिए मिलना बन्द हो गयी। ब्रिटेन भारत को पूरी निर्माण-विशिष्टियाँ और ब्योरेवार ड्राइंग और प्रक्रम-अनुसूचियाँ, ऐसे शस्त्रास्त्र-गोलाबारूद के निर्माण के लिए भेजता था, जिनका निर्माण भारतस्थित आर्डनेंस कारखानों में करना होता था। हालाँकि तकनीकी-विकास निदेशालय का, जो १९४६ में ही आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा में ही बनाया गया था, एक काम यह भी था कि नये उपस्करों के आकल्प भी बनाये, लेकिन उस निदेशालय में कोई भी मौलिक काम नहीं किया जाता था। थोड़े से ही अपवादों को छोड़कर, जो अधिकांशतः वस्त्र और सामान्य भण्डार की चीजों के सम्बन्ध में थे, भारत में शस्त्रास्त्र भण्डार के अनुसन्धान-विकास का कोई भी काम न किया गया था। वस्तुतः इस क्षेत्र में किसी संस्था को प्रोत्साहन भी न दिया जाता था, क्योंकि पूरा विषय ही बड़ा गोपनीय माना जाता था। अत्यन्त प्रवीण कामकरों, ड्राइंग अधिकारियों, आकल्प कर्मचारियों और दर-निर्धारक और अनुमानकर्ता कर्मचारियों की कमी के कारण भी दिक्कतें सामने आयीं। इसलिए कारखानों को काफी विकास और उत्पादन-पूर्व का काम करना पड़ा, ताकि प्राथमिक सिद्धान्तों से ही निर्माणकार्य का श्रीगणेश किया जाय। अत्यन्त प्रवीण व्यक्तियों के अभाव की दिक्कत दूर करने के लिए प्रशिक्षण योजनायें भी तेज की गयीं।

कोई भी देश, जो शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद और अन्य महत्त्वपूर्ण भण्डारों की पूर्ति के लिए विदेशी स्रोतों पर निर्भर है, रक्षा के लिए सुपर्याप्त रूप से तैयार नहीं कहा जा सकता। लेकिन आत्मनिर्भरता प्रायः देश के औद्योगीकरण की हालत पर ही पूर्णतः निर्भर रहती है।

एक कठिनाई और भी है। शान्तिकाल में सशस्त्र सेवाओं की जरूरतें तुलना में बहुत कम होती हैं। इसलिए सारा समय आर्डनेंस कारखाने पूरा उत्पादन कार्य नहीं चला सकते। आर्डनेंस कारखानों के अस्तित्व का प्रमुख आधार लड़ाकू सेना के लिए शस्त्रास्त्र का निर्माण करना है, लेकिन सेनाओं की जरूरतें अनेक कारणों से समय-समय पर बदलती रहती हैं। ये उपस्कर की प्रमाप कम कर देने से कम हो जाती हैं, लेकिन आपात की पूर्वाशा में अगर रक्षित बढ़ाना जरूरी हो जाय, तो ये काफी बढ़ जायेंगी। युद्धकाल में कारखानों की उत्पादन-क्षमता काफी बढ़ा दी गयी थी, लेकिन युद्ध समाप्त होने पर कारखानों से की जाने वाली माँग सहसा कम हो गयी। यदि सरकार लड़ाकू सेनाओं की चालू जरूरतों का ही ध्यान रखती तो कुछ कारखाने बन्द हो गये होते। ऐसा करने से नियोजित मजदूरों की छँटनी भारी पैमाने पर करना जरूरी हो जाता। इसके अलावा बड़े ही जटिल प्रकार के उपस्करों की उत्पादन-प्रविधि जीवित न रह पाती और अनेक वर्षों में प्रशिक्षित, अत्यन्त प्रवीण श्रमिक, कारखानों को फिर

न मिल पाते और जरूरत पड़ते ही उनको वापस लाना सम्भव न हो पाता। किसी अन्य अत्यन्त विशेषीकृत कार्य की तरह शस्त्रास्त्र-गोलाबारूद के उत्पादन की कार्यदक्षता भी लगातार उत्पादन के प्रक्रम द्वारा ही बनायी रखी जा सकती है। इस कारण रक्षा के वृहत्तर हित में यह जरूरी है कि ये कारखाने चलते रहें और यथासम्भव मजदूरों को बनाये रखा जाय और वर्षों में अर्जित प्रविधि और अनुभव व्यर्थ न जाय। इसलिए कारखाने काफी संख्या में असैनिक आदेश स्वीकार करते रहे।

आजादी के बाद के कुछ आरम्भिक वर्षों में आर्डनेंस कारखानों ने भण्डार की कई ऐसी चीजों का बनाना शुरू कर दिया, जिनका पहले आयात किया जाता था। अतएव कारखानों में काम का इस बोझ पूरा-पूरा भार आ गया। धीरे-धीरे परिमाण में सेनाओं की माँग सीमित होती गयी और केवल उन चीजों के लिए ही जिनका विकास करने और निर्माण स्थापित करने में काफी समय लगता था। इसलिए कारखानों के पास काफी अतिरिक्त क्षमता हो गयी, जिसका उपयोग रक्षा-सेनाओं के अलावा अन्य माँग की पूर्ति में किया जा सकता था। आर्डनेंस कारखानों के अधिकांश संयन्त्र तो विशेषीकृत और एक ही उद्देश्य के लिये होते हैं और उनको शान्तिकाल में, जरूरी शस्त्रास्त्र-गोलाबारूद के अलावा, सुविधापूर्वक, उपभोक्ता सामान के उत्पादन के लिए अनुकूलित नहीं किया जा सकता। इन सीमाओं के अधीन, आर्डनेंस कारखानों की सारी क्षमता को, असैनिक जरूरतें पूरी करने के लिए बदल दिया गया। फिर भी सरकारी कारखाने पूर्व स्थापित स्थानीय उद्योगों के साथ न तो स्पर्धा कर सकते थे और न उनकी जगह ही ले सकते थे। इसलिए उत्पादन ऐसी मदों में ही सीमित करना पड़ा जिसके निर्माण के लिए अन्यत्र सुविधायें उपलब्ध न थीं और जिनको आयात करना पड़ता था। सरकार ने जुलाई, १९५३ में आदेश निकाल दिये कि सभी विभागों को अपनी जरूरत की ऐसी चीजें आर्डनेंस कारखानों से ही लेनी चाहिये, जो वे लगभग सामान्य बाजार भाव पर दे सकते हैं। कारखानों द्वारा उत्पादित उपभोक्ता-द्रव्यों का क्षेत्र बढ़ाने के लिए भरसक प्रयास किये गये। १९४९-५० में आर्डनेंस कारखानों में किये गये असैनिक व्यवसाय-कार्य लगभग १५५.३ लाख रुपये के थे, जबकि १९५६ में यह मात्रा बढ़कर ४ करोड़ रुपये हो गयी थी। आर्डनेंस कारखानों द्वारा असैनिक उपयोग के लिए उत्पादित कुछ ज्यादा महत्व की चीजें ये थीं : (एक) इस्पात की ढलाई की चीजें, इस्पात की भारी गढ़ी चीजें, कमानियाँ और मिश्र इस्पात के छर्रे आदि (दो) अलौह चादरें, काट और टलाई की चीजें, (तीन) पक्षीमार बन्दूकें और शिकार की रायफलें (चार) चमड़े और कपड़े की चीजें, (पाँच) वैज्ञानिक और प्रकाशिकी (आप्टिकल) यन्त्र (छः) गणित और सर्वेक्षण के यन्त्र और (सात) रसायन। ऐसे पदार्थों का अधिकाधिक निर्माण स्थापित करके, जिनका कि आयात किया जाता था, यह सम्भव हो गया कि उपयुक्त वैकल्पिक काम बहुत से ऐसे कामकरों के लिए पैदा कर दिया जाय, जिनकी अन्यथा छँटनी करनी पड़ जाती।

रक्षा-उत्पादन के लिए बड़ी ही उच्च प्रकार का सुपुष्ट औद्योगिक आधार अत्यावश्यक होता है। सशस्त्र सेनाओं के लिए विस्फोटक की पूर्ति करने के लिए बड़े प्रगतिपूर्ण रसायन-उद्योग का विद्यमान होना बहुत ही सहायक होगा। बढ़िया-सा वाणिज्य-बेड़ा और सुगठित जहाज-

निर्माण उद्योग नौसेना का मेरुदण्ड होता है। सुविकसित विमान-उद्योग के बाद ही कोई देश एक अच्छी कार्यक्षम वायुसेना रख सकता है और बाहरी निर्भरता के बिना किसी भी आघात का सामना कर सकता है। दूसरे शब्दों मे रक्षा के लिए जरूरी उपस्करों का उत्पादन चलाना और चालू रखना देश में सुविकसित इंजीनियरी और औद्योगिक सम्भाव्यता की पृष्ठभूमि पर ही निर्भर है। इसलिए न केवल जनता का जीवन-स्तर सुधारने के लिए बल्कि देश की रक्षा के लिए भी भारत का औद्योगिक विकास अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

मशीन-औजार आद्यरूप कारखाना

सेना के नये भण्डार के विकास की सुविधायें स्थापित करने की दिशा में, पहले कदम के रूप में, सरकार ने मेसर्स ओर्लिकन मशीन औजार वर्क्स, स्विटजरलैंड के सहयोग से अम्बरनाथ में मशीन औजार आद्यरूप कारखाना आरंभ किया, जिसका काम आद्यरूप शस्त्रास्त्र का आकल्पन, विकास और निर्माण, और उनका परीक्षण और जांच करना था, आद्यरूपों की पूरी ड्राइंग वर्कशाप के लिए बनाना था, जिसमे आर्डनेंस कारखाने अनुमोदित आद्यरूपों का उत्पादन शुरू कर सकें, तथा आर्डनेंस कारखानो के लिए विशेष मशीन-औजारों और आर्डनेंस कारखाने की मानक मशीनो के आकल्प बनाना और उनका निर्माण करना था। इस कारखाने के स्वतन्त्र इकाई के रूप में १ जनवरी, १९५१ को काम शुरू कर दिया। कारखाने की योजना बनाते समय यह माना गया कि सुप्रवीण यथातथ्य कामकरों की कमी भावी विस्तार में बहुत बड़ी बाधा है। इसलिए कारखाने के साथ-साथ, फर्म के साथ ठेका करके, सुप्रवीण कामकरों के और आद्यरूप कारखाने तथा आर्डनेंस कारखानो के काम के लिए उच्च श्रेणी वाले जरूरी प्रवीण और तकनीकी कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए एक कारीगर-प्रशिक्षण-विद्यालय भी खोला गया। विद्यालय ने अक्टूबर, १९५० में काम शुरू कर दिया। संविदा में यह भी व्यवस्था थी कि आद्यरूप कारखाना और विद्यालय चलाने के लिए अपेक्षित भारतीय कामकरों और अधिकारियों को काफी संख्या में स्विटजरलैंड में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जायेगी। औद्योगिक और निवास के भवनो समेत इस योजना की कुल लागत ५ करोड़ रुपये अनुमानित की गयी थी।

यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि अम्बरनाथ के कारीगर विद्यालय के अलावा, प्रवीण कामकरों के प्रशिक्षण की दूसरी योजनायें, जैसे विभिन्न आर्डनेंस कारखानो में खास-कारीगर-प्रशिक्षण-योजना और प्रत्येक आर्डनेंस कारखाने में कामकरों के लिए प्रवीण और अर्धप्रवीण प्रशिक्षण-योजनायें भी चालू की गयी, जिससे प्रवीण व्यक्तियों की कमी के कारण आर्डनेंस कारखानो के कार्यक्षम रूप से चलाने में पैदा हुई दिक्कतें दूर की जा सकें।

गोलाबारूद का कारखाना

मशीन-औजार-आद्यरूप-कारखाने के अलावा, गोलाबारूद के निर्माण में आत्म निर्भरता प्राप्त करने के कार्यक्रम के अंगस्वरूप, एक गोलाबारूद प्रायोजना चलाने के लिए भी कदम उठाये गये। युद्ध के बाद जो कारखाने देख भाल और सम्धारण की स्थिति में ला दिये गये थे, उनको भी उत्पादन के लिए फिर से खोल दिया गया।

वैजयन्त टैंक

आर्डनेंस कारखानो के पुनर्गठन के लिए समिति की नियुक्ति

मूलत. आर्डनेंस कारखाने तदर्थ जरूरतो की पूर्ति के लिए बनाये गये थे और उनमें विस्तार किया गया था। यह जरूरी था कि इन कारखानो को सगठनकार्य-विधि और उत्पादन-रीति की जांच, रक्षा-सेनाओ को सम्भावित मांग का ध्यान रखते हुए, की जाय। तदनुसार सरकार ने २३ जनवरी १९५४ को सरदार बलदेव सिंह, ससद्-सदस्य (भूतपूर्व रक्षा-मन्त्री) की अध्यक्षता में एक समिति बनायी।*

समिति का काम आर्डनेंस कारखानो के कार्यकरण के बारे में प्रतिवेदन देना था, खास-कर असैनिक उपयोग के पदार्थ बनाने के लिए इन कारखानो की बेकार पडी क्षमता का उपयोग करने की सम्भावना के बारे में। समिति ने अपना प्रतिवेदन दिसम्बर, १९५४ मे दिया। समिति का एक निष्कर्ष यह था कि कारखानो के प्रशासन के वर्तमान ढांचे में शीघ्र निर्णय करने की गुजाइश नही है और इसमें इन निर्माण-स्थापनाओ के प्राधिकारियो को सुपर्याप्त शक्ति प्रदान करने की भी व्यवस्था नही की गयी है।

उत्पादन-बोर्ड

समिति की सिफारिश पर सरकार ने एक रक्षा-उत्पादन-बोर्ड स्थापित किया, जिसके अध्यक्ष रक्षा-सगठन-मन्त्री थे।† बोर्ड के कार्य थे: (एक) आर्डनेंस कारखानो मे उत्पादन से सम्बन्धित नीति के तथा अन्य सभी महत्वपूर्ण मामले, जिसका अभिप्राय यह था कि उस समय आर्डनेंस कारखानों के महानिदेशक की शक्तियो मे न आने वाले बहुत से मामलो पर तुरन्त निर्णय लिया जा सके और उनको सरकार को न भेजना पडे, (दो) तीनो सेनाओ और आर्डनेंस कारखानों में अनुसन्धान-विकास, आकल्पन और उत्पादन के कार्यकलाप का समन्वय करना (इस बहुत महत्वपूर्ण काम के लिए पहले कोई व्यवस्था न थी। उपस्करो का उपयोग करने वाली सशस्त्र सेनायें ही बहुत कुछ उसके आकल्पन और विकास के लिए जिम्मेवार थी और तत्पश्चात निर्माण आर्डनेंस कारखानो में किया जाता था। अनुभव ने बताया है कि नये उपस्करो के आकल्पन में निर्माता को काफी आरम्भ की स्थिति से ही साथ रखना चाहिये, ताकि वास्तविक

---

* इसके सदस्य थे: पी० सी० मुकर्जी (महाप्रबन्धक चित्तरंजन लोको वर्क्स), एस० पी० किर्लोस्कर (उद्योगपति) और एस० वैद्य (चार्टर्ड लेखापाल) और इसके सचिव थे एस० जे० दाहने (सहायक महानिदेशक, आर्डनेंस कारखाना)।

† रक्षा-सचिव उपाध्यक्ष थे और सदस्य ये थे: रक्षा-उत्पादन-महानियन्त्रक (एक नवनिर्मित पद), आर्डनेंस के मास्टर जनरल, सेना-मुख्यालय, सामग्री-प्रमुख, नौसेना-मुख्यालय, भारसाधक वायु-अधिकारी, तकनीकी और उपस्कर सेवायें, वायुसेना-मुख्यालय, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के एक वरिष्ठ प्रतिनिधि, आर्डनेंस कारखाना-महानिदेशक, रक्षा-मन्त्रालय के वैज्ञानिक-सलाहकार और एक उप-वैज्ञानिक सलाहकार। एक उप-महानियन्त्रक बोर्ड का सचिव था।

निर्माण-समस्याओं की ओर पुरस्पष्ट ध्यान दिया जा सके। नये उपस्करों का आकल्पन वैज्ञानिक-अनुसन्धान के साथ निकटत सम्बद्ध होना चाहिये। इस तरह वैज्ञानिक, उपभोक्ता और निर्माता के बीच और देश के वैज्ञानिक-अनुसन्धान के साथ काफी निकट का सम्पर्क होना चाहिये। उत्पादन-बोर्ड को रक्षा-विज्ञान-संगठन, तीनों सेनाओं की तकनीकी शाखाओं और आर्डनेंस कारखानों के बीच जरूरी समन्वय का काम भी करना था।) और (तीन) देश के रक्षा-उत्पादन-प्रयास का समन्वय करना, जिसमें असैनिक औद्योगिक क्षमता का निर्माण भी शामिल है, ताकि, जितनी भी किफायत और शीघ्रता के साथ सम्भव हो, रक्षा-भण्डार के मामले में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली जाय।

नीति के तथा अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों के निपटान तो उत्पादन-बोर्ड और महानियन्त्रक को करना था, पर कारखानों का दैनन्दिन प्रशासन आर्डनेंस कारखाना-महानिदेशक और उसके अधीन अधीक्षकों (अब महाप्रबन्धकों) को सौंपा गया। जो शक्तियाँ उत्पादन-बोर्ड और रक्षा-उत्पादन के महानियन्त्रक को प्रत्यायोजित नहीं की गयी थीं, उनको ही आदेशार्थ सरकार के पास भेजना होता था।

रक्षा-मन्त्रालय में अब तक आर्डनेंस कारखानों से सम्बन्धित काम के भारसाधक संयुक्त-सचिव ने, १ नवम्बर, १६५५ से, अपने अन्य विद्यमान कर्तव्यों से अतिरिक्त रूप में, रक्षा-उत्पादन-महानियन्त्रक का कार्यभार भी सँभाल लिया। विभिन्न ब्यौरों को अन्तिम रूप देने से पहले ही उत्पादन-बोर्ड भी बन गया और उसकी पहली बैठक भी १ नवम्बर, १६५५ को हुई। रक्षा-उत्पादन के महानियन्त्रक के मुख्यालय-संगठन ने भी १ मार्च, १६५६ से काम शुरू कर दिया।

समन्वय आदरस्त करने की दिशा में, अगले कदम के रूप में, सेना-मुख्यालय की आर्डनेंस के मास्टर जनरल की शाखा के अधीन चला आने वाला तकनीकी विकास निदेशालय और उसकी अधीनस्थ तकनीकी-विकास स्थापनायें, निरीक्षणालय, प्रयोगशालायें आदि १ जनवरी, १६५६ से रक्षा-उत्पादन-महानियन्त्रक के अधीन कर दिये गये। आगे चलकर १ जनवरी, १६५७ से तकनीकी-विकास और उत्पादन (वायु)-निदेशालय (जो अब तक मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में था) और भण्डार-उत्पादन-निदेशालय (जिसे पहले पहली अक्तूबर, १६५५ में सामग्री-प्रमुख, नौसेना-मुख्यालय के अधीन बनाया गया था) भी रक्षा-उत्पादन-महानियन्त्रक के नियन्त्रण में स्थानान्तरित कर दिये गये।

उसके कृत्य-सम्पादन में रक्षा-उत्पादन-बोर्ड की सहायता तीन समितियाँ करती थीं, जिनकी स्थापना जनवरी, १६५७ में की गयी थी। रक्षा-उत्पादन-सलाहकार समिति का काम असैनिक उद्योगों के साथ प्रभावी सम्पर्क रखना था और इसमें विभिन्न मन्त्रालयों और निजी उद्योगों के प्रतिनिधि थे। रक्षा-उत्पादन के महानियन्त्रक की अध्यक्षता में, रक्षा-उत्पादन और पूर्ति-समिति का काम विदेश से आयात होने वाले रक्षा-भण्डारों का स्थानीय उत्पादन स्थापित करने, कच्चे माल के स्टाक रखने, भण्डार-उत्पादन में पूर्वता तय करने और उत्पादन की बाधायें हटाने के बारे में सिफारिशें करना था। तीसरी समिति रक्षा-अनुसन्धान और विकास-समिति थी, जिसके अध्यक्ष वैज्ञानिक-सलाहकार थे और उसका काम था अनुसन्धान और

विकास-प्रायोजनाओ की जाँच करना और उनमें प्रगति करना, सेनाओ के अनुसन्धान-कार्यक्रम का राष्ट्रीय अनुसन्धान-कार्यक्रम के साथ तालमेल रखना और प्रायोजनाओ की पूर्वता तय करना।

नये शस्त्रास्त्र और नये उपस्कर उत्पादन और पूर्ति-समिति (जो रक्षा-मन्त्री की समिति की एक सहायक के रूप में १९४७ से चली आ रही थी) की जगह पर पहले ही रक्षा-अनुसन्धान और विकास-सलाहकार-समिति बनायी जा चुकी थी। १९५७ के आरम्भ में रक्षा-उत्पादन और पूर्ति-समिति और रक्षा-अनुसन्धान और विकास-समिति की स्थापना के फलस्वरूप, नीचे लिखी समितियाँ और उपसमितियाँ, नामिकायें भंग कर दी गयी—

(क) रक्षा-अनुसन्धान और विकास-सलाहकार-समिति तथा संलग्न-उपसमिति।

(ख) आयात-भण्डार और कच्चा माल-छानबीन की समिति और संलग्न उपसमिति।

(ग) रक्षा-विज्ञान-सलाहकार-समिति और सलग्न उपसमिति।

(घ) रक्षा-खाद्य-सलाहकार-समिति।

आर्डनेंस कारखानो के उत्पादन का निरीक्षण

१९३२ से पहले आर्डनेंस कारखानो के उत्पादनो का निरीक्षण आर्डनेंस-निदेशक (अब पदनाम आर्डनेंस-कारखाना-महानिदेशक), और शस्त्रास्त्र-निदेशक, सेना-मुख्यालय, जिनको बाद में तकनीकी-विकास-निदेशक कहा गया, करते थे, पहले अफसर तो प्रक्रम से प्रक्रम तक का मध्यवर्ती निरीक्षण करते थे, जैसा कि वह ठीक समझते थे, और दूसरे केवल अन्तिम निरीक्षण ही करते थे, (उन मामलो को छोड़कर, जहाँ ऐसे पुरजो का प्रारम्भिक निरीक्षण जरूरी था, जिनका निरीक्षण अन्तिम उत्पादन के समायोजित कर दिये जाने के बाद सम्भव न था।) १९३२ में यह निर्णय किया गया कि शस्त्रास्त्र-निदेशक को मध्यवर्ती निरीक्षण की भी जिम्मेवारी सँभालनी चाहिये। फिर भी, अब भी विभिन्न कारखानो में निरीक्षण की कोई एक रूप की पद्धति न थी। कुछ कारखानो में, मध्यवर्ती निरीक्षण, कारखाने के प्रबन्धकों द्वारा किया जाता था, जब कि कुछ में मध्यवर्ती और अन्तिम दोनो ही निरीक्षण सेनाओं द्वारा किये जाते थे। तकनीकी-विकास-निदेशालय के साथ-साथ निरीक्षण की जिम्मेवारी रक्षा-उत्पादन-महानियन्त्रक के ऊपर आ गयी।

भारतीय आर्डनेंस-कारखाना-सेवा

आर्डनेंस कारखानो के उच्च सेवाधिकारी भारतीय-आर्डनेंस-सेवा (अब भारतीय आर्डनेंस कारखाना सेवा) के होते हैं, जिसका गठन १९५५ में किया गया था। सहायक-निर्माण-प्रबन्धक के कुछ पदो को छोड़कर, जो नीचे के अराजपत्रित कर्मचारियों में से पदोन्नति देकर भरे जाते हैं, अधिकारी, साधारणतः, ब्रिटेन में भारतीय उच्चायुक्त और संघीय-लोक-सेवा-आयोग के जरिये भरती किये जाते थे। भारतीय-आर्डनेंस-सेवा (कारखाना), प्रथम श्रेणी, की जिसका नया नाम अगस्त, १९५५ से भारतीय-आर्डनेंस-कारखाना-सेवा रखा गया, भरती को विनियमित करने वाले नये नियम ५ जून, १९५४ को प्रकाशित किये गये।

१९५७-५८ में किये गये पुनरावलोकन के फलस्वरूप, रक्षा-उत्पादन-बोर्ड की रचना और कृत्यों में कुछ परिवर्तन किये गये। मार्च, १९५६ में बोर्ड का नया नाम रक्षा-मन्त्री की उत्पादन-समिति रख दिया गया। अब समिति मे रक्षा-मन्त्री अध्यक्ष हैं और ये सदस्य है . रक्षा-संगठन-मन्त्री, तीनों सेना-प्रमुख, रक्षा-सचिव, रक्षा-उत्पादन-विभाग के सचिव, रक्षा-पूर्ति-विभाग के सचिव, वैज्ञानिक-सलाहकार, वित्तीय-सलाहकार, आर्डनेंस-कारखाना-महानिदेशक और अनुसन्धान और विकास के मुख्य-नियन्त्रक। इस समिति का काम है देश के रक्षा-उत्पादन प्रयासों को विनियमित करना तथा आर्डनेंस कारखानों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण औद्योगिक प्रायोजनाओं की परीक्षा और अनुमोदन करना।

मई १९६४ में एक नया रक्षा-उत्पादन-बोर्ड बनाया गया, जिसके अध्यक्ष रक्षा-उत्पादन-विभाग के सचिव थे।* इसका काम है (क) रक्षा-उत्पादन की भावी आयोजनाओं (ख) सशस्त्र सेनाओं और आर्डनेंस कारखानों जैसे कार्यपालक संगठनों की उपबन्धन कार्यविधि, जहां तक वह उत्पादन पर प्रभाव डालती है, (ग) कच्चे माल खासकर अतैजिक माल का स्टाक रखने की नीति (घ) रक्षा-सेनाओं के लिए अपेक्षित नयी मदों के उत्पादन को स्थापित करना और (ड) आयातित रक्षा-भण्डार के स्थानीय निर्माण के सम्बन्ध में इसे सौंपे गये प्रस्तावों के बारे में जाँच करना और सरकार के पास सिफारिश करना।

आर्डनेंस कारखानों मे नया उत्पादन

जुलाई, १९५९ में, एक आर्डनेंस कारखाने में, जर्मनी के मेसर्स मान के सहकार से ३ टन के एक ट्रक 'शक्तिमान' का निर्माण स्थापित हो गया। कोमात्सू ट्रैक्टरों का उत्पादन भी आर्डनेंस कारखानों मे स्थापित किया गया। फरवरी, १९६० में जापान की निशान मोटर कम्पनी के सहकार से १-टन के 'निशान' ट्रक के निर्माण की व्यवस्था को अन्तिम रूप दिया गया। १९६१ में मध्याकार टैंकों के निर्माण के लिए आवडी मे एक भारी-गाड़ी-कारखाने को स्थापित करने की मन्जूरी दी गयी। पहला 'वैजयन्त' टैंक इस कारखाने से दिसम्बर, १९६५ में बनकर बाहर निकला। दिसम्बर, १९६१ में आर्डनेंस कारखानों में निशान-गश्त-गाड़ी (८ हुंड्रेड-वेट) के क्रमिक निर्माण के लिए लाइसेंस-करार निष्पादित किया गया।

अक्तूबर, १९६२ के आपात के बाद, उत्पादन के आधार को विस्तृत करने की आवश्यकता को देखते हुए, चालू उत्पादन के दायित्वों को आगे की जरूरतों की आयोजना सम्बन्धी दायित्वों से अलग किया गया। रक्षा-उत्पादन के महानियन्त्रक का पदनाम निरीक्षण और आयोजना-महानियन्त्रक रखा गया और उनको रक्षा-उत्पादन-आधार के विस्तार-कार्यक्रम की आयोजना

---

* वैज्ञानिक-सलाहकार, वित्तीय सलाहकार, आर्डनेंस-कारखाना-महानिदेशक, हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड के प्रबन्धनिदेशक, भारत इलेक्ट्रोनिक्स लिमिटेड के प्रबन्धनिदेशक, आर्डनेंस के मास्टर जनरल (सेना-मुख्यालय) और निरीक्षण-महानिदेशक इसके सदस्य हैं। आयोजना और समन्वय के निदेशक इसके सचिव हैं।

का काम सौंपा गया। पर निरीक्षण-स्थापनाओं पर उनका नियन्त्रण बना रहा। अब नवम्बर, १९६२ में आर्डनेंस-कारखाना-महानिदेशक रक्षा-मन्त्रालय में स्थापित रक्षा-उत्पादन के नये विभाग के साथ सीधे काम करते थे। अगस्त, १९६३ में फिर पुनर्गठन किया गया, जब आयोजना और निरीक्षण के काम विभिन्न अधिकारियों को, नामतः निरीक्षण-महानिदेशक और आयोजना-निदेशक को सौंपे गये।

१९६३ में ७.६२ मिलीमीटर वाली अर्द्धस्वचलित राइफल का, जिसे ईसापुर राइफल कहते थे, निर्माण सफलतापूर्वक स्थापित किया गया। यह वस्तुत: एक महत्वपूर्ण सफलता थी। हलकी मशीनगनों और बोल्टक्रिया राइफलों का रूपभेद भी हाथ में लिया गया, ताकि वे कोर-हीन ७.६२ मिलीमीटर की गोलियाँ चला सकें। अन्य महत्वपूर्ण विकास थे नये भारी मॉर्टर और गोलाबारूद का उत्पादन, जिसका परास लम्बा था, नये प्रकार के टैंक गोलाबारूद, नया टैंकमार गोलाबारूद और विमानभेदी तोपें और गोलाबारूद के उत्पादन की स्थापना।

आवडी में एक नया वस्त्र-कारखाना बनाया गया। सिले वस्त्र बनाने के अलावा, इसने अक्टूबर, १९६३ में, पैराशूट का उत्पादन शुरू कर दिया। चण्डीगढ़ में नये आर्डनेंस-केबुल-कारखाने ने भी सितम्बर, १९६३ में उत्पादन शुरू कर दिया।

छोटे अस्त्र और गोलाबारूद का उत्पादन बढाने के लिए छ नये आर्डनेंस कारखानों की स्थापना आयोजित की गयी। इसमें ये शामिल थे। छोटे शस्त्र गोलाबारूद का कारखाना, वनगाँव (महाराष्ट्र) में जिसके, लिए अतिरिक्त अमेरिकी संयन्त्र उपलब्ध कर दिये गये, गोला बनाने के लिए अम्बाभड़ी में एक कारखाना, तिरुचिरापल्ली में एक छोटे अस्त्र का कारखाना, विस्फोटकों के निर्माण के लिए बुर्ला में एक कारखाना, प्रणोदी (प्रोपेलैंट) बनाने के लिए पानवेल में और चन्द्रपुर में एक-एक फिलिंग कारखाना। नये कारखाने बनाते समय विद्यमान कारखानों में पुराने और घिसे उपस्करों के बदलने के लिए भी कार्रवाई की गयी। वनगाँव वाला कारखाना १५ अक्टूबर, १९६४ को चालू हुआ। भण्डारा में विस्फोटक के उत्पादन के लिए एक कारखाने को, जिसकी आयोजना पहले बन चुकी थी, दिसम्बर, १९६४ में चालू कर दिया गया, अम्बाभड़ी और चन्द्रपुरी के कारखानों पर काम चल रहा है।

पश्चिमी जर्मनी के सहकार से जबलपुर में एक नया मोटरगाड़ी का कारखाना स्थापित किया जा रहा है।

बुर्ला में तीव्र विस्फोटक और पानवेल में प्रणोदियों (प्रोपेलैंटों) के निर्माण वाली प्रायोजनाओं की लागत, २० करोड रुपयों के विदेशी विनिमय को शामिल करते हुए, ६२ करोड़ रुपये अन्दाजी गयी थी, पर उनको फिलहाल रक्षा-आयोजना से निकाल दिया गया है और उनकी जगह, तीव्र विस्फोटकों और प्रणोदियों की जरूरत, स्टाक इकट्ठा करके पूरी की जायेगी, जो कम खर्चीला होगा।

आपात के आरम्भ के बाद आर्डनेंस कारखानों में असैनिक चीजों का उत्पादन कम हो गया। वस्तुत:, शस्त्रास्त्र के घटकों के निर्माण और सामान्य इंजीनियरी भण्डार की चीजों को असैनिक उद्योगों से बनवाने का प्रयास बढ़ाने के लिए, नवम्बर, १९६२ में, रक्षा-मन्त्रालय में ही रक्षा-पूर्ति-विभाग की स्थापना की गयी।

सचिवालय के अलावा, रक्षा-उत्पादन-विभाग में, नीचे लिखे पदाधिकारी आदि संलग्न हैं, जो अपेक्षित तकनीकी सलाह देते हैं और सरकार के निर्णयों के अनुपालन के लिए जिम्मेदार हैं।

(१) आर्डनेंस-कारखाना-महानिदेशक।
(२) निरीक्षण-महानिदेशक।
(३) अनुसन्धान और विकास-संगठन।
(४) आयोजना और समन्वय-निदेशालय
(५) मानकीकरण-निदेशालय।
(६) तकनीकी विकास और उत्पादन (वायु)-निदेशालय।

ख—सरकारी उद्योग-क्षेत्र के उपक्रम

हिन्दुस्तान एयरोनौटिक्स, बम्बई

हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड की स्थापना २३ दिसम्बर, १९४० को बंगलौर में एक निजी लिमिटेड कम्पनी के रूप में ४ करोड रुपयों की अधिकृति पूँजी और ४० लाख रुपयों की प्रदत्त पूँजी के साथ स्थापित की गयी, जिसका आधा, योजना के मूल-प्रस्तावक वालचन्द हीराचन्द ने दिया था और आधा, मैसूर सरकार ने। मार्च, १९४१ में भारत सरकार का उद्योग और पूर्ति-विभाग भी एक साझेदार बन गया और प्रदत्त पूँजी बढाकर ७५ लाख रुपये कर दी गयी। प्रत्येक साझीदार का हिस्सा २५-२५ लाख रुपये था।

कारखाने ने आयात किये गये पुरजों का समायोजन करके विमान बनाना शुरू किया और पहला विमान १९४१ में बना। मार्च, १९४२ में हिन्दु० एय० लिमिटेड को भारत सरकार ने अपने सीधे नियन्त्रण में, एक युद्ध-कारखाने के रूप में चलाने के लिए, अपने हाथ में ले लिया। जून, १९४२ में भारत सरकार ने वालचन्द हीराचन्द समूह के सारे हिस्से खरीद लिये, जिससे कम्पनी भारत सरकार और मैसूर सरकार की संयुक्त कम्पनी रह गयी। युद्धकाल में कम्पनी की शेयर पूँजी ७५ लाख रुपये रही। संचालन के लिये यथापेक्षित पैसा भारत सरकार पेशगियों की तरह व्यवस्था करती रही।

कम्पनी का उद्देश्य आरम्भ में भारत में सरकार के लिए विमानों का निर्माण करना था। जुलाई, १९४२ में यह नीति बदल दी गयी और यह निर्णय किया गया कि सामरिक विमानों, इंजिनों और सम्बन्धित सहायक-यन्त्रों के ओवरहाल और मरम्मत की सुविधाओं का उपयोग किया जाय। भारत-स्थित संयुक्त राज्य-अमेरिकी सैन्य-वायुसेना को निदेशक मण्डल के अध्यक्ष का सलाहकार बनाया गया। उनको ओवरहाल के कार्यक्रम के लिए जरूरी उपस्करों और अतिरिक्त व्यक्तियों और पूर्ति की भी व्यवस्था करनी थी। सितम्बर, १९४३ में चीन, बर्मा, भारत वायुसेना-कमान के कमांडिंग जनरल को युद्धकाल के लिए कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्ता नियुक्त किया गया। १९४३-४५ की अवधि में हिन्दु० एय० लिमिटेड ने विभिन्न प्रकार के १२०० विमानों और ३५०० इंजिनों का ओवरहाल/मरम्मत की, और कई हजार

यन्त्रों और सहायक-सामान की। संयुक्त-राज्य-अमेरिकी, सैन्य-वायुसेना के साथ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता सम्बन्धी करार दिसम्बर, १९४५ में समाप्त कर दिया गया।

युद्ध समाप्त होने पर, कम्पनी ने १ अप्रैल, १९४६ से, अपना काम एक वाणिज्यिक फर्म के रूप में करना शुरू कर दिया। मुख्य काम युद्धकाल के अतिरिक्त, डगलस सी-४७ विमानों के ओवरहाल और परिवर्तन का था। काम का भार कम हो जाने से मजदूरों की संख्या, शिखर काल के १४००० के स्थान पर, जनवरी, १९४६ में, लगभग ४००० रह गयी और लगभग १००० अमेरिकनों में से केवल दर्जन भर ही रह गये।

ब्रिटेन से एक तकनीकी मिशन १९४६ में भारत सरकार को भारत में विमान-उद्योग की स्थापना के बारे में सलाह देने के लिए आया। मिशन ने सिफारिश की कि हिन्दु० एय० लि० इस उद्योग के विकास के लिए सर्वथा उपयुक्त केन्द्र था। मिशन ने यह भी सिफारिश की कि हिन्दु० एय० लि० को विशेषीकृत प्रकार के रेल-सवारी के डिब्बे और सड़क-परिवहन की बॉडियाँ, सहायक उद्योग के रूप में, बनानी चाहिये।

तकनीकी मिशन की सिफारिशों के अनुसार हिन्दु० एय० लि० को एक लाइसेंस-करार के अधीन भारतीय वायुसेना के लिए 'परसीवल' प्रैक्टिस-प्रशिक्षक-विमान के समायोजन और निर्माण का काम सौंपा गया। हिन्दुस्तान एय० द्वारा बनाये गये पहले प्रैक्टिस विमान ने अप्रैल, १९४८ में उड़ान भरी।

मार्च, १९४८ में कम्पनी की शेयर पूंजी १ करोड़ रुपये बढ़ा दी गयी और फिर और अतिरिक्त रकम लगाकर यह १८०.२४६ लाख रुपये कर दी गयी। हिन्दु० एय० लि० में किया जाने वाला अधिकांश काम वायुसेना के लिए था। वायुसेना का विकास और हिन्दु० एय० लि० का विस्तार साथ-साथ जुड़ा हुआ माना गया। इसलिए सरकार ने जनवरी, १९५१ में यह निर्णय किया कि इसका प्रशासनिक-नियन्त्रण उद्योग और पूर्ति-मन्त्रालय से रक्षा-मन्त्रालय को स्थानान्तरित कर दिया जाय। १९५२-५३ में हिन्दु० एय० लि० की शेयर पूंजी २ करोड़ रुपये और बढ़ा दी गयी, ताकि कम्पनी अपनी विभिन्न विकास-आयोजनाओं में पैसा लगा सके। यह पूरी रकम भारत सरकार ने दी थी।

अब इस कम्पनी के कार्य एक निदेशक मण्डल के सर्वोपरि नियन्त्रण में आ गये थे, जिसमें भारत सरकार के पाँच प्रतिनिधि नामित थे, नामत रक्षा-सचिव (अध्यक्ष), चीफ ऑफ एयर स्टाफ, वित्तीय-सलाहकार (रक्षा), जे० आर० डी० टाटा और एक प्रबन्ध निदेशक और मैसूर सरकार का एक प्रतिनिधि। १९५० में विमानों में ओवरहाल और मरम्मत के अलावा हिन्दु० एय० लि० ने विमान-निर्माण का भी कार्यक्रम हाथ में ले लिया। जून, १९५० में एक लाइसेंस-करार के अधीन भारतीय वायुसेना के लिए लड़ाकू 'वैम्पायर जेट' का उत्पादन हाथ में लिया गया।

१९४८ में हिन्दु० एय० लि० में भारतीय मुख्य आकल्पकर्ता के अधीन एक आकल्प और विकास-अनुभाग खोला गया। इस अनुभाग ने बुनियादी प्रशिक्षक विमान, एच० टी० २, का आकल्पन और विकास किया, जिसके पहले आदरूप ने १३ अगस्त, १९५१ को पूरा करने पर, परीक्षण की उड़ान भरी थी। इस विमान ने १९५२ में संचार-मन्त्रालय से वायुवहन योग्यता

का प्रकार-प्रमाण-पत्र प्राप्त किया और उसके बाद विमान का भारी मात्रा में निर्माण शुरू हुआ।

१९४७ में हिन्दु० एय० लि० ने एक सुधर प्रकार के पूर्णधातुक तीसरे दर्जे के ब्रौड गेज के सवारी डिब्बे का निर्माण भारतीय रेलवे के लिए स्थापित किया, जो देश में बहुत लोकप्रिय रहा। साथ ही कम्पनी ने विभिन्न राज्यों और परिवहन-अधिकारियों के लिए पूर्णधातुक इकमंजिली और दुमंजिली बसों की बॉडियों के सामान का भी निर्माण शुरू किया। १९५६ के उत्तरार्द्ध में जर्मनी फर्म मान के साथ हिन्दु० एय० लि० में इकमेल रेल सवारी डिब्बों के निर्माण के लिए एक करार किया गया। इकमेल प्रकार के सवारी डिब्बों के निर्माण के साथ-साथ परम्परागत प्रकार के सवारी डिब्बों का निर्माण कुछ समय तक चलता रहा, जो १९६० में बन्द कर दिया गया।

अप्रैल, १९५१ में कम्पनी का एक शाखा-कारखाना बैरकपुर में विमानों के ओवरहाल और मरम्मत के लिए खोला गया।

१९५६ में सरकार ने ब्रिटेन के मेसर्स फौलैंड एयरक्राफ्ट लिमिटेड के साथ हिन्दु० एय० लि० में नैट लड़ाकू विमानों के निर्माण के लिए करार किया और दूसरा करार मेसर्स ब्रिस्टल एयरो इंजिन लिमिटेड के साथ और आरफियस जेट विमान-इंजिनों के निर्माण के लिए जो शक्ति के लिये 'नैट' विमानों में लगाया जाता है। डा० टैंक के नेतृत्व में जर्मनी से विमान-निर्माण-विशेषज्ञों की एक टीम भारत में आधुनिक विमान के आयोजन और विकास के लिए लगायी गयी। कई भारतीय इंजीनियर भी इस टीम के साथ नियुक्त किये गये।

हिन्दु० एय० लि० द्वारा विकसित एक बहुत हल्के विमान, 'पुष्पक', ने २४ सितम्बर, १९५८ को सफलतापूर्वक उड़ान भरी और उसका भारी संख्या में उत्पादन शुरू हो गया। बुनियादी जेट-प्रशिक्षण विमान का विकास १९६० में शुरू किया गया। उसी साल आरफियस विमान-इंजिनों का निर्माण भी शुरू हो गया।

हिन्दु० एय० लि० द्वारा आकलित और विकसित अनिम्दन जट विमान एच० एफ० २४, एम० के० १ के आद्यरूप ने पहली सफल उड़ान १७ जून, १९६१ को भरी। उसी साल आयातित कच्चेमाल से नैट विमान का निर्माण भी शुरू हुआ और एच० टी० २ का उत्पादन बन्द कर दिया गया। हिन्दु० एय० लि० ने चार सीटों वाले हल्के विमान 'कृषक' का सफल आकल्पन और विकास किया। कम्पनी ने डार्ट आर डा ७ इंजिनों का निर्माण भी ब्रिटेन की फर्म से लाइसेंस-करार करके शुरू किया। यह इंजिन एव्रो-७४८ विमानों में लगाया जाता है, जिसका निर्माण विमान-निर्माण-डिपो, कानपुर में शुरू किया गया।

१९६३ में सरकार ने नीचे लिखी प्रायोजनाओं का निष्पादन हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड को सौंपा (एक) एलौएट हैलीकॉप्टरों का निर्माण सूद एवियेशन के सहकार से और आरटोहस्ट इंजिनों का निर्माण टरबोमेका के सहकार से—दोनों फर्में फ्रान्स की थीं। (दो) भारी मिट्टी हटाने और खनन के उपस्कर सं० रा० अमेरिका की लै टौर्निय वेस्टिंग हाउस कम्पनी के सहकार से और (तीन) ब्रिटेन के हाई ड्यूटी एलौयज लिमिटेड के सहकार से हल्की मिश्रधातु और गढ़ी गयी चीजों का निर्माण। मिट्टी हटाने की भारी मशीनों के

आरम्भिक प्रक्रम का काम, एक अलग लोक-उपक्रम बनने तक, रेल-सवारी-डिब्बा-प्रभाग को सौंपा गया (अब अलग उपक्रम बन गया है, जो मैसूर के कोलार जिले में 'भारत अर्थ मुवर्स लिमिटेड' नाम से बना है)।

पहले दो एच० एफ० २४ विमान (जिनका नाम 'मरुत' रखा गया) हिन्दु० एय० लि० द्वारा निर्मित होकर मई, १९६४ में भारतीय वायुसेना को सौंप दिये गये। बुनियादी जेट प्रशिक्षक ने, जो पहले से विकसित हो रहा था, दिसम्बर १९६४ में आरम्भिक उड़ान भरी और इसका नाम 'किरण' रखा गया।

इस बीच सरकार ने सोवियत सरकार से लाइसेंस करार करके एक इंजिन वाले एम मिग-२१ लड़ाकू विमान के निर्माण के लिए तीन कारखाने स्थापित करने का निर्णय किया था, एक विमान-ढाँचे के लिए नासिक में, दूसरा इंजिन के लिए कोरापुट (उड़ीसा) में और तीसरा इलेक्ट्रोनिक और सम्बद्ध उपस्कारों के लिए हैदराबाद में। अगस्त, १९६३ में एयरोनौटिक्स इंडिया लिमिटेड नाम की एक नयी लोक मर्यादित कम्पनी बनायी गयी, जिसकी जिम्मेवारी इन तीनों कारखानों की स्थापना और प्रबन्ध की थी और उसके लिए २५ करोड़ रुपयों की अधिकृत पूँजी लगायी गयी।

जनसाधन और प्रबन्ध के सीमित संसाधनों के अधिकतम उपयोग को आश्वस्त करने की दृष्टि से मार्च, १९६४ में यह निर्णय किया गया कि विमान और सम्बद्ध उपस्करों का उत्पादन करने के लिए लोक-उद्योग-क्षेत्र का एक ही संगठन होना चाहिये। तदनुसार हिन्दुस्तान एयरक्राफ्टस लिमिटेड और एयरोनौटिक्स इंडिया लिमिटेड का विलय करके 'हिन्दुस्तान एयरोनौटिक्स लिमिटेड' नामक एक नयी कम्पनी १ अक्टूबर, १९६४ से बनायी गयी। ब्रिटेन के हाकर सिडले एविएशन के साथ लाइसेंस-करार करके, विचले परिवहन विमान (एव्रो ७४८) का निर्माण करने के लिये जुलाई, १९५९ में बनाया गया विमान-निर्माण-डिपो, कानपुर भी हिन्दुस्तान एयरोनौटिक्स लिमिटेड के साथ मिला दिया गया। हिन्दुस्तान एयरक्राफ्टस लिमिटेड का रेलकोच प्रभाग १ जनवरी, १९६५ से नवगठित भारत अर्थमूवर्स लिमिटेड के प्रबन्धाधीन स्थानान्तरित कर दिया गया। १९६४ में कानपुर में बने दो एव्रो-७४८ विमान भारतीय वायुसेना के स्क्वैड्रन में शामिल किये गये। कानपुर में एक सीट और दो सीट वाले ग्लाइडर भी बनते हैं। हिन्दुस्तान एयरोनौटिक्स की अधिकृत पूँजी अब ५० करोड़ रुपये है। सारे शेयर भारत सरकार के स्वामित्व में हैं। अब इसका एक पूर्णकालिक अध्यक्ष है। बोर्ड के अन्य सदस्य जो नाम से (पद से नहीं) नामित किये जाते हैं, वे इन पदों के धारी है: रक्षा-उत्पादन-विभाग के सचिव, रक्षा-मन्त्री के वैज्ञानिक-सलाहकार, वित्तीय-सलाहकार (रक्षा), चीफ ऑफ दि एयर स्टाफ, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस बंगलौर के निदेशक और प्रबन्ध-निदेशक।

भारत इलेक्ट्रोनिक्स लिमिटेड, बंगलौर

पहले सशस्त्र सेनाओं द्वारा अपेक्षित अधिकांश विशेषीकृत उपस्कर आयात किये जाते थे। इस उपस्कर की एक श्रेणी सिगनल सम्बन्धी सामान था। इस कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने इलेक्ट्रोनिक उपस्कर के निर्माण के लिए एक कारखाना खड़ा करने का निर्णय किया। एक

फ्रासीसी फर्म (कम्पनी जनरल टेलीग्राफी सा फिल) के साथ ११ दिसम्बर, १९५२ को रेडियो, रडार और इलेक्ट्रोनिक उपस्कर (ब्राडकास्ट और टेलीविजन रिसीवर सैटो को छोड़) का, मुख्यत रक्षा सेवाओ और फिर केन्द्रीय सरकार के अन्य विभागो और राज्य सरकारों के लिए, उत्पादन करने हेतु एक कारखाना खड़ा करने के लिए हस्ताक्षर किये गये। इस प्रकार के उपस्करों की माँग बहुत ज्यादा है। भारत इलेक्ट्रोनिक्स लिमिटेड का पञ्जीयन २१ अप्रैल, १९५४ को केन्द्रीय सरकार द्वारा ही पूर्णत प्रदेय १० करोड़ रुपयो की पूँजी के साथ किया गया। कारखाना वाणिज्यिक आधार पर एक निदेशक-मण्डल के साथ चलाया जाता है, जिसमें छ सरकारी और तीन गैर सरकारी सदस्य है। कम्पनी ने उत्पादन-कार्य दिसम्बर, १९५५ में शुरू किया और शुरू-शुरू में उसने सामान्य-प्रयोजन सचार-रिसीवर और ४०० वाट सम्प्रेपित्र के लिए जरूरी 'टूल' और 'जिग' बनाने का काम हाथ मे लिया। ११६ छात्रो की वार्षिक भरती के साथ एक प्रशिक्षण-विद्यालय भी चलाया गया। कम्पनी में ९०० कर्मचारी थे। यह सख्या क्रमश बढती गयी।

विभिन्न विभागो की तरह-तरह की जरूरतें पूरी करने के लिए समय-समय पर अनेक विदेशी फर्मों के साथ तकनीकी सहकार-करार किये गये, नामत जनवरी १९५६ में पाई टैलो-कम्युनिकेशन्स लिमिटेड, इंगलैण्ड से रक्षा-सेनाओ के लिए जरूरी विशेष उपस्कर के निर्माण के लिए, मई, १९५६ में हालैंड के फिलिप्स कं० के साथ वाल्व बनाने के लिए, अगस्त, १९५६ में मुख्यत रेलवे द्वारा अपेक्षित अत्युच्च बारबारिता वाले बहुप्रणालीय उपस्कर के निर्माण के लिए, अक्टूबर, १९६० में जापान की निप्पन इलेक्ट्रिक कम्पनी के साथ मीडियम तरग वाले प्रसारण-सम्प्रेपित्रो के निर्माण के लिए और १९६२ में टेपरिकार्डर और टेप-डकों के निर्माण के लिए, रडार उपस्करो के निर्माण के लिए स्विटजरलैंड के कौन्ट्रेव्स क० के साथ, सितम्बर, १९६२ में हालैंड के फिलिप्स क० के साथ ट्रांजिस्टरो के निर्माण के लिए और महत्त्वपूर्ण रक्षा-सञ्चार उपस्करो के निर्माण के लिए जर्मनी के साईमेन्स रेडियो और अमेरिका के रेडियो कारपोरेशन के साथ।

भारत इलेक्ट्रोनिक्स लिमिटेड ने स्वय भी इलेक्ट्रोनिक उपस्करों की कई चीजें, उपयत्र और सहायक यन्त्र और उपकरण आकल्पित और विकसित किये हैं, जिनका उत्पादन शुरू हो चुका है और जो रक्षा-सेनाओ, असैनिक विभागो और जनसाधारण को दिये गये हैं। ७० से ऊपर विभिन्न प्रकार के उपस्कर जो छोटे से आकार वालो से लेकर उच्च शक्ति वाले ट्रासमीटरों तक है, और सुन्दर-सुन्दर रडार और वाल्व, ट्रांजिस्टर, कैपेसिटर और क्रिस्टल जैसे अनेक घटक पुर्जे बनाये गये हैं।

जुलाई, १९६३ में रक्षा-मन्त्री के वैज्ञानिक सलाहकार को निदेशक-मण्डल का अध्यक्ष नामित किया गया। इनमें अन्य लोगों के साथ-साथ वित्तीय सलाहकार (रक्षा), रक्षा-उत्पादन-विभाग का एक सयुक्त सचिव, सेना-मुख्यालय के सिगनल्स निदेशक, निरीक्षण महानिदेशक, लघु-उद्योग-निगम के अध्यक्ष, परमाणु ऊर्जा स्थापना के तकनीकी-भौतिकी-प्रभाग के प्रमुख, भारत सरकार के बेतार-सलाहकार और प्रबन्ध-निदेशक भी है।

१९६५-६६ में उत्पादन का कुल मूल्य १० करोड़ रुपये से अधिक रहा।

मझगांव डॉक लिमिटेड, बम्बई

मझगांव डॉक लिमिटेड, बम्बई को, १९३४ के कम्पनी अधिनियम के अधीन, ब्रिटिश इंडिया स्टीम नैविगेशन कम्पनी और यू के की ओरियंटल स्टीम नैविगेशन कम्पनी को प्रमुख शेयरधारी के रूप में रखते हुए, निगमित किया गया। कम्पनी का मुख्य काम पोत-निर्माण और पोतों की मरम्मत था। १९६० में बम्बई की नौसेना गोदी-प्रागण के विस्तार के कारण नौ-सेना-बेडे के सन्धारण के लिए और सुविधायें बढ़ाना जरूरी हो गया। काम की कमी से जो कम्पनी घाटे पर चल रही थी, अपने को बेचने लिए तैयार थी और उसे भारत सरकार के रक्षा-मन्त्रालय ने १६ अप्रैल, १९६० के एक करार के अधीन अपने हाथ में ले लिया।

कम्पनी की अधिकृत शेयर पूंजी २०० लाख रुपये है। हाथ में लेते समय अंशदान में दी गयी पूंजी ६३ लाख रुपये थी। अब यह बढ़ाकर १६८ लाख रुपये कर दी गयी है। कम्पनी द्वारा निर्मित सबसे बड़ा पोत 'मेरेवा' है, जो १५०० टन का सवारी व मालवाही पोत है और इसका निर्माण अन्दमान नीकोबर द्वीपसमूह के लिये १९६४ में पूरा किया गया।

गोआ में एक छोटा सा मरम्मत-यार्ड है, जो १९६३ में किराये के आधार पर इस कम्पनी को सौंप दिया गया।

मझगांव डॉक में विद्यमान सुविधाओं के विस्तार के लिए एक कार्यक्रम ३.५ करोड़ रुपयों की कुल लागत पर अनुमोदित किया गया है। इस कार्यक्रम के पूरे होने के फलस्वरूप पोत-निर्माण और मरम्मत क्षमता में काफी विस्तार हो जायेगा। नवम्बर, १९६४ में ब्रिटिश सरकार भारत सरकार को एक विशेष रक्षा-उधार में ४७ लाख डालर देने को तैयार हो गयी, ताकि तीन 'लीनडर' वर्ग के फ्रिगेट तैयार करने की बाहरी लागत पूरी की जा सके। ब्रिटेन के विकर्स आर्मस्ट्रोंग और यैरो के साथ फ्रिगेट-निर्माण के लिए एक करार २२ दिसम्बर, १९६४ को निष्पादित किया गया और यह काम मझगांव डाक को सौंप दिया गया। पहले फ्रिगेट के १९७१ में पूरे हो जाने की उम्मीद है। रक्षा-उत्पादन-विभाग के सचिव निदेशक-मण्डल के अध्यक्ष हैं और प्रबन्ध-निदेशक के अलावा अन्य सदस्यों में वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के एक अतिरिक्त वित्तीय सलाहकार, रक्षा-मन्त्रालय के एक संयुक्त-सचिव, नौसेना-गोदी-विस्तार-योजना के निदेशक, नौ-सेना-उप-प्रमुख, मेकिन्नन मैकेंजी एण्ड कम्पनी लिमिटेड के प्रबन्ध-निदेशक, भारत के पोत-निगम के प्रबन्ध-निदेशक, हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड के प्रबन्ध निदेशक, निरीक्षण महानिदेशक और गार्डन रीच वर्कशाप लिमिटेड के प्रबन्ध-निदेशक हैं।

गार्डन रीच वर्कशाप लिमिटेड, कलकत्ता

गार्डन रीच वर्कशाप लिमिटेड, कलकत्ता १९३४ में, भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत, ब्रिटेन की ब्रिटिश इंडिया स्टीम नैविगेशन कम्पनी और रिवर स्टीम नैविगेशन कम्पनी को प्रमुख शेयरधारी के रूप में रखते हुए, निगमित किया गया। इसका काम अपने पोतों और जलयानों की मरम्मत और सरविस करना था। कम्पनी भारत सरकार के रक्षा-मन्त्रालय

ने १६ अप्रैल, १९६० के एक करार द्वारा अपने हाथ में ले ली। कम्पनी की सम्पत्ति ६४ एकड के क्षेत्र में फैली हुई है और नदी का सामना भी लगभग आधे मील का है। अधिग्रहण के समय अधिकृत पूंजी ३ करोड रुपये और शेयर अभिदत्त पूंजी ७० लाख रुपये थी। पिछली बढकर अब १०० लाख रुपये हो गयी है।

कम्पनी ने ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, हालैंड और जापान के सुप्रसिद्ध पोत-निर्माताओं के साथ सहकार-करार रखे है और इसने अपने को टग, हलके नौसेना जहाज, नदी स्टीमर, जल नौका, बाज नौका, पौनडूब नौका को शामिल करते हुए उथले आकर्ष वाले जलयानों के आकल्पन और निर्माण में विशेषीकृत बनाया है।

कम्पनी ने जापान की होकेउत्सू कम्पनी लिमिटेड के साथ सुवाइस वायु कम्प्रेशरों के निर्माण के लिए सहकार करार किया है। इसने परकिन्सन डीजल इजिन के साथ काम करके ८-१० टन क्षमता का रोडरोलर का भी आकलन और उत्पादन किया है। मेरीन डीजल इंजिनों के निर्माण के लिए पश्चिमी जर्मनी की मान क० के साथ एक सहकार-करार करने का काम इस कम्पनी को सौंपा गया है।

कलकत्ता बन्दरगाह के कमिश्नरों के अध्यक्ष कम्पनी के निदेशक-मण्डल के अध्यक्ष हैं। प्रबन्ध-निदेशक के अलावा अन्य सदस्य रक्षा-उत्पादन-विभाग के एक संयुक्त सचिव, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के अतिरिक्त वित्तीय-सलाहकार, जयन्ती शिपिंग कम्पनी लिमिटेड के तकनीकी-निदेशक, रक्षा-मन्त्रालय के एक सयुक्त-सचिव, नौसेना-मुख्यालय के सामग्री-प्रमुख, आर्डनेंस कारखानों के महानिदेशक, भारत के पोत-निगम के प्रबन्ध-निदेशक और हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड के प्रबन्ध-निदेशक हैं।

प्रागा टूल्स लिमिटेड, हैदराबाद

प्रागा टूल्स १९४३ में लोक सीमित कम्पनी के रूप में छोटे औजार, नाप के यन्त्र आदि के निर्माण के लिए स्थापित किया गया था। कम्पनी का प्रशासन उद्योग-मन्त्रालय (भारी इजीनियरी विभाग) से, दिसम्बर, १९६३ में, रक्षा मन्त्रालय (रक्षा उत्पादन विभाग) की उपलब्ध क्षमता का उपयोग रक्षा-उत्पादन को करने में समर्थ बनाने के लिए कर दिया गया। कम्पनी मुख्यत छोटे औजार और यथातथ्य यन्त्रों के निर्माण की विशेषज्ञ है। कम्पनी ने औजारों और काटने वाले ग्राइडरों के निर्माण के लिए इगलैंड के जोंस एण्ड शिपमैन और बरमा चकों के निर्माण के लिए इगलैंड के जिअरने और ट्रेकर के साथ सहकार-करार किये हैं।

कम्पनी की अधिकृत पूंजी १.५ करोड़ रुपये है, जो पूरी-पूरी अभिदत्त है। लगभग ५६ प्रतिशत शेयर केन्द्रीय सरकार के हैं, जबकि ३२ प्रतिशत और १२ प्रतिशत, क्रमश, आन्ध्र प्रदेश सरकार और जनसाधारण के हैं। निदेशक-मण्डल में अध्यक्ष के अलावा, रक्षा-उत्पादन-विभाग के एक सयुक्त-सचिव, वित्त-मन्त्रालय (रक्षा) के एक अतिरिक्त वित्तीय सलाहकार, आन्ध्र प्रदेश सरकार के दो अधिकारी और प्रबन्ध-निदेशक हैं।

भारत अर्थ-मूवर्स लिमिटेड, बगलौर

रक्षा की जरूरतों के लिए और बड़ी-बड़ी सिंचाई और बिजली प्रायोजनाओं के लिए

मिट्टी हटाने वाले तरह-तरह के भारी उपस्करों की माँग को दृष्टि में रखते हुए, एक नया कारखाना स्थापित करने का फैसला किया गया और इस प्रयोजन से अमेरिका के ले टोरनियू वेस्टिंग हाउस के साथ अक्टूबर, १९६२ में एक तकनीकी-सहकार करार किया गया। इस बीच यह प्रायोजना हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड, बंगलौर के रेलकोच-प्रभाग द्वारा चलायी जा रही थी। अगस्त, १९६३ में यह तय किया गया कि मिट्टी हटाने के भारी उपस्कर बनाने वाला यह नया कारखाना कोलार के सोना-क्षेत्र में स्थित किया जाय। भारत अर्थ-मूवर्स को बंगलौर में ११ मई, १९६४ को ७.५ करोड रुपयों की अधिकृत पूँजी के साथ पञ्जीबद्ध किया गया। हिन्दुस्तान एयरोनौटिक्स लिमिटेड का रेलकोच-प्रभाग १ जनवरी, १९६५ से इस नयी कम्पनी के साथ मिला दिया गया। आर्डनेंस कारखानों में जो कोमात्सू क्राउलर बनाया जा रहा है, उसे भी भारत अर्थ मूवर्स को स्थानान्तरित कर दिया जायेगा।

निदेशक-मण्डल में एक अध्यक्ष है और प्रबन्ध-निदेशक के अलावा वित्तीय-सलाहकार (रक्षा), केन्द्रीय जल-विद्युत-आयोग का एक सदस्य, सीमा-मार्ग के महानिदेशक, रक्षा-उत्पादन-विभाग के एक संयुक्त-सचिव, मैसूर सरकार के एक मुख्य सचिव और रेलवे-बोर्ड के अतिरिक्त सदस्य (यान्त्रिक) इसके सदस्य है।

बारहवां अध्याय

अन्तः-सेना-सङ्गठन

उन सगठनों का उल्लेख किया जा चुका है जो रक्षा मन्त्रालय के सीधे प्रशासनिक नियन्त्रण में हैं क्योंकि वे तीनों सेनाओं की समान आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इनको अन्त -सेना-सगठन कहा जाता है। सैन्य-भूमि और छावनी-निदेशालय, सैन्य-विनियमों और प्रपत्रों का निदेशालय और भारतीय सैनिक-बोर्ड (अब भारतीय सैनिक, नाविक और वायु सैनिक-बोर्ड), जो पहले भूतपूर्व रक्षा-विभाग के अधीन थे, अब सीधे रक्षा-मन्त्रालय के अधीन हैं। १५ अगस्त, १९४७ के बाद आर्डनेंस कारखाने और जन-सम्पर्क-निदेशालय सीधे मन्त्रालय के अधीन ला दिये गये।

रक्षा-उद्योग, रक्षा-विज्ञान-सगठन (अब अनुसन्धान और विकास-सगठन) और राष्ट्रीय सेनाछात्र-दल को अन्य अध्यायों में लिया गया है। शेष अन्त -सेना-सगठनों की चर्चा मोटे तौर पर इस अध्याय में की जा रही है।

खण्ड—१ सैन्य-भूमि और छावनी-सगठन

सैन्य-भूमि और छावनी-सगठन सैन्य-भूमि और छावनी-निदेशक के अधीन काम करता है और छावनियों के प्रशासन, रक्षा-भूमियों के अधिग्रहण, अभिरक्षा और परित्याग, रक्षा-सेनाओं और अन्य रक्षा-प्रयोजनों के उपयोग के लिए जमीन और भवन किराये पर लेना या अधिग्रहण करना और रक्षा-सेना की जरूरतों से अतिरिक्त होने वाले रक्षा-मन्त्रालय की परिसम्पत्तियों के निपटान के लिए उत्तरदायी है।

छावनी शब्द का शाब्दिक अर्थ है किसी परिचालन (मैन्यूवर) आदि में भाग लेते समय सैनिकों के अस्थायी निवास-गृह। १५० साल से यह शब्द भारत के उन स्थायी सैन्य-केन्द्रों के लिए प्रयुक्त हो रहा है, जहाँ सैनिकों को नियमित रूप से रखा जाता है। फलस्वरूप स्वयं कोश में भी अब यह अर्थ आ गया है कि भारत में छावनी (कन्टोनमेंट) शब्द का अर्थ 'स्थायी सैन्य-केन्द्र' है।

छावनियों का प्रशासन छावनी अधिनियम, १९२४ (१९२४ का संख्या २) के अधीन चलाया जाता है। इस अधिनियम के अधीन, कमानों के जनरल अफसर कमांडिंग इन चीफ, छावनी-बोर्डों के जरिये, अपने क्षेत्र की छावनियों के सैन्य-प्रशासन के नियन्त्रण के लिए जिम्मेदार हैं।

छावनियों का प्रशासनिक ढाँचा

हर छावनी का एक छावनी-बोर्ड होता है, जिसमें पदेन, नामित और चुने हुए सदस्य

होते हैं। स्टेशन का अफसर कमांडिंग पदेन बोर्ड का प्रधान होता है और उपप्रधान चुने हुए सदस्यों द्वारा अपने में से चुना जाता है। असैनिक जनसंख्या के आधार पर छावनियों को तीन श्रेणियों मे वर्गीकृत किया गया है। प्रथम वर्ग की छावनी के बोर्ड में १५ सदस्य होते है, द्वितीय वर्ग की छावनी मे ९, ११ या १३ (असैनिक जनसख्या के अनुसार) और तृतीय वर्ग की छावनी में ३ सदस्य। सभी मामलों में पदेन प्रधान को छोडकर अधिकारियों और चुने गये सदस्यों की संख्या बराबर रहती है। हालांकि चुने गये सदस्यों की तुलना मे अधिनियम के अनुसार नामित सदस्यों से एक का बहुमत होता है, पर छावनी-प्रशासन में लोकतन्त्र लाने की दिशा में एक कदम के रूप में १९५७ से अनुदेश निकाले गये थे कि एक नामित सदस्य की जगह खाली रखी जाय, ताकि चुने गये और नामित सदस्यों की सख्या बराबर रहे। छावनी अधिनियम का सशोधन करके इसे सविहित बना देने का भी विचार है। सदस्यों की पदावधि तीन साल है, पदेन सदस्यों को छोडकर जो उस पद के धारी रहने तक, जिसके कारण सदस्य हैं, बोर्ड के सदस्य बने रहते हैं। जिन बोर्डों में एक से अधिक चुने हुए सदस्य होते हैं उनमें एक उपप्रधान भी होता है, जो चुने गये सदस्यों द्वारा केवल अपने में से चुना जाता है। बोर्ड के दैनन्दिन कार्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा चलाये जाते हैं।

बोर्ड के चुनाव में मत देने के लिए योग्य व्यक्तियों के नाम बताने वाली मतदाता-सूची तैयार करके प्रकाशित कर दी जाती है। छावनी-बोर्डों के लिए होने वाले चुनावों में वयस्क मताधिकार लागू कर दिया गया है। प्रत्येक प्रथम या द्वितीय वर्ग की छावनी मे बोर्ड द्वारा बोर्ड के चुने सदस्यों, स्वास्थ्य अधिकारी और कार्यपालक अधिकारी की एक समिति छावनी के ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन के लिए बना दी जाती है, जिनको असैनिक क्षेत्र अधिसूचित किया जाता है और जिनको पहले बाजार-क्षेत्र कहा जाता था। बोर्ड का उपप्रधान इस समिति का अध्यक्ष होता है। हर छावनी-बोर्ड एक नगरपालिका समिति मान लिया जाता है और बोर्ड, केन्द्रीय सरकार की पूर्वानुमति से, छावनी में ऐसे कर लगा सकता है, जो उस राज्य की किसी नगरपालिका द्वारा लगाये जा सकते हैं, जिसमें कि राज्य स्थित है। छावनी अधिनियम, १९२४ का सामान्य ढाँचा अधिकांश नगरपालिका कानूनों जैसा ही है। इसलिए, हालांकि छावनी-बोर्ड में एक सरकारी प्रधान होता है और कुछ नामित सदस्य, फिर भी चुने गये सदस्यों का, छावनी के प्रमुखत असैनिक क्षेत्रों के प्रशासन में, काफी प्रभाव रहता है।

सैन्य-सम्पदा-अधिकारी

छावनी की भूमियों का प्रबन्ध, (१) छावनी-बोर्डों के प्रबन्ध में सौंपी गयी या उनमें निहित की गयी को और (२) जो रक्षा-सेनाओं के सक्रिय उपयोग में नहीं आ रही उनको छोड़कर, सैन्य-सम्पदा-अधिकारियों के उत्तरदायित्व में आता है। उनको रक्षा-सेनाओं के लिए भूमि-भवन अधिग्रहण करने, किराये पर लेने और अवाप्त करने का, और उनकी जरूरतों से अतिरिक्त हो गयी परिसम्पत्तियों के परित्याग और निपटान का, उत्तरदायित्व भी सौंपा गया है। जहाँ काम के बोझ के कारण जरूरी होता है, वहाँ सहायक-सैन्य-सम्पदा-अधिकारी के उपकार्यालय

भी सैन्य-सम्पदा-अधिकारियों के अधीन बना दिये जाते हैं। जिन क्षेत्रों में किराये पर लेने और अधिग्रहण करने का काम ज्यादा होता है, वहाँ पर इस काम का समन्वय, नियन्त्रण और पर्यवेक्षण एक सहायक-निदेशक द्वारा किया जाता है।

कमानों का ढांचा

कमान-मुख्यालय में एक उपनिदेशक, सैन्य-भूमि और छावनी होता है, जो छावनी बोर्डों के नगर-प्रशासन के लिए जनरल अफसर कमांडिंग इन चीफ का सलाहकार होता है। सैन्य-सम्पदा-अधिकारी कमानों के उपनिदेशकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

मुख्यालय में निदेशक, सैन्य-भूमि और छावनी, छावनी-बोर्ड द्वारा नगर-कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी सभी मामलों में और भूमि के प्रशासन और रक्षा सेनाओं के लिए सम्पत्तियों के प्राप्त करने के बारे में, रक्षा-मन्त्रालय का सलाहकार होता है।

युद्ध से पूर्व और विभाजन के बाद छावनियों की स्थिति

सेना की संख्या और स्थान के अनुसार छावनी क्षेत्र छोड़ दिये जाते हैं और यथावश्यक नये स्थापित कर लिये जाते हैं। फलस्वरूप दूसरे महायुद्ध से पहले पूरे भारत में फैली हुई ७७ छावनियाँ थी। इनमें से २८ उत्तरी कमान के अधीन, २६ पूर्वी कमान के, १७ दक्षिणी कमान के और ६ पश्चिमी जिला के अधीन थी। पिछले में सिंध और बिलोचिस्तान आता था, जो अक्तूबर, १९३८ में पश्चिमी कमान की जगह पर बनाया गया था। युद्ध काल में ४ नयी छावनियाँ बनायी गयीं।

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद भारतीय डोमीनियन में ५६ छावनियाँ थी, जिनमें से १४ पश्चिमी कमान में थी, २७ पूर्वी कमान में और १५ दक्षिणी कमान में।

मुरार छावनी (ग्वालियर) का प्रशासन नवम्बर, १९५१ में ले लिया गया और जम्मू और बादामी बाग की छावनियों का अप्रैल, १९५४ में। बबीना, देहू रोड और अजमेर में नयी छावनियाँ भी बनायी गयी थीं अब भारत में ६२ छावनियाँ हैं।

छावनियों सम्बन्धी केन्द्रीय समिति की नियुक्ति

छावनियों का जन्म विशुद्ध सैन्य शिविरों की तरह हुआ और उनमें बैरकें, भण्डार, शस्त्रागार, हवाई अड्डे, परेड मैदान, सैन्य-मनोरञ्जन मैदान, चाँदमारी, फार्म, भट्टे, अस्पताल, सैनिक उद्यान आदि, और असैनिकों के कब्जे वाले क्षेत्र होते हैं, जिनको 'बाजार-क्षेत्र' कहा जाता है। हाल के वर्षों में असैनिक जनसंख्या भी काफी बढ़ गयी है। अम्बाला, पूना और मेरठ जैसी कुछ छावनियों में असैनिक जनसंख्या ५०,००० से ज्यादा है, जब कि दूसरों में असैनिक जनसंख्या बहुत कम है और छावनियों का सैन्य शिविर वाला पुराना रूप बना हुआ है। छावनियों में असैनिक आबादी के बढ़ने से नगर प्रशासन की अतिरिक्त समस्यायें भी सामने आयीं।

भारत सरकार के स्वास्थ्य-मन्त्रालय द्वारा स्थानीय स्वशासन मन्त्रियों का जो सम्मेलन

७ अगस्त, १९४८ को बुलाया गया था, उसमें छावनी-प्रशासन पर भी चर्चा हुई। सैनिकों की सुरक्षा और स्वास्थ्य के हितों के कारण सम्मेलन ने माना कि जहाँ सैनिक निवास करते हैं, वे क्षेत्र सेना-अधिकारियों के सामान्य नियन्त्रण में रहने चाहिये, पर सम्मेलन ने यह सिफारिश भी की कि केन्द्रीय सरकार छावनी-क्षेत्रों का परिसीमन करने के लिए, और छावनी अधिनियम में संशोधन करने की वाञ्छनीयता के प्रश्न की जाँच करने के लिए, एक समिति की स्थापना करे।

सरकार ने निर्णय किया कि छावनियों की सीमाओं की फिर जाँच होनी चाहिये, ताकि छावनियों को उन असैनिक क्षेत्रों से पृथक् किया जा सके, जिनका सशस्त्र सेनाओं की स्थापनाओं और सैनिकों के साथ कोई सीधा नाता नहीं है या मामूली नाता है और सीमा में ऐसे समञ्जन किये जा सकें, जो प्रशासनिक, सुरक्षा और स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से उपयुक्त हों। १० जनवरी, १९४९ को छावनी सम्बन्धी केन्द्रीय समिति, संविधान-सभा-सदस्य श्री एस० के० पाटिल की अध्यक्षता में, छावनी-क्षेत्रों के परिसीमन और छावनी अधिनियम में संशोधन की वाञ्छनीयता के प्रश्नों की जाँच करने के लिए गठित की गयी।*

केन्द्रीय समिति का प्रतिवेदन

केन्द्रीय समिति ने अपना प्रतिवेदन नवम्बर, १९५१ में प्रस्तुत किया। समिति का विचार था कि छावनियाँ प्रमुखतः सैन्य-केन्द्र हैं, न कि नागरिकों के नगर। असैनिक भाग, जो अनेक मामलों में बहुत छोटे-छोटे थे, वे भी सेना के 'आ जाने के कारण', विशेषकर सेना की जरूरतों के आनुषङ्गिक बनकर ही, खड़े हो गये थे, समिति के विचार में यह वाञ्छनीय था—

> "कि छावनियों को, वस्तुत, निकट भविष्य में, सैन्य-केन्द्र की तरह का, अपना मूल रूप बनाये रखना चाहिये और इसके लिए देश को राजनीतिक, आर्थिक और जन-स्वास्थ्य पक्षों सम्बन्धी वर्तमान वस्तुस्थिति का भी ध्यान रखना चाहिये। सैनिकों में सुरक्षा, अनुशासन और स्वास्थ्य की सन्तोषजनक स्थिति बनाये रखना, जो कार्य दक्षता के लिए जरूरी है, में कोई खतरा नहीं उठाया जा सकता और हमारा विचार है कि छावनी-बोर्डों के प्रशासन का, असैनिक बहुसंख्यकों को स्थानान्तरण, ऐसे प्रतिफलों वाला होगा जो सेना की कार्यदक्षता, उसके स्वास्थ्य और मनोबल के लिए घातक होंगे।"

समिति ने यह भी कहा कि छावनियों में असैनिक जनसंख्या के काफी लोग, प्राय.

---

* समिति के अन्य सदस्य थे : आर० के० रामध्यानी, संयुक्त-सचिव, रक्षा-मन्त्रालय (उपाध्यक्ष), आर० के० सिधवा (संविधान-सभा-सदस्य), बम्बई, युक्त प्रान्त और पंजाब सरकारों के एक-एक प्रतिनिधि, क्वार्टर मास्टर जनरल (सेना-मुख्यालय), सशस्त्र सेना-चिकित्सा-सेवा-महानिदेशक। सैन्य-भूमि और छावनी-निदेशक उसके सचिव थे।

बहुसंख्यक, ऐसे है जो स्थानान्तरण के प्रतिफलो के प्रति आशङ्कित है और स्थिति में कोई परिवर्तन करने के घोर विरोधी है।

समिति इस नतीजे पर पहुँची कि बहुत सी छावनियो में असैनिक क्षेत्रो को काट कर अलग करना या तो भौगोलिक कारणो से सम्भव न था या वह क्षेत्र इतना छोटा था कि, नगर-प्रशासन के उपयुक्त मानको की जरूरत का ध्यान रखते हुए, उनके लिए स्वयं एक अलग स्थानीय निकाय बनाना सम्भव न था। कुछ छावनियाँ विद्यमान नगरपालिकाओ के निकट थी और कुछ मामलो में इनके असैनिक क्षेत्र मिले जुले थे। इन बातो को ध्यान में रखते हुए समिति ने छावनियो को तीन श्रेणियों में बाँटा, नामतः प्रथम श्रेणी, जिनमें सेना की जरूरतो से ज्यादा बहुत से क्षेत्र थे, जो काटकर अलग स्थानीय निकाय बनाये जा सकते थे, दूसरी श्रेणी में वे असैनिक क्षेत्र थे, जो इतने बडे तो न थे कि अलग स्थानीय निकाय बन सकें, पर जिनका पड़ोस के निकाय में विलय किया जा सकता था, और तीसरी श्रेणी में अन्य शेष छावनियाँ। समिति ने सिफारिश की कि तीसरी श्रेणी की छावनियाँ और प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी की शेष छावनियाँ १६२४ के छावनी अधिनियम के अधीन प्रशासित बनी रहनी चाहिये।

इस वर्गीकरण को प्रभावी करने के लिए भारत सरकार ने प्रथम और द्वितीय श्रेणी की सभी छावनियो के लिए काट समितियाँ बना दी, जिनमें सेना कमान के सैन्य-भूमि और छावनी-उपनिदेशक और राज्य-सरकार, सेना-मुख्यालय, छावनी बोर्ड और छावनी के पड़ोस की नगर-पालिका के प्रतिनिधि रखे गये। काट-समितियो ने इस प्रश्न की ब्यौरेवार जाँच की और अपनी सिफारिशें पेश कर दी। राज्य-सरकारो के साथ परामर्श करके और स्थानीय जनता के विचार जानकर, यह निर्णय लिया गया कि कानपुर, अहमदाबाद, बेलगाम, देवलाली, सागर, नैनीताल, फीरोजपुर, खिड़की, मेरठ, पूना, सागर और अम्बाला के मामले में छावनी से कोई क्षेत्र न काटा जाना चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि छावनियो की अधिकांश असैनिक जनता किसी असैनिक क्षेत्र के काट दिये जाने के पक्ष में नही है। हालांकि काट-समिति ने यह सिफारिश की थी कि दिल्ली छावनी से कोई इलाका न काटा जाय, तथापि भारत सरकार ने इस छावनी क्षेत्र से १६४० एकड़ का और ८१६५ की आबादी वाला इलाका अलग कर दिया। यह क्षेत्र पिछले विश्वयुद्ध में छावनी में शामिल किया गया था। काट को अन्तिम रूप देकर अधिसूचना अप्रैल, १६५४ में प्रकाशित कर दी गयी। वास्तविक काट १६५६ में पूरी हुई। तबसे रक्षा की जरूरतों से ज्यादा पाए गए कुछ क्षेत्र आगरा, वाराणसी, झाँसी, इलाहाबाद और अहमदनगर की छावनियों से भी काट दिये गये हैं।

छावनी-प्रशासन का और अधिक लोकतन्त्रीकरण

छावनियों के प्रशासन का और अधिक लोकतन्त्रीकरण करने के लिए भी कदम उठाये गये। छावनी अधिनियम, १६२४ की धारा २७ छावनी विधियाँ (विस्तार और संशोधन) अधिनियम, १६५० द्वारा संशोधित करके वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गयी और, संसद तथा राज्य-विधान मण्डलों की निर्वाचन-व्यवस्था के समान, निवास की योग्यता को बारह महीने से घटाकर छः महीने कर दिया गया। मई, १६५४ में यह निर्णय लिया गया कि छावनी-बोर्डों की शक्ति, असैनिक क्षेत्रों के मामले में (जिन को पहले बाजार-क्षेत्र कहते थे), भवन-

आयोजना और व्यवसाय-लाइसेंसों के बारे में असैनिक क्षेत्र-समितियों को प्रत्यायोजित कर दी जाय। अब असैनिक क्षेत्र-समितियाँ इन शक्तियो का प्रयोग काफी सीमा तक छावनी-बोर्डो से स्वतन्त्र रूप में कर सकती हैं। साथ ही असैनिक क्षेत्रों से इकट्ठा किया गया पैसा यथासम्भव इन क्षेत्रों के निवासियों के लाभ के लिए ही खर्च किया जाना चाहिये। छावनी-बोर्डो को सलाह दी गयी है कि कर-निर्धारण-समितियों में अधिकाश सदस्य गैर सरकारी होने चाहिये और बोर्ड का उपप्रधान ही समिति का अध्यक्ष होना चाहिये। यह आश्वस्त करता है कि मतदाताओ के प्रतिनिधियों को निर्धारण-सूचियों के प्रमाणीकरण के साथ रखा जाता है, जिसमें प्रदेय कर-राशि बतायी जाती है। अगर उपप्रधान किसी समिति का सदस्य होता है, तो वह स्वतः उस समिति का अध्यक्ष हो जाता है। स्टेशन के कमाडिंग अफसर की ३० दिनो तक की अस्थायी अनुपस्थिति में वह छावनी बोर्ड की बैठकों की भी अध्यक्षता करता है।

अब छावनियों को बोर्डों में बाँट दिया गया है और आवश्यक होने पर, छावनी बोर्डों में, उनकी जनसंख्या के अनुसार, अनुसूचित जातियो, जनजातियों के लिए भी जगहे आरक्षित रखी जाती है। छावनी बोर्डो में चुनाव की रीति को भी बहुत कुछ राज्य-विधान-मण्डल/लोकसभा के चुनावो के ही समान कर दिया गया है। अगस्त, १९५७ से सभी प्रथम और द्वितीय श्रेणी की छावनियों में छावनी-बोर्डों में नामित और निर्वाचित सदस्यो के बीच समानता कर दी गयी है।

बासठ छावनियों में से बयालीस आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नही है और फलस्वरूप भारत सरकार को उनको बनाये रखने के लिए काफी अनुदान देना पड़ता है। यह पहले ही निश्चय किया जा चुका है कि वित्तीय सहायता के बारे में कोई अन्तिम सीमा तय नहीं की जायेगी और सरकार को पञ्चवर्षीय-आयोजना-कार्यक्रम में छावनी-बोर्डो से वास्तविक और अनिवार्य कामो के लिए की गयी पैसे की प्रार्थना पर विचार करना चाहिये। वित्तीय सहायता (क) छावनी-बोर्ड के वित्तीय समतोल को बनाये रखने के लिए सामान्य अनुदानों और (ख) छावनी की कल्याण-योजनाओ के वित्तपोषण के लिए विशेष अनुदानों के रूप में विभिन्न छावनी-बोर्डों को तीसरी पञ्चवर्षीय-आयोजना के दौरान दी गयी थी।

१९६४-६५ के दौरान सरकार ने पूर्वोक्त प्रयोजनो से ६५ लाख रुपयो का अनुदान दिया गया। १९६५-६६ में यह रकम ७० लाख रुपयो के लगभग हो जाने की सम्भावना है। सरकार द्वारा छावनियों की असैनिक रक्षा सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने के लिए सरकार ने एक विशेष अनुदान भी मजूर किया है।

पहले छावनियों के हिसाब की लेखा-परीक्षा उस राज्य के महालेखापाल द्वारा की जाती थी, जिसके राज्य-क्षेत्र में छावनी-विशेष स्थित होती थी। १ अप्रैल, १९५१ से यह जिम्मेवारी भारतीय लेखा-परीक्षा और लेखा-विभाग से स्थानान्तरित करके सैन्य-(अब रक्षा) लेखा-विभाग को सौंप दी गयी और अब छावनियों की निधि की लेखापरीक्षा सम्बन्धित रक्षा-लेखा-नियन्त्रक/संयुक्त-नियन्त्रक करते हैं।

केन्द्रीय समिति की सिफारिशों के अनुसार १९२४ का छावनी अधिनियम छावनी (संशोधन) अधिनियम, १९५३ (१९५३ का संख्या २) द्वारा संशोधित कर दिया गया। अब

केन्द्रीय सरकार के लिए यह बाध्यकर हो गया है कि किसी छावनी के पास स्थित किसी स्थानीय क्षेत्र को छावनी के भीतर शामिल करने के या किसी छावनी के भीतर आने वाले स्थानीय क्षेत्र को छावनी से बहिर्गत करने के अपने इरादे की घोषणा करने से पहले, सम्बन्धित राज्य-सरकार से परामर्श कर ले। वस्तुतः ऐसी कारवाई के पहले राज्य सरकारों के साथ पहले भी हमेशा परामर्श किया जाता था, लेकिन तब केन्द्रीय सरकार के लिए ऐसा करना बाध्यकर न था।

किसी अन्य स्थानीय प्राधिकार का सदस्य अब छावनी-बोर्ड के सदस्य के रूप में चुने जाने या नामित होने के लिए अई नहीं रह गया है। 'बाजार-क्षेत्र' के स्थान पर 'असैनिक क्षेत्र' शब्द रख दिये गये हैं, क्योंकि 'बाजार-क्षेत्र' जनता की भावनाओं की दृष्टि से हीन समझा गया था।

असैनिक क्षेत्रों का विस्तार

पिछले कुछ समय से केन्द्रीय सरकार छावनियों के असैनिक क्षेत्रों के विस्तार की बात सोच रही थी, ताकि उन क्षेत्रों के निवासियों को सुविधायें प्रदान की जा सकें। तदनुसार ऐसी सभी छावनियों में तदर्थ समितियाँ बना दी गयीं, जिनमें अधिसूचित असैनिक क्षेत्र थे, जिन से इन क्षेत्रों के विस्तार के बारे में सिफारिशें करने के लिए कहा गया। ६२ छावनियों में से २६ में अधिसूचित असैनिक क्षेत्र नहीं हैं। शेष ३६ छावनियों में से छ में तदर्थ समितियों ने असैनिक क्षेत्रों के विस्तार की कोई सिफारिश नहीं की। इस तरह २७ छावनियों में असैनिक क्षेत्रों के विकास की सिफारिश की गयी (जिन में से तीन हाल में बनायी गयी छावनियाँ थी)। इनमें से अधिकांश के बारे में कारवाई को अन्तिम रूप दिया जा चुका है।

छावनियों में भूमि-नीति

छावनियों में निजी लोगों के कब्जों में जमीन तरह-तरह के भूमि-अधिकारों के अधीन होती है। कुछ "पुराने अनुदान" वाले क्षेत्र हैं। ये बंगाल, मद्रास और बम्बई की प्रेसीडेंसियों की सरकारों द्वारा १७८९ से १८६६ तक के वर्षों में समय-समय पर जारी किये गये नियमों, विनियमों और आदेशों के अधीन दिए गए हैं। फिर १८९९ और १९१२ की छावनी-संहिताओं के अधीन और छावनी-भूमि-प्रशासन-नियम, १९२५ और १९३७ के अनुसार दिये गये पट्टे हैं। देश की बदली हुई परिस्थिति का ध्यान रखते हुए छावनियों की भूमि-नीति का सरकार पुनर्विलोकन कर रही है।

भूमि, किराया और निपटान-सेवा का बनाया जाना

भूमि, किराया और निपटान

युद्ध से पूर्व सशस्त्र सेनाओं के लिए जरूरी भूमि-भवन को किराये पर लेने का प्राथमिक उत्तरदायित्व सैन्य इंजीनियरी सेवा का था, जबकि अवाप्ति का काम छावनी-विभाग (अब सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा) द्वारा किया जाता था। युद्धकाल में १९४४ तक से० ई० सेवा

भूमि-भवन किराये पर लेती रही। भारत-रक्षा-अधिनियम, १६३६ के अधीन सम्पत्तियों का अधिग्रहण या अवाप्ति सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा द्वारा किया जाता था। युद्ध के प्रगति करने पर विभिन्न रक्षा-यूनिटों को जमाने के लिए भूमि की माँग बहुत बढती गयी। फलत' दिसम्बर, १६४४ में सेना-मुख्यालय के क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा के अधीन एक भूमि और किराया-सेवा बनाना बहुत जरूरी हो गया। (१६४५ में युद्ध समाप्त होने पर इसे भूमि, किराया और निपटान-सेवा कहा गया गया)। यह भू० कि० नि० सेवा भारत के सीमा-क्षेत्र के भीतर रक्षा-सेवाओं द्वारा अपेक्षित (अथवा उसकी जरूरतों से ज्यादा हुई) भूमि और भवनों को किराये पर लेने, अधिग्रहण करने (और प्रत्यर्पण या अधिग्रहण-रहित करने) तथा उनसे पैदा होने वाले सब प्रकार के दावों के भुगतान के लिए जिम्मेवार थी। भूमि, किराया और निपटान-सेवा स्थानीय असैनिक अधिकारियों से सीधे बात करती थी और यथावश्यक सैन्य इंजीनियरी-सेवा और सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा से सलाह और सहायता ले लेती थी।

हालांकि आरंभ में यह सेवा बहुत थोड़े से अफसरों से बनी थी, पर फिर यह भूमि किराया और निपटान-सेवा काफी विस्तृत हो गयी और जनवरी, १६४५ में इसका विस्तार चरम सीमा तक पहुँच गया। मुख्यालय में एक महानिदेशक और दो निदेशक थे और प्रत्येक सेना-कमान में एक उपनिदेशक था, हर एरिया में एक सहायक-निदेशक, हर सब-एरिया में एक उप-सहायक-निदेशक और हर जिले या महत्वपूर्ण स्टेशन पर एक एरिया-भूमि-किराया और निपटान-अधिकारी नियुक्त किया गया। चरम अवधि में किराये पर लिये गये या अधिग्रहण किये गये भवनों और भूमियों की संख्या १७,००० तक पहुँच गयी और वार्षिक किराया-दायित्व लगभग ६४५ लाख रुपये हो गया। युद्ध के बाद अधिकांश सम्पत्तियाँ जरूरतों से एक-दम अतिरिक्त होती गयी और उनको यथासम्भव शीघ्रता से उनके मालिकों को लौटा दिया गया। मुख्यालय में महानिदेशक और एक निदेशक का पद समाप्त कर दिया गया और निदे-शालय एक निदेशक के प्रभार में आ गया।

१५ अगस्त, १६४७ को भूमि भवन-निपटान-सेवा सुप्रीम कमांडर के अधीन एक संयुक्त-रक्षा-स्थापना बन गयी और १५ नवम्बर, १६४७ तक इसी तरह बनी रही। पिछली तारीख को भूमि-भवन और निपटान-निदेशालय, जो अब तक क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा का अंग था, रक्षा-मन्त्रालय को स्थानान्तरित कर दिया गया और सैन्य-भूमि और छावनी-निदे-शक साथ-साथ भूमि, किराया और निपटान के भी निदेशक हो गये। अतिरिक्त सम्पत्ति का प्रत्यर्पण करने के लिए और सरकार का वित्तीय दायित्व कम करने के लिए तेजी से कदम उठाये गये। ३० सितम्बर, १६४७ तक जो किराये पर लिये गये भवन न छोड़े जा सके, उनका काम सैन्य-इंजीनियरी-सेवा को स्थानान्तरित कर दिया गया। लेकिन ३० सितम्बर, १६४७ तक छोड़े गये किराये के भवनों के बारे में अन्तिम क्षतिपूर्ति (अर्थात् अधिग्रहण-काल समाप्त होने पर किराये के अलावा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि) के भुगतान का निपटारा तब तक भूमि-किराया और निपटान-सेवा द्वारा किया गया, जब तक कि सभी मामलों का अन्तिम निपटारा न हो गया। १६४८ के मध्य में सैन्य-इंजीनियरी-सेवा को भूमि और भवनों को नये तौर पर किराये पर लेने के लिए भी उत्तरदायी बना दिया गया। इसी तरह नये अधिग्रहण

और अवाप्ति सैन्य भूमि और छावनी-सेवा की जिम्मेवारी हो गया। दिसम्बर, १९४९ में भूमि-किराया और निपटान-निदेशक का पृथक पदनाम सैन्य-भूमि और छावनी-निदेशक के पद के साथ विलय कर दिया गया। कमानों का भूमि-किराया और निपटान-सेवा का काम सैन्य-भूमि और छावनी के उपनिदेशकों द्वारा, अपने कर्त्तव्यों के अलावा, अपने हाथ में ले लिया गया और विभिन्न एरिया और सब-एरिया में सैन्य-सम्पदा अधिकारियों द्वारा।

अतिरिक्त भूमि और भवनों को शीघ्र छोड़ देने पर, इन सम्पत्तियों को कब्जे में रखने के लिए, क्षतिपूर्ति के असंख्य मामले उठ खड़े हुए और उनका शीघ्र निपटारा करने के लिए विशेष कदम उठाने पड़े। सक्रिया के पूर्वी रणक्षेत्र के निकट होने के कारण पश्चिमी बंगाल में यह संख्या बहुत ज्यादा थी। उस राज्य में ऐसे भवनों के अन्तिम क्षतिपूर्ति दावों का आपसी बातचीत द्वारा निपटारा करने के लिए तदर्थ समितियाँ बना दी गयी, जहाँ क्षतिपूर्ति के लिए कुछ प्रस्ताव किये गये थे, पर दावेदारों ने माने न थे और जहाँ वे लोग मध्यस्थ-निर्णायक के पास के मामलों को वापस ले लेने के लिए राजी हो चुके थे। दूसरे राज्यों में विभिन्न सरकारों से अनुरोध किया गया कि तेजी से भुगतान की व्यवस्था कर दें और जिन मामलों में मालिक, कलक्टर के निर्णय को न मानें, मध्यस्थ-निर्णायक नियुक्त कर दिये जायें। पश्चिमी बंगाल में नियुक्त की गयी तदर्थ समिति की जगह पर १६ मई, १९५५ को एक स्थायी समिति बना दी गयी, जिसमें रक्षा और वित्त-(रक्षा) मन्त्रालयों और भूमि-किराया और निपटान निदेशालय के प्रतिनिधि रखे गये। उनका काम क्षतिपूर्ति के शेष दावों का तेजी से निपटारा करना था। बाद में समिति को बिहार, उड़ीसा और आसाम राज्यों के दावों के निपटारे का भी काम सौंपा गया। यह स्थायी समिति भी ३१ मई, १९५६ को समाप्त कर दी गयी, जब इसे सौंपे गये काम का अधिकांश पूरा हो चुका था। क्षतिपूर्ति के दावों का जो थोड़ा-सा शेष काम रह गया था, उसके लिए तदर्थ समिति फिर बना दी गयी। अधिगृहीत, किराये पर ली गयी या अवाप्त की गयी भूमि के बारे में मध्यस्थ-निर्णायक एक अलीपुर में और एक बर्दवान में नियुक्त कर दिये गये।

भूमि-किराया और निपटान-सेवा का समेटा जाना

अधिकांश काम पूरा हो जाने पर अप्रैल, १९५७ में यह तय किया गया कि भूमि-किराया और निपटान-संगठन को समाप्त कर दिया जाय और शेष काम को सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा, क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा और इंजीनियर-इन-चीफ की शाखा के बीच बाँट दिया जाय। फिर अप्रैल, १९६२ में जो शेष काम क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा और इंजीनियर-इन-चीफ की शाखा को स्थानान्तरित किया गया था, फिर सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा को सौंप दिया गया। इस समय लगभग ३५० जमीनें और भवन, जो पिछले विश्व युद्ध के दौरान किराये पर या अधिग्रहण करके लिये गये थे, अब भी रक्षा-सेनाओं के प्रभार पर आधृत हैं।

अक्तूबर, १९६२ में आपात की घोषणा के बाद से, सैन्य-भूमि और छावनी-संगठन के विशेषीकृत अनुभव को ध्यान में रखते हुए, उसे रक्षा-सेनाओं के उपयोग के लिए जरूरी अचल

सम्पत्तियों को किराये पर या अधिग्रहण करके लेने सम्बन्धी कार्यपालक काम के लिए उत्तरदायी बनाया गया। मार्च, १९६६ मे युद्धोतर काल मे किरायेपर ली गयी २८६ भूमियाँ भी, जो उस समय तक सैन्य-इंजीनियरी-सेवा के प्रभार में थी, सैन्य-भूमि और छावनी-संगठन को स्थानान्तरित कर दी गयी।

किराये पर या अधिग्रहण करके ली गयी सम्पत्तियो को, क्वार्टर मास्टर जनरल की अन्त सेना-समिति-द्वारा, निरन्तर समीक्षा चलती रहती है, जो सम्पत्तियो को छोड़ देने या आगे रखे रहने के बारे में सरकार के पास अपनी सिफारिशें भेजती है।

इसके अलावा रक्षा-स्वामित्व वाली, किराये पर ली गयी, और अधिगृहीत सम्पत्तियो के सम्बन्ध में आकड़े इकट्ठे और सकलित करने के लिए एक विशेष टीम भी बनायी गयी है, जिसका अन्तिम लक्ष्य यह है कि सरकार यह निर्णय करने में समर्थ हो सके कि इनमें से कौन सी सम्पत्तियों को स्थायी रूप से रखा जाना चाहिये और कौन सी छोड़ दी जानी चाहिये।

सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा

१९३७ तक एक छावनी-विभाग चला आ रहा था, जिसका पुनर्गठन १ अप्रैल से एक भूमिशाखा और छावनी-कार्यपालक-अधिकारी-सेवा में किया गया। भूमि-शाखा में काम करने वाले अधिकारी, सैनिक अधिकारी थे, पर असैनिक सेवा में माने जाते थे। वे एक केन्द्रीय सेवा बनाते थे। छावनी-कार्यपालक-अधिकारी-सेवा में भरती संघीय लोक-सेवा-आयोग के जरिये की जाती थी। पूर्वोक्त पुनर्गठन के बाद भूमि-शाखा में कोई भरती न की गयी और बाकी सभी रिक्त स्थान छावनी-कार्यपालक-अधिकारी-सेवा के अधिकारियों में से चयन करके भरे गये।

१९४७ के आरम्भ में भूमि शाखा में १३ ब्रिटिश और १३ भारतीय अधिकारी थे। सारे वरिष्ठ पदो पर ब्रिटिश अधिकारी थे। पर छावनी-कार्यपालक-अधिकारी-सेवा में ६७ में से ६५ नियुक्तियो पर भारतीय अधिकारी थे।

यह मामला १९४७ में सशस्त्र-सेना-राष्ट्रीयकरण-समिति के सामने आया और फलस्वरूप दोनों सेवाओं को मिलाकर एकीकृत सेवा बना दी गयी। मिली-जुली सेवा का नाम सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा रख दिया गया। समिति की सिफारिश पर १९४७ में यह भी निर्णय किया गया कि सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा का तत्काल राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और भविष्य में इस सेवा में केवल असैनिकों को ही प्रवेश दिया जाय।

नयी सेवा के नियम, जिनको सैन्य-भूमि और छावनी-सेवा (प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी) नियम, १९५१ कहा गया, १७ फरवरी, १९५१ से प्रभावी हुए। इन नियमो के अनुसार इस सेवा में सीधी भरती अन्य केन्द्रीय सेवाओं की तरह संघीय-लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली गयी एक संयुक्त-केन्द्रीय- सेवा-परीक्षा के परिणाम पर की जाती है।

खण्ड २—सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवायें

तकनीकी प्रशिक्षण के साथ सशस्त्र सेनाओं की कार्यदक्षता में स्वास्थ्य भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। फिर भी इन सेनाओ की स्वास्थ्य की समस्यायें और अपेक्षित स्वास्थ्य का मानक

असैनिक-जीवन वाले लोगों से भिन्न हैं। इसीलिए सभी देशों की सशस्त्र सेनाओं में सैन्य-चिकित्सा-सेवा अलग से गठित की जाती है।

तदनुसार भारत की सेना की भी अपनी अलग चिकित्सा सेवा रही है, जिसका नाम "भारतीय चिकित्सा-सेवा" था और जो १७६३ में शुरू हुई थी। सेना के विस्तार के साथ, जिसमें भारतीय सिपाहियों की टुकड़ी का विस्तार भी शामिल था, चिकित्सा-सेवा का भी विस्तार करना पड़ा। भारतीयों को भारतीय-चिकित्सा-सेवा में पहली बार १८६० में लिया गया और १९२२ में एक भारतीय और दो यूरोपीय का अनुपात तय किया गया। एक सहायक सेवा, जिसका नाम था भारतीय-चिकित्सा-विभाग, भी बनायी गयी, जिसमें एक ब्रिटिश संवर्ग था और एक भारतीय। पहली ब्रिटिश अधिकारियों और अन्य पदधारियों वाले अस्पतालों में सेवा के लिए थी और दूसरी भारतीय सैनिकों वाले अस्पतालों में। भारतीय सैनिकों के परिवार चिकित्सा-उपचार के पात्र न थे।

भारतीय-चिकित्सा-सेवा के अधिकारियों के अलावा रॉयल आर्मी मेडिकल-कोर के अधिकारी भी भारत की सेना के साथ, पदावधि के आधार पर, काम कर रहे थे। वे ब्रिटिश सैनिकों और उनके परिवारों की चिकित्सा सम्बन्धी जरूरतों की देखभाल करते थे। रॉयल आर्मी डेंटल-कोर और क्वीन अलेग्जेंड्रा की इम्पीरियल नर्सिंग सर्विस के भी अधिकारी थे और रॉयल आर्मी मेडिकल-कोर और रॉयल आर्मी डेंटल कोर के अन्य पदधारी भी थे जो ब्रिटिश अधिकारियों, अन्य पदधारियों और उनके परिवारों की विभिन्न अस्पतालों में देखभाल करते थे।

ब्रिटिश और भारतीय सैन्य-अस्पताल अलग-अलग थे और अधिकांश स्टेशनों में पहले के भवन आदि पिछले वालों के से ज्यादा अच्छे थे। भारतीय-चिकित्सा-सेवा असैनिक और सैनिक जरूरतों के लिए एक मिली-जुली सेवा थी। अधिकारियों को पहले सैन्य-स्कन्ध में कमीशन दिया जाता था और उस स्कन्ध में स्थायी हो जाने के बाद उनको असैनिक-स्कन्ध में जाने का विकल्प मिल जाता था। असैनिक-स्कन्ध में नौकरी पर भी बुलाये जाने पर वे सेनाओं में काम करने के दायित्व से बंधे रहते थे।

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले रायल इण्डियन नेवी या भारतीय वायुसेना के लिए अलग चिकित्सा-सेवायें न थीं। भारतीय-चिकित्सा-सेवा के कुछ अधिकारी और भारतीय चिकित्सा-विभाग के कुछ अधिकारी चिकित्सकीय कर्त्तव्यों के लिए नौसेना के साथ संलग्न कर दिये जाते थे और ये तैनातियाँ भारत की चिकित्सा-सेवाओं के निदेशक करते थे। भारतीय वायुसेना में भारतीय-चिकित्सा सेवा का कोई अधिकारी संलग्न न था और उसका चिकित्सकीय कार्य रॉयल एयरफोर्स के चिकित्सा-अधिकारियों (ब्रिटिश सेवा) द्वारा देखा जाता था। युद्ध शुरू हो जाने और वायुसेना का विस्तार होने पर, आवश्यकतानुसार भारतीय-चिकित्सा-सेवा के अधिकार समर्पित करके वायुसेना में भेजे जाने लगे।

१९४१ में जब चिकित्सा अधिकारियों की माँग भारतीय-चिकित्सा-सेवा में उपलब्ध जनशक्ति से कहीं ज्यादा बढ़ गयी, तो ४० साल से कम आयु के असैनिक डाक्टर और आई० एम० डी० के ब्रिटिश संवर्ग के अधिकारियों को भारतीय-चिकित्सा-सेवा में आपात कमीशन के

लिए पात्र मान लिया गया। फिर भी सेना के लिए चिकित्सा-अधिकारियों की माँग पूरी नहीं हो सकी और १९४३ में भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर नामक एक नयी कोर बनानी पड़ी। भारतीय-चिकित्सा-सेवा के सभी अधिकारियों को भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर में अध्यारोपित कमीशन दिये गये और भारतीय-आपात-कमीशन-प्राप्त अधिकारी भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर के लिए समर्पित किये गये। भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर में आपात-कमीशन असैनिक डाक्टरों को उपलब्ध कर दिये गये। इस तरह १९४३ के बाद सभी चिकित्सा-अधिकारियों को भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर में कमीशन दिये गये और उनको यथावश्यक नौसेना और वायुसेना में कमीशन-प्राप्त सेवा के लिये समर्पित किया गया। इस तरह एक प्रकार की एकीकृत चिकित्सा-सेवा का जन्म हुआ, हालाँकि तीनों सेनायें अपनी-अपनी चिकित्सा सम्बन्धी जरूरतों की देख-भाल स्वतन्त्र रूप से करती थी। युद्ध के अन्त में रॉयल इंडियन नैवी के फ्लैग अफसर कमांडिंग को सलाह देने के लिए एक प्रमुख चिकित्सा-अधिकारी आर० आई० एन० था और रॉयल इंडियन एयर फोर्स के एयर मार्शल कमांडिंग को सलाह देने के लिए प्रमुख चिकित्सा-अधिकारी (वायु मुख्यालय) था। चिकित्सा-सेवा-निदेशक थल-सेना की जरूरतों की देखभाल करते रहे।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अतिरिक्त माने गए अधिकारी सेवामुक्त कर दिये गये और आपात-कमीशन-प्राप्त चुने हुए अधिकारियों को भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर में स्थायी-कमीशन प्रदान किये गये।

१५ अगस्त, १९४७ को भारतीय-चिकित्सा-सेवा समाप्त कर दी गयी। सशस्त्र सेनाओं में काम करने वाले इस सेवा के अधिकारी भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर में स्थानान्तरित कर दिये गये और असैनिक पदों पर काम करने वालों को या तो केन्द्र-सेवा में वापस आकर, भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर में स्थानान्तरित हो जाने का या केन्द्रीय राज्य-सरकारों के विवेकानुसार असैनिक पदों पर ही स्थायी रूप से रह जाने का विकल्प दे दिया गया। भारतीय-चिकित्सा-सेवा के जो अधिकारी सैनिक काम में लगे थे, उनको भारतीय-सेना-चिकित्सा-कोर के नियमित अधिकारी मान लिया गया। भारतीय-सेना-चिकित्सा-सेवा का पूरी तरह भारतीय-करण कर दिया गया और सभी ब्रिटिश अधिकारी और अन्य पदधारी पेंशन या उपदान पा कर चले गये।

राय-समिति

युद्ध के बाद जब शान्ति स्थिति में सेना के पुनर्गठन पर विचार चल रहा था तो यह सुझाव दिया गया कि सशस्त्र सेनाओं की चिकित्सा-सेवाओं को एकीकृत कर दिया जाए। फरवरी, १९४७ में सरकार ने सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवायें और अनुसन्धान-एकीकरण-समिति नियुक्त की जिसके अध्यक्ष डा० बी० सी० राय थे।* समिति का काम भारत की सशस्त्र

* समिति में तीन गैरसरकारी सदस्य थे, नामतः डा० ए० एस० एरड़कर, कर्नल रामनाथ चोपड़ा और कैप्टेन पी० बी० मुकर्जी, और छः सरकारी सदस्य थे, नामतः भारत की चिकित्सा-सेवाओं के निदेशक (सेना); महानिदेशक, भारतीय-

सेनाओं के लिए एक एकीकृत-चिकित्सा-सेवा स्थापित करने और तीनों सेनाओं में चिकित्सा-अनुसन्धान को एकीकृत करने की वाछनीयता और सम्भावना पर विचार करना और प्रतिवेदन देना था और यह भी प्रतिवेदन देना था कि सशस्त्र सेनाओं की एकीकृत-चिकित्सा-सेवा का सामान्य रूप क्या हो। समिति ने अपना अन्तिम प्रतिवेदन अगस्त, १९४७ के आरम्भ में दिया।

समिति ने थलसेना, नौसेना और वायुसेना की चिकित्सा-सेवाओं के एकीकरण और समूची सशस्त्र सेनाओं के लिए एक एकीकृत-चिकित्सा सेवा की स्थापना की सिफारिश की। इसका विचार था कि सशस्त्र सेनाओं के लिए चिकित्सा-अनुसन्धान का भी एकीकरण करके वह एक केन्द्रित जगह पर चलायी जाय, जहाँ पर सम्बद्ध विज्ञानों में अनुसन्धान का वातावरण हो। वस्तुत उस समय तक भारत में कोई भी उल्लेखनीय तन्त्र सशस्त्र सेनाओं की चिकित्सा-समस्याओं पर अनुसन्धान-कार्य चलाने के लिए था ही नहीं।

समिति ने यह भी सिफारिश की कि सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा की तीन शाखायें होनी चाहिये, नामत थलसेना, नौसेना और वायुसेना। सेवा में भरती के तुरन्त बाद चिकित्सा-अधिकारी का प्रशिक्षण एक केन्द्रीयकृत संस्था में थोड़े समय के लिए दिया जाय, ताकि वह तीनों सेवाओं के लिए समान बुनियादी प्रशिक्षण प्राप्त कर ले। प्रशिक्षण पूरा करने के बाद उसे तीनों में से एक सेना में लगाया जाय, जिसके लिए सेना-विशेष की जरूरतों और व्यक्ति की इच्छा का ध्यान रखा जाय। वहाँ पर वह कई साल तक काम करे। सेवाकाल में उसे शेष दो सेनाओं में भी थोड़े-थोड़े समय के लिए सुविधाजनक अन्तर के बाद जाना होता था, ताकि जब तक वह ज्यादा वरिष्ठ हो, उसे तीनों सेनाओं के कार्य और चिकित्सकीय प.ों का अनुभव हो जाय। कुछ सेवाकाल के बाद एक चिकित्सा-अधिकारी को सेना की व्यवसाय-गत या अनुसन्धान-शाखाओं में से एक को चुन लेना होता था या विशुद्ध प्रशासनिक शाखा को। जो चिकित्सा-अधिकारी व्यवसाय में ही रह जाना चाहते थे, वे बड़े संयुक्त-अस्पतालों में परामर्श-दाता और विशेषज्ञ के रूप में काम करते थे, जहाँ थलसेना, नौसेना और वायुसेना के विभिन्न प्रकार के रोगों से पीड़ित रोगी उपचार के लिए भरती किये जाते थे। यह भी वाछनीय समझा गया कि तीनों सेनाओं के विशेषज्ञ भी उसी क्षेत्र में काम करें, ताकि वे भी प्राय यथावश्यक परस्पर परामर्श और विचार-विनिमय कर सकें।

समिति का यह भी विचार था कि भारत की सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवाओं का एक महानिदेशक होना चाहिये, जो आवश्यकतानुसार रक्षा-मन्त्री या, सशस्त्र सेनाओं का नियन्त्रण करने वाले सर्वोच्च कमाडर को, सशस्त्र-सेनाओं की चिकित्सा सम्बन्धी जरूरतों के बारे में

चिकित्सा-सेवा, रॉयल इंडियन नेवी के प्रधान चिकित्सा-अधिकारी, वायु-मुख्यालय (भारत) के प्रधान चिकित्सा-अधिकारी, भारतीय-सेना-चिकित्सा-सेवा के उप-निदेशक (जो भारतीय-चिकित्सा-सेवा में एक वरिष्ठ अधिकारी थे)। लेफ्टी० कर्नल एस० पी० भाटिया, भारतीय चिकित्सा-सेवा भारतीय-सेना चिकित्सा-सेवा इस समिति के सचिव थे।

सलाह दे। वह भारत की सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवाओं का प्रशासन-प्रमुख होगा। सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा (प्रशासनिक और व्यवसायिक दोनों) की तीनों शाखाओं के प्रमुखों की एक सलाहकार-समिति भी महानिदेशक को मदद और सलाह देने के लिए बनायी जानी चाहिये।

जैसी कि समिति ने सिफारिश की थी, एकीकृत-चिकित्सा-सेवा के संगठन और प्रशासन के ब्यौरे तैयार करने के लिए, सेवा के सदस्यों, नामत. चिकित्सा-सेवा-निदेशक, थलसेना, प्रधान चिकित्सा-अधिकारी, रॉयल इंडियन नेवी और प्रधान चिकित्सा-अधिकारी वायु-मुख्यालय (भारत), की एक उपसमिति बना दी गयी।

१९४८ के आरम्भ में सरकार ने प्रतिवेदन पर विचार किया और सामान्यत. इसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। अगस्त, १९४८ में महानिदेशक, सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवाओं का पद लेफ्टी० जनरल के ओहदे में स्वीकृत किया गया। निदेशालय के लिये केन्द्रीय स्टाफ भी स्वीकृत किया गया। प्रधान चिकित्सा-अधिकारी, रॉयल इंडियन नेवी और प्रधान चिकित्सा-अधिकारी, वायु-मुख्यालय (भारत) में पदनाम बदलकर, क्रमश, निदेशक, चिकित्सा-सेवा आर० आई० एन० और निदेशक, चिकित्सा-सेवा, आर० आई० ए० एफ० कर दिये गये। महानिदेशक सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा के प्रमुख थे और उनका काम सरकार को, सशस्त्र सेनाओं की समग्र चिकित्सा नीति के बारे में, सलाह देना था। थलसेना, नौसेना और वायुसेना की चिकित्सा-सेवा के निदेशक, अपनी-अपनी सेना की चिकित्सा-समस्याओं के सम्बन्ध में, अपने-अपने कमांडरों (अब स्टाफ-प्रमुखों) को सलाह देते थे। महत्वपूर्ण मामलों से वे महानिदेशक को परिचित रखते थे। नीति और आयोजना के मामलों में भी महानिदेशक निदेशकों के साथ परामर्श करते थे। चिकित्सा-सेवा-सलाहकार-समिति नामक एक समिति भी बनायी गयी, जिसके महानिदेशक अध्यक्ष थे और सभी निदेशक सदस्य। सलाहकार-समिति विचारों के आदान-प्रदान और चिकित्सा संगठन तथा सैनिकों के चिकित्सा-उपचार और स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले सभी महत्त्वपूर्ण मामलों के बारे में चर्चा करने का मंच है।

महानिदेशक एकीकृत-चिकित्सा-सेवा में अधिकारियों की भरती और उनके सेवामोचन या सेवानिवृत्ति के लिए तथा तीनों सेनाओं के लिए चिकित्सा-भण्डार की व्यवस्था करने के लिए भी उत्तरदायी है। वह एक अद्यतन तकनीकी पुस्तकालय भी रखते है और तीनों सेनाओं के लिए चिकित्सा-पत्रिकाओं और सामयिकी आदि की भी व्यवस्था कराते हैं। साथ ही, चिकित्सा-सेवाओं के तीनों निदेशकों से परामर्श करते हुए, अन्त.-सेवा-तैनातियों के लिए अधिकारियों का नामन करते हैं और तीनों सेनाओं के लिए निवारक औषधी समेत सेना-चिकित्सा के सभी पक्षों पर अनुसन्धान के विकास-आयोजना और निदेशन का समन्वय भी करते हैं।

यद्यपि राय-समिति ने एक अलग और एकीकृत-सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा के गठन की सिफारिश की थी, लेकिन विधिक और तकनीकी कठिनाइयों के कारण यह सिफारिश कार्यान्वित नहीं की जा सकी। इसके बजाय चिकित्सा-अधिकारियों को सेना-चिकित्सा-कोर में कमीशन दिये जाते रहे और वे शेष दोनों सेनाओं में समर्पित किये जाते रहे। नौसेना और वायुसेना के लिए अनुशासित अधिकारियों को इस सेवाकाल के लिए अस्थायी-अध्यारोपित-कमीशन प्रदान कर दिये जाते हैं, वे नौसेना और वायुसेना के समकक्ष ओहदों पर रहते हैं और सम्बन्धित सेवा की

वर्दी पहनते हैं। फिर भी सेवानिवृत्ति से थोड़े पहले उनको सेना-चिकित्सा-कोर में समकक्ष-सैनिक ओहदे में वापस भेज दिया जाता है।

एकीकरण के फलस्वरूप सेना-चिकित्सा-प्रशिक्षण-केन्द्र (पूना) और चिकित्सा-भण्डार-डिपो के नाम बदलकर क्रमशः सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-कॉलेज और सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-भण्डार-डिपो कर दिये गये।

एकीकृत-चिकित्सा-सेवा के कार्यकरण की समीक्षा प्राप्त अनुभव के प्रकाश में की गयी और महानिदेशक, सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का संशोधित अधिलेख (चार्टर) १९५४ में जारी किया गया। संशोधित अधिलेख में यह व्यवस्था है कि महानिदेशक तीनों चिकित्सा-सेवाओं के निदेशकों के साथ अधिकाधिक परामर्श करता रहे, ताकि अन्त-सेवा सम्बन्ध रखने वाले सभी मामलों पर चिकित्सा-सेवा-सलाहकार-समिति में चर्चा होती रहे, जिसका कार्यवृत्त, अब प्रस्ताव विचारार्थ रक्षा-मन्त्रालय भेजने से पहले, स्टाफ-प्रमुखों के पास अनुमोदन के लिए भेजा जाता है।

सेना-चिकित्सा-कोर में स्थायी कमीशन प्रदान करने की चयन-पद्धति में थोड़ा सा परिवर्तन किया गया है। युद्धकाल से कोर में भरती अल्पकालीन कमीशनों के और स्थायी कमीशनों के रूप में रही है और उम्मीदवार चयन-बोर्ड के सामने सीधे उपस्थित हो सकते हैं। १९५६ से संघीय-लोकसेवा-आयोग द्वारा ली गयी स्पर्धा-परीक्षा के आधार पर, सेना-चिकित्सा-कोर के चयन-बोर्ड द्वारा साक्षात्कार लिया जाता है और तब से कुछ संख्या में स्थायी कमीशन प्रदान करने की पद्धति शुरू की गयी है। इस प्रकार भरती किये गये २५ उम्मीदवारों की पहली टुकड़ी जुलाई, १९५६ में बनाई गयी।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, १५ अगस्त, १९४७ से पहले सरकार ने ब्रिटिश सैनिकों के परिवारों के लिए चिकित्सा-उपचार की व्यवस्था कर रखी थी, लेकिन भारतीय सैनिकों के लिए नहीं। स्वाधीनता के बाद कनिष्ठ कमीशन धारियों और अन्य पदधारियों और नौसेना और वायुसेना में उनके समकक्ष के परिवारों को चिकित्सा-सुविधाओं का पात्र बना दिया गया।

युद्धकाल में एक कृत्रिम-अङ्ग केन्द्र-सशस्त्र-सेना के उन व्यक्तियों के लिए कृत्रिम-अङ्ग प्रदान करने के लिए खोला गया था, जिन्होंने युद्ध में क्षति पायी हो या आहत हुए हों। १९५१ में यह सुविधा भुगतान करने पर असैनिकों को भी उपलब्ध कर दी गयी और यह केन्द्र-चिकित्सा-सेवा (थल सेना) के निदेशक से सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा के महानिदेशक द्वारा अपने हाथ में ले लिया गया। कृत्रिम-अङ्गों के निर्माण और मरम्मत की सुविधायें प्रदान करने के अलावा *इस केन्द्र में एक बड़ा-सा उल्लाव-स्कन्ध है, जिसमें आभ्यन्तर-रोगियों के उपचार की व्यवस्था* है। यह केन्द्र हड्डी की निर्योग्यता और विरूपाङ्गता का भी उपचार करता है।

सशस्त्र-सेना-आयुर्विज्ञान-कॉलेज, पूना, सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा के महानिदेशक के प्रशासनिक नियन्त्रण में है और इसकी स्थापना १ मई, १९४८ को तीनों सेनाओं के चिकित्सा-अधिकारियों को स्नातकोत्तर प्रशिक्षण देने और परा-चिकित्सकीय व्यक्तियों को तकनीकी शिक्षा प्रदान करने और अनुसन्धान-कार्य चलाने के लिए की गयी थी। जुलाई, १९६२ में एक

स्नातक-स्तर भी, छात्रों को पूना विश्वविद्यालय की एम० बी० बी० एस० उपाधि के लिए तैयार करने के लिए, चलाया गया। १९६४ में बी० एस० सी० (नर्सिंग) पाठ्यक्रम के लिए एक नर्सिंग कॉलेज भी चालू किया गया। सशस्त्र-सेना-आयुर्विज्ञान कॉलेज अनेक स्नातकोत्तर या डिप्लोमा परीक्षाओं के लिए पूना विश्वविद्यालय के साथ सम्बद्ध है। अब यह एक विस्तृत भवन में स्थित है।

पहले भारतीय सैनिक दाँतों की चिकित्सा के पात्र न थे। युद्ध के आरम्भ मे दन्तोपचार की जरूरत समझी गयी और भारतीय सेना दन्त चिकित्सा-कोर का एक केन्द्रक बनाया गया। सेना-चिकित्सा-कोर की ही तरह भारतीय सेना-दन्त चिकित्सा-कोर में भी आपात कमीशन दिये जाते थे। सशस्त्र-सेना-आयुर्विज्ञान-कॉलेज में एक दन्त-प्रशिक्षण-केन्द्र भी है, जो विभिन्न पाठ्यक्रम चलाता है और सेना-दन्त-चिकित्सा-कोर के व्यक्तियों को दन्त-स्वास्थ्य-रक्षाविज्ञ के रूप में प्रशिक्षित करता है। कनिष्ठ कमीशनधारियों और अन्य पदधारियों और नौसेना और वायुसेना में उनके समकक्ष के परिवारों को भी सशस्त्र-सेना दन्त-चिकित्सा-केन्द्रों में नि:शुल्क दन्तोपचार (नये दाँत प्रदान करना छोड़कर) का पात्र बना दिया गया।

अक्तूबर, १९६२ में आपात की घोषणा होने पर सेना-चिकित्सा-कोर में, पूर्वतिथि के लाभ उदारतापूर्वक देने वाली शर्तों के साथ, आपात कमीशन आरम्भ किये गये। राज्य-सरकार के डाक्टरों को कोर में सेवार्थ समर्पित करने की योजना भी शुरू की गयी। चिकित्सा अधिकारियों की बढ़ी हुई माँग पूरी करने के लिए, अन्तिम वर्ष के एम० बी० बी० एस० छात्रों का चयन करके, उनको विश्वविद्यालय-प्रवेश-योजना के अधीन अल्प सेवा कमीशन (परिवीक्षा पर) प्रदान किये गये। उनको सेकिंड लेफ्टिनेंट का ओहदा, ४०० रुपये महीने के समेकित वेतन के साथ, उनके अध्ययन के आखिरी बारह महीनों में इस शर्त पर दिया गया कि एम० बी० बी० एस० की अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे ५ साल तक अल्प सेवा कमीशन अधिकारी के रूप में नौकरी करेंगे।

सेवा में ज्यादा रंगरूटों को आकर्षित करने और उच्चतर पदों में उनकी उन्नति की बाधायें दूर करने के लिए सरकार ने १ जनवरी, १९६६ से सेवा-चिकित्सा-कोर के अधिकारियों की सेवा निबन्धन-शर्तों में कुछ सुधार मंजूर किये। वे ये थे . (क) सेवा के पहले सात वर्षों में बुनियादी वेतन का २५ प्रतिशत अ-प्रेक्टिस भत्ता प्रदान करना, ८वीं से १५वीं वर्ष तक ३३ प्रतिशत और १५वें वर्ष के बाद ५० प्रतिशत का भत्ता सभी मामलों में, ६०० रुपये मासिक के अधिकतम के अधीन रहते हुए, प्रदान करना। (ख) ब्रिग्रेडियर के ओहदे तक अधिकारियों का प्राप्य विशेष वेतन में वृद्धि करना। (ग) लेफ्टी० कर्नल के ओहदे तक समयमान पदोन्नति में त्वरण। अ-प्रेक्टिस भत्ता मंजूर कर देने के बाद अब जनवरी, १९६६ से सेना-चिकित्सा-कोर के अधिकारी निजी प्रेक्टिस नहीं कर सकते। वस्तुत. अग्रिम क्षेत्रों में ऐसी प्रेक्टिस की कुछ गुंजाइश भी नहीं है। सरकार ने कुछ नियुक्तियों का दरजा भी बढ़ा दिया है, उदाहरण के लिए चिकित्सा-सेवा-(थलसेना) निदेशक का मेजर जनरल से लेफ्टीनेंट जनरल ; चिकित्सा-सेवा (वायु) के निदेशक का एयर कमोडोर से एयर वाइस मार्शल, सशस्त्र-सेना-चिकित्सा-सेवा के

उप-महानिदेशक परामर्शक (शल्य चिकित्सा), परामर्शक (चिकित्सा) और चिकित्सा-अनुसन्धान-निदेशक का ब्रिगेडियर से मेजर जनरल।

खण्ड ३ सैन्य विनियम और फार्म-निदेशालय

प्रथम विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद सेना विभाग में सेना के नियम, विनियम और प्रपत्रों में सशोधन करने के लिए, जो पुराने पड़ गये थे, एक छोटा-सा अनुभाग खोला गया। यह अनुभाग बाद में १९३१ में केन्द्रीय-सशोधन-अनुभाग कहा जाने लगा। इस अनुभाग के प्रमुख का पदनाम सैन्य विनियम और फार्म-निदेशक रखा गया। उस समय यह अधिकारी सेना विभाग के स्थापना अधिकारी का अतिरिक्त काम भी देखता था।

१९३६ मे वित्तीय प्रकार के बुनियादी विनियमो के संशोधन और सन्धारण की जिम्मेवारी वित्त-विभाग को स्थानान्तरित कर दी गयी, जबकि प्रशासनिक विनियमो से सम्बन्धित काम और सैन्य फार्मों के मुद्रण और वितरण का काम केन्द्रीय-सशोधन-अनुभाग में बना रहा, जिसका नाम १९४३ में प्रकाशन, फार्म और लेखनसामग्री-अनुभाग कर दिया गया। निदेशालय में दो अन्य अनुभाग थे नामत पदक-अनुभाग और सेना-सूची-अनुभाग। ये तीनो अनुभाग साथ-साथ १९४६ तक रक्षा-अनुभाग में अलग-अलग रूप से काम करते रहे, जिसके बाद सारे कर्मचारियो को विभाग के एक ही रोस्टर पर लाकर रख दिया गया।

प्रकाशन, फार्म और लेखनसामग्री-अनुभाग-रक्षा-सेनाओं के नियमो और विनियमों के मुद्रण, यथावश्यक विदेशों से प्रकाशनो की प्राप्ति, रक्षा-सेनाओ की सभी इकाइयो के लिए लेखनसामग्री की सभी मदों की पूर्ति, थलसेना, नौसेना और वायुसेना के फार्म आदि का मुद्रण और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार है। १९५१ मे इस निदेशालय को फिर से सेना, नौसेना और वायुसेना के अनुदेश, अलग-अलग प्रत्येक सेना के लिए निकालने के लिए, जिम्मेवार बना दिया गया (अवर्गीकृत प्रकार के और विस्तृत परिचालन की अपेक्षा रखने वाले सरकारी आदेश प्रति सप्ताह इन अनुदेशों के रूप में जारी किये जाते है)। यह काम मूलत सेना-सूची-अनुभाग कर रहा था। १९४२ में जब सैन्य विनियम और फार्म-निदेशालय को शिमला ले जाया गया तो दिल्ली में मुद्रित होने वाले इन अनुदेशो के जारी होने में विलम्ब न होने देने के लिए यह काम दिल्ली में ही एक अनुभाग को सौंप दिया गया।

पदक-अनुभाग सशस्त्र सेनाओं के पात्र सदस्यों को पदक और अलंकरण जारी करने के लिए और भविष्य में जारी करने के लिए पदकों, अलंकरणो और फीतों का भण्डार रखने के लिए जिम्मेवार है। विगत महायुद्ध के बाद पदक-अनुभाग के सामने बहुत बड़ा काम था, क्योंकि ६० लाख के लगभग पदको का वितरण करना था। वितरण में शीघ्रता लाने के लिए यह दफ्तर १९४६ में कलकत्ता ले जाया गया, ताकि कलकत्ता स्थित भारत सरकार के टकसाल के निकट रह सकें, जो इन पदकों का विनिर्माण कर रही थी। वितरण का काम पूरा होने के बाद पदक-अनुभाग फिर दिल्ली वापस ले आया गया।

सेना-सूची-अनुभाग सेना-सूची के संकलन के लिए जिम्मेवार है, जो सेना में काम कर रहे अधिकारियो के बारे में सूचना प्रदान करती है। मूलत: यह अनुभाग सेना-मुख्यालय की

सैन्य-सचिव-शाखा के अधीन था और १६२०-२१ में इंडिया आफिस के सुझाव पर इसे सेना-विभाग में स्थानान्तरित कर दिया गया। (पर, नौसेना-सूची और वायुसेना-सूची के संकलन की जिम्मेवारी क्रमश नौसेना और वायुसेना-मुख्यालयो की ही बनी हुई है)।

विभाजन के पश्चात् सेना-सूची का व्यवहारत पुनर्लेखन करना जरूरी हो गया, क्योकि बहुत भारी सख्या में अधिकारी स्थानान्तरित या सेवानिवृत्त हो गये थे।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद और खासकर सत्ता-हस्तान्तरण के बाद सेना, नौसेना और वायुसेना के विनियम पूर्णत अनद्यतन हो गये और उनका पूरी तरह से फिर लिखना जरूरी हो गया। मुद्रण, फार्म और लेखन-सामग्री-अनुभाग, जो जारी किये गये सशोधित आदेशो के आधार पर बुनियादी विनियमो में संशोधन जारी करने के लिए जिम्मेवार था, इस प्रकार का काम निभाने में असमर्थ था। तदनुसार १६६१ में रक्षा-मन्त्रालय मे एक उपसचिव (विनियम) सभी बुनियादी विनियमों में सशोधन करने के लिए नियुक्त किया गया (बाद में उसे दूसरे काम भी सौंपे गये)। बहुत बडी सख्या में विनियमो में सशोधन करना जरूरी था और इस जटिल काम में काफी समय लगना था। उपसचिव (विनियम) को विनियमो के सशोधित रूप को अन्तिम रूप से तैयार करने में मदद देने के लिए सेना, नौसेना और वायुसेना मुख्यालयो में एक-एक अलग विनियम-कोष्ठ खोला गया। सैन्य विनियम और फार्म-निदेशालय, तैयार हो जाने पर, सशोधित विनियमो के मुद्रण और वितरण के लिए जिम्मेवार है। इस समय तक बुनियादी विनियमो का सशोधन पूरा हो चुका है।

अप्रैल, १६४७ तक सैन्य विनियम और फार्म-निदेशक के पद पर सेना-अधिकारी रहते थे और उसके बाद रक्षा-विभाग का एक असैनिक अधिकारी। यह कार्यालय १६४६ मे शिमला भेज दिया गया था, पर १६५१ में उसे फिर दिल्ली लाया गया। दिसम्बर, १६५२ में इस कार्यालय को मुख्य प्रशासनिक अधिकारी (रक्षा-मन्त्रालय मे पदेन उपसचिव) के प्रशासनिक नियन्त्रण में रखा गया। नवम्बर, १६५६ में यह निश्चय किया गया कि इस कार्यालय को वापस सचिवालय में ले आया जाय।

खण्ड ४—सैनिक, नाविक और वायुसैनिक बोर्ड

इस सङ्गठन का प्रथम कृत्य भूतपूर्व सैनिको और सशस्त्र सेनाओ के सेवाकालीन और मृत सदस्यो के परिवारों के कल्याण-कार्य की देखभाल करना है।

फरवरी, १६१६ में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सरकार ने केन्द्रीय-भरती-बोर्ड की जगह भारतीय सैनिक-बोर्ड की स्थापना, सेवालीन, सेवा-मुक्त और मृत भारतीय सैनिकों और गैर-लड़ाकू जनो के हितो सम्बन्धी सभी मामलो में सलाह देने के लिए और सैनिको, भूतपूर्व सैनिको और उनके आश्रितो को यथासम्भव सभी सहायता प्रदान करने के लिए, की। यह बोर्ड सेना-विभाग के साथ संबद्ध कर दिया गया। केन्द्रीय सरकार के सुझाव पर प्रान्तीय सरकारो और प्रशासनो ने भी सैनिको के बोर्ड बना दिये, क्योकि यह बहुत कुछ उन पर ही निर्भर था कि सैन्यवियोजित सैनिकों और मृत सैनिकों के परिवारो के कल्याण-कार्य के लिए कार्रवाई करें। दिसम्बर, १६२२ में इम्पीरियल इंडियन रिलीफफड से प्राप्त १० लाख रुपयो की रकम से एक

भारतीय सैनिक-बोर्ड-निधि बना दी गयी और भारतीय सैनिकों के हितों की सुरक्षा करने वाली सभी योजनाओं का खर्च इस निधि से दिया जाने लगा।

पिछला विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले ८७ जिला-सैनिक-बोर्ड थे, जिनके सचिव अवैतनिक कार्य-कर्त्ता थे। महायुद्ध के काल में सेना के तेजी से विस्तार के साथ-साथ बोर्डों का काम तेजी से बढ़ गया। १९४३ में यह निर्णय किया गया कि सवेतन कार्यकर्ता सचिव के रूप में रखे जायें और उनके साथ सुपर्याप्त कर्मचारी भी हों। इस प्रस्ताव का वित्तीय प्रभाव प्रति वर्ष लगभग ६-७ लाख रुपये था। अविलम्बनीयता के कारण यह पूरा खर्च रक्षा-सेना अनुमानों से दिया गया। यह तय किया गया कि १ अप्रैल, १९४७ से बोर्डों के सम्धारण का खर्च केन्द्रीय सरकार और प्रान्त (अब राज्य) सरकारें बराबर बराबर देंगी।

युद्धकाल में नौसेना और वायुसेना के विस्तार के साथ यह जरूरत समझी गयी कि बोर्ड के कार्यकलाप में इन दोनों सेनाओं को भी शामिल कर लिया जाय और भारतीय सैनिक-बोर्ड का पुनर्गठन भारतीय नौसैनिक और वायुसैनिक-बोर्ड के रूप में किया गया। बाद में १९-५० में सेनाओं का पूर्वता-क्रम बदल जाने पर बोर्ड का नाम भी बदल कर भारतीय सैनिक, नौसैनिक और वायुसैनिक-बोर्ड कर दिया गया। बोर्ड को १९६३ में फिर से पुनर्गठित किया गया और उसमें राज्य-सरकारों और भूतपूर्व सैनिकों का प्रतिनिधित्व बढ़ा दिया गया।

बोर्ड एक केन्द्रीय संगठन है और राज्यों के मुख्यालयों में एक राज्य-बोर्ड है और महत्व-पूर्ण जिला-केन्द्रों में जिला-बोर्ड बनाये गये हैं। केन्द्रीय बोर्ड भूतपूर्व सैनिकों और सेवालीन और मृत सेव्यजनों के परिवारों के कल्याण-कार्य को प्रभावित करने वाले मामलों के बारे में सामान्य नीति का निर्धारण करता है। यह राज्य-बोर्डों के काम का समन्वय भी करता है और जिला-बोर्डों पर समग्रीण पर्यवेक्षण और बजट-नियन्त्रण रखता है।

केन्द्रीय बोर्ड के अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री है, राज्यबोर्ड के अध्यक्ष राज्यपाल, मुख्य मन्त्री या मुख्य मन्त्री द्वारा नामित कोई अन्य मन्त्री होता है और जिला-बोर्ड के अध्यक्ष जिला अधिकारी होते हैं। भूतपूर्व सैनिकों को तीनों ही स्तरों पर पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है। केन्द्रीय बोर्ड के अलावा इस संगठन में इस समय १६ राज्य-बोर्ड है और ४ बोर्ड संघीय-राज्य-क्षेत्रों के मुख्यालयों में है और १९६ जिला-बोर्ड जिला-मुख्यालयों में हैं।

१९५५ से पूर्व प्राय पूरा प्रशासनिक और वित्तीय नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार के हाथ में था। भूतपूर्व-सैनिकों की समस्या साधारणत उनके गृहकार्यों और असैनिक जीवन में पुनर्वास की होती है। इस कारण से १९५५ में जिला-बोर्डों के वित्तीय नियन्त्रण का अधिकांश कार्य राज्य-सरकारों को स्थानान्तरित कर दिया गया।

१९४६ तक र.ा.विभाग (बाद में रक्षा-मन्त्रालय) का एक अनुसचिव अपने काम के अलावा भारतीय सैनिक, नौसैनिक और वायुसैनिक-बोर्ड के सचिव के रूप में काम करता है। इस संगठन के विस्तार और बोर्डों के काम के ऊपर ज्यादा अच्छे पर्यवेक्षण की जरूरत के कारण भारतीय सैनिक, नौ-सैनिक और वायुसैनिक-बोर्ड के सचिव की नियुक्ति १९४९ में पूर्णकालिक कर दी गयी।

नवम्बर, १९५४ में भारतीय सैनिक, नौसैनिक और वायुसैनिक-बोर्ड विश्व-अभ्यस्त

(वेटेरन) संघ का सदस्य बन गया, जो ३५ देशों के १३५ भूतपूर्व सैनिक-संघों से बना एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है और जिसका उद्देश्य सभी देशों के युद्ध-अभ्यस्तों और युद्ध के शिकार हुए लोगों के हितों का संवर्धन करना है।

भूतपूर्व सैनिकों और सशस्त्रसेनाओं के सेवाकालीन जनों के लिए कुछ कल्याण निधियां हैं। सशस्त्र-सेना-हितकारी-निधि का प्रथम उद्देश्य भारतीय सशस्त्र सेनाओं के वर्तमान और भूतपूर्व सदस्यों और उनके आश्रितों की आर्थिक तंगी को दूर करना है। सशस्त्र-सेना-पुनर्गठन-निधि का उपयोग सशस्त्र सेनाओं के सेवाकालीन सदस्यों को सुविधायें प्रदान करने के लिए किया जाता है। निर्योग्यनों की सामूहिक देखभाल और भूतपूर्व सैनिकों को पुनर्वास-योजनाओं के लिए भी इस निधि में से अनुदान किये जाते हैं। हर साल झंडे बेचकर और दान इकट्ठा करके ध्वज-दिवस (६ दिसम्बर) निधि इकट्ठी की जाती है, जो भूतपूर्व सैनिकों और उनके आश्रितों की तकलीफें कम करने के लिए और सेवाकालीन व्यक्तियों के वास्ते सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए इकट्ठी की जाती है। सेंट-डन्सटन (भारत)-निधि का उपयोग अन्धे हो गये सैन्यजनों के व्यावसायिक प्रशिक्षण और आगे चलकर उनके पुनर्व्यवस्थापन और पुनर्वास के लिए किया जाता है। इन सारी निधियों को कुछ समितियां प्रशासित करती है, जिनके अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री हैं।

भारतीय भूतपूर्व गोरखा-सैनिक-कल्याण-केन्द्र को एक समिति प्रशासित करती है, जिसके अध्यक्ष रक्षा-सचिव है।

भारतीय सैनिक, नौसैनिक और वायुसैनिक-बोर्ड के सचिव इन सभी निधियों के सचिव का काम करते है।

खण्ड ५—पुनर्व्यवस्थापन-महानिदेशालय

पिछले विश्वयुद्ध के दौरान भूतपूर्व सैनिकों के पुनर्व्यवस्थापन और कल्याण की समस्या बड़े महत्व की समस्या बन गयी और इसके लिए एक बड़ा संगठन बनाना पड़ा। उस समय भूतपूर्व सैनिकों के पुनर्वास के लिए श्रम-मन्त्रालय का पुनर्व्यवस्थापन और नियोजन-महानिदेशालय और उनके कल्याण के लिए सेना-मुख्यालय की सामान्य-कल्याण-शाखा जिम्मेवार थी। स्वाधीनता के बाद रक्षा-मन्त्रालय में विभाजन के फलस्वरूप पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान से उखड़ कर आये रक्षा-सेनाजनों और भूतपूर्व सैनिकों के पुनर्वास के लिए रक्षा-मन्त्रालय में एक संगठन बनाया गया। यह संगठन पुनर्वास-मन्त्रालय के निकट सम्पर्क में काम करता रहा।

१९५१ में पुनर्वास-मन्त्रालय समाप्त कर दिया गया और रक्षा-जनों सम्बन्धी शेष काम रक्षा-मन्त्रालय में उस समय बनाये गये पुनर्व्यवस्थापन-अनुभाग को सौंप दिया गया। पुनर्व्यवस्थापन-अनुभाग, केन्द्रीय मन्त्रालयों, राज्य सरकारों और अन्य सरकारी और गैरसरकारी संगठनों के सहयोग से, सार्वजनिक और निजी उद्योग-क्षेत्र उपक्रमों, भू-बस्तियों, व्यावसायिक तकनीकी कार्यों में, परिवहन सेवाओं, लघुउद्योगों आदि में भूतपूर्व सैनिकों के पुनर्वास की योजनायें बनाने के लिए भी जिम्मेवार था।

पुनर्व्यवस्थापन-अनुभाग ने पंजाब में महावलीपुर, करनाल और बानूर में, उत्तर प्रदेश में मनुगर और अफजलगढ़ में, आन्ध्रप्रदेश में अम्मगुडा और फतहनगर में, मद्रास में जम्बूवानोदे में, मैसूर में रत्नपुर में, केरल में रानी और वेत्तिलपारा में और मध्य प्रदेश में बयोनामीर और वमावाद-बड़ागांव में १३ भू-बस्तियों का काम शुरू किया और उनको स्थापित किया। इन बस्तियों में कुल मिलाकर ३००० भूतपूर्व सैनिक बसाये गये।

इन भू-बस्तियों के अलावा भूतपूर्व सैनिकों की अनेक सहकारी (भू) संस्थायें भी राज्य-युद्धोत्तर-पुनर्निर्माण-निधि से वित्तीय सहायता लेकर स्थापित की गयीं।

पर पुनर्व्यवस्थापन-अनुभाग भूतपूर्व सैनिकों के पुनर्व्यवस्थापन और कल्याण की समस्याओं से निपटान के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुआ। फलतः १९५९ में इस अनुभाग को एक महानिदेशक के अधीन एक निदेशालय में बदल दिया गया।

सेवाधीन और भूतपूर्व सैन्यजनों को मकान की सुविधा देने की भारी जरूरत की दृष्टि से एक सैनिक सहकारी गृहनिर्माण सभा बना दी गयी, जिसका शिखर कार्यालय दिल्ली में था और जिसका लक्ष्य पूरे देश में ६० जगह डिफेन्स कोलोनियाँ बनाना था। यह सभा अब दिल्ली और पास के क्षेत्र जैसे गाजियाबाद आदि में डिफेन्स कोलोनियों के निर्माण का काम देखती है। देश की दूसरी जगहों में ऐसी बस्तियाँ बनाने का काम स्थानीय स्टेशन कमांडर समन्वित करते हैं।

केन्द्रीय सरकार के रिक्त स्थानों के लिये अपने नाम भेजने के मामले में रोजगार-दफ्तरों द्वारा भूतपूर्व सैनिकों को तृतीय-पूर्वता प्रदान की जाती है। सशस्त्र सेनाओं में अपने प्रशिक्षण और अनुभव के आधार पर भूतपूर्व सैनिकों को पुलिस, होमगार्ड, रेलवे के रक्षा और प्रतिपालन, परिवहन सेवाओं, सशस्त्र कान्सटेबिलों आदि में वरीयता मिलती है। केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में भरती के लिए भूतपूर्व सैनिकों को विहित ऊपरी आयु-सीमा में सशस्त्र सेनाओं वाली उनकी सेवा और अतिरिक्त तीन साल की ढील दी जाती है। केन्द्रीय सरकार के कुछ पदों में न्यूनतम शैक्षिक योग्यता भी उनके लिए कम कर दी गयी है।

औद्योगिक उपक्रमों में लाभप्रद रोजगार प्राप्त करने या अपने-आप अपना स्वतन्त्र कार-बार स्थापित करने में भूतपूर्व सैनिकों को मदद देने के लिए देश के सभी औद्योगिक प्रशिक्षण-संस्थानों में पाँच जगहें भूतपूर्व सैनिकों को इंजीनियरी और गैर-इंजीनियरी कामों में प्रशिक्षण देने के लिए आरक्षित कर दी गयी हैं। इन संस्थानों में प्रशिक्षण पाने वाले हर भूतपूर्व सैनिक को केन्द्रीय सरकार ३५ रुपये महीने की छात्रवृत्ति देती है।

१९५९ में एक रक्षा-सेवा-सम्पर्क-संगठन सशस्त्र सेनाओं के सेवानिवृत्त या सेवामुक्त अधिकारियों को केन्द्रीय और राज्य-सरकारों तथा सरकारी और निजी क्षेत्र के उपक्रमों में असैनिक रोजगार देने के लिए बना दिया गया है। १९६५ में पुनर्व्यवस्थापन-महानिदेशक का नया पदनाम रक्षा-सेवा सम्पर्क-अधिकारी, आयोजना-आयोग, कर दिया गया। रक्षा-सेना-सम्पर्क-संगठन अनेक भूतपूर्व अधिकारियों को सरकारी और निजी उपक्रमों में जगह दिलाने में सफल रहा है। सेना-अधिकारियों के लिए कारबार-प्रबन्ध-पाठ्यक्रम भी चलाये गये हैं, ताकि

वे सेवानिवृत होने के बाद सरकारी और निजी उपक्रमों के प्रबन्धक पदों के लिए उपयुक्त हो सकें।

निर्योग्य-जनों के असैनिक जीवन में पुनर्वास के लिए एक विशेष पुनर्व्यवस्थापन-कक्ष खोला गया। पुनर्वास की व्यवस्था या तो निर्योग्य व्यक्ति की शेष क्षमता के अनुकूल सीधे रोजगार देकर या यथावश्यक उनको लाभप्रद रोजगार के लिए उपयुक्त बनाने वाला प्रशिक्षण देकर की जाती है। इस प्रशिक्षण का खर्च केन्द्रीय या राज्य-सरकार देती है।

भूतपूर्व सैनिकों और सेवालीन सैनिकों के परिवारों के पुनर्वास और कल्याण की ओर ज्यादा अच्छी तरह ध्यान देने के लिए, चारों में से प्रत्येक सेना-कमान-मुख्यालय में, एक कमान-सम्पर्क-अधिकारी नियुक्त किया गया है।

भूतपूर्व सैनिकों का पुनर्वास राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर चुका है। इसे क्रमबद्ध आधार पर निपटाने के लिए सरकार ने आरम्भ में राष्ट्रीय रक्षानिधि से ५ करोड़ रुपये का अंशदान देकर और १९६५-६६ से शुरू करके तीन साल तक रक्षा बजट में से एक करोड़ रुपये का वार्षिक अंशदान देकर, एक विशेष सेनानिधि स्थापित की है। कुल राशि में से ८० प्रतिशत, रंगरूटों की संख्या के आधार पर, राज्यों और संघ-राज्य-क्षेत्रों के बीच बाँट दिया जाता है। रक्षा-बजट में से अंशदान, राज्य सरकारों और सघीय-राज्य-क्षेत्र द्वारा उतना ही अंशदान देने की शर्त पर, दिया जाता है। निधि का उपयोग भूतपूर्व सैनिकों और उनके आश्रितों के कल्याण और पुनर्व्यवस्थापन के लिए किया जायेगा।

खण्ड ६—लोक-सम्पर्क-निदेशालय

सत्ता-हस्तान्तरण से पहले सशस्त्र सेना-मुख्यालय में एक लोक-सम्पर्क-निदेशालय सीधे कमांडर-इन-चीफ के अधीन था। इसका काम दुहरा था, अर्थात् सेनाओं के सदस्यों तक पत्रिका द्वारा, विशेषत सशस्त्र सेना के सदस्यों में परिचालन के लिए निकालकर, प्रचार पहुँचाना और दूसरे सेनाओं के बारे में जनसाधारण तक समाचार-पत्रों के जरिये प्रचार पहुँचाना—ये समाचार-पत्र सेनाओं के बारे में सचित्र समाचार सहित भेजे जाते थे—और सचित्र पुस्तकें-पुस्तिकायें निकालना, जिनमें भारत के सैनिकों द्वारा प्राप्त की गयी सफलताओं के ब्यौरे दिये जाते थे।

सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के बीच परिचालन के लिए खासतौर पर तैयार की गयी पत्रिका का, जिसमें सैन्य अभिरुचि के समाचार और विचार रहा करते थे, नाम साप्ताहिक 'फौजी अखबार' था। यह पहले-पहल २ जनवरी १९०९ को उर्दू में निकला। यह इलाहाबाद से प्रकाशित होता था, हालांकि सम्पादन-कार्यालय शिमला में था। उर्दू के अलावा फौजी अखबार के समय-समय पर पाँच और संस्करण निकाले गये हिन्दी (५ जून, १९०९ से), गुरुमुखी (२ अक्तूबर, १९ ९), अंग्रेजी (३ फरवरी, १९२३), रोमन उर्दू (अप्रैल, १९२६) और तमिल (२७ मार्च, १९४५ से)। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान पत्रिका में पृष्ठसंख्या बढ़ गयी और उसमें अनेक चित्र भी दिये जाने लगे और कुछ लोकप्रिय फीचर भी बढ़ाये गये, जैसे सशस्त्र सेना-सदस्यों को उपलब्ध रियायतों और शौर्य पुरस्कारों आदि के बारे में जानकारी। पत्रिका का कार्यालय भी दिल्ली ले आया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के तुरन्त बाद एक दो पृष्ठ का अर्द्धसाप्ताहिक पूरक निकाला गया, जिसमे युद्ध समाचार दिये जाते थे और यह फौजी अखबार के पाठकों को नि शुल्क उपलब्ध कर दिया गया। अक्तूर, १६४० में इस पूरक की जगह 'जंग की खबरें' नामक चार-पृष्ठ का अलग पत्र निकाला गया, जो अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, रोमन उर्दू, गुरमुखी, तमिल, तेलगु, मराठी, और बाद में गोरखाली में भी निकाला गया। सितम्बर १६४५ में इस पत्र का नाम 'जवान' कर दिया गया।

सशस्त्र-सेना-सूचना-कार्यालय मन्त्रालय के अधीन

१५ अगस्त, १६४७ के बाद तीनों सेनाओं के प्रमुखों की पृथक नियुक्तियाँ होने पर लोक-सम्पर्क-कार्यालय को उपयुक्त रूप मे रक्षा-मन्त्रालय के अधीन कर दिया गया। सितम्बर, १६४७ में यह निर्णय किया गया कि सूचना और प्रसारण मन्त्रालय को, जो सभी सरकारी प्रचार के लिए जिम्मेवार था (और बना हुआ है), रक्षा-सेनाओं सम्बन्धी प्रचार के लिए भी जिम्मेवार बना दिया जाय। तदनुसार सूचना-प्रसारण-मन्त्रालय-द्वारा, सयुक्त-प्रमुख-सूचना-अधिकारी की हैसियत से, सशस्त्र सेना सूचना-अधिकारी के एक पद का सृजन किया गया। यह अधिकारी इस तरह से प्रशासनिक नियन्त्रक के अधीन नियुक्त तो किया गया, पर वह दैनदिन कार्यकलाप के लिए रक्षा-मन्त्रालय के अधीन था और सशस्त्र सेना-मुख्यालय के निकट सम्पर्क से काम करता था। तीनो सेनाओं में से प्रत्येक के लिए अलग-अलग लोक-सम्पर्क-अधिकारी हैं, जो सेना-मुख्यालय से नित्य सम्पर्क रखते है। ये अधिकारी सशस्त्र-सेना-सूचना कार्यालय के संगठन के अग हैं। पहले सशस्त्र-सेना-सूचना-अधिकारी ने अपना कार्यभार १५ नवम्बर, १६४७ को सँभाला। जून, १६६५ में सशस्त्र-सेना-सूचना-कार्यालय का नाम लोक-सम्पर्क-निदेशालय कर दिया गया।

इस सगठन को प्रेस के प्रसग में प्रेस-सूचना-कार्यालय (रक्षा-स्कन्ध) कहा जाता है, हालाँकि सशस्त्र-सेना-सूचना-अधिकारी (अब लोक-सम्पर्क-निदेशक) और एक सूचना-अधिकारी को छोड़कर, सभी अधिकारी रक्षा-मन्त्रालय द्वारा नियुक्त और नियन्त्रित किये जाते हैं। इस तरह इस सगठन का ढाँचा भारत सरकार के अन्य मन्त्रालयों वाले ढाँचों से कुछ भिन्न है।

कमानों मे और जम्मू और कश्मीर मे लोक-सम्पर्क-अधिकारी

तीनों सेना-मुख्यालयों के तीनों लोक-सम्पर्क-अधिकारी पहले थल सेना में मेजर, नौसेना में लेफ्टी० कमाडर और वायुसेना में स्क्वेड्रन लीडर के ओहदे वाले थे। इसके अलावा १ दिसम्बर, १६४७ को तीनों में से प्रत्येक सेना-कमान में भी एक-एक लोक-सम्पर्क-अधिकारी नियुक्त किया गया था। पर दिसम्बर, १६५६ में प्रचार-कार्य दिल्ली में केन्द्रित कर दिया गया और कमानों में लोकसम्पर्क-अधिकारी न रहे। बाद में अनुभव से पता चला कि बम्बई और कलकत्ता में प्रादेशिक कार्यालय होना ज्यादा वाछनीय होगा। ये १ मार्च, १६५१ से मंजूर किये गये। एक तीसरा प्रादेशिक कार्यालय भी १ अक्तूबर, १६५५ से जालधर में स्थापित किया गया। इसे बाद में अम्बाला ले जाया गया और अब यह चडीगढ़ में है। सेना की केन्द्रीय कमान

की स्थापना के बाद, लखनऊ में इस कमान की एक लोक-सम्पर्क-यूनिट बना दी गयी। ये चारों लोक-सम्पर्क-अधिकारी सेना की चारों कमानों और अन्य दोनों सेनाओं की तत्संबंधी विरचनाओं का काम देखते हैं। वे प्रचार के सभी मामलों में लोकसम्पर्क-निदेशक के अधीन काम करते हैं।

१९४७ में कश्मीर-प्रक्रिया के शुरू होने पर उस क्षेत्र में सशस्त्र सेनाओं के कार्यकलाप का प्रचार-कार्य करने के लिए श्रीनगर और जम्मू में विशेष लोक-सम्पर्क-कर्मचारी नियुक्त किये गये। इस समय श्रीनगर में एक लोक-सम्पर्क-अधिकारी है और जम्मू में एक सहायक-लोक-सम्पर्क-अधिकारी। दिसम्बर, १९६० में पूर्वी खण्ड और नागालैण्ड सम्बन्धी प्रचार-कार्य संभालने के लिए एक लोक-सम्पर्क-अधिकारी वहाँ पर भी रख दिया गया।

देश के विभाजन से पैदा हुई कठिनाइयों के कारण, और सभी मुसलमान कर्मचारियों और मुद्रकों के प्रव्रजन के कारण, फौजी अखबार और जवान का प्रकाशन अस्थायी तौर पर बन्द कर देना पड़ा। ये पत्र सशस्त्र-सेना-सूचना-अधिकारी के कार्यालय से सितम्बर, १९४८ में फिर निकाले गये।

जवान का बन्द किया जाना और फौजी अखबार में सुधार

बदली परिस्थितियों में सैनिकों के लिए समाचार-पत्र के रूप में 'जवान' का उपयोग न रहा। सामान्य शान्तिकालीन स्थिति फिर आ जाने से अन्य नागरिकों की तरह सैनिक भी दैनिक समाचार-पत्र प्राप्त करने लगे। वैसे भी 'जवान' के समाचार सैनिकों तक पहुँचते-पहुँचते पुराने पड़ जाते थे। इसलिए २२ मार्च, १९५० से जवान का प्रकाशन बन्द कर दिया गया। साथ ही फौजी अखबार की पृष्ठ संख्या बढ़ाकर अंग्रेजी संस्करण की २८ से ३६ और अन्य संस्करणों की २८ से ३२ कर देने का भी निर्णय किया गया। उस समय यह नौ भाषाओं में प्रकाशित होता था अर्थात् अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, रोमन हिन्दुस्तानी, पंजाबी, मराठी, गोरखाली, तमिल और तेलगू। ४ अप्रैल, १९५४ को 'फौजी अखबार' नाम भी बदल कर 'सैनिक समाचार' कर दिया गया। १९६३ में रोमन हिन्दुस्तानी संस्करण भी बन्द कर दिया गया और जनवरी, १९६४ में मलयालम संस्करण और निकाला गया।

यह पत्रिका एक समूल्य प्रकाशन है। अब इसमें बहुत सारे चित्र रहते हैं और हाल के वर्षों में इसकी विषय-वस्तु और साजसज्जा दोनों में ही गुणात्मक दृष्टि से बहुत सुधार हुए हैं।

'सैनिक समाचार' बड़े उपयोग का है, क्योंकि यह सेनाओं के कार्यकलाप के बारे में जानकारी देता है, जो सामान्य समाचार-पत्रों में नहीं मिल सकती। यह खेलकूद और सैनिकों के अन्य कार्यकलाप को महत्व देता है, जिनके ज्यादा ब्यौरे किसी भी सामान्य समाचार-पत्रों में नहीं मिलते। एक बड़ा महत्त्वपूर्ण फीचर सशस्त्र सेना के सदस्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर वाला है। गोरखाली संस्करण खासकर गोरखा सैनिकों के बड़े उपयोग का है, क्योंकि गोरखाली में अन्य कोई समाचार-पत्र उपलब्ध नहीं है।

लोक-सम्पर्क-निदेशालय आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र से नित्य एक विशेष सैनिक कार्यक्रम भी चलाता है। जनता के लाभ के लिए अनेक जानकारी-पूर्ण पुस्तिकायें भी तीनों सेनाओं के बारे में निकाली गयी हैं।

१९६२ में भारत-चीन-संक्रिया के दौरान दो नयी लोक-सम्पर्क-यूनिटें, लेफ्टी० कर्नल के ओहदों वाले एक-एक मुख्य-लोक-सम्पर्क-अधिकारी की अध्यक्षता में, 'उपूमी' और लद्दाख के लिए क्रमशः तेजपुर और श्रीनगर में आरम्भ की गयी। तब से उन सैनिकों के लिए प्रचारकार्य की बढ़ती हुई जरूरतें पूरी करने के लिए, जो सीमान्त क्षेत्र में है, और उन क्षेत्रों में प्रेस के दलों को ले जाने के लिए भी, छः छोटी-छोटी स्थानीय लोक सम्पर्क यूनिटें भी बनायी गयी हैं।

निदेशालय का प्रचार-कार्य उस समय भारत की सीमा से बाहर तक फैल जाता है, जब भारतीय सैनिक विदेश भेजे जाते हैं। इस तरह कोरिया, गाजा और कांगो में भारतीय सैनिकों के साथ लोक-सम्पर्क-कार्य की व्यवस्था की गयी थी।

जून, १९६५ में सशस्त्र सेना कार्यालय का दरजा औपचारिक रूप से एक निदेशालय तक बढ़ा दिया गया और उसको एक निदेशक के अधीन रख दिया गया। निदेशक केन्द्रीय सूचना सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है, पर अगर वह सैनिक अधिकारी बनना पसन्द करे, तो उसको ब्रिगेडियर का ओहदा दिया जाता है। १९६३ में संयुक्त सूचना-अधिकारी, सशस्त्रसेना का, एक पद और उप सूचना अधिकारी, सशस्त्रसेना, के दो पद (अब उप-निदेशक, लोक-सम्पर्क) बनाये गये, जिनमें से एक पर सेना के कर्नल ओहदे का एक अधिकारी रहता है और दूसरे पर ग्रुप कैप्टेन ओहदे वाला एक वायुसेना का अधिकारी। इसके अलावा मुख्यालय में सहायक निदेशक, लोक सम्पर्क, के दो पद बनाये गये, जिनका ओहदा लेफ्टी० कर्नल का है।

खण्ड ६ मुख्य प्रशासन-अधिकारी का कार्यालय

सामान्य मुख्यालय (जिसे तब सेना-मुख्यालय कहते थे), नौसेना मुख्यालय और वायु-सेना-मुख्यालय का पिछले विश्वयुद्ध में बहुत काफी विस्तार हुआ। आवास, असैनिक व्यक्ति आदि के मामले में उनकी बढ़ती हुई मांग को देखते हुए, १९४२ में मुख्य प्रशासनिक अधिकारी का कार्यालय बनाया गया।

अब मुख्य प्रशासनिक अधिकारी निम्नांकित के लिए उत्तरदायी है (क) सशस्त्र सेना-मुख्यालयों और अन्त:-सेवा-संगठनों के राजपत्रित और अराजपत्रित असैनिक व्यक्तियों सम्बन्धी सभी मामले और (ख) रक्षा-मुख्यालयों के लिए कार्यालय-आवास और सशस्त्र सेना मुख्यालयों और अन्त:-सेवा संगठनों में नियोजित सैन्य अधिकारियों के लिए निवासार्थ आवास-व्यवस्था।

खण्ड ७ इतिहास-अनुभाग

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद, युद्ध का विस्तृत इतिहास संकलित करने के लिए, खासकर उन संक्रियाओं के सम्बन्ध में जिनमें भारत की अविभाजित सेनाओं ने प्रमुख भाग लिया, एक इतिहास अनुभाग खोला गया। विभाजन के बाद यह संगठन भारत और पाकिस्तान का एक संयुक्त संगठन बना रहा और उसका नाम संयुक्त अन्त:-सेना इतिहास-अनुभाग (भारत और पाकिस्तान) रखा गया।

इस योजना में २४ जिल्दों की माला के लिए व्यवस्था थी, जिनमें से सात युद्ध के चिकित्सकीय के पक्ष पर लिखी जानी थी। १९४७ से १९६३ के वर्षों के दौरान २३ जिल्दें

प्रकाशित की गयी और इस माला की अन्तिम जिल्द १९६६ में प्रकाशित की गयी। संयुक्त इतिहास-अनुभाग १९६३ में बन्द कर दिया गया।

इतिहास-अनुभाग (भारत) नामक एक अलग अनुभाग १९५३ में भारतीय सशस्त्र सेनाओ की विभाजन-उत्तर सैन्य-सक्रियाओ का इतिहास संकलित करने के लिए खोला गया। यह अनुभाग सैन्य-इतिहास और सम्बद्ध विषयो के बारे में भी मन्त्रालय और तीनो सेनाओ को जानकारी प्रदान करता है और सेनाओ के ध्वजो, शिखरो, चिह्नों आदि के लिए आकल्प और आदर्शवाक्य के चयन में भी उनको सलाह देता है।

हैदराबाद-पुलिस-कारंवाई (१९४८) और गोवा-मुक्ति (१९६१) के इतिहास का भी काम शुरू कर दिया गया है। एक पुस्तक के, भारतीय सेनाओ द्वारा कोरिया, इडोचीन, लेबनान, गाज़ा और कांगो मे निष्पादित अन्तर्राष्ट्रीय कार्य के बारे मे भी लिखे जाने का विचार है।

खण्ड ८ संयुक्त बीजलेख-कार्यालय

यह अन्य महत्त्वपूर्ण सगठन है, जिसे स्वाधीनता के बाद नई दिशा दी गयी।

"रक्षा सेनाओं की विरचनाओ के बीच सभी गुप्त प्रकार के सकेत-(सिगनल) संचार और भारत सरकार के विभिन्न कार्यालयो और विदेश के बीच सभी सचार कूटो में ही भेजने होते है, जिनको 'बीजलेख' कहते हैं। सरकार के लिए विश्वसनीय बीजलेख-पद्धति पर महत्त्व देना जरूरी होता है, युद्ध काल में तो यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है। विभाजन के बाद तुरन्त भारत सरकार का एक अविलम्बनीय कार्य एक विशुद्धत. भारतीयकृत संगठन बीजलेख बनाने के लिए खडा करना था।

युद्ध से पहले भारत सरकार के प्राय सभी बीजलेख वाले प्रलेख, सैनिक और असैनिक दोनो ही विभागो के, ब्रिटेन सरकार द्वारा ही दिये गये थे। युद्ध कार्यालय द्वारा प्रदान किये गये दस्तावेज सामान्य मुख्यालय, भारत के जरिये बाँटे जाते थे और भारत कार्यालय समेत ब्रिटेन के असैनिक विभागो द्वारा दिये गये दस्तावेज भारत सरकार के विदेश और राजनीतिक विभागो के जरिये बाँटे जाते थे। इन दस्तावेजो के बाँटने और इनका हिसाब रखने के अलावा भारत में बीजलेखो के निर्माण और मुद्रण का प्राय कोई भी काम नही किया जाता था। सेना मुख्यालय के सैन्य-आसूचना-निदेशालय के एक अनुभाग में ब्रिटेन से इकट्ठे ही दस्तावेज प्राप्त हो जाते थे और वे इस अनुभाग द्वारा भारत की सशस्त्रसेनाओ में बाँट दिये जाते थे।

पिछला विश्वयुद्ध छिड़ जाने और इसके पूर्वी एशिया में फैल जाने के बाद यह निर्णय किया गया कि युद्ध के पूर्वी रण-क्षेत्र के लिए बीजलेख समाग्री भारत होकर केन्द्रित रूप में बाँटी जाय, सीधे-सीधे ब्रिटेन से नही। जब धीरे-धीरे पोतवहन की क्षमता क्रमश कम होने लगी, तो १९४२ के उत्तरार्द्ध में यह जरूरी हो गया कि दस्तावेजों को ज्यादा से ज्यादा संख्या में भारत में मुद्रित किया जाय, लेकिन बुनियादी सामग्री अब भी ब्रिटेन से हो आती रही।

रॉयल इंडियन नेवी और रॉयल नेवी के जो अंग पूर्वी रणक्षेत्र में संक्रियारत थे, उनके

लिए सभी जरूरी बीजलेख दस्तावेज एडमिरलटी द्वारा और भारत स्थित वायुसेना के लिए ये दस्तावेज वायु-मन्त्रालय द्वारा प्रदान किये जाते थे।

युद्ध के वास्तविक अनुभव से यह स्पष्ट हो गया कि भारत के लिए यह बात बुद्धिमानी पूर्ण न होगी कि अपनी बीजलख सम्बन्धी जरूरतों के लिए बाहर के स्रोतों पर निर्भर रहे। युद्ध के अन्त की ओर भारत की रक्षा-सेनाओं ने सिफारिश की कि भारत के लिए जरूरी सभी बीजलेख-दस्तावेजों के निर्माण, वितरण और हिसाब रखने के लिए एक संगठन बनाया जाय। इसके फलस्वरूप नवम्बर, १९४५ में संयुक्त बीजलेख-कार्यालय की रचना की गयी, जिसका केन्द्राधार सैन्य-आसूचना निदेशालय का विद्यमान सैन्य-उत्पादन केन्द्र को ही बनाया गया। कार्यालय को ब्रिटेन के बीजलेख-नीति-बोर्ड के साथ सम्पर्क रखने का काम सौंपा गया।

नया संगठन पूरी तरह के काम शुरू कर पाता, इसी बीच दूरगामी राजनीतिक परिवर्तन सामने आ गये। इसके फलस्वरूप इस अन्त-सेना-संगठन का विस्तार एक अन्त-सेना और अन्तर्विभागीय संगठन के रूप में करना पड़ा, ताकि यह असैनिक विभागों की जरूरतों को भी पूरा कर सके। इस नये उपक्रम की अन्तर्निहित कठिनाइयों का बोध इसी से हो सकता है कि उस समय तक एक भी भारतीय को इस संगठन से सम्बद्ध न किया था। नये राजनीतिक विकासों के बाद यह निर्णय किया गया कि इसमें भारतीयों को भरती किया जाय और पहली बार तीन सेना-अधिकारियों को इस संगठन में अप्रैल-मई १९४७ में नियुक्त किया गया और १७ आदमियों को जुलाई-दिसम्बर, १९४७) में।

देश के विभाजन के बाद संयुक्त बीजलेख-कार्यालय के व्यक्तियों का भी विभाजन कर दिया गया। भारत में केवल एक ही यूरोपीय सैन्य-अधिकारी रह गया, जिसने मार्च, १९४८ तक भारसाधक अधिकारी के रूप में बना रहना मंजूर कर लिया था। एक साल के अंत पर एक असैनिक यूरोपीय अधिकारी रह गया और तीन भारतीय अधिकारी, जो, कुछ महीने पहले ही आये थे। एक भारतीय अधिकारी उसके कुछ समय बाद ही सेवामुक्त होकर चला गया।

१५ अगस्त, १९४७ को संयुक्त बीजलेख-कार्यालय (भारत) और सं० बी० का० (पाकिस्तान) दोनों सुप्रीम कमांडर के मुख्यालय के अधीन आ गये और इस मुख्यालय के समाप्त हो जाने तक इसी प्रकार बने रहे। सुप्रीम कमांडर ने भारत और पाकिस्तान के दो कार्यालयों के बीच परिसम्पत्तियों और व्यक्तियों के आवंटन का पर्यवेक्षण किया।

नवजात भारतीय कार्यालय के ऊपर, सहसा कश्मीर में संक्रिया के छिड़ जाने से, जो भारी जिम्मेदारी आ पड़ी, उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। दुर्भाग्य से भारत को कुछ समय तक उन्हीं दस्तावेजों का प्रयोग जारी रखना पड़ा, जो पाकिस्तान के और उसके एक जैसे ही थे, जबकि पाकिस्तान कुछ आरक्षित दस्तावेज इस्तेमाल कर सकता था, जो उसको आवंटित किये गये थे और केवल उसके ही पास थे। निश्चित प्रयास किया गया पर तब भी पहला परिवर्तन ११ नवम्बर, १९४७ को लागू किया गया, जब कि कश्मीर-संक्रिया अपना सबसे महत्त्व का चरण प्राय. एक पखवारे तक पार कर चुकी थी। तब भी सभी अत्यावश्यक

दस्तावेजों के मामले में ऐसा नहीं हो सका और वे कुछ ज्यादा समय तक पाकिस्तान के साथ एकरूप चलते रहे, ज्यादातर इसलिए कि आरक्षित दस्तावेजों की कमी थी।

फरवरी, १९४८ के आरम्भ में भारसाधक यूरोपीय अधिकारी के स्थान पर एक भारतीय अधिकारी को रखा गया, क्योंकि वह मार्च, १९४८ में जाने को था। इस अधिकारी को बीजलेखों का काफी अनुभव था, लेकिन दूसरों की तरह इसे भी निर्माण का अनुभव न था। इस समय तक संघीय-लोक-सेवा आयोग के जरिये कुछ और स्थानों को भरा जा चुका था और काफी बीजलेख अनुभव वाले कुछ सैनिक अधिकारी आयोग ने असैनिक रूप में नियुक्ति के लिए चुने थे। इस समय भारत के सामने बीजलेख निर्माण की इतनी भारी समस्या आ खड़ी हुई थी, जो उसके जनसाधन, अनुभव और सीमित मुद्रण क्षमता के परे थी। इन बड़े ही कठिन काल द्वारा अपेक्षित काम पूरा करने के लिए तदर्थ व्यवस्था कर दी गयी और पूरे १९४८ और १९४९ के कुछ काल तक बीजलेख दस्तावेजों के निर्माण और पूर्ति के मामले में प्राय 'रोज खोदना-रोज पीना' जैसी स्थिति बनी रही। लेकिन नि संकोच सहयोग, मिल-जुलकर काम करने की भावना और समुचित मार्गदर्शन से इस विशाल कार्य में सफलता सम्भव हो गयी।

बीजलेख-निर्माण एक बड़ा ही विशेषीकृत कार्य है और इसके लिए भारी तकनीकी प्रवीणता जरूरी होती है। निर्माण की रीतियों की निरन्तर समीक्षा करते रहना पड़ता है, ताकि ज्यादा सुरक्षा रखी जा सके और उनके उपयोग में तेजी और सुविधा भी बनी रहे। बीजलेखों का निर्माण और उपयोग करने वालों के, और उनका भेद खोल पाने के इच्छुक शत्रु लोगों के बीच निरन्तर संघर्ष-सा चलता रहता है। इसलिए संकलनकर्ताओं को अपने बीजलेखों में सुधार करने के लिए निरन्तर साधनोपाय सोचने रहने पड़ते हैं और सुगठित बीजलेख भेदी हमलों के आगे अपनी दुर्धर्षता की जाँच करते रहना पड़ता है। कार्यालय ने यथासम्भव सर्वोत्तम काम किया। कार्य की विपुलता और उसके उत्तरदायित्व ने आरम्भिक चरणों में प्राय. उसकी कमर ही तोड़ दी थी।

१९४९ में संयुक्त बीजलेख-कार्यालय के वर्द्धमान उत्तरदायित्वों और वचनबद्धताओं को पूरा करने के लिए उसका पुनर्गठन किया गया। उसके समुचित कार्यकरण के लिए अत्यावश्यक अनेक नये अनुभाग बनाये गये। मुद्रण-क्षमता बढ़ायी गयी और ज्यादा कर्मचारी भरती किये गये। १९४९ के अन्त तक स्थिति में कुछ सुधार हो गया था। कभी-कभी विपत्ति के बावजूद, जैसे-जैसे समय बीतता गया, स्थिति अधिकाधिक सन्तोषजनक होती गयी। दस्तावेजों के निर्माण और रक्षितियों के मामले में अब यह कार्यालय कहीं ज्यादा दृढ़तर स्थिति में है।

किसी भी देश की सुरक्षा उसके संचार की सुरक्षा पर निर्भर है और इस कारण प्रयुक्त बीजलेखों की सुरक्षा पर निरन्तर कड़ी-से-कड़ी सतर्कता रखनी पड़ती है। इसलिए अधिकतम प्रयास और कार्यदक्षता इस संगठन का आदर्श है।

अक्तूबर, १९५४ में संयुक्त बीजलेख-कार्यालय के भारसाधक अधिकारी का नया पदनाम निदेशक, संयुक्त-बीजलेख-कार्यालय कर दिया गया। इस संगठन के अन्य पदों के नामों में भी परिवर्तन कर दिये गये।

खण्ड ९ विदेशी-भाषा-विद्यालय

विदेशी-भाषा-विद्यालय स्वाधीनता के बाद स्थापित किया गया बिलकुल नया संगठन है, जो प्रथमत सेनाओ के व्यक्तियो को विदेशी भाषाओ के अध्ययन की सुविधायें प्रदान करने के लिए स्थापित किया गया है। सभी देशों में यह सामान्य चलन है कि अपने विदेशस्थ मिशनो में सैन्य-सहचारी रखे जायें। भारतीय सेना, नौसेना और वायुसेना के अधिकारी सैन्य, नौसेना और वायुसेना सहचारी के रूप में (राष्ट्रमण्डल के देशो में उनको सैन्य, नौसेना और वायुसेना सलाहकार कहा जाता है) कुछ उन महत्त्वपूर्ण विदेशस्थ मिशनों में तैनात किये जाते है, जिन देशों में उनकी उपस्थिति ज्यादा उपयोगी समझी जाती है। इन अधिकारियो के लिए यह बहुत जरूरी है कि अपने कर्त्तव्यों का क्षमतापूवक निर्वाह करने के लिये कुछ विदेशी भाषाओ का पूर्ण ज्ञान रखें। देश में १९४८ से पहले विदेशी भाषाओ के अध्यापन के लिये पर्याप्त सुविधायें उपलब्ध न थी। इसलिए रक्षा-मन्त्रालय के अधीन एक विदेशी-भाषा-विद्यालय स्थापित करने का निर्णय किया गया और २० अक्तूबर, १९४८ को एक सुप्रसिद्ध भाषाविद् को इस विद्यालय का निदेशक नियुक्त किया गया। बाद में अन्य कर्मचारी नियुक्त किये गये और विद्यालय ने १ फरवरी, १९४९ से काम करना और फ्रेंच, फारसी, चीनी, अरबी, रूसी और जर्मन भाषाओ का प्रारम्भिक शिक्षण देना शुरू कर दिया और पहले सत्र में २१४ छात्रों ने प्रवेश लिया। फ्रेंच, जर्मन और रूसी में अगस्त, १९५० में, चीनी में अगस्त, १९५२ में और फारसी में अगस्त, १९५३ में उच्च पाठ्यक्रम आरम्भ किये गये। अगस्त, १९५४ से जापानी, बर्मी और तिब्बती में भी उच्च प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी और १९६१ से स्पेनिश में भी। मलय और बहासा इंडोनेशिया शुरू करने के लिये भी कदम उठाये जा रहे हैं।

हालांकि इसका आरम्भ प्रमुखत सशस्त्र सेनाओ की जरूरतें पूरी करने के लिये किया गया था, इस विद्यालय में विभिन्न मन्त्रालयो में काम करने वाले राजपत्रित अधिकारियो को और आगे चलकर अराजपत्रित कर्मचारियों को भी प्रवेश दे दिया गया।

विद्यालय के छात्र या तो प्रायोजित होते हैं या अ-प्रायोजित। विद्यालय तीन तरह के पाठ्यक्रम चलाता है, नामत प्रारम्भिक, उच्च और दुभाषियावाला। पहले दो अशकालिक पाठ्यक्रम हैं, जिनमें असैनिक और सैनिक अधिकारी प्रायोजित और अ-प्रायोजित, आ सकते हैं, जबकि दुभाषिया पाठ्यक्रम पूर्णकालिक है और इसमें वही प्रायोजित अधिकारी भाग ले सकते हैं, जो दुभाषिये के रूप में प्रशिक्षण के लिए विशेष रूप में प्रतिनियुक्त किये जाते हैं। प्रारम्भिक पाठ्यक्रम की अवधि एक साल है। उच्च पाठ्यक्रम १८ महीने का है और दुभाषिया का पाठ्यक्रम भाषा के अनुसार १८ से २७ महीनों तक का है।

प्रायोजित छात्रों के लिये मन्त्रालय का सम्बन्धित विभाग प्रति भाषा के हिसाब से ४० रुपये प्रतिमास की ट्यूशन शुल्क देता है। अ-प्रायोजित उम्मीदवारों के शुल्क की दर में उनकी आय के अनुसार अन्तर रहता है।* बाहर वालों के लिये विहित शुल्क दर १५ रुपये मासिक

* ५०० रुपये मासिक से कम पाने वालों से १० रुपये मासिक लिया जाता है, ५०० रुपयों से २००० रुपयों के बीच में पाने वालों से १५ रुपये मासिक लिया जाता है और

है। पर सरकारी कर्मचारियों के आश्रित सम्बन्धियों के लिये ट्यूशन शुल्क उतना ही है, जितना सरकारी कर्मचारी के द्वारा स्वयं अपने लिये देय है।

विद्यालय में विदेशी भाषाओं को पढ़ने वाले छात्रों को प्रोत्साहन देने के लिए हर साल प्रारम्भिक और उच्च दोनों पाठ्यक्रमों के सुपात्र अराजपत्रित अप्रायोजित छात्रों को दो नि.शुल्क और चार अर्द्ध नि शुल्क वृत्तियाँ प्रदान की जाती है। विद्यालय में पढ़ाई जाने वाली सभी भाषाओं की प्रारम्भिक और उच्च परीक्षाओं में विशेष योग्यता के साथ सर्वप्रथम आने वाले छात्रों को नीचे लिखे आधार पर छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं (क) प्रारम्भिक पाठ्यक्रम- अप्रायोजित फीस देने वाले छात्र २०० रुपये, प्रायोजित छात्र और नि शुल्क वृत्तिवाले १०० रुपये, (ख) उच्च पाठ्यक्रम-अप्रायोजित शुल्क देने वाले छात्र ३०० रुपये, प्रायोजित छात्र और नि शुल्क वृत्ति पाने वाले १५० रुपये। जिस भाषा के लिए पुरस्कार दिया जा रहा है, कम से कम ५० प्रतिशत पुरस्कार उस भाषा की पुस्तकों के रूप में दिया जाता है।

१९५० में एक परीक्षक बोर्ड विद्यालय के निदेशक की अध्यक्षता में भारतीय भाषाओं की (सेना के अधिकारियों के ही लिए) और विदेशी भाषाओं की परीक्षाएँ चलाने के लिए बनाया गया। विदेशी भाषाओं की परीक्षाएँ विदेशी भाषा विद्यालय के छात्रों, राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी के सेना-छात्रों, सेना-अधिकारियों और अन्य पदधारियों, भारतीय विदेश-सेवा के सदस्यों और भारतीय सूचना-सेवा के अधिकारियों, राज्यों के आसूचना संगठनों के कर्मचारियों, भारतीय खान और अनुप्रयुक्त भूविज्ञान, धनबाद के छात्रों और राज्य सरकारों द्वारा प्रायोजित उम्मीदवारों के लिए ली जाती हैं।

विद्यालय के आरम्भ से लेकर थोर १९६५ तक विदेशी भाषाओं में विभिन्न परीक्षाओं में उत्तीर्ण करने वाले छात्रों की संख्या निम्न प्रकार है :—

भाषा	प्रारम्भिक	उच्च
अरबी	३८	१२
बर्मी	२०	४
चीनी	२१७	५५
फ्रेंच	५८२	६६
जर्मन	३४६	४३
जापानी	६६	५
फारसी	७३	२४
रूसी	४६४	१५६
स्पेनिश	५२	१६
तिब्बती	३६	५
	१८६७	४२२

२००० रुपये मासिक से ज्यादा पाने वाले से २५ रुपये मासिक लिया जाता जाता है।

उत्तीर्ण छात्रों को प्रारम्भिक परीक्षा के लिए प्रमाण-पत्र और उच्च और दुभाषिया परीक्षा के लिए डिप्लोमा प्रदान किये जाते हैं।

अगस्त, १९५४ में विदेशी-भाषा-विद्यालय को स्थायी आधार प्रदान कर दिया गया। विद्यालय में प्रवेश लेने वाले छात्रों की संख्या १९४८-४९ में २१४ से बढ़कर १९६५-६६ में ५१७ तक पहुँच गयी थी।

भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों और विभागों के लाभ के लिये फरवरी, १९५४ में विदेशी भाषाओं के दस्तावेजों का अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए एक छोटा अनुवादक-बोर्ड बनाया गया था। योग्यताप्राप्त भाषाविदों, सरकारी और गैरसरकारी, की एक नामिका विद्यालय में रखी जाती है और काम इस नामिका के ही अनुवादकों में बाँट दिया जाता है। इन अनुवादकों को किये गये काम का पैसा दिया जाता है।

खण्ड १० सशस्त्र सेना फिल्म और फोटो-प्रभाग

यह प्रभाग १५ जुलाई १९५४ को रक्षा-मन्त्रालय के सीधे अधीन एक अन्त-सेना-संगठन के रूप में तीनों सेनाओं का विशेषत प्रशिक्षण और अभिलेख सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने के लिए बनाया गया था।

पिछले महायुद्ध के दौरान तीनों सेनाओं के लिए प्रशिक्षण अनुदेश और भरती सम्बन्धी फिल्में और फिल्म पट्टियों के निर्माण, प्राप्ति और वितरण के लिए सेना काइनेमेटोग्राफी-निदेशालय की स्थापना की गयी थी। वह मनोरंजक फिल्मों को, विभिन्न भारतीय यूनिटों में जहाँ भी वे स्थित हों, प्रदर्शित करने के लिए भी जिम्मेवार थी। यह निदेशालय ३१ मार्च, १९४७ को बन्द कर दिया गया और सेना-मुख्यालय के सैन्य प्रशिक्षण-निदेशक के अधीन फिल्म और फोटो अनुभाग नामक एक छोटा-सा संगठन-प्रशिक्षण और अभिलेख के प्रयोजन से सेना की फिल्म और फोटो सम्बन्धी जरूरतें पूरी करने के लिए बनाया गया। उस समय नौसेना और वायुसेना में इस तरह के अपने अलग संगठन थे और फिल्मों और फिल्म पट्टियों की प्राप्ति और वितरण सम्बन्धी काम उनके अपने-अपने उपस्कर और प्रशिक्षण निदेशालय देखते थे।

तीनों सेनाओं में प्रशिक्षण के काम के लिए दृश्य साधनों के बढ़ते हुए महत्व के साथ-साथ, सेना मुख्यालयों में दुहरा काम न होने देने के प्रयोजन से, एक केन्द्रीय फिल्म संगठन की जरूरत समझी गयी। दूसरे नौसेना और वायुसेना की जरूरतें इतनी बड़ी न थीं कि उनके लिए उनके अपने अलग-अलग संगठन बचत और कार्यदक्षता की भी दृष्टि से यथोचित ठहराये जा सकें। मन्त्रालय की सीधी अधीनता में एक अन्त-सेना-संगठन समुचित संगठन और उत्तम नियन्त्रण के साथ बनाया जा सकता था। सिद्धान्तत ऐसा संगठन बनाने का निर्णय अगस्त, १९५२ में कर लिया गया, जब इतिहास-अनुभाग के फिल्म और फोटो-उप-अनुभाग में, जिसके पास युद्धकाल की फिल्मों का काफी ढेर हो गया था, भविष्य-निर्णय की समस्या सामने आयी।

विभिन्न प्रशासनिक ब्योरों को अन्तिम रूप देने के बाद जुलाई १९५४ में सशस्त्र फिल्म और फोटो-प्रभाग स्थापित करने के लिए आदेश निकाले गये, जिसमें इनका विलय कर दिया गया : (क) सैन्य-प्रशिक्षण-निदेशालय का फिल्म और फोटो अनुभाग (ख) इतिहास-अनुभाग का फिल्म और फोटो उप-अनुभाग और (ग) आर्डनेंस डिपो, बम्बई का एक अंश, जो यूनिटों को फिल्में वितरित करता था और उनका भण्डार रखता था। इन तीनों कार्यालयों के मिलाने से कुछ बचत भी हुई। दिसम्बर, १९५६ में सशस्त्र सेना फिल्म और फोटो-प्रभाग को स्थायी संगठन बना दिया गया।

यह प्रभाग एक फिल्म अधिकारी के अधीन है और तीनों सेनाओं के लिए सभी प्रकार की प्रशिक्षण-फिल्मों, फिल्म-पट्टियों के निर्माण, प्राप्ति और भण्डार में रखने और वितरण के लिए स्थूलत जिम्मेवार है। और सेना की यूनिटों के लिए प्रोजेक्शन मशीनों की भी व्यवस्था करता है। इसका सम्बन्ध सूचना, प्रचार या भरती के प्रयोजन वाली फिल्मों से नहीं है, जो लोक सम्पर्क अधिकारी के क्षेत्र में आती हैं, और न वायु-फोटोग्राफी से, जो वायु मुख्यालय की जिम्मेवारी है।

सशस्त्र सेना फिल्म और फोटो-प्रभाग अवर-कमीशन प्राप्त अधिकारियों और गैर कमीशन प्राप्त अधिकारियों के लिए, सैन्य-प्रशिक्षण-निदेशालय के जरिये, फोटोग्राफी के पाठ्यक्रम भी चलाता है। चल-सिनेमा-यूनिट जो पहले लोक सम्पर्क अधिकारी के अधीन थी, १ मार्च, १९५६ को फिल्म और फोटो-प्रभाग द्वारा अपने हाथ में ले ली गयी। सिनेमा-यूनिट, वृत्त-चित्रों और समाचार-चित्रों के प्रदर्शन का प्रबन्ध, दिल्ली की विभिन्न सैन्य-स्थापनाओं और स्थानीय शिक्षा-संस्थाओं में भी करती है।

प्रशिक्षण के काम के लिए फिल्मों का निर्माण सूचना और प्रसारण-मन्त्रालय के फिल्म-डिवीजन द्वारा सशस्त्र सेना फिल्म और फोटो-प्रभाग के तकनीकी पर्यवेक्षण में किया जाता है।

खण्ड ११—सेना-खेलकूद-नियन्त्रण-बोर्ड

एक अन्त-सेना संगठन के रूप में सेना-खेलकूद-नियन्त्रण-बोर्ड १५ जुलाई, १९५४ को बनाया गया था। बोर्ड तीनों सेनाओं के व्यक्तियों के खेलकूद कार्यकलाप का संगठन और समन्वय करता है।

प्रत्येक सेना का अलग खेलकूद-नियन्त्रण-बोर्ड है। अन्त-सेना-बोर्ड में एक प्रधान होता होता है, जो एक प्रधान स्टाफ अधिकारी होता है। तीनों सेनाओं से एक एक सदस्य रहता है, एक सचिव रहता है और एक सहायक सचिव। सचिव और सहायक सचिव बोर्ड के पूर्ण कालिक अधिकारी हैं, जबकि प्रधान और सदस्यों के सेना-मुख्यालयों में अपने-अपने पद अलग होते हैं। प्रधान, सचिव और सहायक सचिव हर चार साल के लिए प्रत्येक सेना में से क्रमानुसार चुने जाते हैं।

बोर्ड का मुख्य कर्तव्य सेना की चैम्पियनशिपों का संगठन और संचालन करना, असैनिक टूर्नामेंटों में सेना की टीमों में भाग लेने को विनियमित करना, खासकर राष्ट्रीय खेल कूद चैम्पियनशिप और अन्य अखिल भारतीय खेलकूद टूर्नामेंटों में, विदेशी सेनाओं की टीमों की भारत-यात्रा के लिए बातचीत चलाना और सगठित करना आदि। जब विदेशी असैनिक टीमें भारत आती हैं, तो उनकी सेना-टीमों से प्रतियोगिता भी यह बोर्ड ही सगठित करता है। बोर्ड भारतीय ओलिम्पिक-सघ से और राष्ट्रीय खेलकूद-महासघ के साथ भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय टूर्नामेंटों में सेना के व्यक्तियों और सैन्य-टीमों के भाग लेने सम्बन्धी सभी मामलों के बारे में सम्पर्क रखता है।

तेरहवाँ अध्याय

नागरिकता का प्रशिक्षण

खंड १—प्रादेशिक सेना

आजादी से पहले भी देश में यह व्यापक माँग की जा रही थी कि भारतीय नागरिक जनता को सैन्य-प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए उपयुक्त सुविधायें प्रदान की जायें। अगस्त, १९४७ के बाद यह माँग और उग्र हो गयी। ऐसी बात न थी कि राष्ट्र सैन्य प्रवृत्ति वाला बन गया हो और देश के सैन्यीकरण की बात चाहता हो। शताब्दियों के विदेशी शासन ने राष्ट्रीय मनोबल के साथ बड़ा अनर्थ किया था और इसके साथ सार्वजनिक कार्यों के प्रति लोगों में अरुचि और वैयक्तिक प्रतिष्ठा का अभाव हो गया था। राष्ट्रीय चेतना के उद्भव के साथ यह अनुभव किया गया कि सैन्य-अनुशासन जैसी ही कुछ चीज लोगों की जडता दूर करके उनकी प्रतिष्ठा को पुन: स्थापित कर सकेगी और एक प्रगतिशील राष्ट्र के योग्य नागरिक बना सकेगी। सैन्य-प्रशिक्षण की माँग की युक्ति यही थी। सरकार ने यह माँग प्रादेशिक सेना और राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल गठित करके पूरी की।

प्रादेशिक बल

१९४७ से पहले भारतीय प्रादेशिक बल अधिनियम १९२० (१९२० का ४८ वां) के द्वारा एक प्रादेशिक बल गठित किया गया था। यह बल प्रकटत: इस दृष्टि से खडा किया गया था कि भारतीय जनों को सैन्य-सेवा के लिए ज्यादा अवसर दिये जा सकें। पहले आठ प्रादेशिक बटालियनें थीं और यह संख्या क्रमश: बढ़ाकर बीस कर दी गयी। पिछले युद्धकाल में ये बटालियनें नियमित सेना का अंग बनाकर और फिर कुछ समय बाद उसमें विलीन कर दी गयीं। उस समय भारतीय प्रादेशिक बल प्रान्तीय यूनिटों से, चिकित्सा-शाखा, शहरी यूनिटों और विश्वविद्यालय-प्रशिक्षण कोर यूनिटों से बना था।

पर उस समय गठित प्रादेशिक बल का क्षेत्र बड़ा सीमित था। लोक-कल्पना के समाधान के लिए कुछ अधिक करने की जरूरत थी। फिर भी १५ अगस्त, १९४७ के तुरन्त बाद प्रशिक्षित अधिकारियों की भारी कमी पड़ गयी। साथ ही पूरे देश के सैन्य-प्रशिक्षण के लिए एक विशाल योजना बनाने का अर्थ भारी खर्च करना होता, भले ही यह मान लिया जाता कि इस काम के लिए अपेक्षित सैन्य-सामग्री और व्यक्ति दोनों ही उपलब्ध हो जायेंगे।

प्रादेशिक सेना का गठन

कठिनाइयों के बावजूद सरकार ने वृहत्तर दृष्टिकोण से प्रादेशिक सेना गठित करने का निर्णय किया। १९४८ के आरम्भ में ब्रिगेडियर के ओहदे के एक अधिकारी को सेना-मुख्यालय की सामान्य स्टाफ-शाखा में प्रादेशिक सेना का निदेशक नियुक्त किया गया। तब योजना के

ब्यौरे तैयार किये और प्रादेशिक सेना गठित करने वाला विधेयक संविधान सभा (विधायिनी) में २३ अगस्त, १६४८ को पेश किया गया, जो १ सितम्बर, १६४८ को पास हो गया। १० सितम्बर, १६४८ को प्रादेशिक सेना अधिनियम प्रभावी हो गया और भारतीय प्रादेशिक बल अधिनियम, १६२० का निरसन कर दिया गया।

नवगठित प्रादेशिक सेना एक नागरिक बल है, जो लोगों को, नियमित सेना में भरती हुए बिना, सैन्य प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। राष्ट्रीय आपातकाल में प्रादेशिक सेना नियमित सेना की द्वितीय रक्षा-पंक्ति के रूप में काम करती है। इसका काम यथोपेक्षित आन्तरिक रक्षा के कर्तव्यों को संभालना होता है और इस तरह वह इस जिम्मेदारी से नियमित सेना को मुक्त कर देती है। वह विमान-रोधी रक्षा-कार्य के लिए भी उत्तरदायी है और यथोपेक्षित नियमित सेना के लिए यूनिटें भी प्रदान करती है। लेकिन प्रादेशिक सेना के किसी सदस्य से भारत से बाहर सैन्य-कार्य संभालने की अपेक्षा नहीं की जाती। केवल केन्द्रीय सरकार के विशेष या सामान्य आदेश से ही ऐसा हो सकता है। (१६६२ में आपात की दृष्टि से यह दायित्व इस रूप में बढ़ा दिया गया था)। जब प्रादेशिक सेना की यूनिटों को सेना का अंग बनाया जाता है, तब इन यूनिटों के व्यक्तियों को नियमित सेना की तरह कर्तव्य सौंपे जाते हैं। आवश्यकतानुसार समय-समय पर इसकी यूनिटों का सेना में अंगीभवन किया जाता है या अंगविघटन किया जाता है।

जरूरी व्यवस्था पूरी करने के बाद प्रादेशिक सेना की पहली यूनिटें अगस्त, १६४६ में खड़ी की गयीं। जब अक्तूबर, १६४६ में अधिकांश राज्यों की राजधानियों में उद्घाटन समारोह किये गये, तो इससे लोगों में बड़ा उत्साह पैदा हुआ। भारतीय प्रादेशिक बल की जो चार बटालियनें १० सितम्बर, १६४८ को भी विद्यमान चली आ रही थीं, उनको प्रादेशिक सेना की पैदल बटालियनों के रूप में गठित कर दिया गया। भूतपूर्व प्रादेशिक बल के जिन व्यक्तियों ने प्रादेशिक सेना में सेवा करने की इच्छा व्यक्त की, उनको भी शामिल कर लिया गया।

प्रादेशिक सेना में नामाङ्कन के लिए एक व्यक्ति को १८ और ३५ की आयु-सीमा में होना चाहिये, पर आयुसीमा में भूतपूर्व सैनिकों और तकनीकी योग्यता वाले असैनिकों के मामले में ढील दी जा सकती है। इस अधिनियम के अधीन स्त्रियाँ भी प्रादेशिक सेना में प्रवेश ले सकती है, लेकिन आरम्भ में केवल डाक-तार विभाग की महिला कर्मचारियों को डाक-तार सिगनल-यूनिटों में भरती किया जा रहा है। प्रादेशिक सेना में भरती की अवधि ७ साल है और प्रादेशिक सेना रक्षितियें ८ साल। प्रशिक्षण के अंशकालिक होने से प्रादेशिक सेना में भरती होने वाला कोई व्यक्ति अपना सामान्य असैनिक काम चालू रख सकता है।

प्रादेशिक सेना में नियमित सेना की तरह सभी सेनाओं और सैन्य-शाखाओं की शहरी और प्रान्तीय यूनिटें होती हैं। इस तरह प्रादेशिक सेना की आर्टिलरी कोर की यूनिटें हैं, जिनमें विमान-रोधी यूनिटें शामिल हैं, इंजीनियरी कोर की यूनिटें हैं, जिनमें अन्तर्देशीय जल-परिवहन, बन्दरगाह और गोदी और रेलवे यूनिटें भी आती हैं, साथ ही पैदल सेना, सेना-चिकित्सा-कोर और बिजली और यान्त्रिक इंजीनियरी की कोरों की यूनिटें भी होती हैं।

प्रान्तीय यूनिटों में भरती देहाती इलाकों में की जाती है, जबकि शहरी यूनिटें बड़े

शहरों में बनायी जाती हैं। प्रान्तीय यूनिटों को दो महीनों तक का लगातार प्रशिक्षण, फसल काटने का मौसम न होने पर, दिया जाता है। साथ ही भर्ती के पहले साल में एक महीने का रंगरूट-प्रशिक्षण अलग से दिया जाता है। शहरी यूनिटें पूरे साल, काम के सामान्य घण्टों के अलावा, तथा रविवार और छुट्टी के दिन को छोड़ प्रशिक्षण पाती रहती हैं। चार घण्टे के प्रशिक्षण को एक दिन का प्रशिक्षण माना जाता है। भरती के पहले साल शहरी यूनिटों के प्रत्येक सदस्य को १२८ घण्टों का प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है, जिसमें से चार से चौदह दिन तक एक शिविर में बिताने होते हैं। १२० घण्टे या ३० दिनों का न्यूनतम प्रशिक्षण और २४० घण्टों या ६० दिनों का अधिकतम प्रशिक्षण आगे के वर्षों के लिए विहित किया गया है, जिसमें शिविर में बिताये जाने वाले चार से चौदह तक दिन भी गिने जाते हैं। हर एक को शिविर में कम से कम चार दिनों की अवधि तक रहना होता है। प्रशिक्षार्थी की इच्छा पर यह अवधि चौदह दिनों तक बढ़ायी जा सकती है, लेकिन ऐसा नौकरी देने वाले मालिक की लिखित स्वीकृति से ही किया जा सकता है।

वर्ग या समुदाय की ओर ध्यान दिये बिना, भारतीय अधिवास के सभी भारतीय राष्ट्रिकों को भरती किया जा सकता है। भरती के प्रयोजन से देश को महाखण्डों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक महाखण्ड में कुछ राज्य आते हैं।

इस समय केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी केवल भारतीय यूनिटों में ही प्रवेश पा सकते हैं, वहाँ वे अपने सामान्य असैनिक कर्तव्यों में बाधा दिये बिना अपना प्रशिक्षण पा सकते हैं, क्योंकि इन यूनिटों में प्रशिक्षण, चार से चौदह दिनों तक के वार्षिक शिविर के समय को छोड़कर, अंशकालिक ही होता है। लेकिन यह व्यवस्था रेलवे और डाक-तार-यूनिटों के लिए बहुत ज्यादा उपयुक्त नहीं है। इसलिए यह फैसला किया गया कि रेलवे और डाक-तार-विभाग के व्यक्ति को, जो इन यूनिटों में प्रवेश पाने के एकमात्र पात्र होते हैं, वर्ष में एक मास तक लगातार शिविर में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

प्रादेशिक सेना के सदस्य सेना अधिनियम, १९५० से और उसके अधीन बनाये गये नियम से शासित होते हैं। पहले उन पर भारतीय सेना अधिनियम १९११ लागू होता था। शुरू में इन यूनिटों को खड़ा करने और प्रशिक्षण देने के लिए नियमित सैन्य अधिकारियों का तैनात करना जरूरी था, लेकिन बाद में धीरे-धीरे प्रादेशिक सेना के अधिकारियों और अन्य पदधारियों ने ही प्रशासनिक और शैक्षणिक कर्तव्य सँभाल लिये।

प्रशिक्षण पाते समय प्रान्तीय यूनिटों के सदस्य अपने ओहदे के अनुसार वेतन-भत्तों की दरें पाने के अधिकारी होते हैं। शहरी यूनिटों के मामले में अंशकालिक प्रशिक्षण पाते समय सरकारी कर्मचारी अपने वेतन-भत्तों की असैनिक दरें प्राप्त करते रहते हैं और इसके अलावा प्रादेशिक सेना में अपने ओहदे के अनुरूप सैन्य वेतन-भत्ते भी प्राप्त करते हैं। जब प्रादेशिक सेना की यूनिटों का सेवा के लिए अंगीभवन होता है, तो उनके सदस्य नियमित सेना के संवादी ओहदों वाले वेतन-भत्ते आदि पाने के अधिकारी हो जाते हैं। पर जब ये परिस्थितियाँ पहले के असैनिक नियोजन से कम होते हैं, तब सामान्यतः दोनों का अन्तर सरकारी या निजी नियोजकों द्वारा पूरा कर दिया जाता है।

प्रादेशिक सेना के व्यक्तियों को प्रोत्साहन देने के लिए मिलिटरी कॉलेज या राष्ट्रीय रक्षा-अकादेमी के सैन्य-स्कन्ध में उपलब्ध वास्तविक रिक्त स्थानों का २½ प्रतिशत उनके लिए आरक्षित कर दिया जाता है और अपना पाठ्यक्रम सफलतापूर्वक पूरा कर लेने पर उनको नियमित कमीशन दे दिया जाता है।

सलाहकार समिति

प्रादेशिक सेना के गठन और विकास सम्बन्धी मामलों में भारत सरकार को सलाह देने के लिए मार्च, १९५३ में रक्षा मंत्री की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय सलाहकार-समिति बनायी गयी। इस समिति में संसद सदस्य, सुप्रसिद्ध सार्वजनिक व्यक्ति, मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि, रक्षा-सचिव, सेना-स्टाफ-प्रमुख, वित्तीय-सलाहकार (रक्षा)-सचिव (सञ्चार-विभाग) और अध्यक्ष, रेलवे-बोर्ड थे। प्रादेशिक सेना में भरती को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न राज्यों में भी सलाहकार समितियाँ नियुक्त की गयी।

१९४८ के प्रादेशिक सेना अधिनियम में उन लोगों के असैनिक रोजगार को संरक्षण देने की कोई व्यवस्था न थी, जो प्रादेशिक सेना में आ गये थे और फलस्वरूप उनके मालिकों ने उनको प्रादेशिक सेना की नियुक्ति-काल में पुनर्ग्रहणाधिकार नहीं रखने दिया था। १९५१-५२ में प्राप्त अनुभव के आधार पर संसद द्वारा प्रादेशिक सेना (संशोधन) अधिनियम, १९५२ पास किया गया, जिसने मालिकों को इस दायित्व से बाँध दिया कि उनको इन कर्मचारियों को पुनः उन शर्तों से अन्यून अनुकूल शर्तों पर वापस नौकरी में रखना होगा, जो प्रादेशिक सेना में शामिल होने के फलस्वरूप उनकी नियुक्ति में बाधा न पड़ने पर उनको प्राप्त हुई होती। यह विहित कर दिया गया कि ऐसे किसी कर्मचारी को फिर नौकरी देने से इनकार करने पर या ऐसा करने में अपने दायित्व से मुकर जाने पर या ऐसे कारण बताने पर कि पुनः रखना असम्भव है, यह मामला मालिक या नौकर द्वारा मध्यस्थ निर्णय के लिए सौंपा जा सकता था। जहाँ मालिक रहता है, उस जिले के जिला और सत्र-न्यायाधीश इस अधिनियम के अधीन इस प्रकार के विवाद के निर्णय के लिए मध्यस्थ-निर्णायक-प्राधिकारी के रूप में विहित किये गये हैं। इस अधिनियम के प्रयोजन से सैन्य-सेवा में प्रशिक्षण-अवधि भी शामिल की जाती है। इसलिए अब यह मालिक के लिए वैध रूप से बाध्यकर हो गया है, कि प्रशिक्षण के बाद प्रादेशिक सेना के व्यक्ति को उसकी पुरानी नौकरी पर बहाल करे।

शुरू में मालिक अपने कर्मचारियों की प्रादेशिक सेना में भरती में आनाकानी करते थे, जिसका कि कारण उनकी यह आशंका थी कि आपात काल में प्रादेशिक सेना में भरती हुए कर्मचारियों को सेवा के लिए बुला लिया जायेगा और इस तरह वे मालिक को ऐसे समय पर उपलब्ध न रहेंगे, जबकि उनकी अपनी जरूरतें ही पहले से कहीं ज्यादा हो जायेंगी। लेकिन शीघ्र ही प्रादेशिक सेना में दिये जा रहे प्रशिक्षण की उपयोगिता सभी की समझ में आ गयी और प्रादेशिक सेना ने द्रुत प्रगति की।

यथासमय अनिवार्य-प्रशिक्षण के अलावा प्रादेशिक सेना के व्यक्तियों को नियमित सेना की यूनिटों के साथ स्वेच्छा से प्रशिक्षण पाने के लिए बुलाया गया और सेवा के विशेष-

विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी शामिल होने के लिए भी बुलाया गया, ताकि उनका व्यावसायिक ज्ञान अद्यतन हो जाय।

हालांकि प्रादेशिक सेना की प्रान्तीय यूनिटों में भरती का काम काफी सन्तोषजनक रहा, लेकिन शहरी यूनिटों में खासकर, तकनीकी व्यवसायों में, आरम्भ में यह बहुत सन्तोषजनक न रहा और तकनीकी यूनिटों को अधिकृत संख्या में काफी कमी रही। केन्द्रीय सलाहकार-समिति ने ८ मार्च, १९५३ को हुई अपनी बैठक में सिफारिश की कि कुछ श्रेणियों के कर्मचारियों को २० से ४० साल की आयुसीमा में प्रादेशिक सेना में अनिवार्य नामांकन का दायित्व होना चाहिये। इस अनिवार्य दायित्व के लिए चुनी गयी सभी श्रेणियाँ सरकारी कर्मचारियों की और विनिर्दिष्ट लोक उपयोगिता उपक्रमों के कर्मचारियों की श्रेणियाँ थीं। केन्द्रीय सरकार प्रस्तावित विधान के अधीन लाये जाने वाले लोक-उपयोगिता-उपक्रमों के कर्मचारियों के बारे में राज्य-सरकारों से परामर्श कर रही थी, ताकि उनका अनिवार्यतः नामांकन किया जा सके। तदनुसार प्रादेशिक सेना अधिनियम (संशोधन) विधेयक संसद् में २१ मार्च, १९५४ को पेश किया गया ताकि २० से ४० के आयु-वर्ग के सभी सरकारी कर्मचारियों और लोक उपयोगिता उपक्रमों के कर्मचारियों की प्रादेशिक सेना में अनिवार्य सेवा की व्यवस्था की जा सके, लेकिन यह विधेयक १९५६ के शरद् तक चर्चार्थ नहीं लिया जा सका।

इस बीच हालांकि प्रादेशिक सेना में भरती की स्थिति में काफी सुधार हो गया था, फिर भी यह जरूरी समझा गया कि प्रादेशिक सेना में भरती को प्रभाव में लाने के लिए सरकार के पास कुछ शक्तियाँ होनी चाहिये, ताकि विद्यमान रिक्त स्थान भरे जा सकें और आपात में उसका विस्तार किया जा सके। सेना संशोधन अधिनियम, १९५६ संसद् द्वारा १९५६ में पास किया गया था। फिर भी ऐसा इरादा नहीं है कि सभी सरकारी कर्मचारियों और लोक उपयोगिता उपक्रमों के सभी कर्मचारियों को प्रादेशिक सेना में भरती होने के लिए विवश किया जाय। लोक-उपयोगिता-उपक्रमों को अनिवार्य-नामांकन-योजना के अधीन लाने का कारण यही है कि अनिवार्य सेवायें आपात काल में काम करती रहें। लोक-उपयोगिता-उपक्रम वे हैं, जो जनता को बिजली, प्रकाश, गैस या पानी की पूर्ति करते हैं और लोक-परिवहन, लोक-सफाई का स्वच्छता कार्य भी, जो राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस रूप में घोषित कर दिये जायें। ऐसी कोई अधिसूचना जारी करने से पहले केन्द्रीय सरकार को अपना यह समाधान करना होगा है कि ऐसे लोक-उपयोगिता-उपक्रमों में काम कर रहे व्यक्तियों का लोकहित में प्रादेशिक सेना में सेवा करने के लिए दायित्वाधीन बनाया जाना जरूरी है। स्त्रियाँ, अ-भारतीय नागरिक और केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त कोई अन्य व्यक्ति अधिनियम के अधीन अनिवार्य सेवा के दायित्वाधीन नहीं है।

खण्ड २. राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल

यह पहले बताया जा चुका है कि भारतीय प्रादेशिक बल के अंग-स्वरूप एक विश्वविद्यालय-प्रशिक्षण-कोर (यू० टी० सी०) गठित की गयी थी। विश्वविद्यालय-प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम में प्रशिक्षण का उद्देश्य यह बताया गया था कि "सैन्य-सेवा के सिद्धान्त और आचरण में उनको

दीक्षित किया जाय, व्यक्तियों का नेतृत्व करने का शिक्षण दिया जाय, देशभक्ति और अनुशासन की भावना जगायी जाय, स्वास्थ्य सुधारा जाय और भारतीय प्रादेशिक बल के अधिकारियों, गैर-कमीशन-प्राप्त अधिकारियों और सैन्य जनों के हेतु चयन की पृष्ठभूमि तैयार की जाय।" विश्वविद्यालय से सम्बद्ध न रहने पर कोर के सदस्य को मुक्त कर दिया जाता था। विश्वविद्यालय-प्रशिक्षण-कोर की बटालियनों पर सैन्य-सेवा करने का बन्धन न था।

विश्वविद्यालय-प्रशिक्षण-कोर में प्रशिक्षण पद्धति निःसन्देह बहुत सन्तोषजनक न थी। सेना छात्र कमान के अधीन रहते थे, पर उनको कमान सँभालने का कभी अवसर न मिलता था और निश्चय ही उनका प्रशिक्षण व्यवहारिक रूप से नहीं होता था। १९४१ में कमांडर-इन-चीफ ने विश्वविद्यालय-प्रशिक्षण-कोर की प्रास्थिति और प्रशिक्षण का स्तर ऊँचा करने की जरूरत पर जोर दिया, ताकि वह अधिकारियों को जन्म देने की स्थिति में हो जाय। तदनुसार कोर का नाम ही बदल कर अधिकारी-प्रशिक्षण-कोर कर दिया गया। लेकिन कार्यदक्षता का स्तर न सुधर सका और नया नाम भ्रामक सिद्ध हुआ।

पिछले विश्वयुद्ध के दौरान सशस्त्र सेनाओं में अधिकारी ओहदों के लिए पर्याप्त संख्या में उपयुक्त रूप से योग्यता प्राप्त युवकों को प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव किया गया। १५ जुलाई, १९४६ को सरकार ने एक समिति बना दी, जिसका काम एक ऐसे राष्ट्र व्यापी सेना-छात्र-दल-सगठन की, जिसमें विद्यालय और विश्वविद्यालय सभी आ जायँ, स्थापना करने के प्रश्न पर विचार करना और सिफारिशें देना था। घोषणा में कहा गया कि "हालाँकि कमीशन प्राप्त करने के लिए बहुत संख्या में आवेदक (युद्धकाल में) सामने आते हैं, लेकिन अधिकांश लोगों में सूत्रपात, आत्मविश्वास और उत्तरदायित्व की भावना के गुण नहीं होते हैं। नेतृत्व के ये अनिवार्य गुण, जिनका होना एक अधिकारी में शारीरिक साहस और देश के स्वस्थ होने जितना ही जरूरी है, स्वभावतः अपने आप विकसित नहीं होते और एक व्यक्ति के चरित्र का निर्माण हो जाने के बाद फिर उनको विकसित करना भी हमेशा आसान नहीं होता। व्यक्ति के जीवन के प्रभाव ग्रहण करने वाले वर्षों में ही प्रशिक्षण देकर सामान्यतः उनका निर्माण किया जा सकता है। इसलिए इतने सारे उम्मीदवारों में इनकी कमी यही बताती है कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति में ही कोई त्रुटि है। यह विश्वास किया जाता है कि पूरे देश में राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल के गठित हो जाने से इसमें सुधार हो सकेगा।" शुरू में समिति रक्षा-विभाग के एक संयुक्त सचिव की अध्यक्षता में गठित की गयी और उसमें चार सरकारी सदस्य रॉयल इंडियन नेवी, भारतीय सेना, रॉयल इंडियन एयर फोर्स और भारत सरकार के शिक्षा-विभाग से लिये गये थे और उसमें चार गैर-सरकारी सदस्य और देशी रियासतों से दो सदस्य रखे गये थे।

अन्तरिम सरकार के कार्यभार सँभाल लेने के बाद २९ सितम्बर, १९४६ को समिति के गठन में भारी परिवर्तन कर दिये गये।*

---

* तत्कालीन कौंसिल ऑफ स्टेट के सदस्य पंडित हृदयनाथ कुंजरू को समिति का अध्यक्ष बनाया गया। रक्षा-विभाग के संयुक्त सचिव लेफ्टी॰ कर्नल इस्कन्दर मिर्जा

इस समिति की उपसमितियों ने भारत के विभिन्न प्रान्तों का पर्यटन किया। एक उपसमिति फरवरी-मार्च, १९४७ में इग्लैण्ड की नौसेना, सेना और वायुसेना के सेना छात्र संगठनों का और खासकर युवा-आन्दोलन का सामान्य अध्ययन करने के लिए गयी। समिति ने अपना प्रतिवेदन मार्च, १९४७ में सरकार को प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने बताया कि विश्वविद्यालय-अधिकारी-कोरों के सेना छात्रों में आत्मविश्वास की कमी है और उनमें अनुशासन की भी कमी है और इसलिए पूरी कोर का ओवरहाल जरूरी है। प्रतिवेदन पाने के तुरन्त बाद ही महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन आसन्न आ गये और राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल स्थापित करने की योजना पर उस समय सक्रिय अनुकार्य न हो सका।

आजादी के बाद अन्य अनेक कामों में व्यस्तता के बावजूद सरकार ने समिति के प्रतिवेदन पर काम शुरू किया। प्रान्तीय सरकारों को दिसम्बर, १९४७ में लिखा गया, क्योंकि शिक्षा-संस्थाओं के प्रशासन की जिम्मेवारी उनकी थी और योजना की सफलता बहुत सीमा तक उनकी सक्रिय अभिरुचि पर निर्भर थी। उनके उत्तर आने पर कोर बनाने सम्बन्धी एक विधेयक संविधान सभा (विधायिनी) ने २६ मार्च, १९४८ को पेश किया गया, जो ८ अप्रैल, १९४८ को पास हो गया। यह १६ अप्रैल, १९४८ से प्रभावी हो गया।

रक्षा-मन्त्रालय में एक राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल-निदेशालय अप्रैल, १९४८ में बनाया गया और कर्नल के ओहदे के एक सेना-अधिकारी उसके निदेशक नियुक्त किये गये (१९५४ में कोर का विस्तार होने पर यह ओहदा बढ़ाकर ब्रिगेडियर का बना दिया गया)। राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल के उद्देश्य संक्षेप में ये हैं : देश के युवकों में चरित्र, साथी-भावना, सेवा का आदर्श और नेतृत्व की क्षमता विकसित करना, युवकों को सेनाओं का प्रशिक्षण देकर उनमें देश की रक्षा के प्रति अभिरुचि जागृत करना और जनसाधन को एक रक्षिति बनाना, ताकि सशस्त्र सेनाओं में राष्ट्रीय आपात में तेजी से विस्तार किया जा सके। हालांकि राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल शुरू में विद्यालयों और महाविद्यालयों के छात्रों के लिए बनाया गया था, पर राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल की धारा ७ में व्यवस्था है कि अतिरिक्त 'बुली' यूनिटें भी बनायी जा सकती हैं, जिनमें अपनी आजीविका कमाने वाले बालकों और युवकों को भरती किया जा सकता है।

राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल में तीन डिवीजन हैं . स्कूलों के बच्चों के लिए कनिष्ठ डिवी-

---

उपाध्यक्ष थे। सरकारी सदस्य ये लोग थे : रॉयल इंडियन नैवी से कमांडर एच० एम० एस० चौधरी, भारतीय सेना के लेफ्टी० कर्नल अल्ताफ कादिर, रॉयल इंडियन एयर में फोर्स के ग्रुप कैप्टिन ए० एम० इञ्जीनियर, कर्नल डी० डब्लू०एम० बर्टन, निदेशक सैन्य प्रशिक्षण और लेफ्टी० कर्नल बी० के० थापर, शिक्षा-विभाग। गैर सरकारी सदस्य ये थे . डॉ० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार, डॉ० अमर नाथ झा, प्राइवेट लेफ्टी० रूपचन्द, मेजर जनरल ई० एल० एडम्स, लेफ्टी० कर्नल एम० हैदर, डॉ० संजीव राव, डॉ० जी० एस० महाजनी। लेफ्टी० कर्नल एल० पी० सेन समिति के सचिव थे।

जन, विश्वविद्यालयों, इंटरमीडियेट और डिग्री कालेजों तथा तकनीकी संस्थाओं के लिए वरिष्ठ डिवीजन और बालिका डिवीजन जिसमें पहले कालेजों और विश्वविद्यालयों की छात्राओं को ही लिया जाता था, पर १९४५ में बालिका डिवीजन का एक कनिष्ठ स्कन्ध भी बना दिया गया है, जिसमें हाई स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियाँ ली जाती हैं।

कनिष्ठ डिवीजन में प्रवेश के लिए बाल-बालिकाओं की आयु १३ और १८½ के बीच होनी चाहिये, वरिष्ठ डिवीजन और बालिका डिवीजन के वरिष्ठ स्कन्ध में विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के छात्रों की आयु २६ वर्ष से कम होनी चाहिये। कनिष्ठ डिवीजन का सेवा-काल दो साल है और वरिष्ठ डिवीजन का तीन साल।

वरिष्ठ डिवीजन और बालिका डिवीजन (वरिष्ठ स्कन्ध) के प्रत्येक अधिकारी और सेना-छात्र को राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल में अपने कार्यकाल में कम-से-कम एक समाज सेवा और सवर्ग शिविर में शामिल होना पड़ता है।

कोर में कॉलेजों और स्कूलों के स्टाफ के चुने हुए सदस्य अधिकारी बनाये जाते हैं। चयन के समय अधिकारी विहित आयु-सीमा में होने चाहिये और ४५ साल की आयु तक वे राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल में कमीशन प्राप्त रहते हैं, जिसे ५० साल तक बढ़ाया जा सकता है।

प्रशिक्षण का अंग है—हर साल ६० से ८० पीरियड तक सेवाओं के विषयों का प्रशिक्षण, कनिष्ठ डिवीजनों के लिए दस दिनों का और वरिष्ठ डिवीजनों के लिए १४ दिनों का, नियमित सैन्य-अधिकारियों के पर्यवेक्षण में, शिविरों में बिताया जाना। प्रशिक्षण-वर्ष स्कूल-कॉलेजों के शैक्षिक वर्ष के अनुसार रहता है।

प्रशिक्षण इस तरह व्यवस्थित किया जाता है कि शैक्षिक अध्ययन के आड़े न आये। कनिष्ठ डिवीजन के पहले साल के सेना-छात्र ए-१ प्रमाणपत्र तक प्रशिक्षित किये जाते हैं और दूसरे साल में प्रशिक्षण ए-२ प्रमाण-पत्र तक के स्तर का होता है। वरिष्ठ डिवीजन में सेना-छात्रों को पहले साल में बी-प्रमाण पत्र और दूसरे तीसरे सालों में सी-प्रमाणपत्र तक का प्रशिक्षण दिया जाता है। बालिकाओं को दिये जाने वाले प्रशिक्षण में प्राथमिक उपचार, आरम्भिक नर्सिंग, बेतार और टेलीफोन संचार और असैनिक रक्षा पर ज्यादा जोर दिया जाता है। इन प्रमाण-पत्रों में सफल होने वाले सेना-छात्र प्रमाणपत्र के अनुसार सफेद, लाल, हरा या नीला प्रवीणता तारा लगा सकते हैं।

राष्ट्रीय सेना-छात्रदल में कमीशन-प्राप्त और वरिष्ठ डिवीजन की किसी यूनिट के सेनाध्यक्ष अधिकारी, वार्षिक प्रशिक्षण शिविरों में बिताये गये समय के लिए और सेना-स्कूलों और सेना यूनिटों में अतिरिक्त प्रशिक्षण प्राप्त करने समय के लिए, अपने ओहदे के बराबरी समस्त सेनाओं के ओहदे के अनुसार वेतन पाने के हकदार होते हैं। कनिष्ठ डिवीजनों के अधिकारी भी सैनिक स्कूलों में और सेना की यूनिटों के साथ विभिन्न पाठ्यक्रमों में वास्तविक उपस्थिति के समय के लिए, विहित वेतनदरों से भत्तादेय भी पा सकते हैं, बशर्ते कि उन्होंने उस साल के वार्षिक प्रशिक्षण-शिविर में भाग लिया हो।

सेना-छात्र किसी वेतन के पाने के हकदार नहीं है। पर फिर भी उनको प्रशिक्षण-

शिविर में वास्तविक उपस्थिति के प्रत्येक दिन के लिए कुछ भत्ता दिया जाता है, अगर वे शिविर में ही रहें, खाना खायें और सोयें। अधिकारी और सेना-छात्र दोनों ही स्कूलों या कॉलेजों से वार्षिक प्रशिक्षण शिविर के स्थान तक निःशुल्क यात्रा के हकदार होते हैं और उस सेना-स्कूल या यूनिट तक जाने-आने के लिए भी, जहाँ पाठ्यक्रम प्रशिक्षण या आगे का सैन्य-प्रशिक्षण दिया जाता है।

वरिष्ठ डिवीजन के अधिकारियों को पहले सेकिंड लेफ्टीनेंट का ओहदा या नौसेना और वायुसेना में समकक्ष ओहदा दिया जाता है और उसके बाद वे लेफ्टीनेंट, कैप्टेन और मेजर के या समकक्ष ओहदे, विहित वर्षों तक कमीशन-सेवा पूरी करने के बाद, प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह जूनियर डिवीजन में पहले तृतीय अधिकारी के ओहदे में कमीशन पाने वाले अधिकारी फिर द्वितीय अधिकारी, प्रथम अधिकारी और मुख्य अधिकारी के ओहदे, विहित वर्षों तक कमीशन-सेवा पूरी करने के बाद, प्राप्त कर सकते हैं।

वरिष्ठ डिवीजन के अधिकारी नियमित सेना-अधिकारियों के ओहदों वाले ही बिल्ले लगाते हैं पर कन्धे पर काले अक्षरों में रा० से० द० की पट्टी रहती है। कनिष्ठ डिवीजन के अधिकारी कन्धे पर पीले अक्षरों में रा० से० द० की पट्टी के साथ नीचे लिखे बिल्ले पहनते हैं. तृतीय अधिकारी-एक तारा, द्वितीय अधिकारी दो तारे, प्रथम अधिकारी-तीन तारे और मुख्य अधिकारी-अशोक त्रिसिंह। अधिकारियों और सेना-छात्रों को परेड के समय, प्रशिक्षण के दौरान या किसी अधिकृत समारोह के अवसर पर ही वर्दी पहनने दी जाती है। वरिष्ठ और कनिष्ठ दोनों ही डिवीजनों के अधिकारियों की नियुक्ति की अधिसूचना भारत के राजपत्र में निकाली जाती है।

राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल नियमों के प्रकाशन के बाद कोर शुरू करने के लिए कदम उठाये गये। ११ और १२ जून, १९४८ की दो अधिसूचनाओं द्वारा विभिन्न प्रान्तों में १५ जुलाई १९४८ से वरिष्ठ और कनिष्ठ डिवीजनों की यूनिटें बनायी गयीं। विश्वविद्यालय-अधिकारी प्रशिक्षण-कोर की यूनिटें १२ जून, १९४८ को भारतीय प्रादेशिक बल अधिनियम के अधीन एक अधिसूचना निकालकर समाप्त कर दी गयीं।

पहले तो वरिष्ठ और कनिष्ठ डिवीजनों की यूनिटों में सेना-स्कन्ध ही शुरू किया गया। पहले साल में पैदल सेना की यूनिटें खड़ी करने पर जोर दिया गया। १९४९ में आर्टिलरी, इंजीनियर, सिगनल, बिजली और यान्त्रिक इंजीनियरी और चिकित्सा-यूनिटों जैसी तकनीकी यूनिटें खड़ी की गयीं।

जुलाई, १९४९ में बालिका डिवीजन की तीन यूनिटें कलकत्ता, नागपुर और लुधियाना में बनायी गयीं। भारत में पहली बार ही लड़कियों को सैन्य-व्यवस्था के अधीन प्रशिक्षण देने का उपक्रम किया गया था।

१९५० में वरिष्ठ डिवीजन में वायु-स्कन्ध की दो यूनिटें बम्बई और कलकत्ता में और फिर तीसरी १९५१ में मद्रास में खड़ी की गयीं। १९५२ में नौसेना-स्कन्ध का उद्घाटन, वरिष्ठ डिवीजन की दो नौसेना यूनिटें बम्बई और कोचीन में खड़ी करके, किया गया। वरिष्ठ डिवीजन (वायु-स्कन्ध) की एक यूनिट दिल्ली, कानपुर और पटना में भी बनायी गयी। १९५३

में वरिष्ठ डिवीजन (नौसेना स्कन्ध) की यूनिट कलकत्ते में और वरिष्ठ डिवीजन (वायु-स्कन्ध) की एक यूनिट नागपुर में और एक जालन्धर मे बनायी गयी। १९५३ में वरिष्ठ डिवीजन (वायु स्कन्ध) के सेना छात्रो के लिए ग्लाइडिंग शुरू किया गया।

कनिष्ठ डिवीजन में भी सेना, नौसेना और वायुसेना-स्कन्ध खड़े किये गये, जो वरिष्ठ डिवीजन की वैसी ही यूनिटो के सवादी थे।

राष्ट्रीय-सेना-छात्रदल के अधिनियम के उपबन्ध के अनुसार कोर के गठन और प्रशासन सम्बन्धी नीति के सभी मामलो पर केन्द्रीय सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाह-कार-समिति बनायी गयी। पहली बैठक ५ फरवरी, १९४९ को हुई। समिति के अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री हैं और सदस्य रक्षा-सचिव, शिक्षा-सचिव, वित्तीय-सलाहकार (रक्षा), तीन सेना प्रमुख, ससद् द्वारा चुने गये दो सदस्य और सरकार द्वारा नामित पाँच सदस्य।

प्रत्येक राज्य में राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल की, अपने-अपने राज्य में स्थित यूनिटों के प्रशासन और उनमें सुधार के सम्बन्ध में राज्य सरकार को सलाह देने के लिए, सलाहकार-समितियाँ बनायी गयी।

राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल-निदेशालय में तीनो सेनाओं से आये हुए कर्मचारी होते हैं। सगठन के प्रमुख को निदेशक, राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल कहते है और १९६१ में उसके ओहदे को बढाकर मेजर जनरल का बना दिया गया। १९६२ में इस पद का नाम महानिदेशक, राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल रखा गया। विभिन्न राज्यो मे ब्रिगेडियर कर्नल या समकक्ष ओहदे के अफसर राष्ट्रीय-सेना-छात्र दल के निदेशक हैं।

राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल का खर्च केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकार के बीच मोटे तौर पर २.१ के अनुपात में आपस में बाँटा जाता है। केन्द्रीय सरकार का रक्षा-मन्त्रालय स्थायी प्रशिक्षण-कर्मचारियो (सशस्त्र सेनाओं के) का वेतन-भत्तो का, यूनिट उपस्करो का, यान्त्रिक परिवहन और उसके सन्धारण का, सेना-छात्रो के लिए वरदी का, वार्षिक प्रेक्टिस गोलाबारूद, का सारा खर्च और शिविर खर्च का ५० प्रतिशत वहन करता है। राज्य-सरकारें राष्ट्रीय-सेना छात्र दल की यूनिटों के असैनिक कर्मचारियो के वेतन भत्तो का और दफ्तर का, आउटफिट भत्ते का, राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल के अधिकारियो के मानदेय का, सेना-छात्रो के भत्ते का पूरा खर्च उठाती है और शिविर-व्यय का ५० प्रतिशत खर्च।

सशस्त्र सेनाओ के कमीशन वाले ओहदो में भरती के इच्छुक सेना छात्रों को विशेष प्रोत्साहन देने के लिए १९५१ में एक विशेष योजना तैयार की गयी। वरिष्ठ डिवीजन (सेना-स्कन्ध) के सेना-छात्र, जो तीन साल की सेवा राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल में कर चुके थे और जिनके पास विश्वविद्यालय की उपाधि थी और जो राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल का 'ग' प्रमाण-पत्र पा चुके थे, उनको सघीय-लोक-सेवा-आयोग की लिखित परीक्षा दिये बिना सेना में नियमित कमीशन का पात्र बना दिया गया। योग्यता वाले सेना-छात्रों को केवल सेना-चयन-बोर्ड के समक्ष उप-स्थित होना पड़ता था और उनको चुने जाने पर केवल एक साल का प्रशिक्षण (जो अवधि बाद में बढ़ा दी गयी) भारतीय सैन्य-अकादेमी में प्राप्त करना होता था, जबकि संघीय-लोक-सेवा-आयोग के जरिये प्रवेश पाने सेना-छात्रों के लिए अवधि दो साल की थी। पहले कमीशन

वाले ओहदों में १० प्रतिशत जगहें राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल के सेना-छात्रों के लिए आरक्षित रखी जाती थीं। यह आरक्षिति बाद में बढ़ाकर १५ प्रतिशत कर दी गयी, लेकिन जुलाई, १९६३ में समाप्त कर दी गयी, जबकि अधिकारी-प्रशिक्षण-यूनिटें (राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल) शुरू कर दी गयीं।

अधिकारी-प्रशिक्षण-यूनिटें अगस्त १९५९ में शुरू की गयीं, जो विशेष रूप से चुने गये ऐसे सेना-छात्रों के प्रशिक्षण के लिए बनी थीं, जो सशस्त्र सेनाओं में भरती होना चाहते थे। इस योजना के अधीन अधिकारी-प्रशिक्षण-यूनिट में वार्षिक रूप से २५० छात्र लिए जाते हैं। यूनिटों की कुल सेना-छात्र-संख्या ७५० है। शुरू में योजना में यह कल्पना थी कि गैर तकनीकी और तकनीकी (इंजीनियरी और चिकित्सा) दोनों प्रकार के छात्रों को लिया जाय, लेकिन तकनीकी छात्रों का प्रवेश १९६३ में बन्द कर दिया गया।

चुने हुये सेना छात्र अधिकारी-प्रशिक्षण-यूनिटों में भेजे जाते हैं और उनको छ हफ्ते की अवधि के वार्षिक शिविरों में तीन सालों तक के ग्रीष्मावकाशों में प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रकार इन सेना-छात्रों को वरिष्ठ डिवीजन, राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल के सेना छात्रों की अपेक्षा ज्यादा गहन प्रशिक्षण दिया जाता है। अधिकारी प्रशिक्षण यूनिटों के सेना-छात्रों को 'घ' प्रमाण पत्र के लिये परीक्षा देनी होती है। जिन लोगों के पास यह प्रमाणपत्र और शैक्षिक डिग्री होती है, वही भारतीय सैन्य-अकादेमी में प्रवेश पा सकते हैं। अधिकारी-प्रशिक्षण-यूनिट के सेना-छात्रों की पहली टुकड़ी भारतीय-सैन्य अकादमी के जुलाई, १९६२ में शुरू होने वाले पाठ्यक्रम में प्रवेश का पात्र बनी थी।

आपातकाल से पहले भारतीय-सैन्य-अकादेमी की १५ प्रतिशत जगहें अधिकारी-प्रशिक्षण-यूनिटों के सेना-छात्रों के लिए सुरक्षित रहती थीं। बाद में हर-साल ८० जगहें अधिकारी प्रशिक्षण-यूनिटों के सेना-छात्रों को स्थायी कमीशन प्रदान करने के लिए आरक्षित कर दी गयीं। अगस्त, १९६६ से यह संख्या घटाकर ३० कर दी गयी है।

राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल-योजना मुख्यतः शैक्षिक और राष्ट्रनिर्माण के प्रकार की है। अधिकारियों और सेना-छात्रों का सक्रिय सैन्य-सेवा का कोई दायित्व नहीं है। इस तरह राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल प्रादेशिक सेना से भिन्न है, जो सेना-मुख्यालय के अधीन है, जबकि राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल सीधे रक्षा-मन्त्रालय के ही अधीन है।

राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल-योजना का एक बड़ा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि सेना-छात्रों को उपलब्ध प्रशिक्षण-काल का कुछ अंश समाज-सेवा-कार्य के लिए उपलब्ध कर दिया गया है, जिसका उद्देश्य यह है कि (एक) सेना-छात्रों को श्रम की प्रतिष्ठा की शिक्षा दी जाय (दो) उनमें रचनात्मक कार्य के प्रति रुचि जगायी जाय, जो समुदाय के काम आयेगी (तीन) निःस्वार्थ कार्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जाय (चार) सहकार की भावना पैदा की जाय और (पाँच) संगठित कार्य में नेतृत्व प्रदान किया जाय, ताकि लोगों के फालतू समय, शक्ति और अन्य साधनों का उपयोग किया जा सके और उनको सामाजिक और आर्थिक कार्यकलाप के विभिन्न क्षेत्रों में निर्देशित किया जा सके। देश के विभिन्न भागों में आयोजित किये जाने वाले वार्षिक

शिविरों में रचनात्मक कार्य भी किया जाता है, जैसे कच्ची सड़कें, गाँव के रास्ते, छोटे पुल, पुलियां, सिंचाई की नहरें और वर्षा और बाढ़ के पानी के निकास की नहरें बनाना, सिंचाई और पीने के पानी के तालाबों और कुओं का सुधार करना, विद्यालय-भवन बनाना, प्रौढ़-शिक्षा-आन्दोलन चलाना और दूर के गाँवों में चिकित्सा की सुविधा पहुँचाना।

काफी बड़े पैमाने पर छात्रों के लिए सैन्य-प्रशिक्षण की व्यवस्था करने के लिए १९५९ में यह निर्णय किया गया कि राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल की राइफल यूनिटें पैदल राइफल-रेजीमेंटों की तरह बनायी जायें। इन यूनिटों में कॉलेजों के (लड़के लड़कियां दोनों) १६ साल और ऊपर के छात्र प्रवेश ले सकते थे। अगले साल राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल की राइफल-यूनिटों में प्रवेश शुरू किया गया। बाद में यह योजना १९६३ में शुरू की गयी अनिवार्य राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल-योजना में शामिल कर दी गयी।

जैसा बताया जा चुका है, राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल में प्रवेश बिलकुल स्वैच्छिक था। योजना का विस्तार प्रत्येक राज्य द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के अधीन उपलब्ध किये गये संसाधनों से जुड़ा था। जुलाई-अगस्त, १९६३ से शुरू होने वाले शिक्षा-सत्र से कालेजों के सभी समर्थांग पुरुष छात्रों के लिए राष्ट्रीयसेना-छात्रो-दल का प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया गया। यह शिक्षा-अधिकारियों के समर्थन से किया गया था, जिन्होंने इस प्रयोजन से आर्डीनेंस निकाल दिये थे। स्नातकोत्तर छात्र और कुछ अन्य श्रेणियाँ इस अनिवार्य प्रशिक्षण से मुक्त हैं। इस योजना के अधीन प्रत्येक सेना छात्र को सप्ताह में दो दिन चार घण्टों की कुल अवधि तक प्रशिक्षण लेना पड़ता है।

खण्ड ३ सहायक सेना-छात्र-दल और लोक-सहायक-सेना

वित्तीय कठिनाइयों के कारण शिक्षा-संस्थाओं में की जाने वाली राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल के भारी विस्तार की बढ़ती हुई माँग को पूरा करना सम्भव न था। राष्ट्रीय सेना छात्र-दल के एक व्ययहीन पूरक के रूप में १९५४ में स्कूलों में सहायक-सेना-छात्र-दल की योजना 'देश-सेवा' के आदर्श वाक्य के साथ शुरू की गयी, जिसका उद्देश्य यह था युवकों का मानसिक, शारीरिक और नैतिक निर्माण किया जाय और उनके चरित्र और नेतृत्व की क्षमता का विकास करके उनको अच्छा और अनुशासनबद्ध नागरिक बनाया जाय, छात्रों में देशभक्ति की भावना जगायी जाय, सहवर्ग की भावना, संगठित जीवन और आत्मविश्वास की भावना विकसित की जाय और उनको समाज सेवा के लिए प्रशिक्षित किया जाय और उनको श्रम की प्रतिष्ठा का पाठ पढ़ाया जाय।

माध्यमिक कक्षाओं के सभी छात्र, लड़के-लड़की, जिनकी आयु-सीमा १३ और १६ के बीच है, सहायक-सेना-छात्र-दल में प्रवेश ले सकते हैं।

बुनियादी प्रशिक्षण में शारीरिक प्रशिक्षण, टुकड़ियों के खेल, प्रारम्भिक प्रथमोपचार, स्वच्छता और स्वास्थ्य रक्षा, समाज-सेवा, क्षेत्रीय-शिल्प और शारीरिक श्रम शामिल होता है। प्रशिक्षण स्कूल के सामान्य घण्टों में दिया जाता है, जिसके लिए शनिवार को छोड़ सभी कार्य-दिवसों का ४० मिनट का एक पीरियड अलग रखा जाता है। हॉबी, कला, शिल्प, और

सांस्कृतिक कार्यकलाप को प्रोत्साहित करने वाला सामान्य प्रशिक्षण स्कूल के सामान्य पीरियडों के बाहर सप्ताहान्त में और दीर्घावकाश में उपलब्ध स्थानीय सुविधाओं के अनुसार दिया जाता है। सहायक-सेना छात्र-दल के लिए सादी यूनीफार्म रखी गयी थी। श्रम और समाजसेवा-शिविर-समुदाय-विकास-क्षेत्रों में और राष्ट्रीय विस्तार सेवा ब्लाकों में सेना-छात्रों में श्रम की प्रतिष्ठा के भाव जाग्रत किये जाते थे।

सहायक-सेना-छात्र-दल के अलावा स्कूलों में शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा आयोजित राष्ट्रीय अनुशासन-योजना भी चल रही थी और ब्वाय स्काउट और गर्ल गाइड की योजनायें भी थीं। शिक्षा-मन्त्रालय ने स्कूलों के लिए उपयुक्त एक एकीकृत योजना की सिफारिश करने के लिए एक समिति बनायी। फलस्वरूप एक नयी योजना राष्ट्रीय स्वस्वता-दल नाम से शिक्षा-मन्त्रालय ने स्कूलों में शुरू करायी। १९६५-६६ में सहायक-सेना-छात्र-दल उन स्कूलों में समाप्त कर दिया गया, जहाँ इसकी जगह नयी योजना चलायी जा सकती थी। इस तरह सहायक-सेना-छात्र-दल को अलग योजना के रूप में खत्म किया जा रहा है।

लोक-सहायक-सेना

प्रादेशिक सेना, राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल और सहायक-सेना-छात्र-दल-योजनाओं के बाहर भी गाँवों की बहुत सारी प्रौढ़ जनसंख्या शेष रह जाती थी। प्रादेशिक-सेना-प्रशिक्षण-योजना में ज्यादा विस्तार करने में वित्तीय दिक्कतें थीं।

१९५३ में जनता में यथासंभव अधिकाधिक अनुशासन और आत्मविश्वास की भावना भरने के लिये सहायक-प्रादेशिक-सेना, जिसे फरवरी, १९५४ में सहायक-प्रादेशिक-बल नाम दिया गया, चालू की गयी। प्रशिक्षण में बन्दूक चलाना, २२ राइफल चलाना, आरम्भिक क्षेत्र-इंजीनियरी, कवायद, शारीरिक प्रशिक्षण, प्राथमिक उपचार और स्वास्थ्य-रक्षा शामिल थे। १८ से ४० वर्ष तक के सभी समर्थांग पुरुष नागरिक, (भूतपूर्व सैनिकों और राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल के सेना-छात्रों को छोड़), इस बल में भरती हो सकते थे। अनिवार्य सैन्य-सेवा का कोई बन्धन न था। मई १९५४ में सहायक-प्रादेशिक-बल-विधेयक संसद् में पेश किया गया, ताकि योजना को वैध आधार मिल जाय और प्रशिक्षार्थियों पर अनुशासन-नियन्त्रण रखा जाय।

१९५३-५४ में सुविधाजनक स्थानों में देहाती और शहरी शिविर बनाये गये। देहाती शिविरों में सात दिनों तक लगातार प्रशिक्षण चलता था, जो बाद में बढ़ाकर दस दिन कर दिया गया, जबकि शहरी शिविरों में १४ कार्य-दिवसों में हर रोज एक घण्टे का प्रशिक्षण दिया जाता था। देहाती शिविरों के प्रशिक्षार्थियों को मुफ्त राशन मिलता था। तम्बू में आवास और वरदी दी जाती थी। प्रशिक्षण के अन्त में उनको कुछ भत्ता भी दिया जाता था। शहरी शिविरों में प्रशिक्षार्थियों को शिविरों में नहीं रहना पड़ता था।

जब शिविर चलाये गये, तो स्पष्ट हो गया कि लोग प्रशिक्षण पाने के लिए उत्सुक थे और प्रशिक्षण प्रभावी बनाने के लिए इसकी अवधि बढ़ाना जरूरी था। नवम्बर, १९५४ में प्रादेशिक सेना की केन्द्रीय सलाहकार-समिति ने इस योजना का पुनर्विलोकन किया और सिफा-रिश की कि शिविर कम-से-कम एक महीने के होने चाहिये और बहुत ज्यादा लोगों को इस

योजना के अन्तर्गत लेना चाहिये। तदनुसार यह निर्णय किया गया कि अगले पाँच साल तक लगभग एक लाख व्यक्तियों को हर साल राष्ट्रीय स्वैच्छिक-बल नामक एक नयी योजना के अधीन प्रशिक्षित किया जायेगा। इस बल का उद्घाटन १ मई, १९५५ को किया गया। योजना का लक्ष्य जनता के सदस्यों को सैन्य-प्रशिक्षण देना था, ताकि उनमें अनुशासन, सुरक्षा, आत्म-निर्भरता की भावना आये और राष्ट्र-सेवा की रुचि पैदा हो। प्रशिक्षण-अवधि बढ़ाकर ३० दिन कर दी गयी। सभी समर्थ व्यक्ति जो भारत के नागरिक थे (और भूतपूर्व सैनिक और भूतपूर्व राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल के सेना-छात्र न थे) और १८ से ४० की आयु सीमा में थे, इस योजना में प्रवेश लेने के पात्र थे।

प्रादेशिक सेना के लिए जो केन्द्रीय सलाहकार समिति १९५३ में बनायी गयी थी, उसका अगस्त, १९५५ में प्रादेशिक सेना और राष्ट्रीय स्वयसेवी-दल की एक संयुक्त समिति के रूप में पुनर्गठन किया गया, जिसके अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री थे। संयुक्त समिति में सामुदायिक प्रायोजनाओं के प्रशासक भी शामिल थे और बाद में जब सितम्बर, १९५६ में समुदाय-विकास-मन्त्रालय बनाया गया, तो उसके एक प्रतिनिधि को भी रखा गया। इसने समुदाय-प्रायोजनाओं और इस प्रशिक्षण-योजना के बीच सहकार पर जोर दिया। २९ सितम्बर, १९५५ को हुई पहली बैठक में संयुक्त केन्द्रीय सलाहकार-समिति ने राष्ट्रीय स्वयसेवी-दल का नामकरण लोक-सहायक-सेना करने का निर्णय किया।

लोक-सहायक-सेना योजना के अधीन पूरे देश में विभिन्न जगहों में हर साल लगभग २०० शिविर आयोजित किये जाते थे, जो प्रत्येक क्षेत्र के मौसम के अनुसार और फसल-कटाई आदि की दृष्टि से स्थानीय लोगों की सुविधा को दृष्टि में रखकर रखे जाते थे। चुने गये प्रायोजना-स्थल साधारणतः समुदाय-प्रायोजना-क्षेत्र और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-ब्लाकों के बहुत निकट रहते थे, ताकि सैन्य-प्रशिक्षण के साथ-साथ प्रशिक्षार्थी रचनात्मक राष्ट्र-कार्य का प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। हर शिविर में एक समय में अधिकतम संख्या ५०० प्रशिक्षार्थी रहती थी और हर शिविर की अवधि ३० दिन की रहती थी। लोक-सहायक-सेना में स्वेच्छा से शामिल होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को लगातार तीस दिन का प्रशिक्षण लेना होता था। प्रशिक्षण पाते समय उस पर सेना-अधिनियम नहीं लागू होता था, न प्रशिक्षण पूरा होने पर उस पर किसी प्रकार की सैन्य-सेवा के लिए बुलाये जाने की दायिता ही होती थी। शिविरों में रहने पर प्रशिक्षार्थियों को मुफ्त राशन मिलता था और मुफ्त चिकित्सा-उपचार। कपड़े और दूसरे जरूरी सामान भी (जो शिविर के अन्त में वापस करने होते थे) उनको दिये जाते थे। प्रशिक्षण के अन्त में हर एक प्रशिक्षार्थी को जेबखर्च-भत्ता भी दिया जाता था।

प्रत्येक शिविर के सर्वोत्तम प्रशिक्षार्थी को योग्यता-प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाता था। और प्रोत्साहन देने के लिए पिछले साल में हुए सभी शिविरों के योग्यता-प्रमाण-पत्र पाने वाले को दिल्ली में गणराज्य दिवस परेड और समारोहों में शामिल होने के लिए बुलाया जाता था। पहली टुकड़ी ने १९५६ की परेड में भाग लिया।

हालांकि लोक-सहायक-सेना सैन्य-सेवा का कोई बन्धन नहीं लादती थी, फिर भी

प्रत्येक प्रशिक्षार्थी को एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा जाता था कि भूकम्प, बाढ़ आदि जैसे आपात में वह राष्ट्र-सेवा करेगा।

मूल योजना की संकल्पना कुछ-कुछ बदल जाने से संसद् में मई, १९५८ में पेश किया गया सहायक-प्रादेशिक-बल-विधेयक वापस ले लिया गया। संसद् ने संशोधित लोक-सहायक-सेना-विधेयक सितम्बर, १९५६ में पास कर दिया।

लोक-सहायक-सेना-योजना १ जनवरी, १९६१ से पुनर्गठित की गयी, जिसके अनुसार सीमा-क्षेत्रों में प्रशिक्षण शिविरों की अवधि साठ दिन तक बढ़ा दी गयी। अन्य क्षेत्रों में यह अवधि ३० दिन की बनी रही।

अक्टूबर, १९६२ में आपात की घोषणा के बाद लोक-सहायक-सेना की योजना स्थगित कर दी गयी, ताकि इसके उपस्कर और अन्य साधन नियमित सेना के लिए उपलब्ध हो जायँ। बाद में सीमा-स्थिति को ध्यान में रखते हुए लोक-सहायक-सेना की २९ टीमों में से १७ को फिर से खड़ा किया गया और उनको सीमावर्ती राज्यों में असैनिक जनता को १५ दिनों के शिविरों में राइफल-प्रशिक्षण देने के लिए लगाया गया। पर देखा गया कि बदली परिस्थिति में लोक-सहायक-सेना के लिए सामान्य जोश ठंडा पड़ता जा रहा था और फलतः कुछ राज्यों में स्वयंसेवियों की संख्या पर्याप्त न थी। इसलिए १७ टीमों में से ११ वापस बुला ली गयीं।

साथ ही आपात के आरम्भ होने पर राज्यों में होम-गार्ड-संगठन का विस्तार किया गया और उसे पुनर्गठित किया गया। ग्राम-रक्षा-दल जैसे अन्य संगठन गाँव की जनता को आत्म-रक्षा का प्रशिक्षण देने के लिए बनाये गये। लोक-सहायक-सेना-योजना के मूल उद्देश्य की अब संगठनों द्वारा सुपर्याप्त रूप से पूर्ति हो रही थी। इस तरह लोक-सहायक-सेना व्यर्थ मानी गयी और उसकी शेष टीमें भी १९६४ में विघटित कर दी गयीं। फिर भी लोक-सहायक-सेना-अधिनियम, १९५६, सविधि-पुस्तिका में चल रहा है, ताकि जब कभी जरूरी समझा जाय, तो इस योजना को पुनर्जीवित किया जा सके।

चौदहवाँ अध्याय

रक्षा-व्यय और रक्षा-आयोजना

किसी देश के आय-व्यय का अनुमान अब केवल उस देश के विधान-मण्डल के सदस्यो और वहाँ की जनता की स्थानीय रुचि का ही विषय नही रह गया है, बल्कि दूसरे देशो के लिये भी सामान्य रुचि का विषय हो गया है। अगर इन अनुमानो का ध्यान से कुछ वर्षों की अवधि के अनुसार विश्लेषण किया जाए तो उससे उस देश की आर्थिक शक्ति और युद्ध क्षमता का सकेत मिल सकता है।

भारत मे, युद्ध से पूर्व, सविदा आय-व्ययक की प्रणाली रक्षा-सेवाओ के लिए प्रयुक्त होती थी, जिसके अनुसार रक्षा-व्यय प्रति वर्ष ५५ करोड़ रुपयो की रकम से बँध जाता था। इसका मतलब यह था कि प्रत्यक्ष आवश्यकताओं का स्वरूप कुछ भी हो, शान्ति-काल में सामान्यत इस रकम से अतिरिक्त और कोई रकम न मिल पाती थी। उन दिनो मे ५५ करोड़ रुपयो से ज्यादा रकम की व्यवस्था को न्यायोचित ठहराना वास्तव में बहुत मुश्किल था, क्योकि यह रकम भी केन्द्रीय सरकार के कुल राजस्व के आधे से ज्यादा थी और उस समय रक्षा-सेनाओ का काम पश्चिमोत्तर सीमान्त की सुरक्षा को आश्वस्त रखने और आन्तरिक अव्यवस्था रोकने तक ही सीमित था। इस अधिकतम सीमा को निश्चित कर देने का अर्थ स्वभावत यह था कि इस सीमा के भीतर अगर कोई बचत हो तो वह आज की तरह व्यपगत न होकर अगले सालो में ले जायी जा सकती थी। इस प्रकार से १९२८-२९ वर्ष में 'रक्षा-आरक्षित-निधि' की स्थापना एक ऐसी निधि बनाने के उद्देश्य से की गयी थी, जिसमें से सशस्त्र सेनाओं को पुन सज्जित करने के अविलम्बनीय उपायों के हेतु पैसा खर्च किया जा सके और सरकार से यह अपेक्षा न की जाये कि वह ५५ करोड़ रुपयो की 'सविदा' रकम से ज्यादा पैसा हर साल देने के लिए व्यवस्था करे। इससे रक्षा-सेवाओ के आय-व्ययक अनुमानो को स्थिर कर रखने मे मदद मिली। सशस्त्र सेनायें वर्षानुवर्ष जो बचत अपने स्थायी खर्चा को कम करने के बचत-आन्दोलन चलाकर कर लेती थीं, वह रकम इस निधि में स्थानान्तरित कर दी जाती थी। युद्ध से पहले खर्च किसी पूँजी-शीर्ष के नाम नही डाला जाता था और रक्षा आरक्षित-निधि का उपयोग मुख्यत पुन सज्जा के कामो के लिए पैसा देने में किया जाता था। वर्ष १९३६-३७ के अन्त में रक्षा-आरक्षित निधि में ३·४६ करोड़ रुपये जमा थे।

१ अप्रैल १९३९ से ३१ मार्च, १९४७ तक रक्षा-सेवाओं सबधी व्यय भारत सरकार और इगलैण्ड में सम्राट् सरकार के बीच, दोनों सरकारों द्वारा, युद्ध शुरू होने के तुरन्त बाद किये गये वित्तीय करार के अनुसार, बाँट दिया जाता था। इस करार के चालू रहते समय यह अनुमति नही थी कि रक्षा-आरक्षित-निधि से कोई रकम ली जाए या उसमें जमा की जाए। यह करार ३१ मार्च, १९४७ को समाप्त हो गया। ४ अगस्त, १९४७ को रक्षा-आरक्षित- निधि में

रोकड़ बाकी १०५ करोड रुपये थी, जिसे अविभाजित भारत सरकार के हिसाब में जमा कर दिया गया।

अप्रैल, १९४७ में भारत की अन्तरिम सरकार ने यह फैसला किया कि ५ वर्ष की अवधि के लिये रक्षा-सेवाओं के हेतु 'मविदा' आय-व्ययक की युद्ध-पूर्व वाली प्रणाली फिर से लागू की जाये। १९४९-५० के वित्तीय वर्ष से १०२.५ करोड रुपयों की रकम भारतीय सशस्त्र सेनाओं के नाम अंकित कर दी गयी। उस समय १९४७-४८ का व्यय-अनुमान १८९ करोड रुपये लगाया गया था और यह आशा की गयी थी कि यह रकम अगले दो सालों में ८६.५ करोड़ रुपये कम की जा सकती थी, लेकिन उसके बाद परिस्थितियाँ बदल गयी। आज की आय-व्ययक समस्यायें इतनी जटिल हैं कि किसी आरक्षित-निधि को खड़े करने की बात नहीं सोची जा सकती, भले ही यह वास्तविक बचत द्वारा खड़ी की जाये।

स्वाधीनता के बाद वित्तीय-वचनबद्धता

सत्ता-हस्तान्तरण के बाद राज्य की रक्षा का दायित्व पूरी तरह भारत के ऊपर आ गया और अब सारा व्यय उसके अपने ससाधनों द्वारा ही पूरा करना था। विभाजन के फल-स्वरूप भारत की स्थल सीमायें काफी लम्बी हो गयी, जिसका मतलब यह हुआ कि रक्षा-व्यय की वचनबद्धता बढ़ गयी। सेना की यूनिटों को आधुनिक स्तर तक लाने के लिए यन्त्रीकृत करना पड़ा। नौ-सेना और वायुसेना को, न्यूनतम आवश्यकतायें पूरी करने के लिये ही, प्राय. आदि से पुनर्निर्मित करना था। इसका मतलब था कि जहाजों, विमानों और यन्त्र-सामग्री की खरीद की जाये, जिसके लिए पूरा-पूरा पैसा चुकाना होता था।

विभाजन से पहले भारत की रक्षा-सेनाओं के आवास अधिकांशत ऐसे क्षेत्रों में स्थित थे जो अब पाकिस्तान के अंग हैं। सशस्त्र सेनाओं के विभाजन के बाद हालांकि भारत का हिस्सा सेनाओं का दो-तिहाई था, तथापि उसके क्षेत्र में उपलब्ध आवास की सुविधा केवल एक-तिहाई ही थी। रक्षा-सेनाओं को जगह देने के लिए न्यूनतम अत्यावश्यक आवास स्थान की भी व्यवस्था करने के लिए व्यय करना पड़ा। कुछ सैन्य-प्रशिक्षण संस्थान पहले पाकिस्तान के क्षेत्र में स्थित थे। उनको भारत में फिर से बनाना पड़ा। दूसरे प्रशिक्षण-संस्थान, जो पहले अस्तित्व में नहीं थे, उनकी भी स्थापना करनी पड़ी, ताकि भारत यथासम्भव रक्षा-सेवाओं के प्रशिक्षण के मामले में आत्मनिर्भर हो जाये।

युद्ध के बाद रहन-सहन के खर्च में भी काफी वृद्धि हो गयी है। इसलिए राशन, कपड़ा और रक्षा सेनाओं के लिए जरूरी अन्य चीजों की पूर्ति करने के लिये भी अब पहले से ज्यादा पैसा खर्च करना पड़ा। रक्षा-कार्मिकों के वेतन और भत्ते, सरकार के असैनिक कर्मियों के वेतन-भत्ते के समान रखने की दृष्टि से, बढ़ाने पड़े। प्रादेशिक-सेना, राष्ट्रीय-सेना-छात्र-दल, रक्षा-अनुसन्धान-संगठन आदि जैसे अनेक नये संगठन भी बनाने पड़े। आयातित भण्डार और सामग्री के दाम भी युद्ध-पूर्व के मूल्य-स्तर की तुलना में काफी बढ़ चुके थे। आजादी के बाद देश ने जो महत्त्वपूर्ण रक्षा-उद्योग कायम किये गये उनमें भी काफी पूँजी व्यय करनी पड़ी और उनके

कारण आवर्त्ती खर्च भी बढ़ गया। सत्ता-हस्तान्तरण के बाद इन सब कारणों ने मिलकर भारत में न्यूनतम रक्षा-सेवाओं को बनाये रखने का खर्च काफी बढ़ा दिया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रक्षा-सेनाओं के लिए कुछ प्रशिक्षण-संस्थान स्थापित करने और यूनिटों तथा विरचनाओं के लिये न्यूनतम आवश्यक आवास की व्यवस्था करने और नये जहाजों, विमानों आदि को खरीदने में, जिनको कि प्रत्यक्ष परिसम्पत्ति माना जा सकता है, काफी व्यय करना पड़ा। ऐसा व्यय पूँजी-शीर्ष में डाला जा सकता था, जैसा कि युद्ध के वर्षों में सरकार के सामान्य चलन के अनुसार किया जाता था, लेकिन जब १९४७-४८ का आय-व्ययक अन्तरिम सरकार ने प्रस्तुत किया तो यह चलन खत्म कर दिया गया और ऐसे सारे खर्च राजस्व-अनुमान पर भारित किये गये। इस स्थिति का पुनर्विलोकन अगले साल किया गया, जब यह फैसला किया गया कि स्थिर और प्रत्यक्ष परिसम्पत्तियाँ बनाने वाला सारा व्यय पूँजी-व्यय माना जाना चाहिए और ऐसे सारे खर्च को डालने के लिए १९४८-४९ में एक अलग शीर्ष 'रक्षा-पूँजी-व्यय' खोला गया।

१९४९-५० के वर्ष में अनुमान और लेखों के रूप में एक नया महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाया गया और एक सेवा द्वारा दूसरी सेवा को दिये गये भण्डार और सामग्री की लागत के अन्त-सेवा-समञ्जन की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार राशन, पैट्रोल, विमान-पैट्रोल, सामान्य उपयोग की गाड़ियाँ और उपस्कर की लागत, जब ये चीजें सेना द्वारा नौसेना या वायुसेना को दी जाती थी, तो इसका खर्च नौसेना या वायुसेना के खाते में डाला जाता था और उसे सेना के सगत खाते में जमा कर दिया जाता था। ऐसा ही समञ्जन नौसेना या वायुसेना द्वारा अन्य दो सेनाओं में से किसी को दिये गये भण्डार की लागत के लिए भी किया गया। अनुमानों में किये गये हिसाब सम्बन्धी इस परिवर्तन ने तीनों सेनाओं को बहुत सीमा तक आत्म-निर्भर बना दिया और सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा अपनी अपनी सेनाओं के व्यय के ऊपर ज्यादा सक्षम और निकट का नियन्त्रण रखना सम्भव कर दिया।

१९४८-४९ में शुरू की गयी व्यवस्था के अनुसार विमानों की खरीद सम्बन्धी व्यय पूँजी-व्यय माना जाने लगा। लेकिन, विमानों के बारे में खतरे की गुंजायश ज्यादा होती है और उनके सम्बन्ध में यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने जीवन की औसत अनुमानित अवधि तक परिसम्पत्ति बने रहेंगे। इसलिए यह अनुभव किया गया कि विमानों की खरीद पर होने वाले खर्च के बारे में यह ज्यादा उपयुक्त होगा कि उसे राजस्व पर भारित किया जाये। यह परिवर्तन १९५१-५२ के अनुमानों से चालू किया गया। १ अप्रैल, १९५१ से केवल बड़ी निर्माण परियोजनाएँ, जमीन अर्जित करना, कारखानों आदि के लिए संयन्त्र और मशीनें खरीदना, नौसेना के लिए पूँजीगत जहाज खरीदना और कारखानों के लिए अत्यावश्यक माल के भण्डार पूँजी-व्यय के अन्तर्गत माने जा रहे हैं। बाद में, ऐसे लोक-क्षेत्र के उपक्रमों की अंश-पूँजी पर किया गया नियोजन भी पूँजी आय-व्ययक में रखा गया, जो रक्षा मन्त्रालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में है।

इन सभी बढ़ती हुई वचनबद्धताओं के बावजूद, जो काफी वित्तीय खर्च की माँग करती थी, रक्षा-व्यय आजादी के बाद लगभग १५ वर्ष तक लगभग ३०० करोड़ रुपये वार्षिक से

ज्यादा न हो पाया। इसका कारण यह था कि इस अवधि में देश की रक्षा सेनाओं को बढ़ाकर संगठित करने के ऊपर बहुत कम जोर दिया गया। विदेशी सत्ता से आजादी प्राप्त करने के बाद के वर्षों में पूरा-पूरा ध्यान लोगों के आर्थिक सुधार की ओर ही केन्द्रित किया गया। १६५१ से भारत में तीन पञ्चवर्षीय आयोजनायें बनी, जो वस्तुतः विकास आयोजनायें थीं। इनका उद्देश्य यह था कि लोगों का जीवन-स्तर तेजी से उठाया जाए और इसके लिए देश के साधनों का सक्षम विदोहन किया जाए, उत्पादन बढ़ाया जाए और समुदाय की सेवा में सभी के लिए रोजगार के अवसर पैदा कर दिये जाएँ। इस बात की ओर ध्यान देना होगा कि इनमें से किसी आयोजना में रक्षा सम्बन्धी खण्ड नहीं था। भारत ने तटस्थता की नीति अपनायी और सच्चाई से सभी राष्ट्रों के साथ शान्ति और सह-अस्तित्व बनाये रखने की नीति की घोषणा की और उसने सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए सक्रिय कार्य किया। जब भारत की नीति के ऐसे सुन्दर उद्देश्य थे तो भारत को यह आशा थी कि दूसरे राष्ट्र भी उसे अपने आर्थिक विकास का कार्यक्रम आगे बढ़ाने के लिए अलग छोड़ देंगे। तदनुसार देश के ससाधनों को पूरी तरह से विकास-आयोजनाओं को कार्यान्वित करने में ही लगाया गया।

१ जनवरी, १६४६ को युद्धबन्दी के बाद भी पाकिस्तान ने कश्मीर में युद्धबन्दी रेखा के साथ-साथ तनाव बनाये रखा। पूर्वी सीमायें भी लगातार उपद्रव-ग्रस्त रहीं। पाकिस्तान सैन्य-सन्धियों में शामिल हो गया और १६५४ से भारी सैन्य-सहायता प्राप्त करने लगा। पाकिस्तान के द्वारा सैनिक तैयारियाँ करने और अधिकाधिक आक्रामक रुख अपनाने पर भी भारत हथियारों की स्पर्धा में शामिल न हुआ। वस्तुतः सैन्य व्यय कम करने की वास्तविक इच्छा के साथ एकाधिक बार सशस्त्र सेनाओं की संख्या भी कम की गयी। देश शान्ति और आर्थिक विकास का इतना इच्छुक था कि यह मान लिया गया था कि पाकिस्तान भारत के ऊपर सैन्य-दुःसाहस न करेगा। फिर भी किसी समय सशस्त्र सेनाओं की कुल संख्या प्रकट न की गयी। सेना की संख्या में की गयी कुछ घटा बढ़ी यदि जनता को बता दी जाती, जो उसके पूरे आलेपनों को नहीं समझती, तो जनता बढ़ा-चढ़ा कर अर्थ निकालती, जो राष्ट्र के वृहत्तर हितों के खिलाफ हो जाते। भारत जैसे देश में, जहाँ केवल रूढ़िगत शस्त्रास्त्र ही हैं, सशस्त्र सेनाओं की शक्ति युद्ध-क्षमता का सीधा संकेत दे देती। समुन्नत देशों के पास तो नये-नये और बिना मनुष्य के चलाए चलने वाले अस्त्र होते हैं, जिनमें वे सदा सुधार करते रहते हैं, इसलिए अगर उनके सशस्त्र व्यक्तियों की कुल संख्या के ब्यौरे प्रकाशित भी कर दिये जायें, तो उसकी सैन्य-क्षमता का असली रूप विदित न हो सकेगा।

वस्तुतः शान्ति और आर्थिक विकास की उग्र इच्छा के साथ-साथ देश के कुछ लोगों में यह प्रवृत्ति भी आ गयी कि वे रक्षा-व्यय को अनुत्पादी समझने लगे और ऐसे तरीकों की माँग करने लगे, जिससे अनिवार्य सीमा तक न्यूनतम कर दी गयी सेना का भी उपयोग राष्ट्रनिर्माण के कार्यों में किया जा सके। जब १६६० में यह स्पष्ट हो गया कि चीन का अभिप्राय भारत के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व बनाये रखने का नहीं है, तब भी यह समझा जाता था कि सीमा-समस्या का कुछ शान्तिपूर्ण हल निकल सकेगा।

अक्तूबर, १६६२ में चीन द्वारा आक्रमण किये गये हमले से स्पष्ट हो गया कि देश को

प्रादेशिक अखण्डता को यथावत् मान लिया जाय, ऐसा नही है, और शान्ति केवल एक तरफ से स्थापित नही हो सकती। राष्ट्र में एक नयी रक्षा-चेतना ने जन्म लिया और किसी वाह्य-आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त सशस्त्र सेनायें सन्धारित करने की जरूरत का अनुभव किया गया।

पर सक्षम लड़ाकू सेना आसमान से नही टपक पडती। सेनाओ की कार्यदक्षता पर्याप्त शस्त्रास्त्र की व्यवस्था और निरन्तर प्रशिक्षण से ही प्राप्त की जा सकती है। सशस्त्र सेनाओं के सदस्यो के लिए भी तकनीकी ज्ञान और अनुभव जरूरी है, जैसाकि इजीनियरो और वायु-विज्ञान जैसे किसी अन्य तकनीकी व्यवसाय के लिए जरूरी होता है। ऐसा नही है कि जब युद्ध नही चलता, तब सैनिक अपना समय आलस्य में गँवा देते है। वस्तुत एक अधिकारी या एक सैनिक अपने कार्यकाल में किसी भी नयी घटना का सामना करने का प्रशिक्षण सतत् प्राप्त करता रहता है। शिक्षण-पाठ्यक्रम के अलावा, सेनाओं की युद्ध-सज्जता की जाँच करने के लिए समय समय पर विभिन्न अभ्यास चलते रहते है।

रक्षा-क्षमता हफ्तो और महीनो में नही खड़ी की जा सकती है। साथ ही वास्तविक रक्षा-सामर्थ्य अन्ततोगत्वा देश में विद्यमान औद्योगिक और आर्थिक आधार पर निर्भर होती है।

जब राष्ट्र आरम्भिक धक्के से उभरा और दीर्घकालीन खतरे का रूप ज्यादा स्पष्ट हो गया, तब सरकार रक्षा-सन्नद्धता ज्यादा क्रमबद्ध रूप से सगठित करने के लिए अग्रसर हुई, जो पहले घटनाचक्र के दबाव के कारण किये गये तदर्थ निर्णयों से परे की बात थी।

हमारी सशस्त्र सेनाओ को पुन सज्जित तथा आधुनिकीकृत करने का काम बहुत बड़ा है। देश के सामने आये खतरे के प्रकाश में अपनी रक्षा-सामर्थ्य के क्रमबद्ध विकास के लिए १९६४ में एक पचवर्षीय योजना बनायी गयी, जिसमें देश में उपलब्ध ससाधनो का ख्याल रखा गया और मित्र-देशो से प्राप्तव्य सहायता का भी। मोटे तौर से इस आयोजना पर ५० अरब रुपये खर्च होंगे और इसमें यह किया जायेगा—

(क) ८,२५,००० सैनिको वाली एक सुसज्जित सेना को खड़ा करना और उसका सन्धारण करना ;

(ख) ४५ स्क्वेड्रनो वाली वायुसेना का सन्धारण, जिसमें पुराने विमानो जैसे वैम्पायर, तूफानी और मिस्टियर के स्थान पर ज्यादा आधुनिक विमान मँगाये जायें और उनको पुन सज्जित करने का वायु-रक्षा-रडार और सचार-सुविधाओं में सुधार के कार्यक्रम भी शामिल रहें,

(ग) नौसेना के पुराने पड़ गये पोतों को बदलने का चरण बद्ध कार्यक्रम,

(घ) सीमा-क्षेत्रों में सड़क-सचार-व्यवस्था में सुधार,

(ङ) रक्षा-उत्पादन-आधार को सुदृढ़ करना ताकि वह आगे चलकर हमारी सशस्त्र सेनाओ की हथियार-गोलाबारूद सम्बन्धी जरूरतें पूरी कर सके ; और

(च) उपबन्धन और प्राप्ति करना, भण्डारण, प्रशिक्षण आदि के क्षेत्रों में संगठन-व्यवस्था में सुधार करना और रक्षा के लिए आवण्टित निधियों का ज्यादा से ज्यादा बचतपूर्ण उपयोग।

अपनी जरूरतों की आयोजना बना लेना निश्चय ही पहला कदम है, पर सबसे बड़ा काम इनमें सोचे गये हथियारों, उपस्करों, पोतों, विमानों आदि का उत्पादन या प्राप्त कर लेना है। इनमें से कुछ चीजें देश में बिलकुल या काफी संख्या में पैदा नहीं होतीं, उनको मित्र-देशों से प्राप्त करना ही होगा। यहाँ पर भी, पिछले अध्यायों में बताये गये अनुसार, सैन्य-सामग्री खुले बाजार में पैसा देकर नहीं खरीदी जा सकती। इस मामले में सरकारें राजनीतिक बातों का ध्यान रखती हैं और सैन्य-सामग्री सरकार-से-सरकार आधार पर ही प्राप्त हो सकती है। रक्षा-आयोजना को कार्यान्वित करने के लिए ही रक्षा-मन्त्री ने १९६४ में सं० रा० सं० अमेरिका, सोवियत रूस और ब्रिटेन की यात्रा की।

सेना से उच्च-तुङ्गता वाले पहाड़ी क्षेत्रों में सक्रिया की अपेक्षा की जायेगी, इसलिए अनेक डिवीजन पहाड़ी डिवीजन होंगे और उनके पास पहाड़ी क्षेत्रों में सक्रिया के अनुकूल उपस्कर और गाड़ियाँ होंगी। विभिन्न प्रकार के शस्त्रों, गाड़ियों और अन्य उपस्करों की जरूरतों की योजना बना ली गयी है। ये देश के कारखानों के उत्पादन के साथ जोड़ दी जाय, ऐसा प्रस्ताव है। आर्डनेंस कारखाने पूरी क्षमता के साथ काम कर रहे हैं और नये कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं।

पिछले दशकों में प्राप्त किये गये विमानों में से कुछ की जगह पर एच० एफ० २४ विमान (जिसे अब 'मरुत' कहते हैं) रखे जायेंगे, जो राज्य-स्वामित्व वाले हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट (अब हिन्दुस्तान एयरोनोटिक्स) लिमिटेड द्वारा मैच-१ सामर्थ्य के साथ पूर्णतः विकसित किये जा चुके हैं। ताजी जरूरतें पूरी करने के लिए रूस से मिग-२१ के कुछ स्क्वेड्रन प्राप्त किये गये हैं। सोवियत रूस की सहायता से देश में इस विमान का उत्पादन भी सुस्थापित किया जा रहा है।

इस देश में अभी युद्धपोत नहीं बनते हैं। विदेशों से खरीद करके ही बेड़ा बढ़ाया जा सकता है। इस क्षेत्र में भी उपलभ्यता की मात्रा सीमित है। इस क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार राज्य स्वामित्व वाली मझगाँव गोदी, बम्बई, में लीनडर-वर्ग के तीन फ्रिगेट बनाने के लिए आर्थिक उधारों की व्यवस्था के लिए राजी हो गयी है। बेड़े को बढ़ाने के लिए और कदम भी उठाये जा रहे हैं। इस समय रक्षा-आयोजना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। केवल सैनिक भरती कर लेना, कारखानों में हथियारों का उत्पादन कर लेना और उनको डिपो तक पहुँचा देना ही पर्याप्त नहीं है। उतना ही महत्त्वपूर्ण यह आश्वस्त करना भी है कि शस्त्र, गोलाबारूद और अन्य पूर्तियाँ सैनिकों के पास ठीक समय पर और ठीक जगह पर पहुँच जायें। भारत की उत्तरी सीमा जलवायु की दृष्टि से बड़ी ही निवास-अयोग्य है। जगहें काफी ऊँची हैं और संचार-व्यवस्था नगण्य है। फिर भी १९६० में सीमा-सड़क-विकास-बोर्ड की स्थापना हो जाने पर सीमान्त तक सड़कें बनाने के लिए तेजी से कदम उठाये जा रहे हैं, ताकि सैनिकों को अच्छी तरह सामग्री प्राप्त होती रहे। इनमें से अधिकांश साजसामान विमानों से भेजा जा रहा है,

लेकिन इस परिवहन-रीति की कुछ सीमायें हैं। अनुमान लगाया गया है कि १ टन सामान को विमान से गिराने के लिए लगभग ५००० रुपये के तो पैराशूट उपस्कर की ही जरूरत पडती है। *अग्रवर्ती स्थानो पर एक सैनिक रखने पर, आने वाले खर्च का अन्दाजा लगाया जा सकता।* इसलिए हमारे सीमा-प्रदेश मे सडको का बनाया जाना बहुत जरूरी है, और इसके लिए एक चरण-बद्ध कार्यक्रम चल रहा है। विमान से माल गिराना सड़क सचार खुलते ही धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

रक्षा और विकास

१९६३-६४ से कुल रक्षा व्यय हर साल ८०० करोड़ रुपये से ज्यादा होता है। लेकिन वह स्पष्ट कर दिया गया है कि रक्षा सम्बन्धी निर्माण कार्य राष्ट्र के आर्थिक निर्माण की गति को क्षति पहुँचाकर नही किया जाये। आर्थिक विकास के क्षेत्र मे देश के सर्वोच्च आयोजना-निकाय राष्ट्रीय-विकास-परिषद् ने ५ नवम्बर, १९६२ को हुई अपनी बैठक में घोषणा की कि देश की विकास-आयोजनायें राष्ट्रीय रक्षा का ही अग हैं और चीनी आक्रमण के बाद, इन आयोजनाओ की और तेजी से कार्यान्विति करना बहुत आवश्यक हो गया है। आपात काल में सुरक्षा इन्ही आयोजनाओ की सफलता पर निर्भर है।

यह पूरी तरह समझ लिया गया है कि रक्षा और आर्थिक विकास साथ-साथ चलना चाहिये। दृढ आर्थिक आधार के बिना रक्षा-सन्नद्धता अपूर्ण रहेगी।

रक्षा-व्यय के स्तर का निर्णय करते समय यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारत एक सघीय राज्य है और रक्षा केन्द्रीय सरकार की ही जिम्मेवारी है। वस्तुनिष्ठ रहने के लिए इसे राष्ट्रीय आय के प्रतिशतक के रूप में निर्धारित करना होगा। इस आधार पर १९६३-६४ में भारत का प्रतिशतक ४.७ आता है, जो स० रा० अमेरिका में १० ६, ब्रिटेन में ८ ३, फ्रास में ६.१, कनाडा में ४ ७, पाकिस्तान में ४ ५ (प्राप्त हुई भारी सैन्य सहायता को छोड़कर), आस्ट्रेलिया में ४.२, स० अ० गणराज्य में ८ २, युगोस्लाविया में ७ ५ और स्वीडन में ५ ३ है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत अपने आर्थिक विकास को क्षति पहुँचाकर अनुपात से ज्यादा ससाधन रक्षा पर नही खर्च कर रहा है।

पाकिस्तान ने कच्छ के रन पर अप्रैल, १९६५ में हमला किया और सितम्बर, १९६५ में जम्मू और कश्मीर क्षेत्र में। इसमे निरन्तर तैयार रहने की जरूरत स्पष्ट हो गयी। सितम्बर, १९६५ के *युद्ध से भी सिद्ध हो गया कि वास्तविक आपात में विदेशो से प्रत्याशित महत्त्वपूर्ण* सामग्री प्राप्त न हो सकेगी। नवम्बर, १९६५ में रक्षा-पूर्ति-विभाग की स्थापना की गयी, ताकि रक्षा की सामग्री के मामले में आत्मनिर्भरता की ओर तेजी से कदम उठाये जा सकें।

सितम्बर, १९६५ के दौरान पाकिस्तान से लड़ाई के समय चीन ने जो अल्टीमेटम *दिया था, उससे भी रक्षा के लिए अपने ससाधनो को पूरी तरह से काम में लाने की भारी* जरूरत और आर्थिक-विकास-आयोजना मे पूरा-पूरा पोषण प्राप्त करने की भारी जरूरत और भी स्पष्ट हो गयी। सितम्बर, १९६५ में हुई अपनी बैठक में राष्ट्रीय-विकास-परिषद् ने रक्षा-

आयोजना की समीक्षा करना अधिकृत कर दिया, ताकि आपाती परिस्थिति का सामना करने के लिए उसमें समजन कर लिये जायें। रक्षा-मन्त्रालय में नवम्बर, १९६५ में एक आयोजना कक्ष विकास-आयोजन के सभी वृहत्तर पक्षों का निपटान करने के लिए बनाया गया, क्योंकि ये चीजें रक्षा के प्रयास के ऊपर बहुत प्रभाव डालती है। इस तरह आयोजना-आयोग और अन्य मन्त्रालयों के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रखने की व्यवस्था कर दी गयी है, ताकि यह आश्वस्त किया जा सके कि विकास आयोजना के रक्षा-प्रयास पर प्रभाव डालने वाले घटकों को समुचित पूर्वता दी जा सके।

रक्षा एक राष्ट्रीय उत्तरदायित्व

सशस्त्र सेनाओ को कार्यदक्ष रूप मे प्रशिक्षित करने के लिए और उनको यथासम्भव सर्वोत्तम शस्त्रास्त्र मे सज्जित करने के लिए यद्यपि सभी कुछ किया जा रहा है, पर यह चीज अब ज्यादा अच्छी तरह से समझी जाने लगी है कि युद्ध केवल युद्धक्षेत्र तक ही सीमित नही रहता, बल्कि उसका असर हर शहर, गाँव और घर पर पडता है। इसलिए किसी देश की आजादी की रक्षा के लिए पूरे राष्ट्र को सगठित होना पडता है। असैनिक जनता में सुव्यवस्था, अनुशासन और मनोबल बनाये रखना भी युद्धरत सशस्त्र सेनाओ की कार्यदक्षता के लिए बडे ही महत्त्व की बात है। इस तरह रक्षा केवल सशस्त्र सेनाओ की ही चीज नही है। देश की रक्षा के लिए हर पुरुष, स्त्री और बच्चा भी एक सैनिक होता है। किसी एकबद्ध राष्ट्र की अदम्य आकांक्षा को कोई पराजित नही कर सकता।

परिशिष्ट एक

रक्षा-उत्पादन और रक्षा-पूर्ति-विभागों समेत रक्षा-मन्त्रालय के अन्तर्गत आने वाले विषय

रक्षा-मन्त्रालय

१—रक्षा-मन्त्रालय और उसका प्रत्येक अंग, जिसमें रक्षा-सन्नद्धता और ऐसे सभी कार्य शामिल है, जो युद्ध के समय उसे चलाने और उसकी समाप्ति पर प्रभावी सैन्य-विसंयोजन के लिए लाभकर होंगे।

२—संघ की सशस्त्र सेनायें, नामत थलसेना, नौसेना और वायुसेना।

३—थलसेना, नौसेना और वायुसेना की रक्षितियाँ।

४—प्रादेशिक सेना और सहायक वायुसेना।

५—राष्ट्रीय सेना-छात्र-दल।

६—थलसेना, नौसेना, वायुसेना और आर्डनेंस कारखानों के बारे में निर्माण-कार्य।

७—अश्व, पशुचिकित्सा और फार्म-संगठन।

८—कैंटीन भण्डार-विभाग (भारत)

९—रक्षा-अनुमानों से प्रदत्त असैनिक सेवायें।

१०—जलवर्णना-सर्वेक्षण और नौवहन-चार्टों को तैयार करना।

११—छावनियों का निर्माण, छावनी-क्षेत्रों का परिसीमन / अलग करना, ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन, ऐसे क्षेत्रों में छावनी-बोर्ड और अन्य प्राधिकारियों का गठन और उनकी शक्तियाँ और इन क्षेत्रों में रहने के आवास का विनियमन (किराये के नियन्त्रण समेत)।

१२—रक्षा-प्रयोजनों से जमीन और सम्पत्ति की अवाप्ति, अधिग्रहण, अभिरक्षा और त्याग। अनधिकृत धारकों का रक्षा-जमीन और सम्पत्ति से निष्कासन।

१३—भूतपूर्व सैनिकों (पेंशनधारियों समेत) सम्बन्धी मामले।

रक्षा-उत्पादन-विभाग

१—आर्डनेंस कारखानों के महानिदेशालय।

२—निरीक्षण-महानिदेशालय।

३—आयोजना और समन्वय-निदेशालय।

४—रक्षा-अनुसन्धान और विकास-संगठन।

५—हिन्दुस्तान एयरोनोटिक्स लिमिटेड।

६—भारत इलेक्ट्रोनिक्स लिमिटेड।

७—मझगांव डौक लिमिटेड, बम्बई।
८—गार्डन रीच वर्कशाप लिमिटेड, कलकत्ता।
९—प्रागाटूल्स लिमिटेड, सिकन्दराबाद।
१०—भारत अर्थमूवर्स लिमिटेड, बंगलौर।

रक्षा-पूर्ति-विभाग

१—रक्षा-प्रयोजनों के लिए आयात की जरूरतों के स्थान पर निर्माण की आयोजना, खासकर इलेक्ट्रोनिकी यन्त्र, गाड़ियों और पोतनिर्माण के क्षेत्रों में और इन विषयों पर, ब्यौरेवार योजनाएँ तैयार करना।
२—अनुसन्धान और विकास के कार्य के लिए तथा विनिर्माण के लिए देश की औद्योगिक क्षमता के उपयोग के जरिए इन योजनाओं की कार्यान्विति।
३—देश के भीतर होने वाले विज्ञान और शिल्प-विज्ञान के अनुसन्धान और विकास के कार्य का रक्षा-अनुसन्धान और विकास-संगठन के साथ समन्वय।
४—इलैक्ट्रोनिकी का विकास और इसके विभिन्न उपयोक्ताओं के बीच समन्वय।

परिशिष्ट-दो

रक्षा-मन्त्रालय के बारे में चालू केन्द्रीय अधिनियमों की सूची

१. विदेशी भरती अधिनियम, १८७४ (१८७४ का चार), इसमें विदेशी राज्यों में सेवा करने के लिए भारत में भरती पर नियन्त्रण की व्यवस्था है।
२. नगरपालिका कराधान अधिनियम, १८८१ (१८८१ का ११), इसमें सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों पर नगरपालिका कर लगाने से विमुक्ति की व्यवस्था है।
३. भारतीय रक्षितिबल अधिनियम १८८८ (१८८८ का ४), इसमें भारतीय रक्षितिबलों के शासन, अनुशासन और विनियमन की व्यवस्था है।
४. भारतीय पथ-कर (सेना और वायुसेना) अधिनियम १९०१ (१९०१ का २), इसमें थलसेना और वायुसेना के व्यक्तियों और सम्पत्तियों पर पथ-कर से विमुक्ति की व्यवस्था है।
५. भारतीय रक्षा निर्माण कार्य अधिनियम १९०३ (१९०३ का ७), इसमें रक्षा के निर्माण-कार्यों के पास की जमीन के प्रयोग और उपभोग पर बन्धन लगाने की व्यवस्था है, ताकि वह जमीन मकान और दूसरी बाधायें खड़ी करने से मुक्त रखी जा सके और इस प्रकार बन्धन लगाने के कारण देय प्रतिकर की राशि तय करने की व्यवस्था है।
६. छावनी (निवासीय आवास) अधिनियम १९२३ (१९२३ का ६), इसमें छावनियों में सैन्य-अधिकारियों के निवासी आवास के उपबन्ध के लिए व्यवस्था है।
७. छावनी अधिनियम १९२४ (१९२४ का २)।
८. भारतीय सैनिक (मुकदमा चलाना) अधिनियम १९२५ (१९२५ का ४), इसमें विशेष स्थितियों में काम कर रहे भारतीय सैनिकों पर चलाये गये दीवानी और माल मुकदमों के बारे में विशेष संरक्षण की व्यवस्था है।
९. परिचालन क्षेत्र फायर और आर्टिलरी अभ्यास अधिनियम १९३८ (१९३८ का ५), इसमें सैन्य परिचालन, फील्ड फायर और आर्टिलरी अभ्यासों को चलाने के लिए सुविधाओं की व्यवस्था है।
१०. आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम १९३८ (१९३८ का २०), इसमें सशस्त्र सेनाओं में व्यक्तियों की भरती और उनके अनुशासन के लिए बाधक कुछ कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था करके आपराधिक विधि की अनुपूर्ति की गयी है।
११. सशस्त्र सेनायें (विशेष शक्तियाँ) अध्यादेश, १९४२ (१९४२ का ४१), यह सशस्त्र सेनाओं के अधिकारियों को सम्पत्ति के स्वयं रक्षण के लिए कुछ विशेष शक्तियाँ प्रदान करता है।

१२ सैन्य नर्सिंग सेवायें अध्यादेश १६४३ (१६४३ का ३०), सैन्य नर्सिंग सेवाओं के खड़ी करने और अनुशासन के लिए।

१३. कैंटीन भण्डार (स्थानीय करों से विमुक्ति) अध्यादेश १६४६ (१६४६ का ५)।

१४. सशस्त्र सेनायें (आपात कर्त्तव्य) अधिनियम, १६४७ (१६४७ का १५), यह आपात-काल में महत्त्वपूर्ण सेवाओं के बारे में सशस्त्र सेनाओं पर कुछ कर्त्तव्य आरोपित करने में समर्थ बनाता है।

१५. राष्ट्रीय सेना छात्र दल अधिनियम, १६४८ (१६४८ का ३)।

१६ प्रादेशिक सेना अधिनियम, १६४८ (१६४८ का ५६)।

१७. समुद्रमुख आर्टिलरी अभ्यास अधिनियम, १६४६ (१६४६ का ८), समुद्रमुख आर्टिलरी अभ्यास चलाने के लिए सुविधायें प्रदान करता है।

१८ सेना और वायुसेना (निजी सम्पत्ति निपटान) अधिनियम, १६५० (१६५० का ४०), इसमें सेना अधिनियम, १६५० या वायुसेना अधिनियम, १६५० के अधीन आने वाले ऐसे व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति के निपटान की व्यवस्था है, जो मर जाते है, भगोड़े बन जाते है और यह सुनिश्चित हो जाता है कि उनका दिमाग सही नही है, या सक्रिय सेवा करते हुए जिन्हे सरकारी तौर पर खोया हुआ बताया जाता है।

१६ वायुसेना अधिनियम, १६५० (१६५० का ४५)।

२०. सेना अधिनियम, १६५० (१६५० का ४६)।

२१. रक्षिति और सहायक वायुसेना अधिनियम, १६५२ (१६५२ का ६२)।

२२. कमाडर्स-इन-चीफ (पदनाम में परिवर्तन) अधिनियम, १६५५ (१६५५ का १६)।

२३ लोक सहायक सेना अधिनियम, १६५६ (१६५६ का ५३), इसमें भारत के नागरिकों को सैन्य-प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है।

२४ छावनियाँ (किराया-नियन्त्रण-विधियों का विस्तार) अधिनियम, १६५७ (१६५७ का ४६), इसमें मकान-आवास के किराया-नियन्त्रण और विनियमन सम्बन्धी विधियों के छावनियों तक विस्तार की व्यवस्था की गयी है।

२५. नौसेना अधिनियम, १६५७ (१६५७ का ६२)।

२६. रेलवे (सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों का नियोजन) अधिनियम, १६६५ (१६६५ का ४०), इसमें संघ की सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के रेलवे कार्यकरण और प्रबन्ध में नियोजित किये जाने के सम्बन्ध में कुछ उपबन्ध किये गये है।

परिशिष्ट-तीन

तीनों सेनाओं के सापेक्ष ओहदे

थल सेना	नौसेना अधिकारी	वायुसेना
फील्ड मार्शल	एडमिरल आफ दि फ्लीट	मार्शल आफ दि एयर फोर्स
जनरल	एडमिरल	एयर चीफ मार्शल
लेफ्टी० जनरल	वाइस एडमिरल	एयर मार्शल
मेजर जनरल	रीयर एडमिरल	एयर वाइस मार्शल
ब्रिगेडियर	कमोडोर	एयर कमोडोर
कर्नल	कैप्टेन	ग्रुप कैप्टेन
लेफ्टी० कर्नल	कमांडर	विंग कमांडर
मेजर	लेफ्टी० कमांडर	स्क्वेड्रन लीडर
कैप्टेन	लेफ्टीनेंट	फ्लाइट लेफ्टीनेंट
लेफ्टीनेंट	सब-लेफ्टीनेंट	फ्लाइंग अफसर
सेकिंड लेफ्टीनेंट	एक्टिंग सब लेफ्टीनेंट	पाइलट अफसर
(समकक्ष पद नहीं)	मिडशिपमैन	(समकक्ष पद नहीं)

कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारी

थल सेना	नौसेना	वायुसेना
रिसालदार मेजर सूबेदार मेजर रिसालदार रिसालदार, सी० आई० आर० अश्व-पशु-चिकित्सा-कोर सूबेदार नाइब सूबेदार नाइब रिसालदार	समकक्ष पद नहीं	मास्टर वारंट अफसर मास्टर सिगनैलर मास्टर इंजीनियर

वारंट अधिकारी
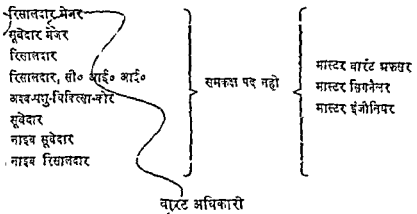
थल सेना	नौसेना	वायुसेना
वारंट अफसर ए० पी० एस० सी० आई० आई०	समकक्ष पद नहीं	वारंट अफसर
वारंट अफसर, ए० पी० एस० सी० आई० डबल आई०	चीफ पेटी अफसर	फ्लाइट सार्जेंट

गैर कमीशन-प्राप्त अधिकारी

पद		
हवलदार/दफादार (क) रेजीमेंट दफादार मेजर रेजीमेंट हवलदार मेजर रेजीमेंट मास्टर दफादार रेजीमेंट क्वार्टर मास्टर हवलदार बटालियन हवलदार मेजर बटालियन क्वार्टर मास्टर हवलदार	पेटी अफसर	
(ख) स्क्वेड्रन दफादार मेजर स्क्वेड्रन क्वार्टर मास्टर दफादार बैटरी हवलदार मेजर बैटरी क्वार्टर मास्टर हवलदार कम्पनी हवलदार मेजर कम्पनी क्वार्टर मास्टर हवलदार		सार्जेंट
(ग) दफादार फारियर दफादार मेजर फारियर दफादार हवलदार ट्रम्पेट मेजर ड्रम मेजर बिगुल मेजर पाइप मेजर दफादार ड्रेसर		सार्जेंट
लैंसदफादार/नायक लैंस हवलदार लैंस दफादार नायक फारियर लैंस दफादार	लीडिंग सीमैन और समकक्ष ओहदे (पर सेना ओहदों से कनिष्ठ)	कारपोरल

जवान

- एक्टिंग लांस दफादार
- लांस नायक
- राइडर
- गनर
- सैपर
- सिगनलमैन
- सिपाही या राइफलमैन
- ट्रम्पेटर
- बिगुलर
- पाइपर
- ड्रमर
- बैंड्समैन
- ड्रेसर/राइडर, अश्व पशुचिकित्सा कोर
- क्राफ्ट्समैन

एबुल सीमैन, आर्डिनरी सीमैन और समकक्ष ओहदे

लीडिंग एयर क्राफ्ट्समैन

एयर क्राफ्ट्समैन-प्रथम वर्ग

एयर क्राफ्ट्समैन-द्वितीय वर्ग

परिशिष्ट-चार

तीनों सेनाओं में प्रयुक्त शब्दावली

सेना शब्दावली

प्लाटून और कम्पनी

एक प्लाटून में एक मुख्यालय और तीन सैक्शन होते हैं और इसमें लगभग ३५ सैनिक होते हैं। इसकी कमान एक कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारी के हाथ में होती है। कम्पनी की कमान एक मेजर के हाथ में होती है।

बटालियन

पैदल सेना की एक बटालियन में लगभग ६०० सैनिक, कनिष्ठ कमीशन-प्राप्त अधिकारी और कमीशन-प्राप्त अधिकारी होते हैं। यह एक स्वतः पूर्ण इकाई है और इसकी कमान एक लेफ्टीनेंट कर्नल के हाथ में होती है।

पैदल रेजीमेंट

एक पैदल रेजीमेंट में कई पैदल बटालियनें होती हैं, जिनको क्षेत्र-विशेष से भरती किया जाता है और बटालियनों की संख्या पाँच से पन्द्रह तक होती है, जिनको एक साथ समूहित करना जरूरी नहीं है। एक रेजीमेंट का एक रेजीमेंट-केन्द्र होता है, जिसकी कमान एक कर्नल के हाथ में होती है और जहाँ पर रंगरूटों को योद्धा के रूप में तैनाती से पहले प्रशिक्षित किया जाता है।

ब्रिगेड

एक पैदल ब्रिगेड-समूह में एक मुख्यालय, तीन पैदल बटालियनें और युद्ध पोषक और प्रशासनिक तत्त्व या तो सलग्न या सम्बद्ध होते हैं। एक ब्रिगेड में लगभग ३००० जवान होते हैं और इसकी कमान एक ब्रिगेडियर के हाथ में होती है।

पैदल डिवीजन

एक पैदल डिवीजन युद्ध में लगाने के लिए एक बुनियादी विरचना होती है। यह सैन्य-सोपान में वह सबसे निचली विरचना है, जिसमें एक ही कमांडर के अधीन सभी शाखाओं का बल एक समन्वित इकाई के रूप में युद्ध के लिए एकीकृत, सन्धारित, प्रशिक्षित और समूहित किया जाता है। इसमें तीन पैदल ब्रिगेडें और सभी शाखाओं और सेवाओं के सन्तुलित तत्त्व रहते हैं। यह आनम्य होता है और इसमें विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का सामना करने के लिए अतिरिक्त विरचनायें और यूनिटें हो सकती हैं।

कोर और आर्मी

दो या ज्यादा डिवीजनों से एक कोर बनती है और दो या ज्यादा कोरों से एक आर्मी कोर और आर्मी दोनों की ही कमान लेफ्टी० जनरलों के हाथ में होती है।

आर्मर्ड रेजीमेंट

आर्मर्ड रेजीमेंट ४५ कवचित गाड़ियों (टैंकों) से सज्जित होती है। ये रेजीमेंटें तीन तरह की होती हैं, नामत आर्मर्ड रेजीमेंट, टोह रेजीमेंट और डिवीजन रेजीमेंट। आर्मर्ड रेजीमेंट का लक्षण उसकी चलनशीलता और फायर शक्ति है।

आर्टिलरी

आर्टिलरी का काम युद्ध क्षेत्र में फायर की अधिप्रभुता इस तरह स्थापित करना और सभी शाखाओं को पुष्ट करना है, कि शत्रु न तो हमारी सक्रिया में बाधा डाल सके और न अपनी ही सक्रिया को प्रभावी रूप से विकसित कर सके। आर्टिलरी यूनिटों का वर्गीकरण स्थूल रूप से क्षेत्र शाखा, वायुरक्षा और तटीय आर्टिलरी में किया जाता है।

क्षेत्र शाखा आर्टिलरी

क्षेत्र रेजीमेंटों (पहाड़ी रेजीमेंटों समेत) का काम अन्य शाखाओं को निकट से आर्टिलरी समर्थन प्रदान करना होता है। वह सामान्यत. सकेन्द्रित रूप से किया जाता है और अप्रत्यक्ष रूप से फायर प्रदान करता है। मध्याकार और बृहदाकार रेजीमेंटों को विनाश और शत्रु की गहराई तक योजित रखने में अनुपूर्ति के लिए नियोजित किया जाता है, क्योंकि उनके गोले भारी और सुदूर पराम वाले होते हैं।

वायु रक्षा रेजीमेंट

वायुरक्षा रेजीमेंटों का उद्देश्य वायुसेना के साथ सहयोग देते हुए शत्रुतापूर्ण विमानों द्वारा हमारी अपनी तैयारी के साथ की गयी बाधा का निवारण करना और मर्म-क्षेत्रों की भारी रक्षा करने में मदद देना होता है। ये रेजीमेंटें दो तरह की होती हैं—हलकी, नीचे उड़ते हुए शत्रु-विमानों के लिए और भारी मध्यम तुङ्गता वालों के लिए।

ये रडार सज्जित होती हैं और दिन-रात कभी भी काम में ली जा सकती हैं।

पशु परिवहन कम्पनियाँ

पहाड़ी क्षेत्रों में सभी प्रकार का बोझ लादने के लिए पशुओं (खच्चर और याक) का उपयोग किया जाता है, जहाँ पर सड़कें नहीं होतीं और यान्त्रिक परिवहन काम में नहीं आ सकता।

ठिकाना निरूपक रेजीमेंट

इस रेजीमेंट का इस्तेमाल शत्रु की तोपों के स्थान का पता लगाने के लिए किया जाता

है, ताकि उनको नष्ट करने में सुविधा हो सके। यह क्षेत्र आर्टिलरी के उपयोग के लिए सर्वेक्षण-दत्त सामग्री भी तैयार करती है।

वायुप्रेक्षण चौकी उड़ान

वायुप्रेक्षण चौकी उड़ान का इस्तेमाल आर्टिलरी के फायर का वायु से प्रेक्षण करने और उसका नियन्त्रण करने के लिए किया जाता है। यह सेना और वायुसेना की मिलीजुली यूनिट होती है।

तटीय आर्टिलरी

तटीय बैटरियों का काम शत्रु के जलपोतों से तटीय जलक्षेत्रों की रक्षा करना होता है और अपने बन्दरगाह में उनको प्रवेश न करने देना होता है।

सेना-सेवा-दल-बटालियन

एक सेना-सेवादल-बटालियन में एक मुख्यालय, दो यान्त्रिक परिवहन कम्पनियाँ और एक पूर्ति कम्पनी होती है। पहाड़ी क्षेत्रों में काम करने वाली बटालियनों से दो पशु-परिवहन कम्पनियाँ सलग्न कर दी जाती है।

होविट्जर

होविट्जर एक अल्प प्रवेग वाला अस्त्र है, अपने पूर्णाकार के अनुसार यह एक भारी गोले का फायर ऊँचे वक्र प्रक्षेप-पथ से साथ करता है।

मॉर्टर

मॉर्टर एक ऊँचा प्रक्षेप-पथ वाला अस्त्र है, जिसकी फायर-दर बड़ी ऊँची होती है। यह ऊपर से फायर-समर्थन ढलवाँ ओट के पीछे से दे सकता है और ऐसे टार्गेटों को योजित रख सकता है, जो स्वत सपाट प्रक्षेप-पथ वाले अस्त्रों से ओटवाली स्थिति में होते हैं।

हलकी मशीनगन

हलकी मशीनगनों द्वारा थोड़े से ही जवानों को लगाकर परिशुद्ध रूप से मात्रा-विशेष में फायर किया जा सकता है, सामान्यत एक आदमी फायर करने के लिए और एक आदमी गोलाबारूद की पूर्ति के लिए लगाया जाता है। इसमें एक ही गोला भी फायर किया जा सकता है और स्वचलित रूप से भी।

स्टेन मशीन कार्बाइन

यह एक बहुत हलका स्वचलित अस्त्र है, जो नजदीक के परास में काम करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह एक गोला भी फायर कर सकता है और स्वचलित रूप से भी।

सुरंगें

थायं सुरंगें मुख्यत दो तरह की होती हैं, टैंकमार और व्यक्ति-मार। टैंकमार सुरंगें भारी से भारी टैंकों को असमर्थ बना सकती हैं और इस तरह आक्रामक टैंकों का आगे बढ़ना

रोकती है। व्यक्ति-मार सुरंगों का उपयोग शत्रु की सेना की घुसपैठ और टैंकमार सुरंगों का हटाया जाना रोकने के लिए किया जाता है।

ग्रेनेड

ग्रेनेडों के मुख्यत दो प्रकार है, एक तो हथगोला जिसका जन्म वस्तुत विस्फोटकों की खोज के साथ-साथ ही हुआ और राइफल-चलित गोले, जो राइफल में लगे अनुकूलकों के द्वारा छोड़े जाते हैं। धुआँ हथगोले धूम्रावरण बना देने के लिए और रंगीन धुआँ हथगोले सिगनल-कार्य के लिए छोड़े जाते है।

चिकित्सकीय

डिवीजन के चिकित्सकीय ढाँचे में एक चिकित्सा-बटालियन और एक चल-क्षेत्र-अस्पताल होता है। पहाड़ी डिवीजनों को एक स्ट्रेचर-वाहक-कम्पनी रखने के लिए भी प्राधिकृत कर दिया जाता है। चिकित्सकीय यूनिटें रुग्ण और घायलों को लाती हैं, निष्क्रामित करती है और उनकी चिकित्सा करती है।

हताहत-शोधन-केन्द्र

यह कोर की चिकित्सा-यूनिट है और अग्रवर्ती क्षेत्रों से निष्क्रामण-पंक्ति में वह पहली चिकित्सा-यूनिट है, जहाँ आहतों के परीक्षण, उपचार, नर्सिंग और भोजन देने की सुविधायें होती हैं।

बिजली, यान्त्रिकी, इलेक्ट्रानिकी (वि० या० इ०) मरम्मत-पद्धति

एक डिवीजन में वि० या० इ० बटालियन का काम बिजली, यान्त्रिक, इलेक्ट्रोनिक और आप्टिकल उपस्करों की सक्रिया के लिए ठीक रखना होता है। इस काम के लिए मरम्मत पद्धति की तीन श्रेणियाँ होती है, नामत (एक) हलकी मरम्मत—इसमें यूनिटों के व्यवसाय-विशेष वाले लोग होते है या इसमें वि० या० इ० के व्यक्ति भी लगा दिये जाते है।

(दो) क्षेत्र मरम्मत—क्षेत्र कारखाना कम्पनियों द्वारा की जाती है। वे गाड़ियों, शस्त्रास्त्रों, यन्त्रों, छोटे अस्त्रों और दूर-संचार उपस्करों की मरम्मत करते रहने के लिए जिम्मेवार हैं, इसमें पूरी समवेत मशीन को बदल देना भी शामिल है।

(तीन) आधार मरम्मत—यह आधार पर स्थित कारखानों द्वारा की जाती है, जो स्थिर होते हैं। वे उपस्करों और गाड़ियों का पूरा-पूरा ओवरहाल करती हैं और बड़े-बड़े समवेत-यन्त्रसमूह को भी बदल देती हैं।

सामासिक पोटली राशन

इस राशन में सुपर्याप्त विभिन्नता और पोषण-मूल्यों वाला भोजन होता है और इसको पकाना नहीं पड़ता तथा इसे पाँच-जनों के लिये एक पोटली में बाँधा जाता है। इस राशन का तभी उपभोग किया जाता है, जब सामान्य राशन की सुविधा नहीं हो पाती।

सामान्य कर्मचारी रक्षिति

पूर्ति डिपुओं में पूर्ति के भण्डार आघात के लिए रक्षिति के रूप में सन्धारित किये जाते है।

क्वार्टर गारद

हर सेना इकाई में एक क्वार्टर गारद होती है, जिसकी कमान एक हवलदार दफादार या कभी-कभी एक नायक के हाथ में होती है। संख्या में यूनिट के आकार और गारद के कर्तव्यों के अनुसार अन्तर रहता है। क्वार्टर गारद एक यूनिट का समारोह-केन्द्र होता है और उसमें एक गारद होता है, जो यूनिट के भीतर गारद-कर्तव्य के लिए जिम्मेदार है और संकट-संकेत के समय तत्काल कारवाई के लिए जिम्मेदार है। यूनिट का झंडा क्वार्टर-गारद के पास केन्द्र में रहता है। क्वार्टर-गारद किसी यूनिट के 'व्यक्तित्व' और कार्यदक्षता का प्रतिबिम्ब होता है और यूनिट इस बात का गर्व करती है कि कर्तव्यस्थ जवान आपदादिक रूप में प्रखर हो और मुसनद्ध रहें।

नौसेना की शब्दावली

फ्लोटिल्ला

छोटे युद्धपोतों का एक समूह, सामान्यतः आठ का, जैसे डेस्ट्रोयर में फ्लोटिल्ला, सुरंग-स्वच्छक फ्लोटिल्ला, एम० एल० फ्लोटिल्ला आदि।

स्क्वैड्रन

ज्यादा बड़े युद्धपोतों का एक समूह, सामान्यतः चार का, जैसे विमानवाहक स्क्वैड्रन, क्रूजर स्क्वैड्रन आदि।

मिली-जुली संक्रियायें

अब इसे उभयचर युद्ध कहते हैं, जो शत्रु-तट पर अवतारण-संक्रिया का संकेत देता है, जिसमें नौसेना थल-सेना बल को पूर्वनिर्धारित ठिकाने पर ले जाती है और उसे अवतरण-पोत या नौका से नौसेना और वायु द्वारा समर्थन देकर उतार देती है।

ध्वजपोत

उस जगह का युद्धपोत जहाँ पर बेड़े के ध्वज ओहदे वाले (अर्थात् रीअर एडमिरल अपर) के एक वरिष्ठ अधिकारी का संक्रियागत और प्रशासनिक मुख्यालय होता है।

समुद्रतट स्थापना

यह शब्द समुद्रतट पर स्थित नौसेना-स्थापना का संकेत देता है। ये प्रशिक्षण-विद्यालय, बैरेकें और नौसेना के बेस होते हैं। समुद्र-तटीय स्थापनाओं को पोतों की ही तरह कमीशन किया जाता और नाम दिया जाता है, जिसमें "भारतीय नौसेना पोत" (भानौपो) पूर्वसर्ग लगाया जाता है।

नाविक (पहले रेटिंग कहलाते थे)

नौसेना के सूचीबद्ध जवान या 'अन्य पदधारी"।

पोत की कम्पनी

एक पोत या तटीय स्थापना के सभी नाविक-कर्मचारी, जिसमें अधिकारी और जवान दोनों आते हैं।

कर्णधार

जो नाव का कर्णधार होता है, एक वरिष्ठ नाविक जो एक नाव और नाविकों का प्रभारी होता है।

बॉसन

एक अधिकारी (चीफ पेटी अफसर । पेटी अफसर) जो पोतों, नावों, रिग झंडों आदि की देखभाल करता है। उसका सहायक बॉसन सीमैनों को सीटी बजाकर काम पर बुलाता है।

नौट

चाल के प्रसग में आता है और प्रति घण्टे समुद्र-मील को बताता है। एक समुद्रमील लगभग १⅙ थलमील के बराबर होता है।

ताभड (गंगवे)

पोत के भीतर कोई मान्य घेरा या रास्ता, मार्ग या चलने-फिरने का मार्ग। यह किसी अधिकारी को मार्ग देने के एक आदेश के रूप में भी इस्तेमाल होता है।

ब्रिज

एक सकरा उठा हुआ मंच, जहां से कमान अधिकारी पोत को निर्देशित करता है।

पिछवाड

पोत का पिछला या पीछे का हिस्सा।

क्विटिन-डेक

पोत के ऊपरी डेक का वह हिस्सा जो पोत के पिछवाडे की ओर ज्यादा होता है।

विमान-वाहक

विमान-वाहकों के आकार १०००० से ८५००० टन तक के होते हैं और उनका ऊपरी डेक सपाट होता है, जो विमानों के उड़ान भरने और उतरने के काम आता है। प्रणोदन परम्परागत तरीकों से अथवा परमाणु-शक्ति द्वारा किया जाता है। इन पोतों की रफ्तार अधिक तम २०-३८ नॉट होती है और वे रणनीतिक बममार, योधा मार करने वाले विमानों आदि को छोड़ने में समर्थ होते हैं और वायु-आक्रमण के विरुद्ध निकट-परास में रक्षा करने के लिए विमान वेधी अस्त्र प्रक्षेप्यास्त्र भी उनमें होते हैं।

क्रूजर

ये सामान्य प्रयोजन के लड़ाकू पोत होते हैं और इनकी कार्रवाई की परास काफी बड़ी होती है। इनमें प्रहार-शक्ति, रफ्तार और परिचालन-क्षमता मिले-जुले रूप में होती है। उनकी रफ्तार ३०-३५ नॉट तक होती है और वे मध्याकार की तोपें (६" से ८") रखते हैं, जो अनेक प्रकार से प्रभावी काम में आ सकती हैं। इन पोतों पर क्षेप्यास्त्र भी चढ़ाये जा सकते हैं।

फ्रिगेट

समुद्री काफिले की निकट से अनुरक्षा करने के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले सभी जलपोत फ्रिगेट कहे जाते हैं। इनमें से अधिकांश २०००-३००० टनों के होते हैं। ये पोत विमान भेदी और पनडुब्बी-विरोधी संरक्षण प्रदान करते हैं और काफी सहन-क्षमता वाले होते हैं।

डेस्ट्रॉयर

शुरू में डेस्ट्रॉयर आकार में छोटे होते थे और तारपीडो-नावों को नष्ट करने के काम में आते थे। आधुनिक डेस्ट्रॉयरों की विस्थापन-क्षमता ५५०० टन होती है और वे प्रथमतः विमान-ध्वंस के काम आते हैं और विमानवेधी निर्देशित अस्त्रों के लिए प्लवमान आधार के रूप में बनाये जा रहे हैं। इन पोतों में पनडुब्बी-भेदी प्राक्षेपिकी-अस्त्र और पोत-विरोधी क्षमता भी होती है।

पनडुब्बी

पनडुब्बियों का उपयोग मुख्यतः पोतों के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई के लिए किया जाता है और वे सामान्यतः अन्य पोतों से असम्बद्ध रहकर अपना काम करती हैं। उनको पनडुब्बी-रोधी काम में भी लाया जाता है। इस जलयान की आधुनिक संकल्पना असीमित सहन-क्षमता वाली और परमाणु-शक्ति चालित पनडुब्बी है। परमाणु-चालित पनडुब्बियों में निर्देशित-अस्त्र-पद्धति रहती है जैसे पोलरिस क्षेप्यास्त्र। इन्होंने नौ-युद्ध में नये आयाम उपस्थित कर दिये हैं। परम्परागत पनडुब्बियाँ २५०० टन तक की हो सकती हैं, जिनकी जल के भीतर की अधिकतम रफ्तार १७ नॉट होती है और तारपीडो उनका प्रमुख अस्त्र होता है।

टिप्पण—यह ध्यान रखा जाय कि एक युद्धपोत का टनभार सामान्यतः उसका जल-विस्थापन होता है अर्थात् पोत द्वारा विस्थापित जलीय भार, जो पोत और उसके भीतर की सभी चीजों के भार के बराबर होता है। विस्थापन टनों में विस्थापित जल के आयतन (घन फीटों में) में खारे पानी में ३५ का और मीठे पानी में ३६ का भाग देकर निकाला जाता है।

वायुसेना की शब्दावली

सामरिक वायुसेना

सामरिक वायुसेना का गठन क्षेत्र में संलग्न सेना विरचना (सामान्यतः कोर) के साथ सक्रिया करने के लिए किया जाता है।

विरचना

एक विरचना में एक मुख्यालय यूनिट के अधीन समूहित एक या अधिक यूनिटें होती है। जैसे विंग एक विरचना है, जिसमें एक विंग मुख्यालय और एक या अधिक स्क्वेड्रन होते हैं और उसमें यथावश्यक अन्य यूनिटें भी हो सकती है।

विंग-मुख्यालय

एक या अधिक स्क्वेड्रनो को लचीले आधार पर एक साथ इकट्ठा करके उनको कृत्य-कारी और प्रशासनिक रूप मे नियन्त्रित करने वाली एक विरचना।

स्टेशन

विंग की तरह स्टेशन भी एक विरचना है, जो अपने नियन्त्रणवाली यूनिटो को मुख्यतः प्रशासनिक सेवायें प्रदान करती है।

स्क्वेड्रन

स्क्वेड्रन एक उडान-यूनिट है, जिसमें उसकी भूमिका के अनुसार प्रकार-विशेष के विमान विशेष संख्या में होते है। स्क्वेड्रन की भूमिका लड़ाकू बममार या दोनों हो सकती है, या टोह, सेना-प्रेक्षण, परिवहन, सञ्चार, प्रशिक्षण आदि हो सकती है।

फ्लाइट

फ्लाइट स्क्वेड्रन की वह सबसे बडी मान्य संघटना है, जो असम्बद्ध रूप से काम कर सकती है। इसमें दो या अधिक अनुभागो में चार या अधिक विमान हो सकते हैं।

संख्या-फलक-आधार

किसी यूनिट को तब संख्या-फलक-आधार पर रखा हुआ मान लिया जाता है, जब जनसाधन, विमान आदि की कमी के कारण अस्थायी तौर पर किसी यूनिट का कार्य निलम्बित कर देना जरूरी हो जाय और उसके व्यक्तियो, उपस्कर आदि को दूसरी यूनिटों में भेजना पडे, जिनका चलते रहना ज्यादा महत्वपूर्ण है।

विमान

तूफानी—(फ्रेंच औरेगांव) एक जेट-णोदित लड़ाकू विमान है, जो जमीन आक्रमण वाले काम में आता है।

कैनबैरा एक दो जेटो वाला बममार, जिसे उच्च तुङ्ग वाले बममार या अहर्निश विभक्त विमान की तरह काम मे लाया जा सकता है।

नैट : जेट-णोदित लड़ाकू बममार, जिसे अन्तर्वाधक या जमीन-आक्रमण विमान के रूप में काम में लाया जा सकता है।

मिस्टियर : एक इंजिन वाला जेट लड़ाकू विमान, जो मुख्यत. जमीन आक्रमण वाले काम में आता है, इसे अन्तर्वाधक के रूप मे भी काम मे लाया जा सकता है।

हटर	एक इंजन वाला लड़ाकू विमान, जो जमीन-आक्रमण और वायु-रक्षा दोनो ही कामों में लाया जा सकता है।
मिग-२१	एक इंजिन वाला अतिस्वन अन्तर्बाधक विमान, जो वायु रक्षा में आता है।
परिवहन विमान	सैनिको और साजसामान को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने और हताहत-निष्कामण आदि के काम में ही मुख्यत आने वाला विमान (जैसे पैकेट, कैरिबो, ए एन-१२, डकोटा)।
हैलीकोप्टर	*(सचार कार्यों, हताहत निष्कामण, सम्भारिकी-समर्थन आदि के लिए)*।
एलोएट	फ्रासीसी हैलीकोप्टर, मुख्यत उच्च तुङ्गता पर काम आता है।